

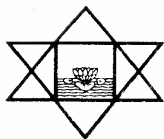


श्रीअरविन्द

मानव-एकता का आदर्श युद्ध और आत्म-निर्णय

श्रीअरविन्द आश्रम

पांडिचेरी



श्रीअरविन्द

मानव-एकता का आदर्श

युद्ध और आत्म-निर्णय

श्रीअरविन्द आश्रम

पांडिचेरी

प्रथम संस्करण : १९६९

द्वितीय संस्करण : १९९२

मूल्य : रु. १२५.००

ISBN 81-7058-274-1

© श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी १९९२

प्रकाशक : श्रीअरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग, पांडिचेरी—६०५००२

मुद्रक : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२ (भारत)

प्रस्तावना

अंग्रेजी में 'आर्य' पत्रिका में Ideal of Human Unity (मानव-एकता का आदर्श) शीर्षक से सितम्बर १९१५ से जुलाई १९१८ तक धारावाहिक लेख प्रकाशित हुए थे। उस समय पैंतीस अध्याय थे। पुस्तक रूप में उनका प्रथम प्रकाशन १९१९ में हुआ था। इसका संशोधित संस्करण १९५० में श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी से प्रकाशित हुआ, परंतु संशोधन १९३९ के द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व हुआ था। उसमें एक Post Script Chapter (ग्रंथोत्तर अध्याय भी जोड़ा गया था। प्रस्तुत ग्रंथ उसी संस्करण का अनुवाद है।

इस ग्रंथ में दूसरी पुस्तक 'युद्ध और आत्म-निर्णय' है। यह War and Self-Determination के तृतीय संस्करण का अनुवाद है जिसका प्रकाशन १९५७ में हुआ था। साथ में 'आर्य' से लिया गया एक अन्य लेख भी जोड़ा गया है। इस पुस्तक के अन्य लेख 'आर्य' में १९१६ से १९२० के बीच छपे थे; किंतु भूमिका और 'एक राष्ट्र संघ' का लेखन पुस्तक के लिये ही किया गया था। इस पुस्तक का विषय भी 'मानव-एकता का आदर्श' से मिलता-जुलता है।

आर्षवाणी का अनुवाद करना एक असम्भव कार्य है। मूल भाषा न जाननेवालों के लिये माताजी और श्रीअरविन्द की पुस्तकों का अनुवाद भी श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केंद्र का हिन्दी विभाग कर रहा है।



श्रीअरविंद

विषय-सूची

भाग एक

१. एकता की ओर झुकाव :		
इसकी आवश्यकता और संकट	...	१
२. पिछले समुदायों की अपूर्णता	...	६
३. समुदाय और व्यक्ति	...	१०
४. राज्य-सिद्धांत की अपर्याप्तता	...	१५
५. राष्ट्र और साम्राज्य :		
वास्तविक एकता और राजनीतिक एकता	...	२२
६. साम्राज्य की प्राचीन और आधुनिक प्रणालियां	...	३०
७. विषम जातीय राष्ट्र का निर्माण	...	४१
८. संघबद्ध विषम जातीय साम्राज्य की समस्या	...	४८
९. विश्व-साम्राज्य की संभावना	...	५४
१०. यूरोप का संयुक्त राज्य	...	६०
११. छोटी स्वतंत्र इकाई और बृहत्तर केंद्रित इकाई	...	७०
१२. पूर्वाष्ट्रीय साम्राज्य-निर्माण का प्राचीन क्रम—		
राष्ट्र-निर्माण का आधुनिक क्रम	...	७८
१३. राष्ट्र-इकाई का निर्माण—तीन अवस्थाएं	...	८७
१४. अंतर्राष्ट्रीय एकता की ओर पहला कदम :		
उसकी बहुत बड़ी कठिनाइयां	...	९७
१५. सफलता की कुछ दिशाएं	...	१०८
१६. एकरूपता और स्वतंत्रता की समस्या	...	११८

भाग दो

१७. हमारे विकास में प्रकृति का नियम—		
विभिन्नता में एकता, विधि और स्वाधीनता	...	१३१
१८. आदर्श समाधान—		
मनुष्यजाति का स्वतंत्र समुदायीकरण	...	१४१
१९. केंद्रीकरण और एकरूपता की प्रवृत्ति,		
शासन-प्रबन्ध और वैदेशिक विषयों का नियंत्रण	...	१५१

२०. आर्थिक केंद्रीकरण की प्रवृत्ति	...	१५९
२१. विधायक और सामाजिक केंद्रीकरण एवं एकरूपता की प्रवृत्ति	...	१६५
२२. विश्व-ऐक्य या विश्व-राज्य	...	१७६
२३. शासन के रूप	...	१७८
२४. सैनिक एकीकरण की आवश्यकता	...	१८७
२५. युद्ध और आर्थिक एकता की आवश्यकता	...	१९६
२६. प्रशासनीय एकता की आवश्यकता	...	२०४
२७. विश्व-राज्य का खतरा	...	२१४
२८. एकता में विभिन्नता	...	२२१
२९. राष्ट्रसंघ का विचार	...	२३१
३०. स्वतंत्र राज्यसंघ का सिद्धांत	...	२४१
३१. स्वतंत्र विश्व-संघ की शर्तें	...	२४८
३२. अंतर्राष्ट्रीयता	...	२५५
३३. अंतर्राष्ट्रीयता और मानव-एकता	...	२६१
३४. मानवता का धर्म	...	२७१
३५. सिंहावलोकन और परिणाम	...	२७८
३६. ग्रंथोत्तर अध्याय	...	२८६

युद्ध और आत्म-निर्णय

भूमिका	...	३०५
युद्ध की समाप्ति ?	...	३१२
अदृश्य शक्ति	...	३१८
आत्म-निर्णय	...	३२८
एक राष्ट्र-संघ	...	३३८
युद्ध के बाद	...	३६६
१९१९	...	३७९

भाग एक

एकता की ओर झुकाव :

इसकी आवश्यकता और संकट

जीवन की ऊपरी सतहों को समझना सुगम है; उनके नियम, उनकी विशिष्ट गति-विधियाँ, उनके क्रियात्मक उपयोग, ये सब हमें सहज लभ्य हैं और हम इन्हें अधिकृत कर सकते हैं, साथ ही काफी सरलता और शीघ्रता से हम इनसे लाभ भी उठा सकते हैं। पर ये हमें बहुत दूर तक नहीं ले जाते। प्रतिदिन के सक्रिय उपरि-तलीय जीवन के लिये ये काफी हैं, पर जीवन की गुरु समस्याएं ये नहीं सुलझा सकते। वास्तव में बात यह है कि जीवन की गहराइयों, उसके गुप्त रहस्यों तथा उसके महान्, गूढ़ और सर्वनिर्धारक नियमों का ज्ञान प्राप्त करना हमारे लिये अत्यंत कठिन है। हमें अभी तक कोई ऐसा यंत्र नहीं मिला है जो इन गहराइयों को नाप सके। ये गहराइयाँ हमें अस्पष्ट और अनिश्चित प्रवाह तथा गहन अंधकार के रूप में दिखायी देती हैं जिनसे मन ऊपरी तल की अति सरल ज्योतियों तथा दौड़-धूप की ओर उत्सुकता से लौट आता है। यदि हमें जीवन को समझना है तो हमें इन गहराइयों तथा इनकी अदृश्य शक्तियों को समझना ही होगा। ऊपरी तल पर तो हमें केवल प्रकृति के गौण नियम और क्रियात्मक उपनियम ही मिलते हैं जो हमें तात्कालिक कठिनाइयों को पार करने और, बिना समझे, व्यावहारिक अनुभव के आधार पर उसके सतत परिवर्तनों को व्यवस्थित करने में सहायक होते हैं।

मनुष्यजाति के लिये उसके अपने सामाजिक और सामूहिक जीवन की अपेक्षा और कोई वस्तु अधिक अस्पष्ट या कम समझ में आनेवाली नहीं है, चाहे यह अस्पष्टता उस शक्ति के बारे में हो जो उसे चलाती है या उस उद्देश्य के बारे में जिसकी ओर वह बढ़ रही है। इसमें समाजशास्त्र हमें कुछ सहायता नहीं पहुंचाता, क्योंकि यह केवल अतीत का तथा उन बाह्य अवस्थाओं का सामान्य विवरण देता है जिनके कारण जातियाँ अपना अस्तित्व रख पायी हैं। इस संबंध में इतिहास भी हमें कुछ नहीं सिखाता; यह घटनाओं और व्यक्तियों का मिश्रित प्रवाह है, या फिर परिवर्तनशील संस्थाओं को दिखानेवाली सैरबीन। इस सब परिवर्तन तथा काल-प्रवाह में मनुष्य-जीवन के निरंतर आगे बढ़ते रहने का वास्तविक अर्थ हम समझ नहीं पाते। जो समझ पाते हैं वे केवल प्रचलित या फिर-फिरकर आनेवाले बहिर्दृश्य, सरल सिद्धांत और अधूरे विचार ही होते हैं। हम जनतंत्र, शिष्टतंत्र और स्वच्छंदतंत्र, समूहवाद और व्यक्तिवाद, साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद, राज्य और समाज, पूंजीवाद और श्रमवाद की

बहुत चर्चा करते रहते हैं; हम उतावले ढंग के सिद्धांत बना लेते हैं, एकांगी प्रणालियां गढ़ लेते हैं, आज जिनकी बलपूर्वक घोषणा की जाती है, कल उन्हींका विवश होकर त्याग करना पड़ता है। हम उन पक्षों और उत्साहपूर्ण आदर्शों का समर्थन करते हैं जिनकी विजय के कुछ समय बाद ही हमारा उनके लिये मोह-भंग हो जाता है और तब हम अन्य सिद्धांतों के लिये इनका त्याग कर देते हैं, शायद उन सिद्धांतों के लिये जिन्हें नष्ट करने के लिये हम पहले काफी कष्ट उठा चुके होते हैं। पूरी शताब्दीभर मानवजाति स्वाधीनता के लिये लालायित रहती है और युद्ध करती है और तब कहीं वह उसे कठोर परिश्रम, आंसुओं और रक्त के कटु मूल्य पर मिलती है—एक और शताब्दी, जो बिना संघर्ष किये ही इस स्वाधीनता का उपभोग करती है, इसकी ओर से इस प्रकार मुंह फेर लेती है मानों यह कोई बच्चों का स्वांग हो और किसी नये हित का मूल्य चुकाने के लिये उस हीन मूल्य-प्राप्ति का त्याग करने के लिये तैयार हो जाती है। यह सब इसलिये होता है कि अपने सामूहिक जीवन-संबंधी हमारे समस्त विचार और कर्म उथले और केवल सामान्य अनुभव पर आधारित होते हैं। ये न तो परिपक्व, गहन और पूर्ण ज्ञान की खोज करते हैं और न उसे अपना आधार मानते हैं। इससे हमें यह शिक्षा नहीं मिलती कि मानव-जीवन, उसकी उमंगें और उत्साह और उसके माने हुए आदर्श निःसार हैं, वरन् यह कि हमें उसके सच्चे नियम और उद्देश्य की अधिक ज्ञानपूर्ण, व्यापक और धैर्यपूर्ण खोज करने की आवश्यकता है।

आज मानव-एकता का आदर्श थोड़े-बहुत अस्पष्ट ढंग से हमारी चेतना के अग्रभाग में प्रकट हो रहा है। मनुष्य के विचार में किसी आदर्श का उदय होना सदा ही प्रकृति के एक आशय का संकेत होता है, परंतु यह सदा कार्य को सिद्ध करने के आशय का संकेत नहीं होता। कभी-कभी तो यह केवल उस प्रयत्न को प्रकट करता है जिसकी अस्थायी असफलता पहले से ही निश्चित होती है। कारण, प्रकृति अपनी कार्य-प्रणाली में मंद और धीर है। वह विचारों को हाथ में लेती है, उन्हें अधूरे रूप में कार्यान्वित करती है, फिर बीच रास्ते में उन्हें छोड़ देती है, इसलिये कि कभी भविष्य में वह अधिक अच्छा सुयोग पाकर फिर से कार्य शुरू करेगी। वह मानवजाति को, अपने विचार करनेवाले यंत्र को लुभाती है और इसकी परीक्षा लेती है कि जिस सामंजस्य की उसने कल्पना की है उसके लिये यह किस हदतक तैयार है। वह मनुष्य को प्रयत्न करने और असफल होने की अनुमति ही नहीं देती, उसके लिये उसे उकसाती भी है, जिससे वह शिक्षा ग्रहण कर सके और अगली बार अधिक सफल हो सके। फिर भी जो आदर्श एक बार विचार के अग्रभाग में स्थान पा चुका है उसके लिये हमें निश्चय ही प्रयत्न करना चाहिये। यह संभव है कि मानव-एकता का यह आदर्श भविष्य की निर्धारक शक्तियों के बीच अपनी व्यापक प्रतिष्ठा बनाये रखे, क्योंकि वर्तमान समय की बौद्धिक और भौतिक परिस्थितियों ने इसका निर्माण ही नहीं किया, वरन् इसपर बहुत बल भी दिया है, विशेषकर उन वैज्ञानिक आविष्कारों ने

जिन्होंने हमारी पृथ्वी को इतना छोटा बना दिया है कि इसका बड़े-से-बड़ा राज्य अब एक देश के प्रांत से अधिक नहीं प्रतीत होता।

पर इन भौतिक परिस्थितियों की यह सुविधा स्वयं ही इस आदर्श की असफलता का कारण हो सकती है; क्योंकि जब भौतिक परिस्थितियाँ एक बड़े परिवर्तन के पक्ष में होती हैं, और उधर जाति का मन और हृदय वास्तव में तैयार नहीं होता—विशेषकर हृदय—तो असफलता होनी निश्चित है। हाँ, यदि मनुष्य समय पर सचेत हो जाये और बाहरी पुनर्गठन के साथ-साथ आंतरिक परिवर्तन भी स्वीकार कर ले तो बात दूसरी है। पर आज मानव-बुद्धि भौतिक विज्ञान द्वारा इतनी यांत्रिक बन चुकी है कि जिस परिवर्तन को उसने देखना शुरू किया है उसके लिये वह मुख्यतया या केवल यांत्रिक उपायों तथा सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के पुनर्गठन द्वारा प्रयत्न करेगी। मनुष्यजाति की यह एकता अब इन सामाजिक या राजनीतिक तरीकों से, या कम-से-कम मुख्यतया या केवल इनसे, स्थायी या फलदायक रूप में सिद्ध नहीं की जा सकती।

हमें याद रखना चाहिये कि उच्चतर सामाजिक या राजनीतिक एकता अवश्य ही अपने-आपमें कोई वरदान नहीं होती; इसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्न उसी हदतक करना चाहिये जहांतक कि यह एक अधिक अच्छे, समृद्ध, सुखी और समर्थ, व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के लिये एक साधन और ढांचा प्रदान करती है। परंतु अबतक मनुष्यजाति के अनुभव ने यह बात स्वीकार नहीं की है कि घनिष्ठ रूप में एकीकृत तथा दृढ़ रूप में संगठित विशाल समुदाय समृद्ध और शक्तिशाली मनुष्य-जीवन के लिये अनुकूल है। प्रतीत यह होता है कि सामूहिक जीवन तभी सुप्रसन्न, आनंदपूर्ण, विविध तथा फलप्रद होता है जब कि वह सीमित प्रदेश तथा अधिक सरल संगठन में केंद्रित हो।

यदि हम मनुष्यजाति के भूतकाल को, जितना कि हम इसे जानते हैं, देखें तो पता चलता है कि मनुष्य के जीवन के वे रोचक युग, वे रंगमंच, जिनमें यह अत्यंत समृद्ध रूप में रह चुका है और अपने पीछे मूल्यवान् फल-संपदा छोड़ गया है, ठीक वे युग और देश थे जहां मानवजाति अपने-आपको उन छोटे स्वाधीन केंद्रों में संगठित कर सकती थी जो एक-दूसरे पर घनिष्ठ रूप से कार्य तो कर सकते थे पर अखंड एकता में विलीन नहीं हो गये थे। आधुनिक यूरोप की दो-तिहाई सभ्यता मानव इतिहास के इस प्रकार के तीन उच्च कोटि के युगों की देन है, पहला, इज़राइल नामक जातिसमूह का धार्मिक जीवन तथा बाद में यहूदियों के छोटे राष्ट्र का जीवन, दूसरा, यूनान के छोटे नगर-राज्यों का बहुमुखी जीवन, तीसरा, मध्यकालीन इटली का इसी प्रकार का पर अधिक अनुशासित, कलात्मक तथा बौद्धिक जीवन। भारत का वह वीर-काल, जब वह छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था जिनमें अधिकांश आजकल के एक जिले से बड़े नहीं थे, एशिया का एक ऐसा युग रहा है जो शक्ति में सबसे बड़ा हुआ,

निवास के योग्य और श्रेष्ठ तथा स्थायी फलों को पैदा करनेवाला था। उसकी अत्यंत आश्चर्यजनक चेष्टाएं, उसके अत्यंत साहसपूर्ण और स्थायी कार्य—यदि हमें चुनाव करना पड़ता तो और सब वस्तुओं का त्याग कर हम उन्हींको रखते—सब उसी युग की संपत्ति थे। बाद में उससे दूसरे दर्जे पर पल्लव, चालुक्य, पांड्य, चोल और चेर वंश के कुछ बड़े, पर अभी भी छोटे राज्य ही आते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से यदि देखा जाये तो भारत को उन मुगल, गुप्त और मौर्य जैसे साम्राज्यों से बहुत कम प्राप्त हुआ जो उसकी सीमा के भीतर बने और बिगड़े थे, वास्तव में उसे जो प्राप्त हुआ वह इतना ही था—राजनीतिक और प्रशासनसंबंधी संगठन, कुछ ललित कला और साहित्य तथा अन्य प्रकार का कुछ स्थायी कार्य जो सदा ही उच्च कोटि का नहीं होता था। उनकी प्रवृत्ति मौलिक, प्रेरक और सर्जनशील न होकर विस्तृत संगठन बनाने की ओर अधिक थी।

तब भी, इन छोटे नगर-राज्यों या प्रादेशिक संस्कृतियों के शासन-प्रबंध में सदैव एक दोष रहा जिसने बड़े संगठन बनाने की उनकी प्रवृत्ति को उकसाया। अस्थिरता, कुप्रबंध का बाहुल्य, विशेषकर कुछ बड़े संगठनों के आक्रमण से बचाव कर सकने में असमर्थता और विस्तृत भौतिक हित-साधन के लिये योग्यता की कमी इस दोष के विशेष लक्षण हैं। अतएव, सामूहिक जीवन का यह प्रारंभिक रूप लुप्त होता गया तथा इसने अपना स्थान राष्ट्रों, राज्यों और साम्राज्यों के संगठन को दे दिया।

यहां हम पहली बार देखते हैं कि बड़े राज्यों तथा विशाल साम्राज्यों का नहीं, बल्कि छोटे राष्ट्रों के संघों का जीवन ही अत्यंत शक्तिशाली रहा है। सामूहिक जीवन जब अत्यंत बड़े स्थानों में बिखर जाता है तो ऐसा लगता है मानों उसने अपनी तीव्रता और उत्पादक शक्ति खो दी हो। असली यूरोप इंग्लैंड, फ्रांस, नीदरलैंड्स, स्पेन, इटली और जर्मनी के छोटे राज्यों में ही रहा है, बल्कि उसकी पिछली सारी सभ्यता और वृद्धि इन्हीं छोटे राज्यों में निर्मित हुई है, पवित्र रोम के या रूस के साम्राज्यों के विशाल समूह में नहीं। यही बात हम सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी देखते हैं जब हम यूरोप की अनेक जातियों के शक्तिशाली जीवन और कार्य की तुलना एशिया के बड़े जनसमुदायों से करते हैं। हम देखते हैं कि यूरोप की जातियां एक-दूसरी पर प्रचुर प्रभाव डालती हैं; वे कभी तो तेज सृजनशील चाल से और कभी अदम्य वेग से उन्नति की ओर बढ़ती हैं। उधर एशिया में हमें निष्क्रियता के लंबे युग मिलते हैं जिनमें युद्ध और विद्रोह छोटे, अस्थायी और प्रायः निष्फल प्रसंगों के रूप में ही आये। यहां धार्मिक, दार्शनिक और कलासंबंधी स्वप्नों की सदियां भी अवश्य आयीं, किंतु इसका झुकाव बाह्य जीवन के बढ़ते हुए सूनेपन और पीछे चलकर जड़ता की ओर ही रहा।

दूसरे, हम देखते हैं कि इस संगठन में जिन जातियों और राज्यों का जीवन सबसे अधिक शक्तिपूर्ण रहा है उन्होंने इसे लंदन, पेरिस, रोम जैसे किसी प्रधान नगर, केंद्र

या राजधानी में एक कृत्रिम ढंग से अपनी जीवन-शक्ति को पुंजीभूत करके ही प्राप्त किया है। इस उपाय से प्रकृति एक अधिक बड़े संगठन और अधिक पूर्ण एकता से लाभ उठाती हुई एक छोटे से स्थान तथा अत्यंत संकुचित कार्यक्षेत्र में उपयोगी केंद्रीकरण की उस अमूल्य शक्ति को कुछ अंश में बनाये रखती है जो नगर-राज्य या छोटे रजवाड़े की अधिक पुरातन प्रणाली में उसके पास थी। पर यह लाभ संगठन के शेष भाग, जिले, प्रांतीय नगर, ग्राम को बड़े नगर या राजधानी की उत्कट जीवन-शक्ति की तुलना में आश्चर्यजनक रूप से नीरस, तुच्छ और अर्द्धचेतन जीवन का अभिशाप देकर ही प्राप्त किया गया।

रोम-साम्राज्य एकता के उस संगठन का ऐतिहासिक दृष्टांत है जो राष्ट्र की सीमाओं को लांघ चुका था। इसके गुण-दोष वहां पूर्ण रूप से लक्षित हो रहे हैं। गुण हैं सराहनीय व्यवस्था, शांति, व्यापक सुरक्षा, सुप्रबंध और भौतिक सुख-आराम; दोष यह है कि व्यक्ति, नगर और प्रदेश अपने स्वाधीन जीवन का बलिदान करके मशीन के कल-पुर्जे मात्र रह जाते हैं, जीवन अपनी श्री-समृद्धि, विविधता, स्वतंत्रता तथा सहजसृजन की विजयशील प्रेरणा खो देता है। संगठन स्वयं तो महान् और प्रशंसनीय है, पर व्यक्ति नगण्य होकर अभिभूत तथा आच्छन्न हो जाता है। अंत में व्यक्ति की तुच्छता और दुर्बलता के कारण वह विशाल संगठन, अनिवार्य रूप से, धीरे-धीरे अपनी महान् और रक्षक जीवन-शक्ति को भी खो देता है और फिर अधिकाधिक निश्चेष्ट पड़कर नष्ट हो जाता है। इसका ढांचा ऊपर से संपूर्ण और अक्षत दीखने पर भी भीतर-ही-भीतर सड़ चुका होता है, फिर बाहर से जरा-सा धक्का लगते ही टूटने और गिरने लगता है। तथापि ऐसे संगठन और युग बचाव के लिये अत्यंत उपयोगी होते हैं, जैसे कि रोम-साम्राज्य उन लाभों को स्थिर रखने में सहायक सिद्ध हुआ जो बीती हुई सदियों की संपत्ति थे। पर ये जीवन और विकास को रोक देते हैं।

अब जरा हम यह देखें कि यदि मनुष्यजाति का एक ऐसा सामाजिक, प्रशासनीय और राजनीतिक एकीकरण हो जाये जिसका आजकल कुछ लोग स्वप्न देख रहे हैं तो इसका परिणाम क्या होगा। उसके लिये एक बड़े भारी संगठन की जरूरत पड़ेगी जिसके नीचे वैयक्तिक और प्रांतिक दोनों प्रकार का जीवन पददलित तथा हीन होकर अपनी आवश्यक स्वतंत्रता से उसी प्रकार वंचित हो जायेगा जिस प्रकार कोई पौधा जल, वायु और प्रकाश के बिना हो जाता है। मनुष्यजाति के लिये इसका अर्थ यह होगा कि शायद एक तृप्त और हर्षपूर्ण कर्म की प्रथम उमंग के बाद केवल स्वरक्षा, बढ़ते हुए गतिरोध और अंत में क्षय का एक लंबा काल आयेगा।

फिर भी यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्यजाति की एकता प्रकृति की अंतिम योजना का अंग है और यह सिद्ध होकर ही रहेगी। परंतु यह होगी उन अवस्थाओं में और सुरक्षा के उन साधनों के साथ जो जाति की जीवन-शक्ति के मूल को अक्षुण्ण रखेंगे तथा उसकी एकता को विविधता से भरपूर कर देंगे।

पिछले समुदायों की अपूर्णता

प्रकृति की सारी कार्यशैली जीवन के दो ध्रुवों, व्यक्ति और समष्टि में, सामंजस्य स्थापित करने की एक ऐसी प्रवृत्ति पर अवलंबित है जो उनमें निरंतर संतुलन बनाये रखने का यत्न करती है। व्यक्ति का पोषण समष्टि या समुदाय द्वारा होता है, और समष्टि या समुदाय की रचना में व्यक्ति सहायक होता है। मनुष्य-जीवन इस नियम का अपवाद नहीं है। अतएव मनुष्य-जीवन की पूर्णता का अर्थ है जीवन के इन दोनों ध्रुवों—व्यक्ति और सामाजिक समूह—में वह सामंजस्य साधित करना जो अभीतक संपन्न नहीं हुआ है। पूर्ण समाज वह होगा जो व्यक्ति की परिपूर्णता का पूरी तरह से समर्थन करेगा। व्यक्ति की पूर्णता तबतक अधूरी रहेगी जबतक वह उस सामाजिक समूह की, जिसका वह अंग है, और अंत में यथासंभव बड़े-से-बड़े मानव-समुदाय की, समूची संगठित मनुष्यजाति की पूर्णत्व की अवस्था को लाने में सहायक नहीं होगी।

प्रकृति की क्रमिक कार्य-धारा एक ऐसी उलझन पैदा कर देती है जो व्यक्ति को समस्त मनुष्यजाति के साथ शुद्ध और सीधा संबंध रखने में बाधा पहुंचाती है। उसके और इस इतनी बड़ी समष्टि के बीच में कई ऐसे छोटे-छोटे समुदाय उत्पन्न हो जाते हैं जो अंतिम एकता के लिये कुछ अंश में सहायक तो कुछ में बाधक भी होते हैं। पर मानव-संस्कृति की विकसनशील अवस्थाओं में इनका बनना आवश्यक था; कारण, स्थान की बाधाओं, व्यवस्था की कठिनाइयों तथा मानव-हृदय और मस्तिष्क की सीमाओं ने पहले छोटे फिर उनसे बड़े, और तब उनसे और बड़े समुदायों का निर्माण करना आवश्यक कर दिया जिससे मनुष्य उत्तरोत्तर आगे बढ़ता हुआ शनैः-शनैः शिक्षित होता जाये जबतक कि वह अंतिम सार्वभौमिकता के लिये तैयार नहीं हो जाता। कुटुंब, समाज, वंश या जाति, वर्ग, नगर-राज्य या जातियों का समूह, राष्ट्र, साम्राज्य—ये सब इस प्रगति और अनवरत विस्तार की अनेक अवस्थाएं हैं। यदि बड़े समुदायों का सफलतापूर्वक निर्माण होते ही उनसे छोटे समुदायों को मिटा दिया जाये तो इस क्रम में कुछ जटिलता नहीं आती; पर प्रकृति इस मार्ग का अनुसरण नहीं करती। जो आदर्श रूप वह एक बार बना चुकी है उनको वह सर्वांश में शायद ही नष्ट करती है या केवल उसीको नष्ट करती है जिसका अब और कोई उपयोग नहीं रह गया है; शेष को वह विविधता, समृद्धि और बहुरूपता की अपनी आवश्यकता और अभिलाषा को पूरा करने के लिये सुरक्षित रखती है। वह केवल उनकी विभाजक रेखाएं ही मिटाती है या फिर उनके गुण-धर्मों और संबंधों को इतना बदल देती है कि जिस व्यापक एकता को वह उत्पन्न कर रही है उसमें वे बाधक न बनें। अतएव पग-

पग पर विभिन्न प्रकार की समस्याएं मनुष्यजाति के सामने आती हैं। ये समस्याएं व्यक्ति तथा तात्कालिक समुदाय और समाज के हितों में सामंजस्य बिठाने की ही नहीं होतीं बल्कि छोटे समुदायों की आवश्यकता और हितों तथा इन सबको अपने अंतर्गत करनेवाली बृहत् समष्टि के विकास में सामंजस्य स्थापित करने की भी होती हैं।

इतिहास ने इस कठिन कार्य के, इसकी सफलता और असफलता के कुछ एक शिक्षापूर्ण दृष्टांत हमारे लिये सुरक्षित रखे हैं। हम सेमेटिक राष्ट्रों में—यहूदियों और अरबों में—जाति-समूह बनाने के लिये संघर्ष पाते हैं। पहले का तो दो राज्यों में बंट जाने के कारण संघर्ष समाप्त हो गया, पर यह यहूदी राष्ट्र की दुर्बलता का एक स्थायी कारण बन गया। दूसरे में इस्लाम की प्रचंड संगठन-शक्ति के द्वारा इस संघर्ष को अस्थायी रूप से वश में कर लिया गया। हम देखते हैं कि कैंल्टिक जातियों में वंशीय जीवन व्यवस्थित राष्ट्रीय जीवन के रूप में संगठित नहीं हो सका। आयरलैंड तथा स्कॉटलैंड में तो यह सर्वथा असफल रहा। वहां इस असफलता से छुटकारा तभी मिला जब विदेशी शासन और संस्कृति ने वंशीय जीवन का नाश कर दिया; यह वेल्स में सबसे अंत में हो पाया। हम देखते हैं कि यूनान के इतिहास में नगर-राज्य और छोटी प्रादेशिक जातियां घुल-मिलकर एक हो जाने में सफल नहीं हुईं। किंतु रोमन इटली के विकास में प्रकृति के इस प्रकार के संघर्ष को अपूर्व सफलता मिली। उधर भारत के संपूर्ण अतीत में भी पिछले दो हजार या अधिक वर्षों से अत्यधिक तथा विभिन्न प्रकार के विषम तत्त्वों की केंद्र-विरोधी प्रवृत्ति को वश में लाने का प्रयत्न होता आया है। ये भिन्न-भिन्न तत्त्व थे कुटुम्ब, समाज, वंश, जाति, छोटा प्रांतिक राज्य या लोक-समुदाय, भाषा पर आधारित बड़ी इकाई, धार्मिक संघ और राष्ट्र के अंतर्गत राष्ट्र। सफलता के निकट कई बार पहुंच जाने पर भी यह प्रयत्न निष्फल ही रहा। संभवतः हम यह कह सकते हैं कि यहां प्रकृति ने अपूर्व जटिलता और प्रभावशाली समृद्धि का परीक्षण किया था। उसने सारी संभावित कठिनाइयां एकत्र कर ली थीं जिससे वह अधिक-से-अधिक वैभवपूर्ण परिणाम पर पहुंच सके। परंतु अंत में इस समस्या को सुलझाना असंभव हो गया, कम-से-कम यह सुलझाया तो नहीं जा सकी और प्रकृति को सदा के समान बाहरी शक्ति के प्रयोग अर्थात् विदेशी शासनरूपी साधन का आश्रय लेना पड़ा।

किंतु राष्ट्र चाहे काफी संगठित हो भी जाये—राष्ट्र ही वह सबसे बड़ी 'इकाई' है जिसे प्रकृति अबतक सफलतापूर्वक विकसित कर चुकी है—पूर्ण एकता सदा प्राप्त नहीं होती। यदि अन्य विरोधी तत्व न भी रहें तो भी वर्गों में कलह तो सदा ही संभव है। यह तथ्य हमें मनुष्य-जीवन में प्रकृति के इस क्रमिक विकास के एक और नियम की ओर ले जाता है जिसका विशेष महत्त्व हम तभी जान सकेंगे जब हम संभवनीय मानव-एकता के प्रश्न पर आयेंगे। एक पूर्ण समाज में या अंत में पूर्ण मनुष्यजाति में व्यक्ति की पूर्णता—पूर्णता से सदा यह समझना चाहिये कि वह विकासशील तथा

आर्पाक्षक है—प्रकृति का अनिवार्य उद्देश्य है। परंतु समाज के सब व्यक्तियों का विकास, साथ-ही-साथ, एक समान और समर्पित से नहीं होता। कुछ आगे बढ़ते हैं तो दूसरे पूरी तरह से या सापेक्ष रूप में स्थायी रहते हैं, और कुछ पीछे भी हट जाते हैं। फल-स्वरूप जिस प्रकार समुदायों में परस्पर निरंतर विरोध रहने से प्रबल राष्ट्रों का उदय होना आवश्यक होता है उसी प्रकार स्वयं समुदाय में से भी एक प्रबल वर्ग का उदय होना अनिवार्य हो जाता है। प्रबलता उसी वर्ग की रहती है जो उस आदर्श-रूप का अधिकतम पूर्णता के साथ उन्नत करता है जिसकी प्रकृति को आगे बढ़ने या पीछे हटने के लिये आवश्यकता होती है। अगर प्रकृति चारित्रिक शक्ति और बल चाहती है तो प्रबल शिष्टवर्ग उत्पन्न हो जाता है; यदि ज्ञान और विज्ञान चाहती है तो प्रभावशाली साहित्यिक अथवा पंडित-वर्ग उत्पन्न हो जायेगा; यदि व्यवहारकुशलता, प्रवीणता, अर्थ-संग्रह और निपुण व्यवस्था की मांग हो तो प्रबल मध्यश्रेणी या वैश्यवर्ग का उदय भी हो सकता है, जिसका अग्रणी साधारणतया वकील होता है; और यदि सामान्य हित को केंद्रित न करके विस्तृत करना तथा श्रम की उचित व्यवस्था करना अभीष्ट हो तो शिल्पी-वर्ग का प्रभुत्व स्थापित होना भी असंभव नहीं।

पर यह स्थिति चाहें प्रबल वर्गों की हो या प्रबल राष्ट्रों की, एक अस्थायी आवश्यकता से अधिक कभी नहीं हो सकती, क्योंकि मनुष्य-जीवन में बहुतों का कुछ के द्वारा या कुछ का बहुतों के द्वारा शोषण प्रकृति का अंतिम उद्देश्य नहीं हो सकता। न ही मनुष्यजाति के एक बड़े भाग की हीन अधोर्गति या उसकी अंध दासता के मूल्य पर कुछ व्यक्तियों की पूर्णता कभी उद्देश्य हो सकती है। ये तो सामयिक उपायमात्र हो सकते हैं। अतएव हम देखते हैं कि इन प्रबल वर्गों में इनके अपने नाश का बीज सदैव विद्यमान रहता है। इस शोषक तत्त्व के बहिष्कार या नाश या फिर एकीकरण तथा समीकरण के द्वारा इनका समाप्त होना आवश्यक है। यूरोप और अमरीका में हम देखते हैं कि प्रबल ब्राह्मण तथा प्रबल क्षत्रियवर्ग या तो मिट गये हैं या फिर सर्वसाधारण के साथ समानता में विलीन होनेवाले हैं। केवल दो सर्वथा पृथक् वर्ग वहां रह गये हैं, प्रबल पूंजीपति और श्रमजीवी; इस अंतिम श्रेष्ठता का लोप कर देना ही आजकल के अत्यधिक महत्वपूर्ण आंदोलनों का काम रह गया है। इस दृढ़ प्रवृत्ति के द्वारा यूरोप ने प्रकृति के क्रमिक विकास के एक महान् नियम का पालन किया है, यह नियम है अंतिम समानता की ओर उसकी प्रवृत्ति। पूर्ण समानता तो निश्चय ही न उसे अभिप्रेत है और न संभव ही, उसी प्रकार जिस प्रकार पूर्ण एकरूपता असंभव भी है और नितान्त अवांछनीय भी; पर एक ऐसी आधारभूत समानता, जो सच्ची श्रेष्ठता और विभिन्नता के खेल को दोषरहित कर देगी, मनुष्यजाति की किसी भी विचार में आने योग्य पूर्णता के लिये आवश्यक है।

इसलिये एक प्रबल अल्पसंख्यक वर्ग के लिये सबसे बढ़िया परामर्श यह है कि वह सदा समय रहते ही ठीक घड़ी को पहचानकर अपने अधिकार का त्याग कर दे

और अपने आदर्श, गुण, संस्कृति तथा अनुभव समुदाय के बाकी के सारे व्यक्तियों को या उसके उतने अंग को जो उन्नति के लिये तैयार है, सौंप दे। जहां ऐसा होता है सामाजिक समुदाय बिना किसी बाधा, गंभीर चोट या व्याधि के, स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ता है। नहीं तो उसके ऊपर एक अव्यवस्थित उन्नति लाद दी जाती है, क्योंकि प्रकृति को कभी यह सहन नहीं होगा कि मानुषी अहंभाव उसके आशय और उसकी आवश्यकता को सदा के लिये व्यर्थ कर दे। जहां प्रबल वर्ग अपने पर उसके दावे को सफलतापूर्वक टाल देते हैं वहां सामाजिक समुदाय भीषण दुर्भाग्य से ग्रस्त हो सकता है,—जैसा भारत में हुआ; यहां ब्राह्मण और अन्य कुलीन जातियों ने राष्ट्र के बड़े भाग को यथासंभव अपने स्तर पर लाना अंतिम रूप से अस्वीकार कर दिया; अपने और समाज के शेष भाग में कभी न पट सकनेवाली खाई खोद ली; उनके अंतिम हास और अधःपतन का यही कारण था। जब प्रकृति के उद्देश्यों में बाधा डाली जाती है तो वह निश्चित रूप में केंद्र से अपनी शक्ति हटा लेती है और अंत में बाधा का अस्तित्व मिटाने के लिये अन्य बाह्य साधन जुटाकर उनका प्रयोग करती है।

परंतु अंदर की एकता चाहे उतनी पूर्ण बना भी ली जाये जितनी सामाजिक, प्रशासनीय और सांस्कृतिक मशीनरी द्वारा बननी संभव है, तो भी व्यक्ति का प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना रहता है, क्योंकि ये सामाजिक इकाइयां या समुदाय मानव-शरीर की तरह नहीं हैं जिसके अवयवभूत कोषाणु शरीररूपी समुदाय से पृथक् सत्ता नहीं रख सकते। मानव-व्यक्ति अपना पृथक् अस्तित्व रखना तथा कुटुम्ब, वंश, वर्ग और राष्ट्र की सीमाओं को पार करना चाहता है; एक ओर आत्मपूर्णता और दूसरी ओर व्यापकता उसकी पूर्णता के आवश्यक अंग हैं। इसलिये, जिस प्रकार सामाजिक समुदाय की उन प्रणालियों को, जो एक या अनेक वर्गों के दूसरों पर प्रभुत्व के ऊपर निर्भर करती हैं, बदलना या समाप्त होना चाहिये, उसी प्रकार जो सामाजिक समुदाय व्यक्ति की इस पूर्णता के रास्ते में रोड़ा अटकाते हैं तथा उसको अपने सीमित सांचे और एक संकुचित संस्कृति या वर्ग या राष्ट्र के तुच्छ हित की कठोर सीमा में बांधे रखना चाहते हैं उन्हें भी विकासशील प्रकृति की अदम्य प्रेरणा के वशीभूत होकर अपने परिवर्तन या नाश का समय और दिन निश्चित कर लेना चाहिये।

समुदाय और व्यक्ति

प्रकृति का सदा से यह ढंग रहा है कि जब उसे सामंजस्य के दो तत्त्वों में अनुकूलता लानी होती है तो पहले तो वह उन्हें दीर्घ कालतक लगातार बनाये रखते हुए आगे बढ़ती है जिसमें कभी वह पूरी तरह एक ओर झुक जाती है और कभी दूसरी ओर, और कभी दोनों के अत्यधिक आग्रहों को ठीक करने के लिये उनमें यथासंभव सफल और तात्कालिक सामंजस्य और मर्यादित करनेवाला समझौता कर देती है। तब ये दोनों तत्त्व विरोधी होने पर भी एक-दूसरे के पूरक हो जाते हैं; फलस्वरूप वे अपने विरोध के किसी परिणाम पर पहुंचने की चेष्टा करते हैं। पर, क्योंकि प्रत्येक में अपनी अहंबुद्धि तथा सब वस्तुओं की भांति एक ऐसी सहजप्रवृत्ति होती है जो उसे अपनी अधिगत शक्ति के अनुपात में आत्म-रक्षा करने के लिये ही नहीं, वरन् आत्म-ख्यापन के लिये भी प्रेरित करती है, प्रत्येक ही एक ऐसे परिणाम पर पहुंचने की चेष्टा करता है जिसमें वह स्वयं अधिक-से-अधिक भाग प्राप्त कर सके और यदि संभव हो तो दूसरे के अहं को पूर्ण रूप से अधिकृत ही नहीं, वरन् उसे पूरी तरह से अपने अहं में विलीन कर ले। इस प्रकार समस्वरता की ओर उनकी प्रगति शक्तियों के संघर्ष से संपन्न होती है, और प्रायः यह आपसी मेल या समझौते का नहीं, वरन् एक-दूसरे को खा जाने का प्रयत्न होती है। वास्तव में एकता का हमारा सर्वोच्च आदर्श यह है कि उनमें से कोई एक-दूसरे को नहीं, बल्कि प्रत्येक दूसरे को अधिकृत कर ले, जिससे प्रत्येक पूर्ण रूप से दूसरे में तथा दूसरे के समान बनकर रहे। यह प्रेम का वह अंतिम आदर्श है जिसे संघर्ष अज्ञानपूर्वक प्राप्त करने का प्रयत्न करता है; क्योंकि संघर्ष के द्वारा मनुष्य स्थायी मेल पर नहीं, बल्कि दो विरोधी मांगों की अनुकूलता पर, दोनों के एकीकरण पर नहीं, बल्कि दो विरोधी अहंभावों के समझौते पर पहुंच सकता है। फिर भी यह संघर्ष उस वृद्धिशील पारस्परिक सहानुभूति की ओर अवश्य ले जाता है जो वास्तविक एकता प्राप्त करने के प्रयत्न को संभव कर देती है।

व्यक्ति और समुदाय के आपसी संबंधों में प्रकृति की यह सतत प्रेरणा दो समान रूप से गहरी जमी हुई मानव-प्रवृत्तियों—व्यक्तिवाद और समुदायवाद—के बीच एक संघर्ष के रूप में प्रकट होती है। एक ओर राज्य का सर्वग्रासी अधिकार, पूर्णता और विकास है, दूसरी ओर व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता, पूर्णता और उन्नति। राज्य-भावना या एक छोटी या बड़ी सजीव मशीन और व्यक्ति-भावना या अधिकाधिक विशिष्ट, प्रकाशयुक्त और देवत्व की ओर बढ़ता हुआ पुरुष नित्य विरोध में खड़े हो जाते हैं। राज्य के विस्तार से संघर्ष के मूल-तत्त्व में कोई अंतर नहीं पड़ता और न इससे उसकी विशिष्ट परिस्थितियों में अंतर आना आवश्यक ही है। यह कुटुंब, वर्ण या नगर था;

फिर यह कुल, जाति और वर्ग बना। अब यह राष्ट्र है। कल या परसों यह समस्त मनुष्यजाति हो सकता है। परंतु तब भी मनुष्य और मनुष्यजाति में, अपने-आपको स्वतंत्र करनेवाले व्यक्ति और सबको अपने अंदर समेट लेनेवाले समुदाय में प्रश्न बना ही रहेगा।

यदि हम केवल इतिहास और समाजशास्त्र के प्राप्त तथ्यों पर विचार करें तो हमें पता चलेगा कि मनुष्यजाति सर्वग्राही समुदाय से शुरू हुई थी और व्यक्ति पूर्णतया इसके अधीन था, तथा व्यक्तित्व की वृद्धि मानव-विकास की एक घटना और बढ़ते हुए सचेतन मन का परिणाम है। हम कह सकते हैं कि शुरू में मनुष्य बिल्कुल ही संघशील प्राणी था, जीवन-रक्षा के लिये संघ उसकी प्रथम आवश्यकता थी, और क्योंकि जीवन-रक्षा प्राणिमात्र की पहली आवश्यकता है इसलिये व्यक्ति समूह की शक्ति और सुरक्षा के साधन के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता था। यदि इस शक्ति और सुरक्षा के साथ उन्नति, निपुणता, आत्म-ख्यापन और आत्म-रक्षा को भी जोड़ दिया जाये तो फिर भी यह समूहवाद का ही प्रमुख विचार रहता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति एक ऐसी आवश्यकता है जो परिस्थिति और वातावरण से उत्पन्न होती है। यदि हम मूल तथ्यों की ओर अधिक ध्यान दें तो हम देखेंगे कि जड़ पदार्थ में एकरूपता ही समूह का लक्षण है। विविधता का स्वच्छंद खेल तथा व्यक्ति का विकास जीवन तथा मन के विकास के साथ-साथ ही आगे बढ़ता है। यदि हम मनुष्य को जड़ में तथा जड़ में से मानसिक सत्ता का विकास मानें तब हमें यह भी मानना होगा कि वह एकरूपता तथा व्यक्ति-भाव की गौणता से चलकर विविध-रूपता तथा व्यक्तित्व की स्वतंत्रता को प्राप्त करता है। इस प्रकार बाह्य अवस्थाओं और परिस्थिति की आवश्यकता तथा उसकी अपनी सत्ता के आधारभूत तत्त्वों का अनिवार्य नियम हमें एक ही परिणाम की ओर संकेत करते हैं, उसके ऐतिहासिक और पूर्व-ऐतिहासिक विकास की उसी एक प्रक्रिया के सूचक हैं।

परंतु मनुष्यजाति की एक और प्राचीन परंपरा भी है कि इस सामाजिक अवस्था से पहले एक और स्वतंत्र तथा असामाजिक अवस्था थी। इस परंपरा की उपेक्षा करना या इसे कोरी कल्पना समझना किसी प्रकार से भी युक्तिसंगत नहीं। आजकल के वैज्ञानिक विचारों के अनुसार, यदि ऐसी अवस्था का कभी अस्तित्व था—जो बात सत्य से कोसों दूर है—तो यह केवल असामाजिक ही नहीं, वरन् समाजविरोधी भी रही होगी; अपने विकासक्रम में समुदाय का प्राणी बनने से पहले मनुष्य की अवस्था अवश्य ही एक ऐसे पृथक् रहनेवाले प्राणी की-सी रही होगी जो हिंस्र पशु के समान जीवन व्यतीत करता था। पर उधर इस परंपरागत गाथा का संबंध उस स्वर्णयुग से है जिसमें वह बिना समाज के स्वतंत्र रूप से सामाजिक था। वह नियमों या संस्थाओं से बंधा हुआ नहीं था। सहज-बुद्धि या स्वतंत्र ज्ञान के अनुसार जीवन बिताते हुए उसने अपने अंदर ही निवास करने का यथार्थ नियम अधिगत कर लिया था। उसे न तो

अपने सहजीवियों को पीड़ा पहुंचाने की आवश्यकता थी और न ही समूह के कठोर जुए में बंधने की। यदि हम चाहें तो कह सकते हैं कि यहीं काव्यमय या आदर्शवादी कल्पना ने गहरी जमी हुई जातिगत स्मृति से प्रेरणा ली; आदिम सभ्य मनुष्य ने अपने स्वतंत्र, असंगठित और सुखद साहचर्य के विकासशील आदर्श को असंगठित, असंस्कृत तथा समाजविरोधी जीवन की जातिगत स्मृति के भीतर पाया। पर यह भी संभव है कि हमारी प्रगति एक सीधी रेखा में नहीं, बल्कि काल-चक्रों में हुई है। और उन चक्रों में कम-से-कम आंशिक उपलब्धि के ऐसे काल भी आये हैं जब मनुष्य दार्शनिक अराजकता के उच्च स्वप्न के अनुसार जीवन बिताने के योग्य हो गये थे। वे प्रेम, प्रकाश, यथार्थ जीवन, यथार्थ चिंतन, यथार्थ कर्म के आंतरिक नियम द्वारा एक-दूसरे से संबंधित थे, वे राजाओं और संसदों, नियमों, पुलिस और दंड-विधान द्वारा जबर्दस्ती एकत्र नहीं कर दिये गये थे। उन्हें उस क्रूर कष्ट, छोटे-मोटे या बड़े अत्याचार और दमन तथा स्वार्थ और भ्रष्टाचार के बेढंगे क्रम में से नहीं गुजरना पड़ता था जो मानव के मानव पर बलात्कारपूर्ण शासन में पाया जाता है। यह भी संभव है कि हमारी प्रारंभिक अवस्था पशुओं की भांति एक उदार और परिवर्तनशील संघ की एक सहज-स्वाभाविक अवस्था थी, और हमारी अंतिम आदर्श अवस्था उदार और परिवर्तनशील समुदाय की एक सचेतन, सहज अंतर्ज्ञान की अवस्था होगी। हमारी भवितव्यता यह हो सकती है कि यह प्रारंभिक पशुओं जैसा समूह देवताओं के समाज में परिणत हो जाये। हमारा विकास एक ऐसा चक्करदार मार्ग हो सकता है जो प्रकृति को व्यक्त करनेवाली सरल-सहज एकरूपता और समस्वरता से भगवान् को अभिव्यक्त करनेवाली स्वयंसिद्ध एकता की ओर जाता है।

जो कुछ भी हो, इतिहास और समाजशास्त्र हमें केवल यह बताते हैं कि—स्वतंत्र एकांतवास या स्वतंत्र सहवास की अवस्था पर पहुंचने के लिये धार्मिक या अन्य आदर्शवादों ने जो प्रयत्न किये हैं उन्हें छोड़कर—मनुष्य एक कम अथवा अधिक संगठित समुदाय में रहनेवाला व्यक्ति है। और समुदाय में सदा दो नमूने होते हैं। एक व्यक्ति की अवहेलना करके राज्यभाव का समर्थन करता है, जैसे प्राचीन स्पार्टा और आधुनिक जर्मनी। दूसरा राज्य की श्रेष्ठता का समर्थन तो करता है, पर साथ ही राज्य के अंगभूत व्यक्तियों को उतनी स्वतंत्रता, शक्ति तथा महत्ता भी देना चाहता है जितनी उसके अपने प्रभुत्व के साथ संगत हो, जैसे प्राचीन एथेन्स और आधुनिक फ्रांस। परंतु इन दोनों के साथ एक तीसरा नमूना भी जोड़ दिया गया है जिसमें राज्य व्यक्ति को अधिक-से-अधिक अधिकार सौंप देता है और साहसपूर्वक यह दावा करता है कि उसका अस्तित्व व्यक्ति के विकास के लिये ही है। उसकी स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और उसके सफल मनुष्यत्व की रक्षा के लिये वह साहसपूर्ण विश्वास के साथ इस बात का परीक्षण करता है कि क्या अंत में व्यक्ति की यथासंभव अधिक-से-अधिक स्वाधीनता, प्रतिष्ठा और मनुष्यत्व ही ऐसी चीजें नहीं हैं जो राज्य के हित, बल और

विस्तार की रक्षा का अधिक-से-अधिक आश्वासन देंगी। अभी हाल में ही इंग्लैंड ने इस नमूने का एक महान् दृष्टांत उपस्थित किया है,—ऐसे इंग्लैंड ने जो केवल इसी आंतरिक भावना के बल पर स्वतंत्र, समृद्ध, शक्तिशाली और अजेय बना, और जिसे देवताओं ने अतुल विस्तार, साम्राज्य और सौभाग्य का वरदान दिया क्योंकि उसने कभी इस महान् भावना का अनुसरण करने तथा इस महान् कर्म की कठिनाइयों का सामना करने से भय नहीं माना, यहांतक कि उसने प्रायः अपने द्वीपीय अहंकार की सीमाओं के पार जाकर भी इसी भावना का प्रयोग किया। दुर्भाग्यवश, उस अहंकार ने, मानवजाति के स्वभावगत दोषों ने तथा किसी एक सीमित विचार पर बल देने की प्रवृत्ति ने—यह प्रवृत्ति हमारी मानवी अविद्या का एक लक्षण है—उसके इस कार्य में बाधा डाली। अतएव वह इस प्रवृत्ति की यथासंभव अतिशय श्रेष्ठ और प्रचुर अभिव्यक्ति नहीं कर सका, न ही वह इससे उन अन्य परिणामों को प्राप्त कर सका जिसे अधिक सुव्यवस्थित राज्य प्राप्त कर चुके या कर रहे हैं। फलस्वरूप हम देखते हैं कि समूह या राज्य की भावना प्राचीन अंग्रेजी परंपरा को तोड़ रही है और यह संभव है कि शीघ्र ही इस महान् प्रयोग का असफलता की दुःखदायी स्वीकृति के साथ अंत हो जायेगा और इसका अंत होगा जर्मनी के उस 'अनुशासन' और 'कुशल' संगठन को स्वीकार करने के कारण जिसकी ओर समस्त सभ्य मनुष्यजाति आज बढ़ती हुई प्रतीत हो रही है। मनुष्य अपने-आप से पूछ सकता है कि क्या यह सब वास्तव में आवश्यक था, क्या अधिक नमनीय और सजग बुद्धि से आलोकित अधिक साहसपूर्ण विश्वास के द्वारा एक नयी और अधिक उदार प्रणाली से ये सब वांछनीय परिणाम नहीं प्राप्त हो सकते थे जो जाति के धर्म को भी अक्षुण्ण बनाये रखती।

राज्य अपने हित के लिये व्यक्ति के दमन करने का जो अपना अधिकार जताता है उसके संबंध में हमें एक और बात भी ध्यान में रखनी चाहिये। वह यह है कि सिद्धांत की दृष्टि से इसका कुछ महत्त्व नहीं कि राज्य क्या रूप धारण करता है। निरंकुश शासक का सब पर अत्याचार या बहुसंख्यक दल का व्यक्ति के ऊपर अत्याचार एक ही प्रवृत्ति के दो रूप हैं। दूसरी अवस्था में मानव-प्रकृति के द्वंद्व के कारण बहुसंख्यक दल आत्म-सम्मोहन द्वारा अपना ही दमन और अपने पर ही अत्याचार करने लगता है। जब व्यक्ति, "राज्य मैं ही हूं" इन निरपेक्ष शब्दों में राज्य के साथ अपना तादात्म्य घोषित करता है तो वह एक गंभीर सत्य को उच्चारित कर रहा होता है, यद्यपि यह सत्य एक असत्य पर आधारित होता है। सत्य वास्तव में यह है कि व्यक्ति राज्य की ही आत्म-अभिव्यक्ति है। इसके द्वारा राज्य अपने अंगभूत व्यक्तियों की स्वतंत्र इच्छा, स्वतंत्र प्रक्रिया, शक्ति, प्रतिष्ठा और आत्म-ख्यापन को अपने अधीन करने का विशेष रूप से प्रयत्न करता है। असत्य उस आधारभूत विचार में है जो यह कहता है कि राज्य अपने सदस्य व्यक्तियों से बढ़कर है और वह निर्दोष रूप में स्वयं अपने लिये तथा मानवजाति के उच्चतम हित में इस आग्रहशील श्रेष्ठता का दावा कर सकता है।

वर्तमान समय में राज्य-सिद्धांत एक लंबी अवधि के बाद पुनः अपने पूरे जोर पर आया है। संसार के चिंतन और कर्म पर उसका प्रबल प्रभाव पड़ रहा है। इसके मूल में दो प्रेरक भाव काम कर रहे हैं; एक जाति के बाह्य हित से संबंध रखता है और दूसरा उसकी उच्चतम नैतिक प्रवृत्तियों से। वह इस बात की मांग करता है कि वैयक्तिक अहंकार अपने-आपको सामूहिक हित के लिये बलिदान कर दे। वह अधिकारपूर्वक यह चाहता है कि मनुष्य को अपनी खातिर नहीं, वरन् सर्माष्टि, समुदाय, समाज की खातिर जीवित रहना चाहिये। वह बलपूर्वक कहता है कि मनुष्यजाति की भलाई और उन्नति की आशा राज्य की कार्यदक्षता और संगठन में है। उसकी पूर्णता का मार्ग यह है कि व्यक्ति और समुदाय की आर्थिक तथा अन्य महत्त्वशाली व्यवस्थाओं का संचालन राज्य ही करे। इसीको हम युद्ध की प्रचलित भाषा में यूँ कह सकते हैं कि राज्य व्यक्ति की बुद्धि, योग्यता, उसके विचार, भाव, जीवन और उस सबको जो वह है या उसके पास है, सर्वहित के लिये “संगठित” करे। इसको यदि अंतिम परिणामतक पहुंचाया जाये तो वह होगा अपने पूरे जोर में समाजवादी आदर्श और इसी परिणाम की ओर मनुष्यजाति एक अपूर्व वेग से बढ़ती हुई प्रतीत हो रही है। राज्य-सिद्धांत आज अत्यंत वेग और बल के साथ अधिकार प्राप्त करने का यत्न कर रहा है, वह अपने पैरों तले उस सबको कुचलने के लिये तैयार है जो उसके प्रवाह के आगे आते हैं या मानव की अन्य प्रवृत्तियों के अधिकार की स्थापना करने का प्रयत्न करते हैं। परंतु जिन दो विचारों पर वह आधारित है वे सत्य और असत्य के उस विनाशकारी मिश्रण से भरे हुए हैं जो हमारे समस्त मानवी अधिकारों और सिद्धांतों के साथ जुड़ा रहता है। यदि हमें असहाय होकर प्रकृति के गभीर और जटिल सत्य की ओर आने से पहले भ्रम का एक और चक्कर न काटना हो तो हमें एक ऐसे जिज्ञासापूर्ण और निष्पक्ष विचार की शोधन-क्रिया द्वारा इन अधिकारों तथा सिद्धांतों का देखना होगा जो शब्द-जाल के धोखे में आने से इंकार कर दे। वास्तव में प्रकृति का गभीर और जटिल सत्य ही हमारा प्रकाश और मार्गदर्शक होना चाहिये।

राज्य-सिद्धांत की अपर्याप्तता

आखिर यह राज्य-सिद्धांत, यह संगठित समाज का विचार जिसके लिये व्यक्ति की बलि देनी होगी, है क्या ? सिद्धांत रूप में यह व्यक्ति से इस बात की मांग करता है कि वह अपने-आपको सर्वहित के अधीन कर दे; व्यावहारिक रूप में वह सामूहिक अहं के अधीन हो जाता है जिस अहं का स्वरूप राजनीतिक, सैनिक तथा आर्थिक होता है। यह उन सामूहिक उद्देश्यों और महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने की चेष्टा करता है जो शासकों के छोटे या बड़े दल द्वारा—ये किसी रूप में समाज के प्रतिनिधि माने जाते हैं—कल्पित होते हैं तथा व्यक्तियों के बृहत् समूह पर आरोपित किये जाते हैं। इस बात से कुछ फर्क नहीं पड़ता कि ये किसी शासक-वर्ग के हों, या जैसा कि आधुनिक राज्यों में होता है, अंशतः अपने चरित्र-बल से, पर अधिकतर परिस्थिति की सहायता से जनसाधारण में से निकले होते हैं। इसमें इस बात से भी कुछ विशेष अंतर नहीं आता कि उनके उद्देश्य और आदर्श आजकल स्पष्ट और साक्षात् बल-प्रयोग द्वारा नहीं, बल्कि शब्दों की सम्मोहन-क्रिया द्वारा जनता पर लादे जाते हैं। दोनों में से किसी भी अवस्था में भरोसे के साथ नहीं कहा जा सकता कि ये शासक-वर्ग या शासक-दल राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ बुद्धि या उसके सर्वोत्तम उद्देश्यों या उच्चतम प्रेरणाओं के प्रतीक हैं।

संसार के किसी भाग के आधुनिक राजनीतिज्ञ के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता; वह जाति की आत्मा या उसकी उच्च आकांक्षाओं का प्रतीक नहीं होता। साधारणतया वह अपने चारों ओर की आम तुच्छता, स्वार्थ-परता, अहंबुद्धि और आत्म-प्रवंचना का ही प्रतिनिधि होता है। इनका प्रतिनिधित्व तो वह भली-भाँति करता ही है, साथ ही अत्यधिक मानसिक अयोग्यता, नैतिक-रुद्धिता, भीरुता, क्षुद्रता तथा पाखंड का प्रतिनिधित्व भी करता है। निर्णय के लिये उसके सामने महान् प्रश्न प्रायः आते हैं, पर उनके समाधान का उसका ढंग महान् नहीं होता। उच्च शब्द और उत्तम विचार उसके मुख पर होते हैं, पर वे शीघ्र ही पार्टी के विज्ञापन की चीज बन जाते हैं। वर्तमान राजनीतिक जीवन में असत्याचरण का यह रोग संसार के प्रत्येक देश में दृष्टिगोचर हो रहा है और सब लोग, यहांतक कि बुद्धिजीवी वर्ग भी मंत्रमुग्ध होकर उस बड़े संगठित स्वांग में सहमत और सहयोगी हो जाते हैं और इससे रोग ढक जाता तथा लंबे समयतक चलता है, यह सहमति उसी प्रकार की है जो मनुष्य नित्य अभ्यास की चीजों को देता है तथा जिससे उसके जीवन का वर्तमान वातावरण बनता है। तो भी ऐसे मनुष्यों द्वारा ही सबकी भलाई का निर्णय करना होता है, ऐसे हाथों में ही यह कार्य सौंपना पड़ता है, राज्य कहलानेवाली ऐसी एजेंसी को ही अपने कार्य-

व्यवहार का निर्देशन और नियंत्रण सौंपने के लिये आज व्यक्ति से अधिकाधिक अनुरोध किया जा रहा है। इससे वस्तुतः सर्व का अधिकतम हित किसी तरह भी सिद्ध नहीं होता, इसके बदले हम अत्यधिक संगठित भूँलें और दोष देखते हैं जिनमें कुछ हित भी होता है जिससे वास्तविक उन्नति की ओर प्रगति होती है। प्रकृति सदा ही सब प्रकार की भूल-चूक के बीच से आगे बढ़ती है और अंत में—अधिकतर मनुष्य की अपूर्ण बुद्धि की बाधा के होते हुए भी, न कि उसकी सहायता से—अपने उद्देश्यों को पूरा करती है।

परंतु यदि शासन-यंत्र अधिक अच्छा भी बना हो और उसका मानसिक और नैतिक चरित्र अधिक ऊंचा भी हो, यदि, जैसा कि प्राचीन सभ्यताओं ने अपने शासक-वर्ग में कुछ ऊंचे आदर्श तथा अनुशासन लाने का यत्न किया था, वैसा करने का रास्ता आज भी निकाल लिया जाये तो भी राज्य वह वस्तु नहीं बन सकेगा जिसका कि राज्य-सिद्धांत की ओर से दावा किया जाता है। सिद्धांत-रूप में राज्य समाज की वह सामूहिक बल-बुद्धि है जो सर्वहित के लिये सुलभ और संगठित कर दी जाती है। पर व्यावहारिक रूप में जो इंजिन पर नियंत्रण रखती है और गाड़ी को चलाती है वह समाज की केवल उतनी-सी बल-बुद्धि होती है जितनी को राज्य-संगठन की विशेष मशीनरी ऊपरी तल पर आने देती है; बल्कि यह भी मशीनरी की लपेट में आ जाती है तथा उसके कारण इसके कार्य में रुकावट तो पड़ती ही है, साथ ही इसे उस अत्यधिक मूर्खता और स्वार्थपूर्ण दुर्बलता के कारण भी रुकना पड़ता है जो इसके साथ-साथ ऊपर उठ आती हैं। निःसंदेह, इन परिस्थितियों में अधिक-से-अधिक यही हो सकता है, और प्रकृति सदा की भांति इसका अधिकतम उपयोग करती है। परंतु स्थिति और भी अधिक खराब होती यदि वैयक्तिक प्रयत्न के लिये एक ऐसा क्षेत्र न छोड़ दिया जाता जिसमें कि वह अपेक्षाकृत स्वतंत्र रूप से उस कार्य को करे जिसे राज्य नहीं कर सकता, जिसमें वह सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की सच्चाई, शक्ति और आदर्श-भावना को प्रकट करके तथा उन्हें प्रयोग में लाकर उस कार्य को करे जिसे करने के लिये राज्य के पास बुद्धि या साहस नहीं है और साथ ही उस कार्य को पूरा करवाये जिसे सामूहिक रूढ़ि और निर्बलता या तो बिना किये छोड़ देतीं या सक्रिय रूप में उसका दमन तथा विरोध करतीं। व्यक्ति की यही शक्ति सामूहिक उन्नति के लिये यथार्थ रूप में उपयोगी कार्य करती है। राज्य कभी-कभी इसकी सहायता के लिये आगे बढ़ता है और तब, यदि उसकी सहायता का अर्थ अनुचित नियंत्रण न हो तो, उसका परिणाम निश्चित ही हितकर होता है। पर अधिकतर तो यह रास्ते में रोड़ा ही अटकाता है, फिर या तो वह उन्नति पर रोक लगानेवाला बन जाता है या आवश्यक मात्रा में उस संगठित विरोध और संघर्ष को जुटाता है जो निर्माण की क्रिया में से गुजरती हुई नयी वस्तु को और अधिक बल तथा अधिक पूर्ण आकार देने के लिये सदैव आवश्यक होता है। पर जिसकी ओर हम आज बढ़ रहे हैं वह संगठित राज्य-

शक्ति का इतना विस्तार, इतना विशाल, अदम्य और जटिल राजकीय कार्य-कलाप है जो स्वतंत्र वैयक्तिक प्रयत्न को या तो बिल्कुल मिटा देगा या उसे क्षुद्र, दीन तथा असहाय बनाकर छोड़ देगा। इस प्रकार राज्यरूपी मशीन के इन दोषों, उसकी सीमाओं तथा अयोग्यता को सुधारने का एक आवश्यक साधन नष्ट हो जायेगा।

संगठित राज्य न तो राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ बुद्धि है और न ही सामाजिक शक्तियों का कुल-जोड़। वह अपने संगठित कार्य-क्षेत्र में से महत्त्वपूर्ण अल्प-संख्यक वर्गों की कार्यशक्ति तथा उनके निचारील मन को बहिष्कृत कर देता है, उन्हें दबाता या अनुचित रूप से निरुत्साहित करता है। अधिकतर ये उसके प्रतीक होते हैं जो वर्तमान में सर्वश्रेष्ठ है तथा भविष्य के लिये विकसित हो रहा है। यह एक सामूहिक अहंभाव है जो समाज के ऊंचे-से-ऊंचे अहंभाव से बहुत निम्न कोटि का है। यह अहंभाव अन्य सामूहिक अहंभावों की तुलना में क्या है यह हम जानते हैं, और हाल में इसकी कुरूपता मनुष्यजाति की दृष्टि और विवेक-बुद्धि के सामने प्रकट हो चुकी है। साधारणतया व्यक्ति के पास कम-से-कम आत्मा जैसी वस्तु तो होती ही है और हर हालत में वह आत्मा की कमियों को नैतिकता और सदाचार की पद्धति से पूरा करता है, फिर इनकी कमियों को लोकमत के भय से और, इसमें भी असफल होने पर, सामाजिक कानून के भय से दूर करता है। इस कानून का उसे साधारणतया या तो पालन करना होता है या फिर कम-से-कम वह इसे टाल तो सकता ही है, टालने के इस कार्य में जो कठिनाई आती है वह अत्यंत उद्वेग या बहुत चालाक लोगों को छोड़कर बाकी पर एक प्रतिबंध होती है। राज्य एक ऐसी सत्ता है जो, बहुत अधिक शक्ति होने के कारण, आंतरिक दुविधाओं या बाह्य प्रतिबंधों द्वारा कम-से-कम पीड़ित होती है। इसकी आत्मा या तो होती ही नहीं या फिर केवल प्रारंभिक अवस्था में होती है। यह एक सैनिक, राजनीतिक और आर्थिक शक्ति है; यदि यह एक बौद्धिक और नैतिक सत्ता हो भी तो वह केवल एक थोड़े और अविकसित अंश में ही होगी। दुर्भाग्यवश अपनी अल्पविकसित नैतिक भावना को काल्पनिक धारणाओं, मोहक शब्दों और फिर हाल में राज्यवाद के द्वारा निस्तेज कर देना ही इसकी अविकसित बुद्धि का मुख्य उपयोग है। समाज के अंदर मनुष्य आज कम-से-कम एक अर्ध-सभ्य प्राणी तो है, पर उसका अंतर्राष्ट्रीय जीवन अभी तक असंस्कृत है। अभी कुछ दिन पहलेतक संगठित राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के साथ अपने संबंधों में केवल एक दीर्घकाय हिंसक जंतु था, इसकी तृष्णाएं घटना-चक्र द्वारा कभी-कभी नष्ट या निरुत्साहित होकर दब भले ही जाती हों, पर इसके अस्तित्व का मुख्य आधार सदा वे ही रहती थीं। दूसरों को हड़पकर अपनी रक्षा और अपना विस्तार करना ही इसका धर्म था। आजकल भी इसमें कोई वास्तविक सुधार नहीं हुआ; केवल हड़पने का कार्य अब अधिक कठिन हो गया है। एक 'पवित्र अहंभाव' अभी तक राष्ट्रों का आदर्श है; इसीलिये किसी आक्रमणकारी राज्य पर प्रतिबंध लगानेवाली न तो कोई लोकमत की

सच्ची और निर्मल चेतना है और न ही कोई प्रभावशाली अंतर्राष्ट्रीय कानून। यदि कोई भय है तो वह पराजय का है; हाल में अनिष्टकारी आर्थिक विघटन का भय भी हो गया है। परंतु अनुभवों से पता चलता है कि ये सब प्रतिबंध व्यर्थ हैं।

राज्य का यह अत्यधिक अहंभाव किसी समय अपने आंतरिक जीवन में बाह्य संबंधों की अपेक्षा कुछ अच्छा था।^१ यह क्रूर, लोभी, लुटेरा, धूर्त तथा अत्याचारी था और स्वतंत्र कर्म, स्वतंत्र वाणी और मत के प्रति ही नहीं, बल्कि धार्मिक विश्वास की स्वतंत्रता के प्रति भी असहनशील था। इसने अपने अंतर्गत व्यक्तियों और वर्गों को तथा बाहर के अधिक निर्बल राष्ट्रों को खूब सताया। जिस समाज पर यह निर्भर करता था उसको मामूली तौर पर जीवित, धनी और समर्थ रखने की आवश्यकता ने ही इसके कार्य को आंशिक तथा स्थूल रूप में उपयोगी बना दिया। कुछ दिशाओं में अवनति होने पर भी आधुनिक समय में इसमें काफी सुधार हुआ। राज्य अब यह अनुभव करता है कि उसके अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक है कि वह समाज के तथा सभी व्यक्तियों के भी सामान्य आर्थिक और स्थूल-शारीरिक हितों की व्यवस्था करे। उसने यह देखना आरंभ कर दिया है कि उसे संपूर्ण समाज के बौद्धिक और परोक्ष रूप में नैतिक विकास के लिये निश्चित प्रबंध करना है। राज्य का एक बौद्धिक और नैतिक सत्ता में विकसित होने का यह प्रयत्न आधुनिक सभ्यता की अत्यंत रोचक घटनाओं में से एक है। यूरोप के संकट ने मनुष्यजाति के अंतःकरण को यह स्वीकार करने के लिये विवश कर दिया है कि राज्य को उसके बाह्य संबंधों में भी बौद्धिक तथा नैतिक रूप देना आवश्यक है। पर समस्त स्वतंत्र वैयक्तिक कार्यों को हस्तगत कर लेने का राज्य का दावा त्यों-त्यों बढ़ता जाता है ज्यों-ज्यों वह अपने नये आदर्शों और संभावनाओं के प्रति अधिक स्पष्ट रूप में सचेतन होता जाता है। इसके विषय में हम इतना तो कह ही सकते हैं कि यह दावा असामयिक है। यदि इसे पूरा कर दिया जाये तो इसके परिणामस्वरूप मनुष्य की उन्नति पर एक अवरोध, एक ऐसा सहज-संगठित प्रतिबंध लग जायेगा जिसने रोम-साम्राज्य की स्थापना के बाद ग्रीक-रोमन जगत् को अपने वश में कर लिया था।

अतएव राज्य की व्यक्ति से यह मांग, कि वह उसकी वेदी पर अपनी बलि चढ़ा दे और अपने स्वतंत्र कार्यों को संगठित सामूहिक कार्य में विलीन कर दे, हमारे उच्चतम आदर्शों की मांग से बिल्कुल भिन्न है। इसका अर्थ है वर्तमान वैयक्तिक अहंभाव को एक अन्य अर्थात् सामूहिक अहंभाव में विलीन कर देना। यह सामूहिक अहंभाव बड़ा अवश्य है पर श्रेष्ठ नहीं, बल्कि सर्वश्रेष्ठ वैयक्तिक अहंभाव से कई बातों में हीन है। परोपकार का आदर्श, आत्मत्याग की साधना, सहजीवियों के साथ

^१ मैं प्राचीन और आधुनिक युग के बीच के समय की बात कर रहा हूँ। प्राचीन काल में राज्य—कम-से-कम कुछ देशों में—अपनी जनता के प्रति कुछ आदर्श और न्याय-भावना रखता था। पर अन्य राज्यों के साथ बर्ताव में यह बात बहुत ही कम पायी जाती थी।

अधिकाधिक घनिष्ठ संबंध की आवश्यकता तथा मानवजाति में एक विकसनशील सामूहिक आत्मा, — इनके विषय में हमें कुछ आपत्ति नहीं पर व्यक्ति का राज्य में विलीन हो जाना इन उच्च आदर्शों का अर्थ नहीं है, न ही इनकी पूर्ति के लिये यह साधन है। मनुष्य को आत्म-दमन तथा आत्म-उच्छेद करना नहीं बल्कि मनुष्यजाति की पूर्णता के अंदर अपनी पूर्णता प्राप्त करना सीखना चाहिये। इसी प्रकार उसे यह भी सीखना चाहिये कि वह अपने अहं का उच्छेद या नाश न करे, बल्कि उसे उसकी सीमाओं से बाहर लाकर पूर्ण बनाये तथा एक ऐसी महत्तर वस्तु में विलीन कर दे जिसका आज वह प्रतीक बनने का यत्न कर रहा है। पर राज्य की विशाल मशीन द्वारा स्वतंत्र व्यक्ति का निगल लिया जाना एक बिल्कुल ही और प्रकार की परिणति है। राज्य हमारे सामान्य विकास के लिये एक सुविधाजनक पर बेढंगा साधन है। इसे अपने-आपमें साध्य कभी नहीं बनाना चाहिये।

राज्य-सिद्धांत का दूसरा दावा कि राज्य की संगठित मशीन का यह अधिकार और व्यापक कार्य मानव विकास का सर्वोत्तम साधन है अतिशयोक्तिपूर्ण तथा मनगढ़ंत है। मनुष्य समाज पर निर्भर करता है; उसे अपनी वैयक्तिक तथा साथ ही सामूहिक उन्नति करने के लिये भी इसकी आवश्यकता है। परंतु क्या यह सत्य है कि राज्य द्वारा संचालित कार्य व्यक्ति की पूर्ण रूप से उन्नति करने और साथ ही समाज के साझे हितों को भी प्राप्त कराने में सबसे अधिक समर्थ है? न, यह सत्य नहीं है। सत्य वास्तव में यह है कि यह समाज में व्यक्तियों के सम्मिलित कार्य के लिये सब आवश्यक सुविधाएं जुटाने तथा उसके मार्ग से उन सब दुर्बलताओं और बाधाओं को दूर करने में समर्थ है जो अन्यथा उसकी प्रक्रिया में रुकावट डालतीं। यहीं राज्य की वास्तविक उपयोगिता समाप्त हो जाती है। मानव सहयोग की शक्यताओं से इंकार अंग्रेजी व्यक्तिवाद की दुर्बलता थी; सम्मिलित कार्य की उपयोगिता के बहाने राज्य द्वारा कठोर नियंत्रण स्थापित करना समूहवाद के ट्यूटोनिक विचार की कमजोरी है। जब राज्य समाज के सम्मिलित कार्य का नियंत्रण अपने हाथ में लेने का प्रयत्न करता है, तो उसे एक ऐसे दानवी यंत्र के निर्माण करने का अपराधी बनना पड़ता है जो अंत में मनुष्य की स्वतंत्रता, प्रेरक-शक्ति और गंभीर उन्नति को कुचल डालेगा।

राज्य बेढंगे तरीके से तथा समूह में ही काम करने के लिये मजबूर है। वह उन स्वतंत्र, समस्वर तथा ज्ञानपूर्ण या सहजप्रेरित विविध कार्यों के करने में असमर्थ है जिनकी आंतरिक विकास के लिये आवश्यकता होती है। राज्य कोई प्राणिक सत्ता नहीं है, यह एक मशीन है और मशीन की ही भांति कार्य करता है। निपुणता, सुरुचि, सूक्ष्मता या अंतर्ज्ञान इसमें नहीं होता। इसकी शैली कारखाने की तरह गढ़ने की होती है जब कि मनुष्यजाति का उद्देश्य विकसित होना तथा सृजन करना है। राज्य द्वारा संचालित शिक्षा में हम यही दोष देखते हैं। यह ठीक है और आवश्यक भी कि शिक्षा सबको उपलब्ध होनी चाहिये। इसे उपलब्ध कराने के लिये राज्य अत्यधिक

उपयोगी है; पर जब वह शिक्षा पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लेता है तो वह इसे एक सामान्य ढर्रे की तथा यांत्रिक ढंग की शिक्षा बना देता है जिसमें इससे भिन्न वस्तुएं—वैयक्तिक प्रेरणा, वैयक्तिक उन्नति और सच्ची प्रगति असंभव हो जाती हैं। राज्य की प्रवृत्ति सदा एकरूपता की ओर होती है, कारण, एकरूपता उसके लिये आसान है और स्वाभाविक विविधता लाना उसकी मूलतः यांत्रिक प्रकृति के लिये एकदम असंभव है; पर एकरूपता मृत्यु है, जीवन नहीं। राष्ट्रीय संस्कृति, राष्ट्रीय धर्म, राष्ट्रीय शिक्षा उपयोगी वस्तुएं हो तो सकती हैं पर केवल तभी जब वे एक ओर मानव ऐक्य की वृद्धि में तथा दूसरी ओर विचार, अंतःकरण और विकास की वैयक्तिक स्वतंत्रता में बाधा न डालें; कारण, ये समाज की आत्मा को मूर्त रूप देती हैं तथा इसे मानव उन्नति के कुल-योग में अपना हिस्सा जोड़ने में सहायता पहुंचाती हैं, किंतु राज्य की शिक्षा, राज्य का धर्म और राज्य की संस्कृति सब अस्वाभाविक अत्याचार हैं। यही नियम हमारे सामाजिक जीवन तथा उसके कार्यों की अन्य दिशाओं में, विभिन्न प्रकार से तथा विभिन्न अंशों में, लागू होता है।

जबतक राज्य मनुष्य के जीवन और विकास का एक आवश्यक तत्त्व बना रहता है तबतक उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह सम्मिलित कार्य की सब प्राप्त सुविधाएं जुटाए, बाधाएं दूर करे, सब प्रकार के वस्तुतः हानिकारक अपव्यय और संघर्ष को रोके,—थोड़ा बहुत अपव्यय और संघर्ष तो प्रकृति के सब कार्यों में आवश्यक तथा उपयोगी होता ही है,—और व्यर्थ के अन्याय को दूर करके प्रत्येक व्यक्ति को उसकी क्षमताओं के अनुसार तथा उसके स्वभाव के अनुकूल उसकी उन्नति और तुष्टि का एक उचित और समान अवसर प्रदान करे। यहांतक तो वर्तमान समय के समाजवाद का उद्देश्य ठीक है और अच्छा भी है, पर मानव विकास की स्वतंत्रता में किसी प्रकार का भी अनावश्यक हस्तक्षेप हानिकारक होता है या हो सकता है। सम्मिलित कार्य भी हानि पहुंचा सकता है यदि वैयक्तिक विकास की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर सबके हित के लिये प्रयत्न करने के स्थान पर,—क्योंकि बिना वैयक्तिक विकास के किसी प्रकार का वास्तविक और स्थायी सर्वहित होना संभव नहीं है—वह समाज के अहंभाव पर व्यक्ति की बलि चढ़ा दे तथा अधिक पूर्ण रूप से उन्नत मानव-जाति के विकास के लिये जितने स्वतंत्र अवकाश और मौलिक शक्ति की आवश्यकता हो उसको रोक दे। जबतक मानवजाति पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो जाती, जबतक उसे विकास करने की आवश्यकता रहती है और जबतक वह अधिक महान् पूर्णता प्राप्त करने में समर्थ है तबतक समष्टि अपने अंगभूत व्यक्तियों के विकास की उपेक्षा करके अपना स्थिर हित नहीं कर सकती। जो समूहवादी आदर्श व्यक्ति को अनुचित रूप से अधीन बनाये रखना चाहते हैं वे वास्तव में एक गतिहीन अवस्था की कल्पना करते हैं चाहे वह आजकल जैसी स्थिति हो या ऐसी स्थिति हो जिसे वह अवस्था शीघ्र स्थापित करने की आशा करती है। इस स्थिति के बाद सच्चे

परिवर्तन का हर एक प्रयत्न सुप्रतिष्ठित सामाजिक व्यवस्था की शांति, उचित कार्यक्रम तथा सुरक्षा के विरुद्ध अधीर व्यक्तिवाद का अपराध समझा जायेगा। यह तो सदा व्यक्ति ही होता है जो स्वयं उन्नति करता है और बाकियों को उन्नत होने के लिये बाध्य करता है; समुदाय की सहज प्रवृत्ति अपनी स्थापित व्यवस्था में जमे रहने की होती है। उन्नति, विकास और विस्तृत सत्ता की प्राप्ति से व्यक्ति को तथा स्थिरता और निश्चित विश्राम की प्राप्ति से समुदाय को अतिशय सुख की अनुभूति होती है। जबतक समुदाय एक सजग सामूहिक आत्मा की अपेक्षा एक भौतिक और आर्थिक सत्ता अधिक है तबतक स्थिति ऐसी ही रहेगी।

इसलिये मनुष्यजाति की वर्तमान अवस्थाओं में राज्य की मशीनरी द्वारा एक स्वस्थ एकता लाना बहुत कठिन है, चाहे यह एकता शक्तिशाली और संगठित राज्यों को एकत्रित करने से प्राप्त हो—ऐसे राज्यों को जो परस्पर सुव्यवस्थित तथा न्यायसंगत संबंधों का उपभोग करते हैं, या फिर यह वर्तमान की कुछ अव्यवस्थित और कुछ व्यवस्थित राष्ट्र-मंडली के स्थान पर एक ही विश्व-राज्य की स्थापना से प्राप्त हो, भले ही इस विश्व-राज्य का रूप रोम-साम्राज्य की भांति एक अकेले साम्राज्य का हो या संघबद्ध एकता का। मनुष्यजाति के निकट भविष्य में ऐसी बाह्य या प्रशासनीय एकता प्राप्त करना हमारा उद्देश्य हो सकता है जिससे कि जाति सर्वसामान्य जीवन के विचार, उसकी आदत तथा संभावना की अभ्यस्त हो जाये, परंतु मनुष्य की भवितव्यता की सच्ची विकास-धारा में यह वास्तव में स्वस्थ, स्थायी या लाभदायक नहीं हो सकती जबतक कोई ऐसी चीज विकसित न कर ली जाये जो अधिक गहन, अंतरीय तथा वास्तविक हो। नहीं तो प्राचीन जगत् के अनुभव की एक बड़े परिमाण तथा भिन्न अवस्थाओं में फिर से आवृत्ति होगी, परीक्षण असफल हो जायेगा और उसके स्थान पर अव्यवस्था तथा अराजकता का एक नया युग आयेगा जिसमें पुनर्निर्माण की आवश्यकता होगी। शायद यह अनुभव प्राप्त करना भी मनुष्यजाति के लिये आवश्यक है; चाहे अब हम इस अनुभव को टाल भी सकते हैं, पर इसके लिये हमें यांत्रिक साधनों को अपने सच्चे विकास के अधीन करना होगा। ऐसा विकास तभी हो सकता है जब कि नैतिकता, यहाँतक कि आध्यात्मिकता से युक्त मनुष्यजाति अपने बाह्य जीवन तथा शरीर में ही नहीं वरन् अंतरात्मा में भी एक हो जाये।

राष्ट्र और साम्राज्य :

वास्तविक एकता और राजनीतिक एकता

मनुष्यजाति के एकीकरण की समस्या दो विशिष्ट कठिनाइयों में विभक्त हो जाती है। एक इस आशंका का रूप धारण करती है कि जो सामूहिक अहं-भाव मानवजाति के स्वाभाविक विकास में उत्पन्न हो चुके हैं क्या वे अब यथेष्ट रूप में सुधारे या मिटाये जा सकते हैं और क्या किसी प्रकार की प्रभावशाली बाह्य एकता सुरक्षित रूप से स्थापित की जा सकती है। दूसरी कठिनाई इस आशंका के रूप में प्रकट होती है कि यदि कोई ऐसी बाह्य एकता स्थापित की भी जा सके तो उसका परिणाम कहीं व्यक्ति के स्वतंत्र जीवन को तथा उन अनेक सामूहिक इकाइयों की स्वच्छंद क्रीड़ा को, जो अबतक बन चुकी हैं और जिनका जीवन सच्चा तथा सक्रिय है, क्या कुचल देना नहीं होगा तथा इनके स्थान पर एक ऐसा राज्य-संगठन स्थापित नहीं हो जायेगा जो मानव जीवन को यंत्रवत् बना देगा। इन दो आशंकाओं के अतिरिक्त एक तीसरी और भी है कि क्या यथार्थ जीवन्त एकता केवल आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनीय एकीकरण द्वारा ही साधित की जा सकती है, तथा क्या इससे पहले कम-से-कम एक नैतिक और आध्यात्मिक एकता का ठोस उपक्रम नहीं होना चाहिये। इन प्रश्नों के क्रमिक संबंध की दृष्टि से हमें पहले प्रश्न को पहले लेना होगा।

मानव विकास की वर्तमान अवस्था में राष्ट्र मानवजाति की जीवन्त सामूहिक इकाई है। साम्राज्य हैं तो सही पर वे अभीतक केवल राजनीतिक इकाइयां हैं, वास्तविक इकाइयां नहीं; उनमें निजी आंतरिक जीवन नहीं है। वे या तो एक ऐसी शक्ति के आधार पर चल रहे हैं जो उनके निर्माणकारी अंगों पर लादी गयी है या ऐसी राजनीतिक सुविधा के आधार पर जिसे इन अंगों ने अनुभव या स्वीकार कर लिया है और जिसे बाहर के संसार का भी समर्थन प्राप्त हुआ है। आस्ट्रिया बहुत समयतक इस प्रकार के साम्राज्य का एक स्थायी उदाहरण रहा है, यह एक राजनीतिक सुविधा थी जिसे संसार भर का अनुमोदन प्राप्त था। अभी कुछ दिन पहले तक इसके निर्माणकारी अंग भी इससे सहमत थे। हैप्सबर्ग वंश के रूप में प्रकट केंद्रीय जर्मनिक तत्त्व की शक्ति तथा अभी हाल में इसके मर्गियार (Magyar) साझीदार की सक्रिय सहायता से इसका पोषण हुआ। यदि इस प्रकार के साम्राज्य की

राजनीतिक सुविधा का अंत हो जाये, यदि उसके निर्माणकारी अंग अब इसका और समर्थन न करें और वे एक केंद्रविरोधी शक्ति के द्वारा बलपूर्वक परे हटा दिये जायें और साथ ही यदि संसार भी इस संगठन के पक्ष में न हो तो अकेला भौतिक बल ही कृत्रिम एकता का एकमात्र साधन रह जाता है। वास्तव में तभी एक नयी राजनीतिक सुविधा का जन्म हुआ जिसे आस्ट्रिया के जीवन ने विघटन की उपर्युक्त प्रवृत्ति से कष्ट उठाने के बाद भी सहायता पहुंचायी। पर यह सुविधा उस जर्मनिक भावना द्वारा प्रेरित थी जिसने इसको शेष यूरोप के लिये असुविधा में परिणत कर दिया और इसको उन प्रधान निर्माणकारी अंगों की स्वीकृति से वंचित कर दिया जो आस्ट्रियन सिद्धांत से बाहर जाकर अन्य संगठनों की ओर आकृष्ट हो गये। उस समय से आस्ट्रियन साम्राज्य का अस्तित्व खतरे में पड़ गया; और वह किसी आंतरिक आवश्यकता पर नहीं बल्कि पहले तो अपने अंतर्गत स्लाव (Slav) राष्ट्रों को कुचल देने की आस्ट्रियन-मगियार की सम्मिलित शक्ति पर और फिर यूरोप में जर्मनी तथा जर्मनिक विचार की अनवरत शक्ति और प्रभुता अर्थात् अकेले भौतिक बल पर निर्भर रहा। यद्यपि आस्ट्रिया में साम्राज्यीय एकता की दुर्बलता विशेष रूप से प्रत्यक्ष थी तथा उसकी शर्तें बहुत बढ़ी-चढ़ी थीं, तथापि ये शर्तें उन सब साम्राज्यों के लिये, जो उस समय राष्ट्रीय इकाइयां नहीं थीं, समान थीं। अधिक दिन की बात नहीं है, बहुत-से राजनीतिक विचारकों ने देखा कि कम-से-कम इस बात की प्रबल संभावना है कि जाति, भाषा और उद्गम के ऐसे निकट संबंधों के होते हुए भी जिनसे कि ब्रिटिश उपनिवेशों को अपनी मातृभूमि से जुड़े रहना चाहिये था, वे अपने को ब्रिटिश साम्राज्य से अलग कर लेंगे और इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य स्वयमेव भंग हो जायेगा। इसका कारण यह था कि उपनिवेश साम्राज्यीय एकता की राजनीतिक सुविधा का उपभोग तो करते थे पर वे उसको यथेष्ट महत्त्व नहीं देते थे, असल में राष्ट्रीय ऐक्य का कोई सजीव सिद्धांत था ही नहीं। ऑस्ट्रेलिया और कनाडा के निवासियों ने अपने-आपको विस्तृत ब्रिटिश राष्ट्रीयता के अंग नहीं बल्कि नये पृथक् राष्ट्र समझना शुरू कर दिया था। अब दोनों दृष्टियों से स्थिति बदल गयी है, एक अधिक व्यापक सूत्र का पता लग गया है, और इस समय ब्रिटिश साम्राज्य यथोचित मात्रा में पहले से अधिक शक्तिशाली है।

फिर भी यह पूछा जा सकता है कि जब नाम-रूप और प्रकार एक ही हैं तो इन राजनीतिक और वास्तविक इकाइयों में इस प्रकार का भेद करना ही क्यों चाहिये? पर भेद करना आवश्यक है क्योंकि यह सच्चे और गंभीर राजनीतिक विज्ञान के लिये अत्यधिक उपयोगी है; इसके परिणाम भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। जब आस्ट्रिया जैसा अराष्ट्रीय साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है तो वह सदा के लिये नष्ट हो जाता है; क्योंकि उसमें कोई यथार्थ आंतरिक एकता नहीं होती, ब्रह्म एकता को पुनः प्राप्त करने की कोई सहज प्रवृत्ति भी नहीं होती; वह केवल एक राजनीतिक ढंग से गढ़ा हुआ समुदाय ही होता है। दूसरी ओर परिस्थितियों द्वारा खंडित एक वास्तविक राष्ट्रीय एकता अपने

एकत्व को पुनः प्राप्त करने तथा सुदृढ़ करने की प्रवृत्ति को सदा सुरक्षित रखेगी। ग्रीक साम्राज्य का भी वही हाल हुआ जो और सब साम्राज्यों का होता है। परंतु ग्रीक राष्ट्र ने अनेक सदियों तक राजनीतिक दृष्टि से सत्ताहीन रहने के बाद भी अपना पृथक् अस्तित्व पुनः प्राप्त कर लिया है, कारण, इसने अपना पृथक् अहंभाव सुरक्षित रखा और इसलिये तुर्की-शासन के आवरण के नीचे भी, वास्तव में, अपना अस्तित्व बनाये रखा। तुर्की-शासन के जुए के नीचे सब जातियों की यही दशा हुई है, क्योंकि इस शक्तिशाली अधिराज्य ने, कई बातों में काफी कठोर होते हुए भी, उनकी राष्ट्रीय विशेषताएं मिटाने या उनके स्थान पर उस्मानी (Ottoman) राष्ट्रीयता स्थापित करने का कभी प्रयत्न नहीं किया। ये राष्ट्र पुनः जीवित हो गये हैं और अपने-आपको फिर से उस हदतक खड़ा कर चुके या करने का प्रयत्न कर रहे हैं जहांतक कि इन्होंने अपना यथार्थ राष्ट्रीय भाव सुरक्षित रखा है। सर्ब लोगों (Serbs) ने अपने राष्ट्रीय भाव के अधीन वह सारा प्रदेश पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया था और प्राप्त कर भी लिया है जिसमें कि वे रहते हैं या उनकी प्रधानता है। ग्रीस (यूनान) अपने मुख्य प्रदेश, द्वीपों तथा एशियाई उपनिवेशों में अपने पुनर्निर्माण के लिये यत्नशील है, किंतु वह प्राचीन ग्रीस को अब वापिस नहीं ला सकता, क्योंकि थ्रेस (Thrace) भी ग्रीक की अपेक्षा बल्गर (Bulgar) अधिक है। कितनी शताब्दियों के बाद इटली भी बाह्य रूप में फिर एक हो गया है। कारण, पहले की भांति एक राज्य न रहने पर भी इसने अपनी एकजातीयता कभी नहीं छोड़ी थी।

वास्तविक एकता का यह सत्य इतना बलशाली है कि जिन राष्ट्रों ने पिछले जमाने में कभी उस बाह्य एकत्व को नहीं प्राप्त किया—जिनके दैव, परिस्थिति और उनका अपना स्वभाव सब प्रतिकूल थे—जो राष्ट्र विकेंद्रीय शक्तियों से भरपूर थे तथा विदेशी आक्रमणों द्वारा अनायास ही दबा दिये गये थे, उन्होंने भी केंद्रमुखी शक्ति को ही सदा विकसित किया और फलतः मंगठित एकता प्राप्त कर ली। प्राचीन ग्रीस अपनी पार्थक्य-पूर्ण प्रवृत्तियों, अपने स्वयं-संपूर्ण नगर या प्रादेशिक राज्यों, अपने छोटे, परस्परविरोधी स्वायत्त-शासनों से ही चिपटा रहा; पर केंद्रमुखी शक्ति सदा ही संघों, राज्य-संगठनों और स्पार्टा तथा एथेन्स जैसे अधिराज्यों में मूर्त रूप में विद्यमान रही। अंत में इसने अपने-आपको मकदूनिया के शासन से कुछ अधूरे और अस्थायी रूप में तथा बाद में एक काफी आश्चर्यजनक विकास-गति से पूर्वी रोमन जगत् के एक ग्रीक और बिजेन्टाइन (Byzantine) साम्राज्य में विकसित हो जाने के द्वारा चरितार्थ कर लिया। यह शक्ति वर्तमान ग्रीस में पुनः जाग्रत हो गयी है। और हम ने अपने समय में जर्मनी को, जो प्राचीन काल से सदा ही असंगठित रहा है, अंत में एकत्व की अपनी सहज भावना को अनिष्टकारी रूप में उन्नत करते देखा है। यह भावना होहैनसोलर्न्स (Hohenzollerns) के साम्राज्य में उग्र रूप से प्रकट हुई और उसके पतन के बाद भी संघीय गणराज्य में दृढ़ बनी रही। जो लोग केवल बाह्य

घटनाओं के रुख का ही नहीं बल्कि शक्तियों की क्रिया का भी अध्ययन करते हैं उनको इस बात से जरा भी आश्चर्य नहीं होगा यदि युद्ध का एक सुदूर परिणाम यह हो कि एक जर्मनिक तत्त्व, आस्ट्रियन-जर्मन तत्त्व, जो अभीतक पृथक् है जर्मनिक समग्रता में और संभवतः प्रशियन प्रभावक्षेत्र या होहैनसोलर्न्स साम्राज्य से भिन्न किसी अन्य रूप में सम्मिलित हो जाये।^१ इन दो ऐतिहासिक दृष्टांतों में तथा और बहुतों में, जैसे सैक्सन (Saxon) इंग्लैंड और मध्यकालीन फ्रांस के एकीकरण तथा अमरीका के संयुक्त राज्य के निर्माण में यह वास्तविक एकता या मनोवैज्ञानिक रूप से विशिष्ट इकाई ही पहले तो अज्ञानपूर्वक अपनी सत्ता की अवचेतन आवश्यकता के द्वारा तथा बाद में राजनीतिक एकता की भावना के प्रति एकाएक या धीरे-धीरे सचेतन होकर एक अनिवार्य बाह्य एकीकरण की ओर प्रवृत्त हुई। यह एक विशिष्ट प्रकार की समुदाय-आत्मा है जो आंतरिक आवश्यकता के द्वारा चालित होती है और बाह्य परिस्थितियों का उपयोग अपने लिये संगठित शरीर बनाने में करती है।

पर इतिहास में सबसे अधिक आश्चर्यजनक दृष्टांत भारतवर्ष के विकास का है। और कहीं भी अपकेन्द्रीय शक्तियां इतनी प्रबल, इतनी अधिक, जटिल और आग्रहशील नहीं रही हैं। इस विकास ने जो समय लिया है वह अत्यधिक लंबा था तथा जिन विनाशकारी उतार-चढ़ावों में से गुजरते हुए इसे अपना कार्य करना पड़ा है वे विस्मय में डाल देनेवाले हैं। पर फिर भी इन सबमें से उस अनिवार्य प्रवृत्ति ने सदैव दृढ़तापूर्वक, प्रकृति के अस्पष्ट, अंध, गुप्त, अदम्य और निष्ठुर आग्रह के साथ कार्य किया है, जब कि मनुष्य उसके सहज आशयों का विरोध करता रहा, पर अंत में सहस्रों वर्षों के संघर्ष के बाद प्रकृति की विजय हुई है। और जैसा कि प्रायः होता है, जब उसका अपना मानसिक और मानवी आधार ही इस प्रकार से विरोध करता है तो इन अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियों को ही अवचेतन कर्ता उसके अत्यंत सफल यंत्रों में बदल देता है। भारत में केंद्रमुखी प्रवृत्ति का प्रारंभ उस प्राचीनतम काल में हुआ जिसका इतिहास हमें उपलब्ध है। सम्राट् या चक्रवर्ती राजा का आदर्श और अश्वमेध और राजसूय यज्ञों के सैनिक तथा राजनीतिक उपयोग इस प्रवृत्ति के दृष्टांत हैं। वे दो महान् राष्ट्रीय महाकाव्य इसी विषय को स्पष्ट करने के लिये ही लिखे गये होंगे; क्योंकि एक महाकाव्य एकता स्थापित करनेवाले धर्मराज्य या न्याय के साम्राज्यीय शासन की स्थापना का विस्तृत वर्णन करता है और दूसरे का आरंभ इस प्रकार के शासन के आदर्शभूत वर्णन से होता है। इसमें यह चित्रित किया गया है कि देश के प्राचीन और पावन अतीत में एक समय इसका अस्तित्व था। भारतवर्ष का राजनीतिक इतिहास, उन देशी तथा विदेशी साम्राज्यों की शृंखला की कहानी है जिनमें से प्रत्येक केंद्रविरोधी

^१ यह संभावना कुछ समय के लिये पूर्ण तो हो गयी पर उन साधनों के द्वारा और उन परिस्थितियों के बीच जिन्होंने आस्ट्रियन राष्ट्रीय भावना तथा पृथक् राष्ट्रीय अस्तित्व का पुनर्जीवन अनिवार्य कर दिया।

शक्तियों द्वारा नष्ट कर दिया गया, पर प्रत्येक ही केंद्रमुखी प्रवृत्ति के सफलतापूर्वक प्रकट होने में सहायक हुआ। और यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि शासन जितना अधिक विदेशी रहा है अधीनस्थ प्रजा को एक करने की शक्ति भी उतनी ही महान् रही है। यह सदा ही इस बात का पक्का चिह्न होता है कि आवश्यक राष्ट्र-इकाई वहां पहले से ही विद्यमान है और साथ ही वहां एक अमिट राष्ट्रीय जीवन-शक्ति भी है जो संगठित राष्ट्र के अनिवार्य रूप में उदय होने को आवश्यक कर देती है। इस उदाहरण में हम देखते हैं कि जिस मनोवैज्ञानिक एकता पर राष्ट्र-भाव आधारित है उसे एक ऐसी बाह्य संगठित एकता का रूप देने में, जिससे कि यह पूर्णतया चरितार्थ हो जाये, दो हजार वर्षों से भी अधिक समय लगा है, और अभी भी यह कार्य पूरा नहीं हुआ है।^१ फिर भी, क्योंकि साररूप में मूल वस्तु वहां विद्यमान थी, अत्यंत भीषण विघ्न-बाधाएं, जाति में एकता के लिये हठपूर्ण अयोग्यता तथा विघटित कर देनेवाले बाहरी आघात भी इस दृढ़ अवचेतन आवश्यकता के मुकाबिले में विजयी नहीं हो सके हैं। यह केवल सामान्य सिद्धांत का एक चरम उदाहरण है।

यह अधिक अच्छा होगा यदि हम राष्ट्र-निर्माण के कार्य में विदेशी शासन से जो सहायता मिलती है उसके बारे में यहां थोड़ा विचार कर लें और देखें कि वह कैसे कार्य करती है। इतिहास ऐसे दृष्टान्तों से भरा पड़ा है। कुछ अवस्थाओं में विदेशी प्रभुत्व का तथ्य क्षणिक और अपूर्ण होता है, कुछ में चिरस्थायी और पूर्ण, और कइयों में तो भिन्न-भिन्न रूपों में यह प्रायः दुहराया जाता है। कुछ उदाहरणों में विदेशी तत्त्व का उपयोग समाप्त होते ही उसका बहिष्कार कर दिया जाता है, कुछ में यह अंतर्गत कर लिया जाता है और कइयों में इसे कम या अधिक समय के लिये थोड़ा-बहुत आत्मसात् करके शासक जाति के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। नियम एक ही है, पर प्रकृति इसे अवस्था-विशेष की आवश्यकताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न तरीकों से कार्यान्वित करती है। यूरोप के आधुनिक राष्ट्रों में से ऐसा एक भी नहीं है जिसको अपनी राष्ट्रीयता प्राप्त करने के लिये विदेशी प्रभुत्व की थोड़ी-बहुत लंबी और थोड़ी-बहुत पूर्ण अवस्था में से न गुजरना पड़ा हो। रूस और इंग्लैंड में एक ऐसी विदेशी विजयी जाति का प्रभुत्व था जो शीघ्र ही शासक जाति बन गयी और अंत में वहीं आत्मसात् तथा विलीन कर ली गयी। स्पेन में रोमन, गोथ (Goth) और मूर (Moor) लोगों का एक के बाद एक आना, इटली में आस्ट्रियावालों का प्रभुत्व, बाल्कन देशों में तुर्कों का लंबा अधिराज्य और जर्मनी में नैपोलियन के अल्पकालिक

^१ पर यह स्मरण रखना चाहिये कि फ्रांस, जर्मनी और आधुनिक इटली में से प्रत्येक को एक दृढ़ एकता का निर्माण करने तथा उसमें प्रतिष्ठित होने में एक या दो हजार वर्ष या इससे भी अधिक समय लगा था।

^२ यहां संयुक्त होने के लिये एक ही जाति नहीं बल्कि अनेक पृथक्-पृथक् जातियां थीं जिनमें से प्रत्येक को अपनी पृथक् स्वतंत्रता या कुछ अवस्थाओं में सजातीय लोगों के संघटन को फिर से प्राप्त करना था।

राज्य का जुआ—ये सब इसके उदाहरण हैं। परंतु इन सब स्थितियों में आवश्यकता एक ऐसे आघात या दबाव की रही है जो शिथिल मनोवैज्ञानिक एकता को आंतरिक आत्मसंगठन की आवश्यकता के प्रति सजग कर दे या विरोध के अधिक उग्र कारणों को कुचल डाले, निरुत्साहित कर दे अथवा बल, शक्ति और यथार्थता से वंचित कर दे। कुछ अवस्थाओं में तो नाम, संस्कृति और सभ्यता को पूरी तरह से बदल देना भी आवश्यक हो गया, साथ ही जाति में भी थोड़ा-बहुत गंभीर परिवर्तन करना पड़ा। फ्रेंच राष्ट्रीयता के निर्माण में यह बात विशेष रूप में देखने में आयी है। प्राचीन गैलिक (Gallic) जाति और ड्र्यूडिक (Druidic) सभ्यता अपनी प्रारंभिक महानता के होते हुए भी या शायद उसीके कारण एक दृढ़ राजनीतिक एकता को संगठित करने में प्राचीन ग्रीक लोगों या भारत के पुराने राज्यों और गणराज्यों की अपेक्षा अधिक असमर्थ रही। उसे आधुनिक फ्रांस की अनुपम एकता स्थापित करने के लिये रोमन शासन और लैटिन संस्कृति की तथा ट्यूटोनिक (Teutonic) शासक जाति के उग्र प्रभुत्व और अंत में अंगरेजों की अल्पकालिक और आंशिक विजय के धक्के की आवश्यकता पड़ी। यद्यपि नाम, सभ्यता तथा और सब कुछ बदल गया प्रतीत होता है, फिर भी आज का फ्रेंच राष्ट्र अपने बास्क (Basque), गैलिक (Gaelic), आरमोरिकन (Armorican) और अन्य प्राचीन तत्वों के साथ वही पुराना गैलिक (Gallic) राष्ट्र है तथा सदा वही रहा है—इन तत्वों का फ्रैंक और लैटिन मिश्रण से रूप अवश्य बदल गया है।

इस प्रकार राष्ट्र एक ऐसी अप्रतिहत मनोवैज्ञानिक इकाई है जिसे प्रकृति संसार भर में अत्यंत विविध रूपों में विकसित करने तथा भौतिक और राजनीतिक एकता के लिये शिक्षित करने में संलग्न रही है। राजनीतिक एकता आवश्यक वस्तु नहीं है; यह न भी प्राप्त हो तो भी राष्ट्र का अस्तित्व बना रहता है और राष्ट्र अनिवार्य रूप से अपने-आपको चरितार्थ करने की ओर अग्रसर होता है। राजनीतिक एकता चाहे मिट भी जाये तब भी राष्ट्र बना रहता है, कठोर प्रयत्न करता है, कष्ट उठाता है, परंतु नष्ट होना स्वीकार नहीं करता। पुराने समय में राष्ट्र सदैव एक सच्ची और जीवंत इकाई नहीं होता था; जाति, कुल, समाज और प्रादेशिक जन सजीव समुदाय थे। जिन एकताओं ने राष्ट्रीय विकास के प्रयत्न में इन प्राचीनतर सजीव समुदायों को एक सबल राष्ट्र-भाव पर बिना पहुंचे ही नष्ट कर दिया था वे कृत्रिम या राजनीतिक इकाई के टूटते ही लुप्त हो गयीं। पर आजकल राष्ट्र मनुष्यजाति की एक ऐसी सजीव सामूहिक इकाई है जिसमें अन्य सबको या तो विलीन हो जाना चाहिये या फिर उसकी अधीनता स्वीकार कर लेनी चाहिये। इसके सामने प्राचीन दृढ़ जाति-एकता तथा संस्कृति-एकता भी शक्तिहीन हैं। स्पेन में कैटेलोनियन (Catalonian), फ्रांस में ब्रेटन (Breton), प्रोवेंसाल (Provencal) और अल्सेशियन (Alsatian), इंग्लैंड में वेल्श (Welsh) अपने पृथक् अस्तित्व के चिह्नों को संजोकर रख सकते हैं, पर

स्पैनिश, फ्रेंच और ब्रिटिश राष्ट्रों की महत्तर सजीव एकता का आकर्षण इतना शक्तिशाली रहा है कि इनके दृढ़ अस्तित्व से भी उसको कुछ हानि नहीं पहुंच सकी। वर्तमान समय में राष्ट्र वस्तुतः तबतक नहीं मिट सकता जबतक वह अंदर से निष्प्राण ही न हो जाये। पोलैंड तीन शक्तिशाली साम्राज्यों द्वारा पददलित तथा छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो गया; पर पोलिश राष्ट्र जिंदा बचा रहा और वह एक बार फिर से संगठित हो गया है। अलसास (Alsace) चालीस वर्षतक जर्मन शासन के जुए के नीचे दबे रहने के बाद, अपने विजेताओं के साथ जाति और भाषा की आत्मीयता होने पर भी, अपने फ्रेंच राष्ट्र-भाव के प्रति एकनिष्ठ रहा। राष्ट्र को बलपूर्वक विनष्ट या खंडित करने के सारे आधुनिक प्रयत्न मूर्खतापूर्ण तथा निष्फल हैं, क्योंकि ये प्राकृतिक विकास के इस नियम की अवहेलना करते हैं। साम्राज्य अब भी नष्ट हो जानेवाली राजनीतिक इकाइयां हैं; पर राष्ट्र अमर है। और, वह ऐसा ही रहेगा जबतक इससे अधिक महान् एक ऐसी सजीव इकाई नहीं मिल जाती जिसमें राष्ट्र-भावना एक उच्च आकर्षण के अधीन अपने को विलीन कर सके।

इसके बाद अब प्रश्न उठता है कि विकासक्रम के भवितव्य में क्या साम्राज्य ही सचमुच वह निश्चित इकाई नहीं है। सिर्फ यह तथ्य कि आजकल साम्राज्य नहीं, बल्कि राष्ट्र एक सजीव एकता है, भविष्य में इन संबंधों के उलटने में कोई बाधा नहीं डाल सकता। स्पष्ट ही, इन संबंधों को बदलने के लिये साम्राज्य को केवल राजनीतिक सत्ता न रहकर एक मनोवैज्ञानिक सत्ता बनना पड़ेगा। क्योंकि राष्ट्र के विकास में ऐसे उदाहरण आ चुके हैं जिनमें राजनीतिक एकता पहले आयी और फिर वह मनोवैज्ञानिक एकता का आधार बन गयी, जैसे स्कॉच, इंग्लिश और वैल्श के मिलने से ब्रिटिश राष्ट्र बना। ऐसा कोई अलंघनीय कारण नहीं है जिससे इसी प्रकार का विकास एक बड़े पैमाने पर न हो सके और राष्ट्रीय एकता के स्थान पर साम्राज्यीय एकता की स्थापना असंभव हो। प्रकृति बहुत समय से साम्राज्यीय संगठन बनाने के लिये कठोर प्रयत्न करती रही है, इसे स्थिरता की बृहत्तर शक्ति देने के लिये चिरकाल से प्रयत्नशील है। संसारभर में इस सचेतन साम्राज्यीय आदर्श के उदय को और राष्ट्रीय आदर्श के स्थान पर अपने-आपको प्रतिष्ठित करने के इसके स्थूल, उग्र और अपूर्ण प्रयत्नों को, बिना सोचे-विचारे, किसी एक वेगशाली प्रगति तथा परिवर्तन का पूर्वचिह्न नहीं समझ लेना चाहिये। कितनी ही बार प्रकृति इस प्रकार की गतियों और परिवर्तनों से ही उस कार्य को संपन्न करती है जिसकी वह बहुत समय से धीरे-धीरे, परीक्षण करके तैयारी करती रहती है। यही वह संभावना है जिसका हमें अब विचार करना है। उसके बाद हम राष्ट्र-भाव के प्रतिष्ठित तथ्य को मानव-एकता के आदर्श के संबंध में रखकर उसकी परीक्षा करेंगे। यूरोपीय संघर्ष इन दो भिन्न आदर्शों, अतएव दो भिन्न संभावनाओं को अत्यंत वेग से सिद्धि के अधिक निकट ले आया—स्वतंत्र राष्ट्रों का संघ और पृथ्वी का कुछ बड़े साम्राज्यों या साम्राज्यीय प्रभुताओं में विभाजन, इन दोनों विचारों का

व्यावहारिक मेल निकट भविष्य की एक सुस्पष्ट संभावना बन गया। यहां थोड़ा रुककर यह सोच लेना चाहिये कि जब इस संभवनीय मेल का एक तत्त्व पहले से ही जीवंत इकाई है तो क्या दूसरा भी कुछ विशेष परिस्थितियों में जीवंत इकाई में नहीं बदला जा सकता, और इस प्रकार का मेल अगर सिद्ध हो जाये तो क्या उसे वस्तुओं के एक नये स्थायी विधान का आधार नहीं बनाया जा सकता। नहीं तो, यह केवल एक अल्पकालिक आयोजन ही होगा जिसमें स्थायित्व की कुछ भी संभावना नहीं होगी।

साम्राज्य की प्राचीन और आधुनिक प्रणालियाँ

सर्वप्रथम दो प्रकार के राजनीतिक समुदायों में स्पष्ट भेद कर लेना आवश्यक है, क्योंकि दोनों को ही प्रचलित भाषा में साम्राज्य कहा जाता है। एक सम-जातीय राष्ट्रीय साम्राज्य है और दूसरा विषम-जातीय मिश्रित साम्राज्य। यदि हम साम्राज्यों के मूल में जायें तो हर हालत में सभी साम्राज्य एक प्रकार से मिश्रित ही होते हैं; पर व्यवहार में इन दो प्रकार के साम्राज्यीय समुदायों में भेद है। एक में उसके अवयवभूत अंग अपने पृथक् अस्तित्व की प्रबल भावना द्वारा समष्टि में एक-दूसरे से विभाजित नहीं हुए हैं और दूसरे में पृथक्ता का यह मनोवैज्ञानिक आधार अभी भी सुदृढ़ है। फॉर्मोसा और कोरिया को सम्मिलित कर लेने से पहले जापान एक अखंड राष्ट्रीय इकाई था, साम्राज्य तो वह शब्द के सम्मानसूचक अर्थ में ही था। उसके बाद वह एक वास्तविक और मिश्रित साम्राज्य बन गया। जर्मनी भी एक शुद्ध राष्ट्रीय साम्राज्य होता अगर वह उन तीन छोटे अधिगत राज्यों, अलसास (Alsace), पोलैंड (Poland) और श्लैस्विक् होल्स्टाइन (Schleswig Holstien) का बोझ अपने ऊपर न ले लेता जो जर्मन राष्ट्रीय भाव द्वारा नहीं बल्कि केवल सैनिक-बल के कारण उसके साथ जुड़े हुए थे। यदि इस ट्यूटैनिक समुदाय ने अपने विदेशी भाग खो दिये होते और उनके स्थान पर उसने अधिक-से-अधिक आस्ट्रिया के ट्यूटैनिक प्रांत अधिगत कर लिये होते तो हमें समजातीय समुदाय का एक ऐसा उदाहरण मिल जाता जो फिर भी शब्द के सम्मानसूचक अर्थ में ही एक साम्राज्य होता; क्योंकि वह समजातीय ट्यूटैनिक राष्ट्रों का था, —जिन्हें हम सुविधा के लिये एक और नाम दे सकते हैं—उपराष्ट्रों का सम्मिश्रण होता। ये उपराष्ट्र स्वभावतः ही पृथक्ता की किसी भावना को आश्रय न देते, बल्कि सदा ही एक प्राकृतिक एकता की ओर आकृष्ट होकर सहज और अनिवार्य रूप में केवल राजनीतिक ही नहीं, वरन् एक मनोवैज्ञानिक इकाई भी बना लेते।

पर अब ऐसा शुद्ध रूप मिलना कठिन है। संयुक्तराज्य अमरीका ऐसे ही एक समुदाय का उदाहरण है, यद्यपि हम साम्राज्य के विचार के साथ इस नमूने को बिल्कुल ही संबंधित नहीं करते, क्योंकि संयोगवश इसका शासन वंशानुगत राजा द्वारा नहीं, बल्कि नियत समय पर निर्वाचित राष्ट्रपति के द्वारा होता है। फिर भी यदि साम्राज्यीय समुदाय को राजनीतिक इकाई से मनोवैज्ञानिक इकाई में बदलना हो तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस कार्य को करने के लिये संयुक्तराज्य की प्रणाली के अंशविशेष को कुछ आवश्यक परिवर्तनों के साथ नया रूप देना होगा। उसे एक ऐसी

प्रणाली का रूप देना होगा जिसमें प्रत्येक अंग अपनी राज्य-सत्ता की पर्याप्त स्थानीय स्वाधीनता तथा विधान और प्रबंधसंबंधी कार्यवाई की पृथक् शक्ति को सुरक्षित रख सके और फिर भी एक अधिक बड़े अविभाज्य समुदाय का अंग बना रहे। यह कार्य वहीं अत्यंत सुगमतापूर्वक संपन्न हो सकता है जहां सब अंग काफी हद तक समजातीय हों जैसा कि ग्रेट-ब्रिटेन और उसके उपनिवेशों का संघ बनाने में होगा।

विशाल समजातीय समुदाय बनाने की प्रवृत्ति हाल में राजनीतिक विचार में प्रकट हुई है। यही प्रवृत्ति एक सर्व-जर्मैनिक साम्राज्य के, और विशाल रूसी और सर्वस्लाविक साम्राज्य के स्वप्न में या एक संगठित मुसलमानी जगत् के सर्व-इस्लामी विचार में पायी जाती है।^१ परंतु इन प्रवृत्तियों के साथ ही प्रायः यह देखा जाता है कि समजातीय समुदाय अन्य विषमजातीय तत्त्वों पर सैनिक तथा राजनीतिक दबाव के प्राचीन सिद्धांतों के अनुसार प्रभुत्व स्थापित कर लेता है। रूस का एशियाई राष्ट्रों को अपने अधिकार में रखना,^२ जर्मनी का पूर्ण या आंशिक रूप में अजर्मैनिक देशों और प्रांतों को हस्तगत करना, खलीफाओं का अमुस्लिम प्रजा पर नियंत्रण रखना,^३—इस प्रभुत्व के उदाहरण हैं। ये विषमताएं न भी होतीं तो भी संसार की वास्तविक व्यवस्था जातीय या सांस्कृतिक आधार पर साम्राज्य के पुनर्निर्माण को कठिनाई से स्वीकार करती। इस प्रकार के विशाल समुदाय अपने राज्य में विदेशी राज्यों द्वारा घिरे हुए ऐसे प्रदेश पायेंगे जिनमें पूर्णतया विषमजातीय या मिश्रित तत्त्वों का निवास है। अतएव, समजातीय राष्ट्र अपनी प्रिय राष्ट्रीयता को छोड़ने तथा इस प्रकार के संघटनों में घुल-मिल जाने का विरोध करेंगे तथा इसे स्वीकार भी नहीं करेंगे; इनमें मिश्रित या विषमजातीय तत्त्वों की असंगति भी रहेगी। ये तत्त्व उस विचार और संस्कृति से असहमत होंगे जो उन्हें अपने अंदर मिला लेना चाहते थे। इस प्रकार एक सर्व-स्लावनिक साम्राज्य (Slavonic) प्रधान स्लाव-राज्य के रूप में बाल्कन प्रायद्वीप पर रूस के आधिपत्य को आवश्यक कर देगा; पर ऐसी योजना को स्वाधीन सर्बियन राष्ट्रीयता तथा बल्गर लोगों के अपूर्ण स्लाववाद का ही नहीं, वरन् बिल्कुल बेमेल रूमान्नी, ग्रीक और अल्बेनियन तत्त्वों का भी सामना करना पड़ेगा। अतएव, ऐसा प्रतीत नहीं होता कि विशाल समजातीय समुदायों की ओर यह प्रवृत्ति,—चाहे कुछ

^१ ये तीनों विद्रोह और युद्ध के परिणामस्वरूप नष्ट हो चुके हैं, परंतु यदि राष्ट्र-विचार मद्धिम पड़ जाये तो इनमें से अंतिम भविष्य में किसी समय पुनः जीवित हो सकता है और यदि साम्यवाद राष्ट्रीय विचार को नष्ट कर दे, तो दूसरे के पुनर्जीवित होने की संभावना हो जाती है।

^२ सोवियत-संघ की स्थापना से इसमें कुछ परिवर्तन आ गया है; यह संघ इन एशियाई जातियों को उनकी इच्छा के अनुसार ही रूस के साथ मिलाने का दावा करता है। पर इस बात का पूरा निश्चय नहीं है कि यह कोई स्थायी सत्य है या केवल एक तात्कालिक प्रत्यक्ष घटना।

^३ ये दोनों साम्राज्य अब लुप्त हो गये हैं और इनके पुनर्जीवन की अब कोई संभावना प्रतीत नहीं होती।

समयतक संसार के इतिहास में इसने बड़ा भाग लिया है और अभीतक न तो यह थकी है और न ही अंतिम रूप में परास्त हुई है—कभी अंतिम समाधान हो सकती है; इसकी विजय हो भी जाये तो भी इसे विषमजातीय समुदाय की कठिनाइयों का थोड़ा-बहुत सामना करना ही पड़ेगा। इस प्रकार साम्राज्य की वास्तविक समस्या तो बनी ही रहती है कि विषमजातीय साम्राज्य की कृत्रिम राजनीतिक एकता को, जो जातीय संघटन, भाषा और संस्कृति में विषमजातीय है, किस प्रकार एक सच्ची और मनोवैज्ञानिक एकता में रूपांतरित किया जाये।

इस समस्या को इस बड़े पैमाने पर तथा पूर्वगामी अवस्थाओं के साथ सुलझाने के प्रयत्न का इतिहास हमें केवल एक ही बड़ा और निश्चित उदाहरण देता है; यही एक उदाहरण रूस, इंग्लैंड तथा फ्रांस के विशाल विषमजातीय आधुनिक साम्राज्यों को, जिनके सामने आज यह समस्या उपस्थित है, कुछ सहायता पहुंचा सकता है। पांच सुसंगठित राष्ट्रों का प्राचीन चीनी साम्राज्य इस प्रकरण में असंगत है; क्योंकि इसके सब निर्माणकारी अंग मंगोलजाति के थे तथा इन्होंने कोई प्रबल सांस्कृतिक कठिनाइयां भी उपस्थित नहीं कीं। पर आधुनिक रोमन लोगों की भांति साम्राज्यीय रोमन लोगों को मूलतः इन्हीं समस्याओं का सामना करना पड़ा, केवल एक या दो मुख्य उलझनें उनमें कम अवश्य थीं और इन्हें वे कुछ हदतक कुशलता के साथ सुलझाने में सफल भी हुए। उनका साम्राज्य अनेक शताब्दियोंतक स्थायी रहा। उसके टूटने का कई बार डर तो हुआ, पर एकता के अपने आंतरिक सिद्धांत और प्रबल केंद्रमुखी आकर्षण के कारण उन्होंने सब विनाशकारी प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त की थी। उसकी एक असफलता यह थी कि वह पूर्वीय और पश्चिमीय दो साम्राज्यों में विभक्त हो गया, जिसके फलस्वरूप उसका अंत शीघ्र ही आ गया। फिर भी उसका पतन साम्राज्य के आंतरिक विघटन से नहीं, बल्कि उसके जीवन-केंद्र के हास से हुआ। जबतक यह केंद्रीय जीवन बिल्कुल ही मद्धिम नहीं पड़ गया तबतक बाहर की बर्बर जातियों का दबाव उसकी उत्कृष्ट एकता पर विजय प्राप्त नहीं कर सका, यह समझना गलत है कि यह दबाव उसके नाश का कारण था।

रोमन लोगों ने अपना शासन सैनिक विजय और सैनिक उपनिवेशीकरण के द्वारा स्थापित किया, परंतु एक बार जब विजय निश्चित हो गयी तो वे उसे एक कृत्रिम राजनीतिक एकता के रूप में बांधे रखने में संतुष्ट नहीं हुए, न ही उन्होंने केवल एक अच्छे, योग्य और सुसंगठित शासन की उस राजनीतिक सुविधा का पूरा भरोसा ही किया जो आर्थिक तथा प्रशासनीय दृष्टि से हितकर थी और जिसे इसी कारण विजित

‘इस साम्राज्य ने अपने-आपको एक स्वतंत्र राष्ट्र-मंडल के रूप में इस प्रकार परिवर्तित कर लिया है कि यह आक्षेप अब इसपर लागू नहीं होता। अब यह पहले समय का साम्राज्य नहीं वरन् एक स्वतंत्र राष्ट्रमंडल है, साथ ही यहां कुछ अधीन जातियां भी हैं जो तेजी से स्व-शासन की ओर बढ़ रही हैं।’

जातियों ने शुरू में स्वीकार कर लिया था। उनकी राजनीतिक सहजबुद्धि इतनी अचूक थी कि वह आसानी से संतुष्ट नहीं हो सकती थी, क्योंकि यह निश्चित है कि यदि वे वहीं अधूरे रुक जाते तो साम्राज्य बहुत पहले ही छिन्न-भिन्न हो गया होता। वैसी अवस्था में उनके अधीनस्थ जातियाँ अपने पृथक् राष्ट्रीयता के भाव को सुरक्षित रखतीं और एक बार रोमन कार्यक्षमता और प्रशासनीय संगठन की अभ्यस्त हो जाने के बाद उनकी अनिवार्य रूप से यह प्रवृत्ति हो सकती थी कि वे स्वाधीन संगठित राष्ट्रों के रूप में इन लाभों का अकेले ही उपभोग करें। यह वही पृथक् राष्ट्रीयता का भाव था जिसे रोमन शासन उन स्थानों से मिटा देने में सफल हुआ जहाँ उसने अपना प्रबल प्रभाव जमा लिया था। यह कार्य त्यूटैनिक ढंग के क्रूर बल-प्रयोग के मूर्खतापूर्ण उपाय से नहीं, बल्कि एक शांतिपूर्ण दबाव से संपन्न हुआ। पहले तो रोम ने एक प्रतिस्पर्द्धी संस्कृति को अपने साथ मिला लिया जो कई बातों में उसकी अपनी संस्कृति से अधिक उत्कृष्ट थी और उसे अपनी सांस्कृतिक सत्ता के एक अंग, यहाँतक कि एक अत्यंत मूल्यवान् अंग के रूप में स्वीकार कर लिया। उसने ग्रीक-रोमन सभ्यता को जन्म दिया, पूर्व में इसे फैलाने और सुरक्षित रखने का कार्य उसने ग्रीक भाषा को सौंपा, जब कि अन्य सब स्थानों पर लैटिन भाषा और लैटिन शिक्षा के माध्यम द्वारा ही इसका प्रसार किया; वह गॉल और अपने दूसरे विजित प्रांतों की क्षीण होती हुई या अविकसित संस्कृतियों को शांतिपूर्वक दबा देने में सफल हुआ। परंतु क्योंकि यह कार्य भी समस्त पृथक्तावादी प्रवृत्ति को मिटा देने के लिये काफी नहीं हो सकता था, उसने अपनी लैटिन-शिक्षा-प्राप्त प्रजा को उच्च सैनिक और नागरिक पदों के लिये, यहाँतक कि राज्य-पद के लिये भी स्वीकार कर लिया। इसका फल यह हुआ कि अगस्टस के बाद एक सदी से भी कम समय के अंदर पहले तो एक इटैलियन गॉल ने और फिर एक आईबेरियन स्पेनियाई (Iberian Speniard) ने सीजरो का नाम और बल प्राप्त किया। नागरिक विशेषाधिकारों की जिन विभिन्न श्रेणियों को उसने प्रचलित किया था उन सब को उसने समस्त शक्ति से वंचित करने तथा बाद में उनका नामतक मिटा देने के लिये काफी तेजी से प्रयत्न करना शुरू कर दिया और अपनी सब प्रजाओं, एशिया, यूरोप तथा अफ्रीका के निवासियों को, बिना भेदभाव के, पूर्ण रोमन नागरिक अधिकार प्रदान कर दिये।

इसका परिणाम यह हुआ कि सारा साम्राज्य राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी एक अखंड ग्रीक-रोमन एकता बन गया। केवल उच्च शक्ति या रोमन शांति और उत्तम शासनप्रबंध के अनुभव ने ही नहीं बल्कि उनकी अपनी इच्छाओं, सांस्कृतिक समानताओं तथा अपने संबंधों और देशाभिमान ने भी प्रांतों को साम्राज्य के पोषण के लिये एक दृढ़ सूत्र में बांध दिया। प्रांतीय शासक या सेना के नायक का अपने निजी लाभ के लिये प्रांतीय साम्राज्यों के निर्माण करने का प्रत्येक प्रयत्न असफल रहा, क्योंकि उसको न तो कोई आधार मिला और न ही किसी पोषक

प्रवृत्ति, राष्ट्रीय भावना और प्रजाजनों के परिवर्तन से होनेवाले भौतिक या अन्य किसी लाभ के विचार का आश्रय ही प्राप्त हुआ और इन्हीं प्रजाजनों के सहारे ही इस प्रयत्न को सफलतापूर्वक चलाया जा सकता था। यहांतक तो रोमन सफल हुए; पर जहां वे असफल हुए उसका कारण यह था कि उनकी प्रणाली के मूल में ही कोई दोष था। जिन लोगों पर वे राज्य करते थे उनकी सजीव संस्कृतियों तथा उनके प्रारंभिक मूलभूत व्यक्तित्व को, चाहे शांतिपूर्वक ही सही, कुचल के वे उन्हें उनकी जीवनशक्ति के स्रोतों तथा उनके बल के आधारों से वंचित कर देते थे। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने विघटन के सब प्रत्यक्ष कारण दूर कर दिये थे तथा समस्त विघटनकारी परिवर्तन के विरोध में एक निष्क्रिय शक्ति प्राप्त कर ली थी; पर उनका साम्राज्य केवल केंद्र में ही जीवित था और जब वह केंद्र भी निःशक्त होने लगा, तो उसके सारे शरीर में ही कोई वास्तविक तथा प्रचुर मात्रा में जीवन-शक्ति नहीं बची जिससे वह अपनी क्षति-पूर्ति कर सकता। अंत में तो रोम को यह भरोसा भी न रहा कि उसे उन जातियों में से जिनके जीवन को उसने परायी सभ्यता के बोझ के नीचे दबा दिया था कुछ उत्साही व्यक्ति भी मिल सकेंगे; इसके लिये तब उसे सीमांत बर्बर जातियों पर निर्भर रहना पड़ा था और जब साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया तो फिर से उन्नत होती हुई पुरानी जातियां नहीं बल्कि ये बर्बर जातियां ही उसकी उत्तराधिकारिणी बनीं; क्योंकि इनकी बर्बरता कम से कम एक जीवंत शक्ति तथा जीवन का तत्त्व तो थी, जब कि ग्रीक-रोमन सभ्यता तो मृत्यु का तत्त्व बन चुकी थी। जिन जीवंत शक्तियों के संपर्क में आकर यह सभ्यता अपने बल को संशोधित, परिवर्तित कर सकती थी, उसमें नया जीवन डाल सकती थी वे सबकी सब नष्ट हो गयीं। अंत में उसे अपने उस रूप और सिद्धांत के साथ नष्ट होना पड़ा जिसके बीच मध्यकालीन यूरोप की शक्तिशाली और सबल संस्कृति के विशुद्ध क्षेत्र में फिर से बोये गये। अपने संगठित साम्राज्य के द्वारा जिस कार्य को करने के लिये रोम के लोगों में बुद्धि नहीं थी—अत्यधिक गभीर और अचूक राजनीतिक सहजप्रेरणा भी बुद्धि नहीं कहला सकती—वह कार्य मध्यकालीन ईसाई जगत् की शिथिल पर सजीव एकता में प्रकृति को स्वयमेव करना पड़ा।

रोम का दृष्टांत तबसे निरंतर यूरोप की राजनीतिक कल्पना को आंदोलित करता रहा है। शार्लमैग्ने (Charlemagne) के पवित्र रोमन साम्राज्य, नैपोलियन के विराट् प्रयत्न और ट्यूटैनिक कार्य-दक्षता और ट्यूटैनिक संस्कृति द्वारा शासित विश्व-साम्राज्य-संबंधी जर्मनी के स्वप्न के पीछे ही इसका हाथ नहीं रहा है बल्कि सब साम्राज्यीय राष्ट्रों ने, फ्रांस और इंग्लैंड ने भी कुछ हदतक इसीके पदचिह्नों का अनुसरण किया है। परंतु यह एक काफी महत्वपूर्ण बात है कि रोमन सफलता को एक बार फिर से लाने का प्रत्येक प्रयत्न व्यर्थ गया है। आधुनिक राष्ट्र रोम की चलायी हुई परिपाटी का पूर्ण रूप से अनुसरण नहीं कर सके हैं, यदि उन्होंने उसकी चेष्टा की भी है तो उनको भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का सामना करना पड़ा है। इसमें या

तो वे समाप्त हो गये या रुक जाने को विवश हुए। यह तो ऐसा हुआ मानों प्रकृति ने ही उनसे कह दिया हो, "यह परीक्षण एक बार हो चुका है और इसके युक्ति-युक्त परिणाम भी सामने आ चुके हैं। एक बार का परीक्षण ही काफी है। मैंने नयी अवस्थाएं पैदा कर दी हैं; अब तुम अपने लिये नये तरीके ढूंढो अथवा कम-से-कम पुराने तरीकों में जहां भूल-चूक थी उसे सुधारो और जहां कहीं कमी रह गयी थी या तुम भटक गये थे, उसे ठीक करो।"

यूरोपीय राष्ट्रों ने सैनिक विजय और अपनी बस्तियां बसाने की प्राचीन रोमन पद्धति द्वारा अपने साम्राज्यों का विस्तार किया। इसमें उन्होंने एक सीधे-साधे आधिपत्य या प्रभुत्व के उस पूर्व-रोमन सिद्धांत का अधिकांश में त्याग कर दिया जिसे असीरिया और मिस्र देश के राजा, भारतीय राज्य और ग्रीक नगर-राज्य प्रयोग में लाते थे। पर यह सिद्धांत भी आधिपत्य के अधिक सामान्य साधनों को तैयार करने के लिये कभी-कभी रक्षित-राज्य के रूप में व्यवहार में लाया गया है। उनकी बस्तियां शुद्ध रोमन नहीं बल्कि मिश्रित कार्थेजिनियन (Carthaginian) और रोमन नमूने की -- शासकीय और सैनिक दोनों प्रकार की -- थीं, ये रोमन बस्तियों की भांति देशीय जनता की अपेक्षा अधिक ऊंचे नागरिक अधिकारों का उपभोग करती थीं, साथ ही ये अत्यधिक व्यापारिक बस्तियां भी थीं जिनसे राज्य अनुचित लाभ उठाता था। रोमन नमूने के सबसे अधिक निकट अल्स्टर (ulster) की इंग्लिश बस्ती रही है, जब कि पोलैंड में जर्मन प्रणाली ने आधुनिक अवस्थाओं में स्वत्व-हरण के प्राचीन रोमन सिद्धांत को विकसित किया है। पर ये अपवाद हैं, नियम नहीं।

विजित प्रदेश को एक बार हस्तगत और सुरक्षित कर लेने के बाद आधुनिक राष्ट्रों की गति रुक गयी। कारण यह था कि उनके सामने देशीय संस्कृति को और साथ ही पृथक्ता की देशीय भावना को उखाड़ने की एक ऐसी कठिनाई उपस्थित हो गयी जिसे वे रोमन लोगों की भांति दूर नहीं कर पाये। प्रारंभ में इन सब साम्राज्यों में यही एक विचार काम करता था कि अपने झंडे के साथ-साथ वे अपनी संस्कृति को भी विजित राज्यों पर लाद दें—यह विचार शुरू में एक विजेता की सहज प्रेरणामात्र था और राजनीतिक प्रभुत्व तथा इसकी स्थायी सुरक्षा के साथ आवश्यक रूप में संबंधित था, पर बाद में यह चेतन आशय भी उसके साथ जुड़ गया कि वे "हीनतर" जातियों को अपनी सभ्यता का लाभ पहुंचाना चाहते हैं—जैसा कि फेरिसी (Pharisee) नामक प्राचीन यहूदी संप्रदाय गर्व-पूर्वक कहा करता था। यह प्रयत्न कहीं भी अधिक सफल हुआ हो यह कहना कठिन है। आयरलैंड में इसका अत्यधिक पूर्णता और निष्ठुरता से परीक्षण किया गया, परंतु जब कि आइरिश भाषा कर्नाट के जंगलों के सिवाय और सब जगहों से मिटा दी गयी थी तथा प्राचीन आइरिश संस्कृति के सब विशिष्ट चिह्न लुप्त हो गये थे, तब भी उत्तेजित राष्ट्रीयता अपनी विशिष्टता के अन्य प्राप्य चिह्नों, कैथोलिक धर्म, अपनी कैल्टिक जाति और राष्ट्रीय भाव के साथ चिपटी रही, यद्यपि ये

चिह्न अधिक नहीं थे। अंग्रेजी बाना पहनने के बाद भी इसने अंग्रेज बनना अस्वीकार कर दिया। विदेशी दबाव के हटने या ढीले पड़ जाने के परिणामस्वरूप एक उग्र प्रतिक्रिया पैदा हो गयी, इसने गेलिक भाषा को पुनर्जीवित करने तथा प्राचीन कैल्टिक भावना और संस्कृति का पुनर्निर्माण करने का प्रयत्न किया। पोलैंड को अथवा अपने संबंधी अल्सेशियन लोगों को, जो उनकी अपनी भाषा ही बोलते हैं, प्रशियन ढंग से जबर्दस्ती अपने अंदर मिला लेने में जर्मन असफल हुए। रूस में फिन (Finn) लोग अजेय रूप में फिनिश (Finnish) ही रहे। आस्ट्रिया की नरम शासन-प्रणालियों ने आस्ट्रियन पोल को उतना ही पोलिश रहने दिया, जितना पोलिश जर्मन पोझेन (Posen) में उसका अपना पीड़ित भाई था। इस प्रकार हर जगह इस प्रयत्न की अनुपयोगिता अधिकाधिक अनुभव में आने लगी और इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि अपने अधीनस्थ राष्ट्र की आत्मा को स्वच्छंद छोड़ देना चाहिये, जब कि प्रभु-राज्य का कार्य केवल नयी प्रशासनीय और आर्थिक अवस्थाएं पैदा करने तक सीमित रहे। इसमें इतने सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की गुंजाइश रहनी चाहिये जितना कि स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया जा सकता हो या फिर जितना शिक्षा या परिस्थितियों के बल पर संपन्न हो सकता हो।

जर्मन लोग, जो सचमुच ही साम्राज्यीय पद्धतियों में नये और अनुभवहीन थे, आत्मसात्करण के इसी प्राचीन रोमन विचार के साथ चिपटे रहे। इसको उन्होंने रोमन और अ-रोमन दोनों तरीकों से कार्यान्वित करना चाहा। उन्होंने प्राचीन समय के सीजरो से भी आगे बढ़कर निष्कासन तथा हत्याकांड के तरीकों को अपनाने की प्रवृत्ति प्रकट की जिन्हें कनान (Canaan) में यहूदी और पूर्वीय ब्रिटेन में सैक्सन लोग बरतते थे। परंतु क्योंकि वे आधुनिकता में पले हुए थे और कुछ हद तक आर्थिक आवश्यकता तथा लाभ को भी समझते थे, वे इस नीति का पूर्ण रूप से या शांतिकाल में पालन नहीं कर सकते थे। तब भी वे पुरानी रोमन प्रणाली पर ही जोर देते रहे, देशी भाषा और संस्कृति के स्थान पर उन्होंने जर्मन भाषा और संस्कृति को लाना चाहा। और क्योंकि यह कार्य वे शांतिपूर्ण दबाव से नहीं कर सके उन्होंने इसे बलपूर्वक करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार के प्रयत्न की असफलता निश्चित है; जिस मनोवैज्ञानिक एकता को प्राप्त करना जर्मनी का ध्येय है उसके स्थान पर वह केवल राष्ट्रीय भाव को उकसाने में सफल होता है और एक ऐसी दृढ़ और दुर्जेय घृणा के बीज बो देता है जो साम्राज्य के लिये अनिष्टकारी तो है ही पर साथ ही, अगर विरोधी भाग संख्या में बहुत ही कम या निर्बल न हों तो, उसे नष्ट कर सकती है। यदि यूरोप में जहां विभिन्नताएं एक ही नमूने के विविध रूपमात्र हैं तथा जहां केवल छोटे और दुर्बल हिस्सों को ही वश में करना है, विषमजातीय संस्कृतियों को मिटाना असंभव है तो स्पष्ट ही उन साम्राज्यों के लिये कोई प्रश्न ही नहीं उठता जिन्हें विशाल एशियाई और अफ्रीकन जन-समुदायों के साथ व्यवहार करना है, ये जन-समुदाय

अनेक सदियों से एक प्राचीन और सुगठित राष्ट्रीय संस्कृति में दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित हैं। अतएव यदि मनोवैज्ञानिक एकता उत्पन्न करनी है तो यह किन्हीं और ही साधनों द्वारा होगी।

विभिन्न संस्कृतियों का आपसी संघर्ष समाप्त नहीं हुआ है, बल्कि आधुनिक जगत् की अवस्थाओं से और प्रबल हो गया है, पर इस संघर्ष का स्वभाव, वे उद्देश्य जिनकी ओर वह बढ़ रहा है तथा वे साधन जिनके द्वारा ये उद्देश्य अत्यंत सफलतापूर्वक प्राप्त किये जा सकते हैं—इन सबमें बड़ा भारी परिवर्तन आ गया है। पृथ्वी अब संपूर्ण मानवजाति के निमित्त एक ऐसी सार्वभौम, व्यापक और नमनीय सभ्यता उत्पन्न करने के लिये कठोर प्रयत्न कर रही है जिसमें प्रत्येक आधुनिक और प्राचीन संस्कृति अपना योगदान देगी तथा जिसे प्रत्येक विशिष्ट मानवसमुदाय अपनी विविधता का आवश्यक अंग प्रदान करेगा। इस उद्देश्य को प्राप्त करते समय, जीवन-रक्षा के लिये कुछ संघर्ष तो अवश्य करना ही पड़ेगा। जीवित रहने के लिये यहां अधिकतम योग्य केवल वही चीजें होंगी जो उन प्रवृत्तियों का अधिक-से-अधिक पोषण कर सकती हैं जिन्हें प्रकृति मानवजाति में कार्यान्वित कर रही है। ये प्रवृत्तियाँ वर्तमान की ही नहीं हैं बल्कि इनमें अतीत की पुनरुज्जीवित करनेवाली प्रवृत्तियाँ तथा भविष्य की अविकसित प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलित हैं। और वे सब चीजें भी जीवित रहने के योग्य होंगी जो स्वाधीन करने और मिलानेवाली शक्तियों के रूप में अधिक-से-अधिक सहायक हो सकती हैं तथा जो अनुकूलता और समन्वय लाने में तथा महती मातृ-शक्ति के प्रयत्नों में छुपे हुए आशय को उन्मुक्त करने के लिये अत्यंत उपयोगी हो सकती हैं। किंतु इस संघर्ष में सफलता प्राप्त करने के लिये सैनिक बल-प्रयोग या राजनीतिक दबाव सबसे अच्छा सहायक नहीं बल्कि बड़ा भारी बाधक है। पहले तो जर्मन संस्कृति, चाहे वह भले के लिये थो या बुरे के लिये, संसार भर में तेजी के साथ विजय प्राप्त कर रही थी, पर पीछे चलकर जर्मनी के शासकों को यह बुरी सलाह मिली कि वे विरोधी आदर्शों की सुप्त शक्ति को जगाने के लिये शस्त्र-प्रयोग द्वारा जोर-जबर्दस्ती कर सकते हैं। अभी जो उसमें आवश्यक है वह राज्य-सिद्धांत और राज्य द्वारा समाज के जीवन की व्यवस्था ही है, यह सिद्धांत जर्मन साम्राज्यवाद और जर्मन समाजवाद दोनों में समान रूप से विद्यमान है। युद्ध में साम्राज्यवाद की पराजय होने पर इसे जितनी अधिक सफलता मिल सकती है उतनी क्रूर संघर्ष में विजय होने पर नहीं मिल सकती।

संसार की प्रवृत्तियों की गति-विधि और दिशा में इस प्रकार का परिवर्तन पारस्परिक विनिमय और अनुकूलता के नियम की ओर तथा अनेक तत्त्वों के मेल से एक नये जन्म की ओर संकेत करता है। केवल उन्हीं साम्राज्यीय समुदायों के सफल होने तथा अंत में बचे रहने की संभावना है जो नये नियम को स्वीकार करके उसीके अनुसार अपने संगठन का निर्माण करेंगे। विपरीत ढंग की तात्कालिक सफलताएं अवश्य प्राप्त हो सकती हैं और इस नियम का उल्लंघन भी किया जा सकता है; परंतु, जैसा कि इतिहास हमें बार-बार बताता है, इस प्रकार की सामयिक सफलताएं

राष्ट्र को अपने समूचे भविष्य के बदले में प्राप्त होती हैं। संचार के साधनों की वृद्धि तथा ज्ञान के अधिक विस्तार के परिणाम-स्वरूप यह नया सत्य अनुभव में आना शुरू हो गया था। विविधताओं का मूल्य लोग समझने लगे थे और किसी भी एक संस्कृति के अपने-आपको दूसरों पर लादने तथा और सबको कुचल देने के पुराने अहंकारपूर्ण दावों का बल और विश्वास क्षीण हो रहा था। इसी समय पुराना और अनुपयुक्त सिद्धांत नष्ट होने से पहले अपने-आपको यथासंभव सच्चा प्रमाणित करने के लिये जर्मन शस्त्र से सज्जित होकर एकाएक प्रकट हो उठा। इसका परिणाम केवल यह हुआ कि जिस सत्य को वह अस्वीकार करना चाहता था उसको अधिक शक्ति और स्पष्ट मान्यता मिल गयी। संपूर्ण यूरोप में सांस्कृतिक इकाइयों के रूप में बेल्जियम और सर्बिया के अत्यंत छोटे राज्य भी इतने महत्त्वपूर्ण हो उठे कि धार्मिक विश्वास जैसा उनका मान होने लगा। एशियाई संस्कृतियों के महत्त्व की मान्यता, जो पहले विचारकों, विद्वानों या कलाकारों तक ही सीमित थी, अब युद्धक्षेत्र के संबंध से जनसाधारण के मन में प्रवेश पा चुकी है। 'हीन' जातियों के सिद्धांत को—हीनता और श्रेष्ठता यहां की व्यक्ति की अपनी संस्कृति की तुलना से नापी जाती हैं—जो धक्का लगा है वह इसके लिये घातक प्रहार सिद्ध हो सकता है। वस्तुओं की एक नयी व्यवस्था के बीज जाति की सचेतन मनोवृत्ति में शीघ्रता से बोये जा रहे हैं।

संस्कृतियों के संघर्षण की यह नयी प्रवृत्ति अपने-आपको स्पष्टतम रूप में वहां प्रकट कर रही है जहां यूरोपीय और एशियाई संस्कृतियां एक-दूसरे के साथ मिलती हैं। उत्तरी अफ्रीका में फ्रेंच संस्कृति और भारतवर्ष में अंग्रेजी संस्कृति फ्रेंच या अंग्रेजी संस्कृति नहीं रहतीं वरन् एशियाई सभ्यता के सम्मुख दोनों केवल यूरोपीय सभ्यतामात्र रह जाती हैं; यह अब एक साम्राज्यीय प्रभुत्व नहीं है जो दूसरे को आत्मसात् करके अपनी रक्षा करना चाहता है, वरन् एक महाद्वीप दूसरे महाद्वीप के साथ संधि-वार्ता कर रहा है। राजनीतिक आशय का महत्त्व बहुत कम हो जाता है और इसका स्थान विश्व-आशय ले लेता है। और इस साम्मुख्य में अब यह बात नहीं रही कि एक आत्मविश्वासी यूरोपीय सभ्यता अर्ध-बर्बर एशियाई सभ्यता को अपना प्रकाश और सद्गुण दे और एशियाई उसे एक हितकारी परिवर्तन के रूप में कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार कर ले। पहली उत्साहपूर्ण स्वीकृति के बाद नमनशील जापान ने भी अपनी संस्कृति की सब आधारभूत बातों को अपने पास सुरक्षित रखा है। अन्य सब स्थानों पर भी यूरोपीय लहर को एक ऐसी आंतरिक वाणी और शक्ति का सामना करना पड़ा है जो इसके विजयशील वेग को रोक देती है। पूर्व, साधारणतया, कई शंकाओं और

‘वर्तमान युगोस्लाविया।

‘तुर्की और चीन में यह यूरोपीयकरण की प्रवृत्ति फिर से उभर आयी है और इसको बोलशेविक रूस के प्रभाव से बल प्राप्त हुआ है। जहां कहीं बाधा देनेवाली कट्टरता को वश में लाना होता है, वहां इस आंदोलन के प्रकट होने की संभावना रहती है, पर यह अवस्था अधिक देर टिकनेवाली नहीं है।

दुविधाओं के होते हुए भी, आधुनिक यूरोपीय संस्कृति के वस्तुतः उपयोगी अंशों को—इसके विज्ञान, जिज्ञासा-भाव, सार्वभौम शिक्षा और उन्नति के आदर्श, विशेषाधिकार की प्रथा का अंत, इसकी व्यापक तथा उदार बनानेवाली जनतंत्रात्मक प्रवृत्ति, स्वतंत्रता और समानता की सहज प्रेरणा, संकुचित और उत्पीड़क रूढ़ियों को तोड़ देने तथा स्थान, वायु और प्रकाश प्राप्त करने की पुकार, इस सबको—स्वीकार करने को इच्छुक है, जहां पूर्ण रूप से इच्छुक नहीं है वहां वह इन्हें स्वीकार करने के लिये परिस्थितियों तथा मानवजाति की सामान्य प्रवृत्ति द्वारा बाधित होता है। पर एक स्थल पर पहुंचकर पूर्व आगे बढ़ने से इंकार कर देता है और ये ठीक वे विषय हैं जो अत्यंत गंभीर तथा मानवजाति के भविष्य के लिये अत्यावश्यक हैं। ये आत्मा के, मन और मानव स्वभाव के गंभीरतम विषय हैं। यहां भी सभी बातें आत्म-स्थापन और विजित करने की ओर नहीं बल्कि पारस्परिक सहानुभूति और आदान-प्रदान, आपसी अनुकूलता और नव-निर्माण की ओर संकेत करती हैं।

पुराना विचार पूरी तरह से नष्ट नहीं हुआ है और न वह अंतिम संघर्ष के बिना नष्ट ही होगा। अभीतक भी कुछ व्यक्ति यह स्वप्न देखते हैं कि यदि यूरोप और एशिया के निवासियों को समान स्तर पर लाना हो तो इसके लिये यह आवश्यक है कि भारतवर्ष ईसाई प्रभाव में आ जाये, अंग्रेजी भाषा यदि देशीय भाषा का स्थान न ले सके तो कम-से-कम उसका स्थिर प्रभुत्व तो स्थापित हो जाये, या फिर भारत यूरोप के सामाजिक आचार-व्यवहार ही अपना ले। पर ये वे लोग हैं जिनके विचार पिछली पीढ़ी के हैं, ये समय के उन संकेतों का महत्त्व समझ नहीं पाते जो एक नये युग की ओर इंगित करते हैं। उदाहरणार्थ ईसाई-धर्म को केवल वहीं सफलता मिली है जहां वह अपनी विशिष्ट श्रेष्ठता के दो-एक पहलुओं को चरितार्थ कर सका है। एक पहलू था स्वयं झुककर पददलितों और पीड़ितों को ऊपर उठाने के लिये तत्पर रहना, जब कि हिंदू लोग जात-पात के बंधनों के कारण न तो उनका स्पर्श करते और न ही उनकी सहायता करते थे और दूसरा, जहां कहीं आवश्यकता हो वहां सहायता पहुंचाने के लिये हर समय तैयार रहना; एक शब्द में हम इसको सक्रिय दया-भाव और सहायता की प्रवृत्ति कह सकते हैं जो इसने अपने उद्गम बौद्ध-धर्म से प्राप्त की थी। जहां वह अपने इस साधन को काम में नहीं ला सका वहां वह पूर्ण रूप से असफल रहा और यह साधन भी वह आसानी से गंवा सकता है, क्योंकि भारतवर्ष की आत्मा इस नये संघर्ष के कारण पुनः जाग गयी है और अपनी खोयी हुई प्रवृत्तियों को इसने फिर से प्राप्त करना शुरू कर दिया है। अतीत के सामाजिक आचार-व्यवहार जहां स्वतंत्रता और नयी राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों और आदर्शों के साथ ठीक नहीं बैठते या स्वतंत्रता और समानता की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्ति के साथ मेल नहीं खाते वहां वे अब बदल रहे हैं। परंतु अभीतक इस बात का कोई लक्षण दिखायी नहीं देता कि एक नये विशाल और उदार एशियाई समाज के अतिरिक्त इस कठोर प्रयत्न का

कुछ और भी फल निकलेगा। लक्षण सब जगह एकसमान हैं; शक्तियां सर्वत्र इसी भाव में कार्य कर रही हैं। न तो फ्रांस और न ही इंग्लैंड के पास यह शक्ति है—और वे शीघ्र या शनैः-शनैः इस इच्छा को छोड़ भी रहे हैं—कि वे अफ्रीका में इस्लामी या भारतवर्ष में भारतीय संस्कृति को नष्ट कर दें या उसके स्थान पर किसी और संस्कृति को ले आयें। वे केवल इतना कर सकते हैं कि जो उपयोगी चीज उनके पास है उसे वे प्राचीनतर राष्ट्रों को दे दें जिससे कि वे राष्ट्र अपनी आवश्यकताओं और अंतरीय भावना के अनुसार इसे आत्मसात् कर लें।

इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक था क्योंकि यह साम्राज्यवाद के भविष्य के लिये महत्वपूर्ण है। स्थानीय संस्कृति और भाषा की जगह विजेता की साम्राज्यीय संस्कृति और यथासंभव उसकी भाषा को भी स्थापित करना पुराने साम्राज्यीय सिद्धांत के लिये आवश्यक था, पर ज्यों ही यह करना असंभव हो जाये और ऐसा करने की इच्छा को भी अव्यावहारिक समझकर छोड़ देना पड़े तो इस समस्या को सुलझाने के लिये साम्राज्य के पुराने रोमन आदर्श का कुछ उपयोग नहीं रह जाता। रोमन आदर्श में कुछ सत्य का अंश भी है, विशेषकर इसके उन अंगों में जो साम्राज्यवाद के मूलतत्त्व और साम्राज्य के अर्थ के लिये विशेष रूप में आवश्यक हैं; पर एक नये आदर्श की मांग तो है ही। युग की आवश्यकताओं के अनुसार ऐसा नया आदर्श विकसित होना शुरू हो भी चुका है; यह संघीय (federal) या फिर महासंघीय या समसंघीय (confederate) साम्राज्य का आदर्श है। जो प्रश्न हमें विचारना है वह सिमटकर इतना ही रह जाता है कि क्या विषम प्रकृतिवाली जातियों तथा संस्कृतियों से गठित विशाल विस्तृत तथा सुरक्षित रूप से संघबद्ध साम्राज्य बनाया जा सकता है? और यह मानकर कि भविष्य की दिशा यही है, कैसे इस प्रकार का साम्राज्य, जो देखने में इतना कृत्रिम लगता है, एक स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक इकाई में गूँथा जा सकेगा?

विषमजातीय राष्ट्र का निर्माण

एक सुदृढ़ और सुरक्षित नींव पर आधारित संघीय साम्राज्य की समस्या अर्थात् एक सच्ची मनोवैज्ञानिक एकता की स्थापना, — एक ऐसे साम्राज्य का निर्माण जिसे अपने विषम-जातीय अंगों में समन्वय लाना है, — दो विभिन्न रूपों में हमारे सामने उपस्थित होती है। इनमें से एक है बाह्य रूप का प्रश्न और दूसरा उस वास्तविकता का प्रश्न जिसे चरितार्थ करना ही उस रूप का प्रयोजन होता है। पहले का व्यावहारिक महत्त्व बहुत अधिक है पर शक्तिशाली तो केवल दूसरा है। एकता का कोई रूप अपनी सहवर्ती वास्तविकता की उपलब्धि को संभव कर सकता है, उसे सुविधा, यहांतक कि सक्रिय रूप में सहायता भी प्रदान कर सकता है, परंतु उसका स्थान कभी नहीं ले सकता। और जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रकृति के इस क्रम में सच्ची वास्तविकता मनोवैज्ञानिक ही होती है, क्योंकि राजनीतिक और प्रशासनीय एकता का स्थूल तथ्य अकेला एक अस्थायी और कृत्रिम रचना से अधिक और कुछ नहीं हो सकता। ज्यों ही उसका तात्कालिक उपयोग समाप्त हो जायेगा या वे परिस्थितियां जो उसे स्थिरता प्रदान करने में सहायक थीं आमूल रूप में नहीं तो गंभीर रूप में ही बदल जायेंगी त्यों ही यह रचना भी निश्चित रूप से छिन्न-भिन्न हो जायेगी, साथ ही इसकी फिर से खड़े होने की कोई संभावना भी नहीं रहेगी। तो पहला प्रश्न जिसपर हमें विचार करना है यह है कि वह कौन-सी वास्तविकता हो सकती है जिसे एक संघीय साम्राज्य के रूप में निर्मित करना हमारा लक्ष्य है और विशेषकर हमें यह देखना होगा कि क्या यह केवल राष्ट्रादर्श का ही एक विस्तार मात्र तो नहीं होगा जो सबसे बड़ा और सफल मानव समुदाय है जिसे प्रकृति अबतक विकसित कर चुकी है, अथवा यह एक नये ढंग का समुदाय बनेगा जो राष्ट्र को अतिक्रम करके उसका स्थान लेना चाहेगा जैसे राष्ट्र ने जाति, वंश और नगर या प्रादेशिक राज्य का स्थान ले लिया है।

ऐसी समस्या को सुलझाने में मानव-मन की पहली सहज प्रवृत्ति उस विचार का पक्ष लेने की होती है जो उसकी परिचित धारणाओं की अधिक-से-अधिक पुष्टि करता है और उन्हें निरंतर बने रहने देता है। कारण, मनुष्य का मन अपने सामूहिक भाव में विचार के आमूल परिवर्तन के विरुद्ध होता है। परिवर्तन को यह अधिक आसानी से केवल तभी स्वीकार करता है जब उसका मूल-भाव या तो वस्तुओं के अभ्यस्त रूप के बने रहने से अथवा किसी रस्मी, वैधानिक, बौद्धिक या भावनात्मक कल्पना से आवृत हो। कुछ लोग ऐसी रचना को ही राष्ट्र-भाव की राजनीतिक एकता से साम्राज्य-भाव की राजनीतिक एकतातक ले जानेवाले सेतु के रूप में निर्मित करने की कल्पना करते हैं। आज जो वस्तु मनुष्यों को अधिक-से-अधिक सुरक्षित रूप में संगठित

करती है वह बाह्य एकता है,—एक ही देश में रहना, उसकी रक्षा करना, एक सर्वसामान्य आर्थिक जीवन, जो भौगोलिक ऐक्य या मातृभूमि की भावना पर आधारित है। यह भावना भौतिक और आर्थिक तथ्य के इर्द-गिर्द बढ़ती रहती है और या तो यह राजनीतिक और प्रशासनीय एकता को उत्पन्न करती है या जब एक बार वह उत्पन्न हो जाये तो उसे सुरक्षित और स्थायी रूप में बनाये रखती है। इस शक्तिशाली भावना को हमें किसी काल्पनिक रचना द्वारा विस्तृत कर लेना चाहिये तथा साम्राज्य के प्रत्येक विषमजातीय अंग से यह मांग करनी चाहिये कि वह अपनी पार्थिव मातृभूमि को नहीं बल्कि साम्राज्य को ही माता समझे या कम-से-कम, यदि वह पुरानी भावना के साथ ही चिपटा हुआ है तो, सबसे पहले और मुख्य रूप में साम्राज्य को ही महत्तर माता समझना सीखे। फ्रेंच लोगों की अपने मातृ-देश फ्रांस के विषय में धारणा इसी विचार का ही एक रूपांतर है। वे साम्राज्य के अन्य अधिकृत प्रदेशों को—ऐसे प्रदेश अंग्रेजी परिभाषा में पराधीन देश कहें जायेंगे यद्यपि इन्हें काफी राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं—मातृदेश के उपनिवेश मानते हैं तथा, विचार में इन सबको एक साथ “समुद्र पार का फ्रांस” स्वीकार करते हैं; इन उपनिवेशों को इस बात की शिक्षा दी जाती है कि ये अपनी राष्ट्रीय भावनाएं सबकी समान माता, फ्रांस की महानता, कीर्ति और प्रियता पर केंद्रित करें। यह विचार कैल्टिक-लैटिन स्वभाव के तो अनुरूप है, पर ट्यूटैनिक प्रकृति के साथ मेल नहीं खाता; इस विचार को इस कारण से भी बल मिलता है कि फ्रेंच लोगों में जाति और वर्ण का पक्षपात अपेक्षाकृत कम है तथा उनमें आकर्षण और आत्मसात्करण की एक ऐसी विलक्षण शक्ति है जो अन्य सब कैल्टिक राष्ट्रों की भांति इनके हिस्से में भी आयी है।

इस प्रकार की काल्पनिक रचनाओं की शक्ति प्रायः आश्चर्यजनक होती है, इसलिये उनकी कभी क्षणभर के लिये भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। प्रकृति को जब अपने मनोमय प्राणी अर्थात् मनुष्य में परिवर्तन लाने के लिये गहरी जमी हुई, अपनी ही बाधा का सामना करना पड़ता है, तो ये रचनाएं ही उसकी अत्यंत सामान्य और कार्यकर प्रणाली होती हैं। फिर भी कुछ ऐसी शर्तें हैं जिनके बिना कोई रचना अधिक समय के लिये या पूरी तरह से सफल नहीं हो सकती। सर्वप्रथम उसे एक ऐसी बाह्य समानता पर आधारित होना चाहिये जो प्रकट रूप में उचित प्रतीत हो। इसके बाद उसे एक ऐसे संभवनीय तथ्य की ओर बढ़ना चाहिये जो इतना सबल हो कि या तो वह उस काल्पनिक रचना का ही स्थान ले ले या फिर अंत में उसका औचित्य सिद्ध कर दे। और फिर इस बात की भी आवश्यकता है कि यह संभवनीय तथ्य अपने-आपको उत्तरोत्तर चरितार्थ करता जाये, अस्पष्ट नीहारिका (nebula) की अवस्था में ही बहुत अधिक दिनोंतक न रहे। एक समय था जब इन शर्तों पर इतना आग्रह करने की आवश्यकता नहीं थी, उस समय जन-साधारण अधिक कल्पनाशील तथा सरल थे, भावना या बाह्य रूप से ही संतुष्ट हो जाते थे; पर जैसे-जैसे जाति आगे बढ़ती

जाती है, वह मानसिक रूप में अधिक सजग, आत्म-सजग, आलोचक तथा सत्य और पाखंड के भेद को शीघ्र पकड़ लेनेवाली होती जाती है। इसके अतिरिक्त आजकल विचारक का बोलबाला है; जिस हदतक उसके शब्द आजकल सुने तथा समझे जाते हैं उसका मनुष्यजाति के उपलब्ध इतिहास में कोई भी दृष्टांत नहीं मिलता; और यह विचारक अब अधिकाधिक एक अनुसंधायक, आलोचक और कोरी कल्पनाओं का विरोधी बनता जा रहा है।^१

तब क्या उपर्युक्त कल्पना के मूल में कोई ऐसा समान भाव का चरितार्थ होने योग्य तथ्य भी है—दूसरे शब्दों में, क्या यह सत्य है कि वास्तविक साम्राज्यीय एकता चरितार्थ हो जाने पर केवल एक विस्तृत राष्ट्रीय एकता ही होगी? यदि नहीं तो वह कौन-सा प्राप्य तथ्य है जिसे तैयार करना इस रचना का उद्देश्य है? इतिहास में मिश्रित राष्ट्र के अनेकों उदाहरण हैं और, यदि उन जैसे दृष्टांत को सफल मान लिया जाये तो ऐसे बृहदाकार मिश्रित राष्ट्र का निर्माण करना ही संघीय साम्राज्य का काम हो जायेगा। अतएव, हमें सफल मिश्रित राष्ट्र के विशेष-विशेष उदाहरणों पर ही दृष्टि डालनी चाहिये और यह देखना चाहिये कि यह दृष्टांत कहांतक लागू होता है और क्या उसके मार्ग में ऐसी कठिनाइयां भी आती हैं जो पुरानी सफलता के विभिन्न रूप की ओर इतना नहीं जितना कि एक नये विकास की आवश्यकता की ओर संकेत करती हैं। इन कठिनाइयों का यथार्थ ज्ञान होने से हमें यह जानने में सहायता मिल सकती है कि इन्हें कैसे दूर किया जाये।

ऐसा मिश्रित या विषमजातीय राष्ट्र जो सफलतापूर्वक विकसित हो चुका है और एक ऐसा विषमजातीय साम्राज्य जो सौभाग्यवश विकसित हो रहा है, इन दोनों का एक ही विशेष उदाहरण हमारे सामने है—पुराने समय का ब्रिटिश राष्ट्र और वर्तमान काल का ब्रिटिश साम्राज्य; पर सफलतापूर्वक और सौभाग्यवश विकसित होते हुए भी इसमें कुछ न्यूनता है, क्योंकि यह उन अनगिनत समस्याओं से आक्रांत है जो अभी सुलझायी नहीं जा सकी हैं।^२ ब्रिटिश राष्ट्र अंग्रेजी बोलनेवाले एंग्लो-नॉर्मन इंग्लैंड, वैल्श बोलनेवाले किमरिक (Cymric) वेल्स, अर्ध-सैक्सन तथा अर्ध-गैलिक अंग्रेजी बोलनेवाले स्कॉटलैंड और अत्यंत अपूर्ण और आंशिक रूप में गैलिक आयरलैंड का बना हुआ है। गैलिक आयरलैंड के साथ एक एंग्लो-स्कॉच-प्रधान उपनिवेश है जिसने इसे संगठित राज्य के साथ बांध तो अवश्य रखा था, पर जो सच्ची एकता लाने में कभी समर्थ नहीं हुआ। अभी कुछ समय पहलेतक आयरलैंड इस संगठन का एक

^१ ये अवस्थाएं भी शीघ्र ही समाप्त हो सकती हैं; क्योंकि आजकल विचार की स्वतंत्रता सब जगह संकट में है। और, जहां विचार की स्वतंत्रता नहीं है, वहां विचारक की शक्ति भी नष्ट हो जायेगी।

^२ स्मरण रहे कि यह कुछ दशाब्दियों पहले लिखा गया था और आज परिस्थितियों के साथ-साथ ब्रिटिश साम्राज्य स्वयं भी पूरी तरह से बदल गया है; तब जो समस्या थी वह अब नहीं है।

असफल अंग ही रहा; पर पूरे संगठन के साथ—ब्रिटिश राष्ट्र के साथ नहीं, बल्कि साम्राज्य के साथ—इसकी एक प्रकार की एकता तो केवल अभी, अन्य अंगों से भिन्न रूप तथा भिन्न परिस्थितियों में, संभव हो रही है, किंतु यह एकता अभी है अनिश्चित, सच पूछो तो इसका वास्तविक आरंभ अभी हुआ ही नहीं।^१ अब प्रश्न यह उठता है कि इस सामान्य सफलता और इस आंशिक असफलता को निर्धारित करनेवाली परिस्थितियाँ क्या थीं और इस गुरुतर समस्या की संभावनाओं पर ये क्या प्रकाश डालती हैं ?

मानव समुदायों का निर्माण करने में प्रकृति ने सामान्यतया उसी नियम का अनुसरण किया है जिसका वह भौतिक समूहों के बनाते समय पालन करती है। पहले उसने एक प्राकृतिक शरीर प्रदान किया, फिर शरीर के अवयवों के लिये एक समान जीवन और प्राणिक प्रेरणा और अंत में एक चेतन मन या ऐक्य-भाव और एक ऐसा केंद्र या शासक-अंग दिया जिसके द्वारा सामूहिक अहंभाव अपने को चरितार्थ करके कुछ कार्य कर सकता है। उसकी साधारण कार्य-शैली में वंशक्रम का एक ऐसा सामान्य बंधन या पूर्वसंबंध होना चाहिये जिसकी सहायता से मनुष्य अपने को सजातीयों से जोड़ने तथा विजातीयों से पृथक् करने में समर्थ हो जाये। इस कार्य-शैली के अनुसार एक ऐसा आवास अथवा देश भी होना चाहिये जिसकी प्राकृतिक सीमाओं के अंदर बसनेवाले लोग एक प्रकार की भौगोलिक आवश्यकता के कारण संयुक्त होने को बाध्य हो जायें। प्राचीन समय में, जब लोग धरती के साथ इतनी दृढ़ता से बंधे हुए नहीं थे, दोनों में से पहली अवस्था अधिक महत्वपूर्ण थी, जब कि स्थायी रूप से बसी हुई आधुनिक जातियों में दूसरी अवस्था की प्रधानता है; किंतु जाति चाहे विशुद्ध हो या मिश्रित,—क्योंकि इसका अपने मूल में एक होना आवश्यक नहीं—उसकी एकता सदा एक महत्वपूर्ण वस्तु रहती है और जब भौगोलिक आवश्यकता स्थायी रूप में अपना प्रभुत्व स्थापित करने लगती है तो प्रबल असमानता और विभिन्नता सहज ही उसके रास्ते में गंभीर कठिनाइयाँ उपस्थित कर सकती हैं। इसलिये कि वह अपना प्रभाव स्थापित कर सके, दूसरी प्राकृतिक अवस्था, अर्थात्, आर्थिक एकता या समान आजीविका के अभ्यास की आवश्यकता और राजनीतिक एकता या जीवन-रक्षा, कार्य-व्यवहार और उन्नति के लिये समान शक्तिशाली संगठन के अभ्यास की आवश्यकता अत्यंत प्रबल होनी चाहिये। यह दूसरी अवस्था अपने-आपको पूर्णतया चरितार्थ कर सके, अतः ऐसी कोई चीज नहीं होनी चाहिये जो तीसरी अवस्था को उसकी उत्पत्ति या उसके स्थायित्व-काल में दबा दे या नष्ट कर दे। कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिसके परिणामस्वरूप चिन में विरोध-भावना प्रबल हो जाये या शेष सारे संगठन से पृथक् हो जाने का भाव स्थायी

^१ यह उस समय लिखा गया था जब 'होमरूल' (Home Rule) ही संभव समाधान प्रतीत होता था; इसकी असफलता अब निश्चिन हो चुकी है और आयरलैंड अब स्वाधीन गण-राज्य बन गया है।

बन जाये; क्योंकि इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि केंद्र या शासक मंडल पूरे संगठन का मनोवैज्ञानिक रूप में प्रतिनिधित्व नहीं कर पायेगा और उस अवस्था में वह उसके अहंभाव का सच्चा केंद्र भी नहीं रहेगा। पर हमें स्मरण रखना चाहिये कि पृथक्ता और विशिष्टता एक ही वस्तु नहीं हैं, क्योंकि विशिष्टता तो एकता के साथ रह भी सकती है; जो चीज पृथक् करती है वह विभिन्नता का तथ्यमात्र नहीं, बल्कि यह भावना है कि सच्ची एकता प्राप्त करना असंभव है।

ब्रिटिश राष्ट्र के निर्माण में प्रत्यक्षतः एकता की भौगोलिक आवश्यकता विद्यमान थी; वेल्स और आयरलैंड की विजय तथा स्कॉटलैंड के साथ मेल ऐसी ऐतिहासिक घटनाएँ थीं जो केवल इसी आवश्यकता के क्रियात्मक फल को सूचित करती थीं। परंतु उनमें जाति की एकता और पूर्व-संबंध दोनों सर्वथा अनुपस्थित थे, इसलिये थोड़ी-बहुत कठिनाई सहकर भी उन्हें उत्पन्न करना आवश्यक था। वेल्स और स्कॉटलैंड में, कुछ कम या अधिक समय के अंदर, यह कार्य सफलतापूर्वक संपन्न हो गया था, पर आयरलैंड में यह बिल्कुल नहीं हो पाया। भौगोलिक आवश्यकता अपेक्षाकृत एक गौण शक्ति है। जब भेद उत्पन्न करनेवाले आवेग को नष्ट करने का कोई प्रयत्न सफल न हो तो विरोध की प्रबल भावना इस आवश्यकता को दबा सकती है। राजनीतिक रूप में एकता प्राप्त कर भी ली जाये, तब भी वह नष्ट हो सकती है, विशेषकर जब भौगोलिक एकता में एक ऐसी भौतिक बाधा या विभाजक रेखा हो जो परस्पर-विरोधी आर्थिक हितों का आधार बनने के लिये पर्याप्त विभाजक शक्ति रखती हो, —यही बात हम उस विभाजक रेखा में देखते हैं जो बेल्जियम और हौलैंड, स्वीडन और नार्वे तथा आयरलैंड और ग्रेट-ब्रिटेन को अलग करती है। आयरलैंड में आर्थिक विभाजन की इस रेखा को पार करने या मिटाने तथा आइरिश लोगों के मन के अंदर जो एक अलग समुदाय, एक अलग पार्थिव देश की भावना विद्यमान थी उसका प्रतिकार करने के लिये ब्रिटिश शासकों ने कुछ किया तो नहीं, उल्टे कारण और परिणाम के विषय में अत्यंत अशुद्ध अनुमान लगाकर यथासंभव इन दोनों पर अधिक-से-अधिक जोर दिया।

सर्वप्रथम ब्रिटिश वाणिज्य और व्यवसाय की खातिर आयरलैंड के आर्थिक जीवन और समृद्धि को जान-बूझकर कुचल दिया गया। इसके बाद इन दो द्वीपों में एक ही विधान-सभा, एक ही शासकमंडल के आधार पर तथा कुछ ऐसे साधनों के द्वारा राजनीतिक “एकता” स्थापित की गयी जिनकी छान-बीन करने में भी ग्लानि होती है। परंतु इस एकता का कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ, क्योंकि वह शासकमंडल मनोवैज्ञानिक एकता का केंद्र नहीं था। जहां अत्यंत महत्त्वपूर्ण हित केवल विभिन्न ही नहीं, वरन् विरोधी भी हों वहां वह केवल इसी बात का सूचक हो सकता था कि “प्रधान सहभागी” के हितों की प्रभुता और प्रतिष्ठा सदा बनी रहे, तथा विदेशी समुदाय के हित निरंतर अधीन और प्रतिरोधित रहें। यह विदेशी समुदाय उस बृहत्

समुदाय के साथ कानूनी बेड़ियों से बंधा हुआ तो था, पर वास्तविक एकीकरण द्वारा जुड़ा हुआ नहीं था। वह दुर्भिक्ष, जिसने आयर्लैंड को उजाड़ दिया, जब कि इंग्लैंड उन्नत और समृद्ध हो रहा था, प्रकृति की ओर से इस बात का भीषण प्रमाण था कि यह “मेल” कुटिलतापूर्ण है, मुख्य हितों का ऐक्य नहीं, बल्कि तीव्रतम विरोध है। ‘होम रूल’ और पृथक्करण के आइरिश आंदोलन आयर्लैंड की जीवित रहने की इच्छा को स्वाभाविक और अनिवार्य रूप में प्रकट करते थे; ये आत्म-रक्षा की सहज प्रेरणामात्र थे, और आत्म-रक्षा के प्रत्यक्ष साधनों का ही प्रयोग करते थे।

मानव जीवन में आर्थिक हित ऐसे हित हैं जिनका उल्लंघन करके सुरक्षित रहना साधारणतया अत्यंत कठिन होता है, क्योंकि ये जीवन के साथ गुंथे हुए हैं और इनका निरंतर उल्लंघन पीड़ित समुदाय को नष्ट न भी करे, तो भी वह अत्यंत तीव्र विद्रोह को अवश्य भड़का देता है और अंत में प्रकृति के एक निष्ठुर प्रतिशोध में परिणत हो जाता है। परंतु तीसरी प्राकृतिक अवस्था के संबंध में भी आयर्लैंड के अंदर ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने ऐसी ही मौलिक भूल की। उन्होंने आइरिश संघवाद के सब अंगों को बलपूर्वक विनष्ट करने का प्रयत्न किया। वेल्स भी आयर्लैंड की भांति विजय द्वारा प्राप्त हुआ था, पर उसको आत्मसात् करने के लिये कोई लंबा-चौड़ा प्रयत्न नहीं किया गया। उग्र दमन के फलस्वरूप पहले-पहल जो खलबली मची उसके तथा प्रतिरोध के एक दो निष्फल प्रयत्नों के बाद वेल्स को प्राकृतिक अवस्थाओं के शांत दबाव के अधीन छोड़ दिया गया, इसके फलस्वरूप वह अपनी जाति और भाषा को सुरक्षित रख सका, परंतु इससे किमरिक (Cymric) जाति और सैक्सन लोगों के एक ही ब्रिटिश राष्ट्रीयता में धीरे-धीरे मिल जाने में कोई बाधा नहीं हुई। इस प्रकार के निर्हस्तक्षेप का परिणाम यह हुआ कि—पहाड़ी उपजातियों की समस्या को गौण समझकर हम छोड़ देते हैं—स्कांच जाति और भी शीघ्रता से इंग्लिश जाति के साथ मिल गयी। ग्रेट-ब्रिटेन के द्वीप में अब एक ऐसी मिश्रित ब्रिटिश जाति रहती है जिसका एक ही देश है, इसमें लोग रक्त के संमिश्रण, प्राचीन ऐक्य-संबंध, भौगोलिक आवश्यकता, समान राजनीतिक और आर्थिक हित तथा समान अहंभाव के संघटन के द्वारा आपस में जुड़े हुए हैं। उधर आयर्लैंड में उल्टी प्रक्रिया चल रही थी; जहां प्रबंध और समझौते की थोड़ी-सी सहायता लेकर प्राकृतिक अवस्थाओं को कार्यान्वित करना ही पर्याप्त हो सकता था वहां एक कृत्रिम प्रक्रिया को चलाने का यत्न हो रहा था, नयी परिस्थितियों में पुरानी प्रणालियों का प्रयोग किया जा रहा था, इस सबका फल विपरीत ही हुआ। पर जब यह भूल पकड़ी गयी तो पिछले कर्म के फल को अंगीकार करना आवश्यक हो गया और उसी पद्धति के द्वारा एकता लानी पड़ी जो आयर्लैंड के हित और संघवाद के अनुकूल पड़ती थी, अर्थात् पहले उसे ‘होम रूल’ मिला और बाद में उसे पूर्ण वैधानिक एकता के बिना ही एक स्वतंत्र राज्य बना दिया गया।

इसका परिणाम बहुत दूरतक जा सकता है, इस बात की आवश्यकता पैदा हो

सकती है कि अंत में ब्रिटिश साम्राज्य का, शायद समस्त एंग्लो-कैल्टिक राष्ट्र का ही नयी प्रणालियों के अनुसार तथा संघ-सिद्धांत के आधार पर फिर से निर्माण करना पड़े; कारण, वेल्स और स्कॉटलैंड इंग्लैंड में उस पूर्णता से नहीं घुल-मिल पाये जिस प्रकार ब्रंटाइन, अल्सास, बास्क और प्रोवांस फ्रांस की अविभाज्य एकता में घुल-मिल गये। यद्यपि कोई आर्थिक हित या प्रबल भौगोलिक आवश्यकता इस बात की मांग नहीं करती कि इस संघ-सिद्धांत को वेल्स और स्कॉटलैंड पर लागू किया जाये, पर अभी भी उनके अंदर पर्याप्त मात्रा में संघवाद की एक गौण भावना बनी हुई है जो भविष्य में किसी समय भी आयर्लैंड के समझौते के प्रभाव को अनुभव कर सकती है तथा उस संतोष और सुविधा के प्रति सचेत हो सकती है जो उसकी तरह इन दो देशों की भी प्रांतीय पृथक्ता स्वीकार करने से प्राप्त होंगे। अबतक ग्रेट-ब्रिटेन संघविहीन 'होम रूल' द्वारा जिस औपनिवेशिक साम्राज्य का संचालन करता था उसके पुनर्निर्माण में—जो कभी-न-कभी करना ही पड़ेगा—संघीय सिद्धांत को व्यावहारिक रूप में कार्यान्वित करने से इस भावना को निश्चय ही एक नया बल और उत्साह मिलेगा।^१ ब्रिटिश द्वीपों में रहनेवाली जातियों के राष्ट्रीय और औपनिवेशिक निर्माण तथा विस्तार दोनों की विचित्र परिस्थितियां वास्तव में जैसी रही हैं उससे लगभग ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी कार्यप्रणाली में प्रकृति इस साम्राज्य को सदा से ही इस प्रकार तैयार और साधित करती आयी है कि यह मानव समुदायों के इतिहास में मानों इस नये आदर्श अर्थात् विषमजातीय संघीय साम्राज्य के निर्माण का एक महान् प्रयोग-क्षेत्र है।

^१ 'होम रूल' का स्थान अब औपनिवेशिक स्वराज्य ने ले लिया है जो सिद्धांततः राज्यसंघ है, यद्यपि क्रियात्मक रूप में वह वैसा नहीं है।

सङ्ख्यबद्ध विषमजातीय साम्राज्य की समस्या

अगर ब्रिटिश द्वीपों में मिश्रित राष्ट्र का निर्माण एक पूर्वनिश्चित परिणाम था, एक ऐसी भौगोलिक और आर्थिक आवश्यकता थी जो राजनीतिज्ञों की अत्यधिक उग्र और हठीली भूलों के कारण ही सर्वांश में पूरी नहीं हो पायी, तो यही बात उस अधिक वेगशाली पर अभी भी क्रमिक और प्रायः अचेतन-सी प्रक्रिया के बारे में पहले से ही नहीं कही जा सकती थी जिसके द्वारा ग्रेट ब्रिटेन का औपनिवेशिक साम्राज्य उस हदतक विकसित होता आया है जहां वह एक सच्ची एकता प्राप्त कर सकता है। अभी बहुत दिन की बात नहीं है जब कि उपनिवेशों का अंत में पृथक् हो जाना, जिसमें आस्ट्रेलिया और कनाडा का दो छोटे स्वाधीन राष्ट्रों में विकसित होना सम्मिलित है, औपनिवेशिक साम्राज्य का आवश्यक फल तथा युक्तियुक्त और प्रायः अखेदजनक परिणाम माना जाता था।

इस मनोवृत्ति के कुछ गंभीर कारण थे। एकता की भौगोलिक आवश्यकता तो वहां बिल्कुल थी नहीं, इसके विपरीत दूरी ने एक निश्चित मानसिक पार्थक्य पैदा कर दिया था। प्रत्येक उपनिवेश का एक स्पष्ट और पृथक् भौतिक अस्तित्व था और ऐसा प्रतीत होता था कि भविष्य में वह उसी प्रणाली के द्वारा एक पृथक् राष्ट्र बन जायेगा जिसके अनुसार उस समय मनुष्यों का विकास हो रहा था। मातृदेश और उपनिवेशों के आर्थिक हित विषम तथा एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे, कितनी ही बार तो विरोधी भी होते थे जैसा कि उन्मुक्त व्यापार की ब्रिटिश नीति के विरुद्ध उपनिवेशों द्वारा संरक्षण-नीति के अपनाये जाने से पता चलता है। साम्राज्य में उनकी राजनीतिक रुचि केवल इसलिये थी कि ब्रिटिश जल और स्थल-सेना विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध उनकी रक्षा करती थी। उन्होंने साम्राज्य के शासन-प्रबंध या उसके भविष्य-निर्माण में कोई भाग नहीं लिया और न ही कोई प्रत्यक्ष रुचि दिखायी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जो वस्तु उनको बांधे हुए थी वह उद्गम की एक धुंधली स्मृति और हल्की भावनामात्र थी जो शीघ्र ही विलीन हो सकती थी। इसके साथ विशिष्ट मानव समुदायों की दृढ़ पृथक्त्व-भावना और स्वाभाविक रुचि का संघर्ष हुआ क्योंकि वे अपने लिये एक स्वाधीन जीवन तथा आदर्श जातिरूप बनाना चाहते थे। जातियां अपने मूल रूप में भिन्न प्रकार की थीं, आस्ट्रेलिया में ब्रिटिश, दक्षिण अफ्रीका में प्रधानतया डच और कनाडा में आधे फ्रेंच और आधे अंग्रेज लोग रहते थे। परंतु तीनों देशों में जीवन के उन अभ्यासों, राजनीतिक प्रवृत्तियों तथा चरित्र, स्वभाव और संस्कृति के उस नये आदर्श का—अगर इसको यह नाम दिया जा सकता हो—विकास हो रहा था जो प्राचीन ब्रिटिश संस्कृति, स्वभाव, जीवन के अभ्यासों तथा सामाजिक और राजनीतिक

प्रवृत्तियों से बिल्कुल भिन्न थे। दूसरी ओर मातृदेश ने अपनी इन संतानों से—साम्राज्य के स्वामी होने से जो प्रतिष्ठा उसे प्राप्त होती थी उसे छोड़कर—कोई प्रत्यक्ष राजनीतिक, सैनिक या आर्थिक लाभ नहीं उठाया। अतएव दोनों ओर से सभी परिस्थितियाँ एक ऐसे अंतिम शांतिपूर्ण पार्थक्य की ओर निर्देश कर रही थीं जो इंग्लैंड के लिये केवल अनेक नये राष्ट्रों की माता होने के गौरव को शेष रहने देता।

भौतिक विज्ञान के द्वारा संसार का सिमट जाना और इसके परिणाम-स्वरूप अधिक बड़े समुदायों के निर्माण की प्रवृत्ति पैदा होना, संसार की बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियाँ और गंभीर राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तन, जो ग्रेट-ब्रिटेन में पैदा होते जा रहे हैं—इन सब कारणों से अब सारी अवस्थाएं बदल गयी हैं और यह सहज प्रतीत हो रहा है कि औपनिवेशिक साम्राज्य का एक बड़े संघीय राष्ट्र-मंडल या संभवतः ऐसे ही किसी अन्य रूप में विलयन, जो प्रत्यक्षतः इसी नाम से पुकारा जा सकता हो, व्यवहारतः अनिवार्य है। इसके मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनमें सबसे पहले आती हैं आर्थिक कठिनाइयाँ, क्योंकि, जैसा हम देख चुके हैं, भौगोलिक पार्थक्य की प्रवृत्ति निश्चय ही आर्थिक हितों की विभिन्नता, बहुधा उनके विरोध की ओर होती है और साम्राज्यीय आयात-निर्यात-महासंघ (Zollverein) का निर्माण जर्मन साम्राज्य के राज्यों या एक केंद्रीय यूरोपीय राज्यसंघ के लिये—महायुद्ध में एक पक्ष ने इसकी योजना बनायी थी—काफी स्वाभाविक था, परंतु एक-दूसरे से बहुत दूर देशों के लिये ऐसे महासंघ का निर्माण एक कृत्रिम उपाय होगा; इसके लिये निरंतर सजग रहने और बड़ी सूक्ष्मता से प्रबंध करने की आवश्यकता पड़ेगी; यह सब होते हुए भी, राजनीतिक एकता आर्थिक एकता को अपना स्वाभाविक अंग मानकर उसे प्राप्त करना चाहती है और यह समझती है कि वह कदाचित् उसके बिना पूर्ण नहीं हो सकती। एकीकरण का कार्य यदि उतावलेपन से या बिना सोचे-समझे किया जाय तो कुछ राजनीतिक तथा अन्य कठिनाइयाँ प्रकट होकर साम्राज्यीय संगठन को नष्ट कर सकती हैं। परंतु इनमें से कोई भी ऐसी कठिनाई नहीं है जो वश में न लायी जा सके या जो वास्तव में बाधा पहुंचानेवाली हो। जातिविषयक कठिनाई जो एक समय दक्षिण अफ्रीका में गंभीर और संकटपूर्ण हो गयी थी और जो अब भी दूर नहीं हुई है, कनाडा की कठिनाई से अधिक प्रबल नहीं होनी चाहिये, क्योंकि दोनों देशों में अंग्रेज अंश विद्यमान है; यह अंश बहुमत में हो या अल्पमत में, विदेशी अंश को मैत्रीपूर्ण एकता या विलयन द्वारा साम्राज्य के साथ जोड़ सकता है। यहां कोई ऐसा बलशाली बाह्य आकर्षण या पूर्वनिर्मित संस्कृतियों या विरोधी स्वभावों का संघर्ष नहीं है जिसने आस्ट्रियन साम्राज्य के वास्तविक एकीकरण को इतना कठिन बना दिया था।

आवश्यकता केवल इस बात की है कि इंग्लैंड उचित सहजवृत्ति से इस समस्या को सुलझाता रहे और वह वैसी घातक भूल न करे जैसी उसने अमरीका में की थी, न ही वह दक्षिण अफ्रीकावाली गलती करे, जिससे, सौभाग्यवश, वह बाद में पीछे हट

गया था। उसे यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये कि भविष्य में उसे एक ऐसा अभिभावक देश नहीं रहना है जो अपने अधिराज्यों के सब हिस्सों को अपने अनुरूप बनने या निरंतर अधीन रहने के लिये विवश करेगा, उसे तो इसके विपरीत, उन राज्यों और राष्ट्रों के एक महान् राज्यसंघ का केंद्र बनना है जो उसके प्रति आकृष्ट होकर एक नयी अति-राष्ट्रीय एकता में बद्ध हो जायेंगे। इसके लिये पहली शर्त यह है कि उसे उपनिवेशों के स्वतंत्र आंतरिक जीवन और इच्छा तथा उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक प्रवृत्तियों के प्रति सच्चा आदर-भाव रखना चाहिये, साथ ही साम्राज्य के महत्वपूर्ण और व्यापक कार्यों के प्रबंध में उन्हें समान भाग देना चाहिये। इस प्रकार के नये समुदाय के भविष्य में वह एक राजनीतिक और सांस्कृतिक केंद्र या एकता के सूत्र या ग्रंथ से अधिक और कुछ नहीं हो सकता। यदि इंग्लैंड के शासक-वर्ग की विचार-धारा इस दिशा में मुड़ जाये तो एक अदृष्ट महा-क्रांति को छोड़कर और कोई वस्तु ऐसी साम्राज्य-इकाई के निर्माण को नहीं रोक सकती जिसमें ब्रिटेन के 'शिथिल आधिपत्य पर आश्रित गृह-शासन' के स्थान पर एक ऐसा 'संघ' बन जाये जिसकी नींव गृह-शासन के सिद्धांत पर हो।'

परंतु जब साम्राज्य के अन्य दो बड़े घटक अंगों, मिस्र और भारतवर्ष का प्रश्न उठता है तो समस्या और भी कठिन हो जाती है, इतनी कठिन कि किसी राजनीतिज्ञ की पहली प्रवृत्ति स्वभावतः यह होती थी—इस प्रवृत्ति को सैंकड़ों पक्षपातपूर्ण भावनाओं और तात्कालिक स्वार्थों से भी बल मिलता था—कि इस समस्या को जैसे का तैसा छोड़ दिया जाये और एक ऐसे संघबद्ध औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना की जाये जिसमें ये दो बड़े देश अधीनस्थ देशों की तरह रहें। यह प्रत्यक्ष है कि इस प्रकार का हल टिक नहीं सकता था और यदि इसपर निरंतर आग्रह किया जाता तो इसके परिणाम सर्वथा विनाशकारी नहीं तो अत्यंत अवांछनीय अवश्य होते। भारतवर्ष का पुनरुत्थान उतना ही अवश्यंभावी है जितना कि कल सूर्य का उदय होना; और ऐसे विलक्षण स्वभाववाले, जीवनसंबंधी ऐसी विशिष्ट परंपराओं और भावनाओं के धनी तथा इतनी ओजस्वी बुद्धि और अंतर्निहित शक्तियों से संपन्न तीस कोटि मनुष्यों के इस महान् राष्ट्र का पुनरुत्थान आधुनिक विश्व की एक अत्यंत महान् घटना होगी। यह स्पष्ट है कि नयी संघबद्ध साम्राज्य-इकाई तीस कोटि व्यक्तियों के इस उदीयमान राष्ट्र

'यह सब तभी होगा, यदि ग्रेट ब्रिटेन का साम्राज्य विजयी और समृद्ध होता चला जाये और ब्रिटेन की विदेशी नीति संधीय एकता के दायित्वों को साम्राज्य के अधिक छोटे अंशों के लिये अत्यंत दुःखदायी न बना दे।

'इसके लिखने का बाद मिस्र का प्रश्न तो हल हो चुका है, पर एक प्रकार से यह हल है एकीकरण के विपरीत। भारत जो उस समय भी स्वतंत्रता के मार्ग पर चल रहा था, अब स्वतंत्र हो गया है, किंतु इसके दो पृथक् भागों ने कुछ समय के लिये अधिराज्यों का रूप धारण कर लिया है। इनमें से एक इस स्थिति से संभवतः कुछ समय के लिये चिपका रह सकता है जब कि दूसरे ने स्वाधीन गणराज्य होते हुए भी राष्ट्र-मंडल (Commonwealth) के साथ एक नये ढंग का संबंध जोड़ लिया है।

के साथ स्थायी विरोध नहीं रख सकती, और न ही वर्तमान काल और उसके हितों के उन सेवकों की अदूरदर्शी राजनीति का प्रभुत्व ही स्वीकार किया जा सकता है जो इस अनिवार्य प्रश्न को यथासंभव लंबे समय के लिये टालना चाहते हैं। सिद्धांत रूप में यह बात निश्चय ही लोगों की समझ में आ गयी है; कठिनाई केवल उन समस्याओं के सुलझाने में आयेगी जो उस समय पैदा होंगी जब भारतवर्ष के प्रश्न का क्रियात्मक हल अनिश्चित भविष्य के लिये टालना संभव नहीं रहेगा।

यह काफी स्पष्ट है कि विभिन्न समुदायों की क्रियात्मक एकता के मार्ग में कई प्रकार की कठिनाइयाँ आयेंगी। पहली तो वह भौगोलिक पृथक्ता है जिसने सदा ही भारतवर्ष को एक अलग देश, एक अलग जाति बनाकर रखा है, उस समय भी जब कि वह अपनी राजनीतिक एकता प्राप्त करने में असमर्थ था और जब उसपर आक्रमणों और संस्कृतियों के आदान-प्रदान के द्वारा आसपास की सभ्यताओं की करारी चोटें पड़ रही थीं। दूसरी कठिनाई है उसका तीस करोड़ का जनसमूह, इतने बड़े जनसमूह के अंग्रेजी साम्राज्य के अन्य राष्ट्रों में किसी प्रकार भी घुल-मिल जाना और ऑस्ट्रेलिया, कनाडा और दक्षिण अफ्रीका के अपेक्षाकृत छोटे जनसमूहों के विलयन में बहुत अधिक अंतर है। यूरोप और एशिया के निवासियों में स्पष्टतया जाति, वर्ण और स्वभाव का भेद है। भारत का अपना प्राचीन अतीत है, अत्यंत भिन्न उद्गम हैं, अमिट संबंध हैं, सहज प्रवृत्तियाँ हैं, इन कारणों से इस बात की कोई संभावना नहीं है कि यदि भारतवर्ष अंग्रेजी या यूरोपीय संस्कृति को पूर्ण रूप में या अधिकांश में स्वीकार कर ले तो यह भेद मिट जायेगा या कम हो जायेगा। इन सब कठिनाइयों का यह अर्थ भी नहीं है कि समस्या सुलझायी नहीं जा सकती; इसके विपरीत, हम यह जानते हैं कि ऐसी कोई कठिनाई नहीं है जिसे मानव-मन, चाहते हुए भी, दूर न कर सके। हम यह भी मान लेते हैं कि इस प्रसंग में संकल्प और आवश्यक बुद्धि दोनों में से किसी का अभाव नहीं होगा; ब्रिटिश राजनीतिज्ञ कोई ऐसी भूल नहीं करेगा जो सुधारी न जा सके; ऐसी समस्या को सुलझाने में उससे कुछ छोटी-मोटी भूलें अवश्य हो जायेंगी किंतु वह उन्हें समय रहते ही ठीक कर लेगा जैसा कि पूर्वकाल में उसका स्वभाव और अभ्यास रहा है; और यह संभव है कि इसके फलस्वरूप मनुष्यजाति के इन दो अत्यंत विभिन्न समुदायों में थोड़े-बहुत समय में एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक एकता स्थापित हो जाये।

अब प्रश्न यह है कि किन अवस्थाओं में यह एकता संभव हो सकती है और इसका स्वरूप क्या होगा? यह स्पष्ट है कि यहां शासकजाति को बहुत ही अधिक सावधानी तथा दृढ़ निश्चय के साथ उस सिद्धांत का प्रयोग करना चाहिये जिसका उसने और जगह इतनी सफलतापूर्वक प्रयोग किया है और जिसे छोड़ने से, एक विशेष अवस्था के बाद, सदा ही उसके अपने अधिक व्यापक हितों को हानि पहुंची है। उसे चाहिये कि वह भारतवर्ष को साम्राज्य की एकता के अधीन अपना स्वतंत्र

और पृथक् विकास करने दे। साथ ही इस विकास का मान, यहांतक कि क्रियात्मक रूप में इसका समर्थन भी उसे करना चाहिये। जबतक भारतवर्ष का शासन पूरी तरह से उसके अपने हाथ में न आ जाये, तबतक उसके शासकों के मन में उसके हितों को सर्वप्रथम स्थान मिलना चाहिये और जब स्वराज्य प्राप्त हो जाये तो वह इस प्रकार का होना चाहिये कि वह उसके अपने हितों की रक्षा में बाधा न पहुंचाये। उदाहरणार्थ, उसे एक ऐसे साम्राज्यीय आयात-निर्यात-संघ का रूप धारण करने के लिये विवश नहीं करना चाहिये जो वर्तमान अवस्थाओं में उसके आर्थिक भविष्य के लिये तबतक संकटपूर्ण रहेगा जबतक ये अवस्थाएं उसकी औद्योगिक उन्नति को प्रेरित और प्रोत्साहित करने की दृढ़ नीति के द्वारा बदली ही नहीं जायेंगी; यद्यपि यह साम्राज्य के अंतर्गत उस समय के अनेक व्यापारिक हितों के लिये अवश्य हानिकारक होगा। उसके प्रगतिशील जीवन पर अंग्रेजी संस्कृति या नियम-मर्यादाओं को लादने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये और न ही साम्राज्य की स्वतंत्र जातियों में उसकी गिनती करने के लिये इन्हें आवश्यक शर्तें बना देना उचित है। साथ ही वह अपनी संस्कृति और विशेष विकास की रक्षा और वृद्धि के लिये जो प्रयत्न करे उसमें हस्तक्षेप या उसका विरोध न किया जाये। उसकी महत्ता तथा उसकी भावनाओं और राष्ट्रीय अभीप्साओं को व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक दोनों रूपों में अधिकाधिक मान्यता मिलनी चाहिये। यदि ऐसा हो जाये तो अपने राजनीतिक और आर्थिक हितों को सुरक्षित रखने तथा निर्विघ्न रूप से अपनी उन्नति करने की जिम्मेदारी उसे ब्रिटिश साम्राज्य में ही रख सकती है और शेष कार्य अर्थात् एकीकरण की प्रक्रिया के अधिक सूक्ष्म और कठिन भाग को पूरा करने के लिये न्यूनाधिक समय दिया जा सकता है।

इस प्रकार पैदा की हुई एकता इंडो-ब्रिटिश साम्राज्य का रूप कभी नहीं धारण कर सकती क्योंकि यह एक काल्पनिक रचना है, निर्मूल विचार है, वास्तविक संभावनाओं को हानि पहुंचाकर इसके पीछे दौड़ने से काम नहीं चलेगा। वे संभावनाएं ये हैं : पहली, समान हितों द्वारा प्राप्त की हुई सुदृढ़ राजनीतिक एकता; दूसरी, स्वस्थ तरीके का एक सच्चा व्यापारिक आदान-प्रदान और आपस का औद्योगिक सहयोग; तीसरी, मानवजाति के दो अत्यंत महत्वपूर्ण वर्गों, यूरोप और एशिया, में एक ऐसा नया सांस्कृतिक संबंध जिसमें ये वर्ग एक ही मानव-कुटुंब के समान सदस्यों की भांति उस सबका आदान-प्रदान कर सकें जो दोनों में महान् और मूल्यवान् है। और अंत में राजनीतिक और आर्थिक उन्नति तथा सैनिक ख्याति के उन समान प्राचीन संबंधों के स्थान पर, जिन्होंने राष्ट्र-इकाई के बनाने में मुख्य रूप से सहायता पहुंचायी है, साहचर्य और निकट सहकारिता का अधिक महान् गौरव प्राप्त करने की भी संभावना हो सकती है, जिसके फलस्वरूप श्रेष्ठतर मानवजाति के जीवन के लिये एक नयी, समृद्ध और बहुमुखी संस्कृति का निर्माण होगा। मानवजाति के प्रगतिशील समुदाय बनाने में जो अगला संभवनीय कदम उठाना है वह निश्चित रूप से अति-राष्ट्रीय इकाई का एक ऐसा ही आदर्श होना चाहिये।

यह प्रत्यक्ष है कि इस अगले कदम का औचित्य या मूल्य एक ऐसी अवस्था के रूप में ही है जो क्रियात्मक प्रदर्शन के द्वारा तथा भावना, मानसिक वृत्ति और एक समान जीवन के नये अभ्यासों के निर्माण के द्वारा सारी मनुष्यजाति में एकता लाकर उसे एक अभिन्न कुटुंब बनाने में समर्थ होगी। एक बड़ी साम्राज्य-इकाई के निर्माण से परे यदि यह महत्तर उद्देश्य न हो तो यह एक गंवारू, यहांतक कि प्रतिक्रियात्मक घटना हो जायेगी। युद्ध के अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित और व्यापारिक, राजनैतिक और सैनिक अहंभाव द्वारा रशियन, फ्रेंच, जर्मन, अमरीकन जैसे विशाल संघों से विभाजित, विविध रूप-रंगवाली इंडो-ब्रिटिश एकता की रचनामात्र को प्रगति नहीं कहा जा सकता, यह तो पीछे हटना हो जायेगा। अतएव, इस प्रकार का विकास यदि भविष्य में होना ही है—क्योंकि हमने ब्रिटिश साम्राज्य के दृष्टांत को ही एक संभावित नये आदर्श के सर्वोत्तम उदाहरण के रूप में लिया है—तो यह अवश्य ही एक बीच का पड़ावमात्र होगा, साथ ही हमारा आदर्श यह होगा कि यह मनुष्यजाति के उन प्रेमियों द्वारा स्वीकार किया जा सकता है जो राष्ट्र के विरुद्ध राष्ट्र की प्राचीन स्थानीय देशभक्ति की सीमाओं द्वारा बंधे हुए नहीं हैं। पर यह शर्त सदा रहेगी कि राजनीतिक और प्रशासनीय साधन ऐसे हों जो हमें मानवजाति की एकता की ओर ले जायें,—क्योंकि इसी संदिग्ध धारणा के बल पर आज हम आगे बढ़ रहे हैं। पर इस अंतिम विकास की संभावना अभीतक कम ही है। कारण, मुस्लिम और हिंदू भारत दोनों की प्रवृत्ति स्वाधीनता की ओर ही बहुत अधिक है और दूसरी संभावना को चरितार्थ करने में अभीतक अग्रेजों की ओर से कुछ नहीं हुआ है। फिर भी इस संभावना पर यहां विचार करना आवश्यक था, क्योंकि यह सर्वथा असंभव नहीं कि कुछ परिवर्तित अवस्थाओं में एक अलग और पृथक्कृत स्व-शासन के स्थान पर भारत सच्ची स्वाधीनता स्वीकार कर सकता है। यदि यह ठीक है तो यह इस बात का लक्षण होगा कि अंतिम परिणाम उत्पन्न करने के लिये प्रकृति का एक कदम इस मार्ग की ओर बढ़ रहा है। इसके लिये इतना तो कहा जा सकता है कि इन दो जातियों तथा संस्कृतियों में इतनी विभिन्नता होते हुए भी यदि मेल होना संभव हो जाये तो विश्व-एकता का महत्तर प्रश्न अधिक दूर की वस्तु नहीं रहेगा।

जैसा कि शुरू में ही क्रियात्मक रूप में आवश्यक दीख रहा था, घटनाओं ने अब एक भिन्न दिशा ग्रहण कर ली है, फिर भी इस अध्याय का यह भाग वैसे ही रहने दिया गया है क्योंकि इस संभावना पर विचार करना इस प्रकरण के लिये आवश्यक था। यह संभावित प्रयोग, जो मित्र के आसपास भी नहीं पहुंचा, इस तथ्य का द्योतक है कि पूर्ण विश्व-एकता के विकास का यह मध्यवर्ती अवस्था ऐसी कान्टनाइजिंग उपस्थिति करती है जो इसे लगभग असंभव बना देती है। इसका स्थान राष्ट्र-मंडल, सोवियट यूनियन जैसे संघों और यूरोप के प्रस्तावित संयुक्त राज्य जैसी संभावनाओं तथा महाद्वीपीय संघों ने ले लिया है, ऐसे समुदायों का निर्माण दो अमरीकाओं के बीच में हो रहा है और यह किसी दिन एशिया में भी संभव हो सकता है।

विश्व-साम्राज्य की संभावना

साम्राज्यीय विचार कृत्रिम और रचनात्मक अवस्था से चरितार्थ मनोवैज्ञानिक सत्य की स्थिति तक विकसित होकर मानव-मन पर उसी बल तथा उत्साह के साथ अधिकार कर ले जो आज अन्य समुदाय-भावों की अपेक्षा राष्ट्रीय-विचार को अधिक विशेषता प्रदान करते हैं—यह केवल एक संभावना मात्र है, भविष्य की निश्चित घटना नहीं। वास्तव में यह एक अनिश्चित रूपवाली नवोदित संभावना से अधिक कुछ नहीं है और जबतक यह उस प्रारंभिक अवस्था से बाहर नहीं निकल आती जिसमें यह राजनीतिज्ञों की अत्यधिक मूर्खता, विशाल जन-समुदायों के उग्र आवेशों और पूर्व-स्थापित अहंभावों के आग्रहपूर्वक स्वार्थ की दया पर निर्भर है तबतक हमें निश्चय नहीं हो सकता कि अब भी यह जन्म से ही मृतप्राय नहीं होगी। यदि ऐसा ही हो तो फिर राजनीतिक और प्रशासनीय साधनों के द्वारा मानवजाति के एकीकरण की ओर कौन-सी संभावना हो सकती है ? यह एकीकरण केवल तभी हो सकता है यदि एक अखंड विश्व-साम्राज्य का प्राचीन आदर्श, विकास की ऐसी अवस्थाओं द्वारा जो अभी प्रत्यक्ष रूप में संभव नहीं हैं, एक क्रियान्वित तथ्य में परिणत हो जाये अथवा यदि स्वतंत्र राष्ट्रों के स्वतंत्र संघ का विरोधी आदर्श उन सैंकड़ों प्रबल बाधाओं को पार कर ले जो उसकी क्रियात्मक सिद्धि के मार्ग में खड़ी हैं।

हम देख चुके हैं कि केवल बल-प्रयोग द्वारा लादा हुआ विश्व-साम्राज्य का विचार उन नयी अवस्थाओं के सर्वथा विरुद्ध है जिन्हें आधुनिक जगत् में वस्तुओं के विकासशील स्वभाव ने उत्पन्न किया है। तथापि हम यहां, इन नयी अवस्थाओं को उपर्युक्त समस्या से अलग करके, एक ऐसे अखंड महान् राष्ट्र की सैद्धांतिक संभावना स्वीकार कर लेते हैं जो अपने राजनीतिक शासन और प्रभावपूर्ण संस्कृति को समस्त पृथ्वी पर इस प्रकार लाद दे जैसे कि एक बार रोम ने अपने शासन, संस्कृति आदि को भूमध्यप्रदेश की जातियों तथा गॉल और ब्रिटेन पर लाद दिया था। अथवा हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि एक बड़ा राष्ट्र बल-प्रयोग और कूटनीति द्वारा अपने सब विरोधियों पर विजय प्राप्त करने में सफल हो जाये और बाद में अपने अधीनस्थ राष्ट्रों की संस्कृति तथा उनके पृथक् आंतरिक जीवन का मान करते हुए वह विश्व-शांति, हितकारी शासन-प्रबंध तथा मानवजाति की वर्तमान अवस्था को सुधारनेवाले मानवी ज्ञान और मानवी साधनों के एक अपूर्व संगठन के आकर्षण से अपना प्रभुत्व स्थापित कर ले। अब हमें यह देखना होगा कि इस सैद्धांतिक संभावना के लिये क्या वे अवस्थाएं प्राप्य भी हैं जिनके द्वारा यह अपने-आपको एक क्रियात्मक संभावना में बदल सकेगी। यदि हम विचार करके देखें तो हमें पता चलेगा कि इस प्रकार की

अवस्थाओं का आजकल अस्तित्व ही नहीं है; इसके विपरीत, ये सब ऐसे बृहत् स्वप्न के पूरे होने का विरोध करती हैं—यह स्वप्न तो केवल उन महान् परिवर्तनों द्वारा पूरा हो सकता है जो अभीतक भविष्य के गर्भ में छिपे हुए हैं।

प्रायः यह माना जाता है कि जिस प्रेरणा ने जर्मनी को संसार के साथ विगत युद्ध में प्रवृत्त किया उसकी जड़ में साम्राज्य का एक ऐसा ही स्वप्न विद्यमान था। उसके शासकों के मन में इस प्रकार का चेतन आशय किस हदतक था यह संदेहास्पद विषय है, पर यह निश्चित है कि यदि वह युद्ध में विजय प्राप्त कर लेता, जैसी कि उसने पहले आशा की थी, तो इस प्रकार से उत्पन्न हुई परिस्थिति उसे अनिवार्य रूप से इस महत्तर प्रयत्न की ओर ले जाती, क्योंकि तब उसने एक ऐसे प्रभुतापूर्ण पद का उपभोग किया होता जो विश्व-इतिहास के ज्ञात-काल में किसी राष्ट्र को अभीतक प्राप्त नहीं हुआ। उसके उद्देश्य, उसकी जाति-श्रेष्ठता, उसकी संस्कृति, जीवन-व्यवस्था तथा उसके विज्ञान की अपरिमित उत्कृष्टता और संसार को मार्ग दिखाने और उसपर अपनी इच्छा और अपने आदर्शों को लादने का दैवी अधिकार आदि विचार,—जो अभी कुछ समय पहलेतक जर्मन लोगों की बुद्धि पर शासन करते रहे हैं—और साथ ही आधुनिक व्यवसाय के सर्व-ग्रासी विचार उसे अनिवार्य रूप में इस बात के लिये प्रेरित करते कि वह विश्व-प्रभुता प्राप्त करने के कार्य को ईश्वर-प्रदत्त कार्य समझकर हाथ में ले। यह तथ्य कि एक आधुनिक राष्ट्र, एक ऐसा राष्ट्र जो वास्तव में कार्य-कुशलता में, पदार्थविद्या के वैज्ञानिक उपयोग और संगठन की भावना में, राज्य की सहायता और राष्ट्रीय तथा सामाजिक समस्याओं को चतुरतापूर्वक सुलझाने तथा आर्थिक हितों की व्यवस्था में, जिसे यूरोप सभ्यता के नाम से पुकारता है, बहुत आगे बढ़ा हुआ हो—यह तथ्य कि ऐसा राष्ट्र इस प्रकार के विचारों और प्रेरणाओं द्वारा आक्रांत तथा परिचालित हो—निश्चित ही इस बात का प्रमाण है कि पुराने देवता अभी मृत्यु को प्राप्त नहीं हुए हैं, संसार को जीतनेवाली, उसपर शासन करने तथा उसे पूर्ण बनानेवाली प्रबल शक्तिमत्ता का पुराना आदर्श अभीतक एक जीवन्त सत्य है और इसने मनुष्यजाति के मनोविज्ञानपर से अभीतक अपना अधिकार नहीं हटाया है। इस बात की भी कोई निश्चिति नहीं है कि विगत युद्ध ने इन शक्तियों और इस आदर्श का नाश कर दिया है; क्योंकि इस युद्ध का निर्णय एक शक्ति के दूसरी शक्ति के साथ भिड़ने से, एक संगठन के दूसरे पर विजय प्राप्त करने से और शस्त्रों के उत्कृष्ट नहीं तो अधिक लाभप्रद उपयोग से हुआ था, इन्हीं शस्त्रों में अति उग्र त्यूटैनिक शक्ति का वास्तविक बल निहित था। अपने ही अस्त्रों द्वारा प्राप्त जर्मनी की पराजय मात्र उस भावना को नष्ट नहीं कर सकती थी जो तब जर्मनी में साकार रूप में विद्यमान थी; हां, यह उसके दोबारा प्रकट होने का कारण अवश्य बन सकती है, चाहे हो यह किसी अन्य जाति या साम्राज्य में। ऐसी अवस्था में यह सारा युद्ध फिर से लड़ना पड़ेगा। जबतक वे पुराने देवता जीवित हैं, उस देह का—जिसमें वे जीवन-संचार करते

हैं—नष्ट या दुर्बल होना गौण बात है, क्योंकि किसी और शरीर में जन्म लेना वे भली-भांति जानते हैं। जिस जर्मनी ने सन् १८१३ में फ्रांस में नैपोलियन की भावना का और सन् १८७० में यूरोपीय नेतृत्व के अवशेषों का नाश किया था, वही जर्मनी उस वस्तु का साकार रूप बन गया जिसे उसने स्वयं नष्ट कर दिया था। यह घटना एक अधिक बड़े परिमाण में आसानी से दुहराई जा सकती है।

नैपोलियन की पूर्ववर्ती असफलता की अपेक्षा जर्मनी की असफलता साम्राज्यीय स्वप्न के पूरा न हो सकने का कोई अधिक बड़ा प्रमाण नहीं थी। इतने बड़े उद्देश्य की सफलता के लिये जिन बातों की आवश्यकता होती है उनमें से एक को छोड़कर और सब का ट्यूटैनिक संघ में अभाव था। उसका सैनिक, वैज्ञानिक और राष्ट्रीय संगठन जितना सुदृढ़ था उतना अभीतक किसी और जाति का नहीं हो पाया है, किंतु उसमें वह विशाल प्रेरक शक्ति नहीं थी जो नैपोलियन के समय में फ्रांस के पास बहुत अधिक मात्रा में थी और जो इतने बड़े प्रयत्न को सफल कर सकती थी। उसमें उस कुशल कूटनीतिक बुद्धि का भी अभाव था जो सफलता की अनिवार्य अवस्थाओं को उत्पन्न करती है। न ही उसमें वह सहायक सामुद्रिक शक्ति थी जिसकी आवश्यकता विश्व-प्रभुत्व पाने के लिये सैनिक श्रेष्ठता से भी अधिक होती है। उसकी भौगोलिक स्थिति भी कुछ ऐसी थी और साथ ही वह देश चारों ओर से शत्रु-देशों से इस प्रकार घिरा हुआ था कि उसे उन सब संकटों का विशेष रूप से सामना करना पड़ा जिनका उत्पन्न होना उस अवस्था में अनिवार्य हो जाता है जब कि समुद्र पर प्राकृतिक शत्रु का प्रभुत्व हो। अति प्रबल जल-शक्ति और अति प्रबल स्थल-शक्ति के संयोग से ही इतना बड़ा कार्य वास्तविक रूप में संभव हो सकता है; रोम भी कारथाज की श्रेष्ठतर सामुद्रिक-शक्ति को नष्ट करने के बाद ही विश्व-साम्राज्य जैसी वस्तु के प्राप्त करने की आशा कर सका था। फिर भी जर्मनी के राजनीतिज्ञों ने इस समस्या के विषय में इतना अधिक गलत अनुमान लगाया कि उसने संसार की उस सर्वप्रधान सामुद्रिक शक्ति से युद्ध ठान लिया जो उसके शत्रुओं के दल में पहले से मिल चुकी थी। अपने प्रयत्नों को इस एक प्राकृतिक सहज शत्रु के विरुद्ध केंद्रित करने तथा इंग्लैंड के प्रति रूस और फ्रांस के पुराने वैर से लाभ उठाने के स्थान पर, उसकी बेढंगी और क्रूर कूटनीति ने पहले से ही इन पुराने शत्रुओं को अपने विरोध में खड़ा कर लिया। इंग्लैंड को अकेला कर देने के स्थान पर, वह अपने-आपको ही एकाकी कर लेने में सफल हुआ और जिस ढंग से उसने युद्ध शुरू किया तथा उसे चलाया उसने नैतिक रूप से भी उसे अलग कर दिया तथा इसके कारण ब्रिटिश नाकेबंदी द्वारा किया गया स्थूल पृथक्त्व पहले से अधिक दृढ़ हो गया। मध्य यूरोप और तुर्की के महान् सैनिक केंद्रीकरण के एकांगी प्रयत्न में उसने बिना सोचे-समझे उस एकमात्र सामुद्रिक शक्ति को भी अपना शत्रु बना लिया जो उसके पक्ष में हो सकती थी।

परंतु अब अति प्रबल विमान-शक्ति की भी बहुत बड़ी मात्रा में आवश्यकता पड़ती है।

यह बात संभव है कि साम्राज्य-प्राप्ति का यह प्रयत्न विश्व-इतिहास में कभी आगे चलकर किसी ऐसे राष्ट्र द्वारा दोहराया जाये जिसे अनुकूल परिस्थितियाँ, स्वभाव और सौभाग्य प्राप्त हों जैसे कि प्राचीन जगत् में रोम को प्राप्त थे। अथवा, यह उन राजनीतिज्ञों द्वारा दुहराया जा सकता है जो आज से अधिक अच्छी परिस्थिति, अधिक अच्छे साधनों तथा अधिक सूक्ष्म कूटनीतिक बुद्धि से संपन्न हों। तो फिर उसकी सफलता के लिये कौन-सी अवस्थाएं आवश्यक होंगी? पहली यह है कि जबतक उसको वैसा असाधारण सौभाग्य प्राप्त न हो, जिसके द्वारा रोम अपने संभावित शत्रुओं और विरोधियों को एक-एक करके परास्त कर सका था और इस प्रकार वह विरोधी शक्तियों की सफल गुटबंदी से बच गया था, तबतक उसके लक्ष्य के सफल होने की बहुत कम आशा रहेगी। आज जैसे सजग और शिक्षित जगत् में जहां आधुनिक प्रचार और विश्वव्यापी संवाहन के द्रुत साधनों का आश्रय लेकर लोग ईर्ष्यापूर्ण नेत्रों तथा सक्रिय मन से हर बात की जानकारी रखते हैं, उसका भेद लेते हैं तथा उसपर दृष्टि रखते हैं, ऐसे सौभाग्यपूर्ण विकास की भला क्या संभावना रह जाती है? प्रबल प्रभुत्व की प्राप्ति मात्र सारे संसार को सतर्क कर देने तथा उसके उस शक्ति के विरुद्ध अपना सारा बल संचय कर लेने के लिये काफी है जिसकी गुप्त महत्वाकांक्षाओं को उसने अपने सहज ज्ञान द्वारा जान लिया है। इसलिये यह प्रतीत होता है कि ऐसा सौभाग्यपूर्ण अधिकार केवल उसी उन्नतिशील 'शक्ति' को मिल सकता है जो किसी निश्चित और प्रत्यक्ष महत्वाकांक्षा द्वारा लोगों की ईर्ष्या को उकसाये बिना, अर्द्ध-चेतन रूप में, इस कार्य को करे। दूसरे, यह कार्य अनुकूल घटनाओं के एक ऐसे क्रम से भी संपन्न हो सकता है जो वांछित लक्ष्य को इतना निकट ले आये कि जो लोग इसमें बाधा डाल सकते हैं उनके इस संभावना के प्रति सचेत होने से पहले ही वह उस 'शक्ति' की पहुंच के भीतर हो जाये। उदाहरणार्थ, यदि संसार की वर्तमान चार-पांच प्रबल और प्रमुख शक्तियों में युद्ध छिड़ जाये और इनमें से प्रत्येक शक्ति आक्रमणकारी को इतना निर्बल बना दे कि उसके फिर उठने की आशा ही न रहे और न ही कोई ऐसी नयी शक्ति उसका स्थान लेने के लिये उठ खड़ी हो तो यह संभव हो सकता है कि अंत में इनमें से एक शक्ति को ऐसी स्वाभाविक प्रधानता की स्थिति प्राप्त हो जाये जो उसे बिना किसी आयोजित आक्रमण के या कम-से-कम प्रकट रूप में दूसरों के आक्रमण का सामना करते हुए प्राप्त होगी और जिसके परिणामस्वरूप विश्व-साम्राज्य स्वभावतः उसके अधिकार में आ जायेगा। परंतु जीवन की वर्तमान परिस्थितियों में, विशेषकर आधुनिक युद्ध के विनाशकारी स्वरूप के होते हुए लड़ाइयों का ऐसा क्रम चलाना, जो प्राचीन समय में स्वाभाविक तथा संभव था, आजकल वास्तविक संभावनाओं के क्षेत्र से बाहर की बात मालूम होती है।

अतएव हमें यह मानना होगा कि जो शक्ति विश्व-प्रभुत्व की ओर बढ़ रही है उसके विरुद्ध कभी-न-कभी प्रायः वे सभी शक्तियाँ एकत्रित हो जायेंगी जो उसका

सामना करने में समर्थ हैं, और साथ ही विश्व की सहानुभूति भी उनके पीछे रहेगी। अति उत्कृष्ट कूटनीति के होते हुए भी ऐसा अवसर आना अवश्यभावी है। अतएव, उसकी सैनिक और सामुद्रिक दोनों शक्तियाँ ऐसी सुसंगठित और सर्वोपरि होनी चाहियें कि वह इस संघर्ष में सफलता प्राप्त कर सके, ऐसे संघर्ष में जिसमें दोनों तरफ का बल समान नहीं है। पर वर्तमान समय में ऐसा साम्राज्य है कहां जो इस प्रकार का प्रभुत्व पाने की आशा कर सकता है? जो साम्राज्य इस समय हैं उनमें से रूस एक दिन एक ऐसी अदम्य सैनिक शक्ति प्राप्त कर सकता है जिसके सामने जर्मनी की वर्तमान शक्ति कुछ भी नहीं होगी; परंतु इस स्थल-शक्ति के साथ वह सामुद्रिक शक्ति भी प्राप्त कर सकेगा—यह अकल्पनीय है। इंग्लैंड ने अबतक ऐसे सर्वोपरि सामुद्रिक प्रभुत्व का उपभोग किया है जिसे वह किन्हीं विशेष अवस्थाओं में इतना बढ़ा सकता है कि सारे संसार की सशस्त्र सेना भी उसके सम्मुख नहीं टिक सकेगी।^१ परंतु वह अपने सारे उपनिवेशों में से सैनिक भर्ती करके तथा उनकी सहायता से भी वैसी स्थल-शक्ति नहीं प्राप्त कर सकता, जबतक वह ऐसी अवस्थाएं ही न पैदा कर ले जिनमें वह भारतवर्ष के समस्त संभावित सैन्य-बल का उपयोग कर सके। तब भी हमें विशाल जन-समुदायों और सशक्त साम्राज्यों को तो विचार में लाना ही पड़ेगा जिनका सामना करने के लिये उसे तैयार रहना होगा और हम यह देखेंगे कि इस दुहरे प्रभुत्व की प्राप्ति एक ऐसी अवस्था है जो, जैसा कि तथ्यों से पता चलता है, यदि काल्पनिक नहीं तो कम-से-कम अत्यंत अव्यावहारिक अवश्य है।

संभावित शत्रुओं की संख्या बहुत अधिक होने पर भी यह हो सकता है कि एक राष्ट्र अधिक उत्कृष्ट विज्ञान और अपने साधनों के अधिक कुशल प्रयोग के द्वारा विरोधी दल पर विजय प्राप्त कर ले। अपने कार्य की सफलता के लिये जर्मनी ने इस उत्कृष्ट विज्ञान का ही सहारा लिया था, और जिस सिद्धांत को लेकर वह आगे बढ़ा वह सही भी था। पर आधुनिक संसार में विज्ञान सबकी संपत्ति है; एक राष्ट्र इसमें इस प्रकार आगे बढ़ जाये कि दूसरे उससे, कम-से-कम शुरू में, पीछे रह जायें तो, जैसा कि अनुभव हमें बताता है, उनको यदि थोड़ा समय मिले—और एक शक्तिशाली दल पहली चोट में नष्ट हो भी नहीं सकता—तो उन्हें खोयी हुई शक्ति शीघ्र ही प्राप्त हो सकती है अथवा बचाव के ऐसे साधन तो विकसित किये ही जा सकते हैं जो शत्रु-पक्षों के लाभों का प्रभाव अधिकांश में नष्ट कर दें। अतएव हमें यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि एक महत्वाकांक्षी राष्ट्र या साम्राज्य यदि सफलता प्राप्त करना चाहता है तो उसे ऐसे नये विज्ञान और नये अनुसंधानों को उन्नत करना चाहिये जिनका पता अभी दूसरों को नहीं है; इस प्रकार वह अधिक बड़े जनसमुदायों पर कुछ वैसी ही प्रभुत्व की स्थिति प्राप्त कर लेगा जैसी कोर्टेस् (Cortes) और पिजारो

^१ अब यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि अमरीकन जलसेना की शक्ति अत्यधिक बढ़ गयी है।

(Pizarro)* ने एज़टेक्स (Aztecs) और परुवियन्स (Peruvians) पर प्राप्त की थी। अनुशासन और संगठन की जिस श्रेष्ठता ने प्राचीन रोम-निवासियों और भारतवर्ष में यूरोपीय लोगों को जो सुविधा प्रदान की थी वह अब इतने बड़े प्रयोजन के लिये काफी नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व-साम्राज्य के प्रयत्न के सफल होने की शर्तें ऐसी हैं कि यदि हम इसे कार्यान्वित करना चाहें तो एकीकरण के इस तरीके को अपनाने से शायद ही काम चले। इसके लिये दुबारा प्रयत्न किया जाये—यह संभव है किंतु साथ ही यह भविष्यवाणी भी की जा सकती है कि इसे असफलता ही मिलेगी। इसके अतिरिक्त, प्रकृति के आश्चर्यों अर्थात् उन अप्रत्याशित घटनाओं के विस्तृत क्षेत्र को भी ध्यान में रखना होगा जो हमारे साथ उसके संबंधों में घटती हैं। इसलिये हम यह नहीं कह सकते कि यह सफलता नितांत असंभव हो गयी है; इसके विपरीत, यदि प्रकृति का यही आशय हो तो वह एकाएक या क्रमशः आवश्यक साधनों और अवस्थाओं को उत्पन्न कर देगी। परंतु ऐसा हो भी जाये तो इस प्रकार से बने हुए साम्राज्य को इतनी विरोधी शक्तियों का सामना करना पड़ेगा कि इसके बनाने की अपेक्षा इसे संभालना अधिक कठिन हो जायेगा; और फिर या तो यह शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो जायेगा जिससे वही समस्या, सारी-की-सारी, फिर सामने आ जायेगी और फिर उसे और भी अच्छी तरह सुलझाना पड़ेगा और या फिर शक्ति और प्रभुत्व के जिन तत्त्वों ने इसके प्रयत्न को प्रेरणा दी थी उनका त्याग करके इसे अपने महान् प्रयास के मूल उद्देश्य का विरोध करना पड़ेगा। पर यह बात हमारे विषय के एक अन्य पक्ष से संबंध रखती है, अतएव इसपर विचार करना हम अभी स्थगित रखते हैं। अभी तो हम यह कह सकते हैं कि यदि सच्चे मनोवैज्ञानिक ऐक्यों का निर्माण करनेवाले बड़े विषमजातीय साम्राज्यों के विकास के द्वारा संसार को क्रमशः एकता में बद्ध करना एक अस्पष्ट और नवजात संभावनामात्र है, तो एक अखंड शक्तिशाली साम्राज्यीय शासन के द्वारा इसे एकता में बद्ध करने की संभावना भी अब समाप्त हो गयी है या होती जा रही है और यह पूरी केवल तभी हो सकती है यदि प्रकृति के अनंत आश्चर्यों में से कोई अप्रत्याशित घटना नये रूप में विकसित हो जाये।

* स्पेन के अत्याचारी शासक जिन्होंने मेक्सिको की प्राचीन सभ्यता को कुचल डाला।

यूरोप का संयुक्त राज्य

हमें अबतक साम्राज्यरूपी समुदाय की संभावनाओं पर विस्तार से विचार करना पड़ा है क्योंकि साम्राज्यीय राज्य का विकास आधुनिक जगत् का एक प्रधान तथ्य है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग की राजनीतिक प्रवृत्तियों पर इसका उतना ही प्रभुत्व है जितना जनतंत्रीकृत स्वतंत्र राष्ट्र के विकास का हमारे से पहले के युग पर था। फ्रेंच क्रांति का प्रमुख विचार स्वतंत्र और प्रभुता-संपन्न जनता का सिद्धांत था, यद्यपि भ्रातृभाव का आदर्श इस क्रांतिकारी सिद्धांत में विश्वबंधुत्व का तत्त्व ले आया था फिर भी उस स्वतंत्र, स्वाधीन और जनतंत्र द्वारा शासित राष्ट्र का प्रबल आग्रह इसी विचार पर था। महायुद्ध के समय उस आदर्श ने पाश्चात्य जगत् में भी अपने-आपको पूरी तरह से चरितार्थ नहीं किया था, कारण, मध्य यूरोप तब केवल आंशिक रूप में जनतांत्रिक था और रूस ने तो केवल इस सामान्य लक्ष्य की ओर अभी अपना मुंह ही किया था; आज भी कुछ अधीनस्थ यूरोपीय जातियां या जाति-अंश विद्यमान हैं।^१ यह सब होते हुए भी स्वतंत्र जनतंत्रीय राष्ट्र के विचार ने, चाहे उसमें कितनी भी अपूर्णता क्यों न हो, अमरीका और यूरोप में क्रियात्मक रूप में विजय प्राप्त कर ली थी। उन्नीसवीं शताब्दी के इस प्रमुख आदर्श को एशिया की जातियों ने भी स्वीकार कर लिया है। यद्यपि तुर्की, ईरान, भारतवर्ष, चीन आदि पूर्वीय देशों में जनतंत्रीय राष्ट्रीयता के आंदोलन अपने-आपको चरितार्थ करने के प्रारंभिक प्रयत्नों में सफल नहीं हुए तथापि इस विचार की गहन और व्यापक क्रिया-शक्ति के विषय में कोई भी सतर्क पर्यवेक्षक संदेह नहीं कर सकता। चाहे कुछ भी परिवर्तन क्यों न हों, चाहे कैसी भी नयी प्रवृत्तियां हस्तक्षेप करें, चाहे कैसी भी प्रतिक्रियाएं इसके विरोध में खड़ी हो जायें, इसमें संदेह नहीं हो सकता कि फ्रेंच क्रांति की मुख्य देन, स्थायी उपलब्धियों तथा संसार की भावी व्यवस्था के आवश्यक तत्त्वों के रूप में अवश्य रहेंगी एवं सार्वभौम रूप धारण कर लेंगी; ये देन हैं राष्ट्रीय स्व-चेतना और स्व-शासन, जनता के लिये स्वतंत्रता और शिक्षा तथा कम-से-कम उतनी सामाजिक समानता और उतना न्याय जो राजनीतिक स्वाधीनता के लिये अनिवार्य हों; कारण, निश्चित और कठोर असमानता के किसी भी रूप के साथ जनतंत्रीय स्व-शासन मेल नहीं खाता।

परंतु इससे पहले कि उन्नीसवीं शताब्दी की महान् प्रेरणा अपने-आपको सर्वत्र क्रियान्वित करती, —कम-से-कम यूरोप में ही पूरी तरह से चरितार्थ हो सकती, —एक

^१ अब यह उतना प्रत्यक्ष तथ्य नहीं रहा, यद्यपि, अधीनस्थ राज्यों के रूप में इसका अस्तित्व अब भी हो सकता है।

नयी प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी तथा एक नये विचार ने मनुष्य के विकासोन्मुख मन पर अपना अधिकार जमा लिया। यह एक पूर्ण रूप से सुगठित राज्य का आदर्श है। अपने मूल रूप में एक पूर्ण सुगठित राज्य का आदर्श समाजवादी है तथा महान् क्रांतिकारी सिद्धांत के दूसरे शब्द 'समानता' पर आधारित है जैसे उन्नीसवीं शताब्दी का आंदोलन उसके पहले शब्द 'स्वाधीनता' पर केंद्रित था। उस महान् यूरोपीय क्रांति की पहली प्रेरणा ने केवल एक प्रकार की राजनीतिक समानता ही प्राप्त की थी। अपूर्ण सामाजिक समानता ने अभीतक असमानता और राजनीतिक श्रेष्ठता के एक रूप को तो हुआ ही नहीं था; निर्धनों की अपेक्षा धनियों की श्रेष्ठता को तथा जीवन-संग्राम में अधिक सफल और कम सफल व्यक्तियों के बीच असमानता को कोई भी प्रतियोगीय समाज नहीं मिटा सकता और व्यक्तियों में योग्यता के भेद, असमान अवसर और परिस्थिति तथा वातावरण की प्रतिकूलता के कारण ऐसी असमानता का उत्पन्न होना अनिवार्य भी है। समाजवाद इस आग्रहपूर्ण असमानता से मुक्त होने के लिये समाज के प्रतियोगीय रूप का नाश करके उसके स्थान पर सहकारी रूप स्थापित करना चाहता है। मानव-समाज की सहकारी पद्धति पहले जनपद के रूप में विद्यमान भी थी परंतु एक इकाई के रूप में जनपद की पुनः स्थापना का व्यावहारिक रूप में अर्थ होगा पुराने नगर-राज्य की ओर लौटना और क्योंकि यह सब बृहत्तर समुदायों और आधुनिक जीवन की गुरुतर जटिलताओं के कारण संभव नहीं रहा, समाजवादी विचार केवल पूर्ण-संगठित राष्ट्रीय राज्य के द्वारा ही चरितार्थ किया जा सकता है। समान वितरण के स्थूल विचार द्वारा नहीं वरन् इस विचार के द्वारा कि समस्त संपत्ति राज्य की है और उसीके द्वारा संचालित है, निर्धनता को मिटाने और संगठित राज्य के द्वारा ही सार्वभौम शिक्षण तथा प्रशिक्षण की सहायता से सबको यथासंभव समान रूप से अवसर प्रदान करना तथा उनकी योग्यता बढ़ाना आधुनिक समाजवाद का मूल-भाव है। इसका अर्थ होगा समस्त वैयक्तिक स्वाधीनता को नष्ट करना या कम-से-कम उसे अत्यधिक कम कर देना। जनतंत्रीय समाजवाद अभीतक राजनीतिक स्वतंत्रता की उन्नीसवीं शताब्दी के आदर्श के साथ चिपटा हुआ है, उसका आग्रह इस बात पर है कि राज्य के सब लोगों को अपने शासकों के चुनने, उनके विषय में अपना मत देने तथा उन्हें बदलने का समान अधिकार प्राप्त होना चाहिये, परंतु अपने केंद्रीय विचार के लिये वह और सब प्रकार की स्वाधीनता का त्याग करने के लिये तैयार है।

प्रतीत होता है कि समाजवादी विचार की प्रगति हमें पूर्ण रूप से संगठित राष्ट्रीय राज्य के एक ऐसे विकास की ओर ले जायेगी जो शिक्षा तथा प्रशिक्षा का प्रबंध और नियंत्रण करेगा और समस्त आर्थिक कार्य-व्यवहार की व्यवस्था तथा उसका संचालन करेगा; इस उद्देश्य से और पूर्ण निपुणता, नैतिकता, हित तथा सामाजिक न्याय की निश्चित प्राप्ति के लिये यह विकास राष्ट्र के अंगभूत व्यक्तियों के संपूर्ण बाह्य और आंतरिक जीवन में या कम-से-कम उसके अधिकांश भाग में व्यवस्था स्थापित

करेगा। संगठित राज्य-नियंत्रण के द्वारा, वास्तव में, यह वह कार्य करेगा जो पहले के समाजों ने सामाजिक दबाव, प्रथाओं के कठोर शासन, सूक्ष्म विधि-विधान तथा शास्त्रों के द्वारा किया था। यह सदा ही क्रांतिकारी आदर्श का एक स्वभावतः अनिवार्य विकास रहा है। पहले-पहल यह आंतक-राज्य के समय फ्रांस के जेकोबिन शासन-काल में बाह्य-संकट का दबाव पड़ने पर दृष्टिगोचर हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले भाग में निरंतर किसी आंतरिक आवश्यकता के कारण प्रकट होता तथा अपने-आपको चरितार्थ करने के प्रयत्न में लगा रहा है। वर्तमान महायुद्ध (१९१४ के महायुद्ध) में यह, आंतरिक और बाह्य आवश्यकता के संगठन के द्वारा, पूर्ण रूप से तो नहीं किंतु पूर्णता के प्रथम और अपरिपक्व ढांचे के रूप में, अवश्य प्रकट हुआ है। जो पहले एक कोरा आदर्श था, जिसकी ओर उस समय केवल अधूरे रूप से कुछ प्रारंभिक पग बढ़ाना ही संभव था, वह अब एक ऐसा कार्यक्रम बन गया है जो चरितार्थ हो सकता है; इस कार्यक्रम की पूर्ण संभाव्यता एक विश्वासोत्पादक और क्रियात्मक दृष्टांत के द्वारा सिद्ध हो गयी है, यद्यपि उस दृष्टांत में कुछ उतावलापन और अपूर्णता अवश्य है। यह सत्य है कि इसे चरितार्थ करने के लिये राजनीतिक स्वाधीनता तक का कुछ समय के लिये त्याग करना पड़ेगा, परंतु यह तर्क किया जा सकता है कि यह केवल तत्क्षण की घटना और अस्थायी आवश्यकता के लिये रियायत से अधिक कुछ नहीं होगा। जो कार्य आंशिक तथा अस्थायी रूप में एक ऐसी सरकार द्वारा किया जाता था जिसे लोगों ने एक पूर्ण और अल्पकालीन अनुत्तरदायी सत्ता सौंपना स्वीकार कर लिया था, वही कार्य अधिक स्वतंत्र अवस्थाओं में, जब युद्ध का दबाव नहीं रहता, स्वशासक जनतंत्रीय राज्य द्वारा पूर्ण तथा स्थायी रूप में किया जा सकता है।

वैसी स्थिति में मानव-समुदाय निकट भविष्य में एक ऐसा राष्ट्र बन सकता है जो स्वशासित तथा राजनीतिक रूप में स्वतंत्र होगा, परंतु जिसका लक्ष्य एक ऐसा पूर्ण सामाजिक और आर्थिक संगठन होगा जिसे प्राप्त करने के लिये वह समस्त वैयक्तिक स्वाधीनता को संगठित राष्ट्रीय राज्य के हाथ में सौंप देने को तैयार हो जायेगा।' अठारहवीं शताब्दी के अंत में तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में जिस प्रकार फ्रांस राजनीतिक स्वतंत्रता और समानता का एक बड़ा प्रचारक तथा प्रयोगालय था उसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में जर्मनी एक संगठित राज्य के सिद्धांत का प्रमुख प्रचारक तथा प्रयोगालय रहा है। यहीं समाजवाद के सिद्धांत का जन्म हुआ और यहीं उसका प्रचार सबसे अधिक सफल भी हुआ। इसके फलस्वरूप राष्ट्र के एक बड़े भाग ने इस नयी शिक्षा के प्रति अपने-आपको समर्पित कर दिया; यहीं वे बड़े-बड़े समाजवादी और कुछ ऐसे अन्य उपाय, जिन्होंने

* बोलशेविस्ट रूस, नाजी जर्मनी तथा फासिस्ट इटली में यह एक अद्भुत निपुणता के साथ आरंभ किया गया था। और एक समय तो इसकी आवश्यकता या लोकप्रियता के कारण इसके सर्वत्र फैल जाने तक का डर हो गया था।

सामान्य हित और राष्ट्र की कार्य-कुशलता के लिये राज्य द्वारा व्यक्ति के नियंत्रण की प्रणाली का विकास किया है, अत्यधिक पूर्णता और सराहनीय रूप से सोचे-विचारे तथा कार्यान्वित किये गये हैं। इस बात का कोई महत्व नहीं कि यह सब समाजवाद-विरोधी, सैनिक या कुलीनतंत्रीय सरकार द्वारा हुआ था; यह तथ्य ही अपने-आपमें नयी प्रवृत्ति की अदम्य शक्ति का प्रमाण है, और प्रशासनीय शक्ति के उसके पुराने स्वामियों से जनता के हाथ में अनिवार्य रूप से आ जाने से ही उसकी विजय पूरी हो जाती है।

पिछली कुछ दशाब्दियों में लगातार हमने अन्य देशों में, यहांतक कि व्यक्तिवाद की जन्मभूमि इंग्लैंडतक में जर्मन विचारों को विकसित होते तथा राज्य द्वारा हस्तक्षेप और राज्य द्वारा नियंत्रण की जर्मन प्रणालियों के अनुसरण को पनपते देखा है। यूरोपीय युद्ध में जर्मनी की पराजय उसके आदर्शों की पराजय नहीं कहला सकती, जिस प्रकार यूरोपीय गुटबंदी द्वारा नैपोलियन-काल के क्रांतिकारी फ्रांस की पराजय उसके आदर्शों की पराजय नहीं थी। यहांतक कि राजतंत्र और कुलीनतंत्र की प्रणाली की क्षणिक विजय ने भी जर्मनी के नये विचारों को सारे यूरोप में फैलने से रोक। जर्मन सैनिकवाद तथा युंकरिज्म (Junkerism) नष्ट हो भी जाता तो भी सरकार के साम्राज्यीय रूप का विनाश एक पूर्ण संगठित समाजवादी राज्य की उस महान् आधुनिक प्रवृत्ति के सर्वांगीण विकास और उसकी विजय को अधिक निकट ले आता जो उनके पीछे कार्य करती रही है और उन्हें अपना सहायक बनाने के लिये विवश करती रही है; उधर उसके विरोधी राष्ट्रों में युद्ध का प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ है कि वे उसी आदर्श की ओर अधिक शीघ्रता से प्रवृत्त होने लगे हैं।

यदि बात केवल इतनी ही हो तो घटनाओं का स्वाभाविक विकास-क्रम जर्मनी के साम्राज्यवाद की विफलता का आश्रय लेकर स्वभावतः संसार की एक ऐसी अवस्था को जन्म देगा जो एक स्वाधीन, किंतु उत्तरोत्तर संगठित होते हुए राष्ट्रीय राज्यों की पद्धति पर आधारित होगी; ये राज्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए भी अंतर्राष्ट्रीय उद्देश्यों के लिये एक-दूसरे के साथ थोड़े-बहुत निकट रूप में संबंधित होंगे। यही वह आदर्श है जिसने उस महान् क्रांति के प्रारंभिक काल से ही मानव मन को एक सुदूर संभावना के रूप में आकृष्ट कर रखा है। यह स्वतंत्र राष्ट्र के संघ, लोक-संसद तथा विश्व-संघ का विचार है। किंतु वास्तविक स्थिति निकट भविष्य में ऐसी कोई भी आदर्श पूर्णता प्राप्त करने की आशा को निर्मूल कर देती है। कारण, संसार में राष्ट्रीयतावादी, जनतंत्रीय और समाजवादी विचार ही अकेले काम नहीं कर रहे हैं, साम्राज्यवाद भी उतना ही ऊर्ध्वमुखी है। केवल कुछ यूरोपीय जातियां ही आजकल ऐसे राष्ट्र हैं जो अपनेतक ही सीमित हैं; अन्य ऐसे हैं जो प्रत्येक अपने-आपमें स्वतंत्र

राष्ट्र है, किंतु वे उन मानव-समुदायों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए हैं जो या तो स्वतंत्र नहीं हैं या केवल आंशिक रूप में ही स्वतंत्र हैं। यहांतक कि छोटे-से बेल्जियम के पास भी कौंगो है, छोटे-से देश पुर्तगाल के पास अपने उपनिवेश हैं, उधर जरा-सा हॉलैंड भी पूर्वी द्वीपसमूह में अपने अधीनस्थ राज्य संभाले हुए है; छोटी बाल्कन रियासतोंतक ने “साम्राज्य” को पुनर्जीवित करने तथा अपने से भिन्न राष्ट्र के लोगों पर शासन करने की इच्छा की है, समस्त प्रायद्वीप में प्रबल हो जाने का विचार इन्हें भी प्रिय रहा है। मैजिनी की इटली की भी त्रिपोली, अर्बीसीनिया, अलबेनिया और ग्रीक द्वीपों में अपनी साम्राज्यवादी आशाएं तथा महत्वाकांक्षाएं हैं। भविष्य में कुछ समय के लिये यह साम्राज्यवादी प्रवृत्ति अधिक प्रबल ही होगी, निर्बल नहीं। राष्ट्रीयता के कठोर सिद्धांत के अनुसार यूरोपतक का पुनर्निर्माण करने के जिस विचार ने युद्ध के आरंभ में इलैंड के उदार व्यक्तियों के मन पर अपना अधिकार जमा लिया था वह अभीतक क्रियान्वित नहीं किया जा सका है और यदि वह क्रियान्वित हो भी जाये तो भी संपूर्ण एशिया और अफ्रीका दो ऐसे क्षेत्र बचे रह जायेंगे जहां पश्चिमी राष्ट्र और जापान अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएं पूरी कर सकते हैं। अमरीका में जिस निःस्वार्थ भाव ने अधिकतर लोगों को फिलीपाइन को स्वाधीन घोषित कर देने के लिये प्रेरित किया और मैक्सिको के कष्टों से लाभ उठाने की इच्छा का विरोध किया वह पुरानी दुनिया की मनोवृत्ति के लिये संभव नहीं है और कौन जाने अमरीका में भी यह भाव साम्राज्यवादी भावना की उमड़ती हुई लहर के आगे कितनी देर टिक सकेगा। राष्ट्रीय अहंभाव, प्रभुत्व का अहंकार और विस्तार की अभिलाषा अभी भी मानव-बुद्धि पर शासन करते हैं, चाहे उच्चतर उद्देश्यों और अधिक श्रेष्ठ राष्ट्रीय नैतिकता के हल के रूप में आरंभ हो जाने के कारण ये अपनी प्रणालियों में कितने भी संशोधित क्यों न हो गये हों। जबतक यह भावना समूल ही नहीं बदल दी जाती तबतक स्वाधीन राष्ट्रों के संघ के द्वारा मनुष्यजाति की एकता एक भव्य कल्पना ही रहेगी।

निश्चय ही हमारे विकास का चरम लक्ष्य स्वतंत्र साहचर्य और एकता होना चाहिये और जबतक यह प्राप्त नहीं हो जाता संसार में सतत परिवर्तन और क्रांतियां तो होती ही रहेंगी। प्रत्येक प्रचलित व्यवस्था अंत में किसी-न-किसी विपत्ति, बाधा और उभार में समाप्त होगी, वह या तो स्वयं अपने-आपको बदलेगी या बदल दी जायेगी अथवा वह उन विप्लवों को जन्म देगी जो समय-समय पर मनुष्य की उन्नति में बाधा डालते हैं, कारण, वह व्यवस्था अपूर्ण है, वह उन योजनाओं पर आग्रह करती है जिनमें अन्याय का होना स्वीकार किया जाता है अथवा जो नयी प्रवृत्तियों और नयी शक्तियों के मार्ग का अवरोध करती हैं और उसकी अपनी उपयोगिता और सार्थकता समाप्त हो चुकी होती है। पर अभी वह समय नहीं आया है जब कि व्यवस्था का सच्चा सिद्धांत कृत्रिम और अपूर्ण सिद्धांतों का स्थान ले सके। स्वतंत्र राष्ट्रों के संघ बनाने की आशा व्यर्थ है जबतक कि राष्ट्रों के बीच की वर्तमान असमानताएं नहीं मिटायी जातीं

या फिर जबतक सारा संसार ही एक ऐसी सर्वसामान्य संस्कृतितक नहीं उठ जाता जो प्राप्त या संभवनीय स्थिति से उच्चतर नैतिक और आध्यात्मिक स्थिति पर आधारित हो। क्योंकि साम्राज्यीय सहजप्रेरणा अभी जीवित और प्रबल है तथा वर्तमान समय में राष्ट्रीयता के सिद्धांत से अधिक शक्तिशाली है; महान् साम्राज्यों का विकास—कम-से-कम एक काल के लिये—स्वाधीन राष्ट्रों के अभ्युदय की प्रवृत्ति को दबा देने में असफल नहीं हो सकता। आशा केवल अब यह है कि इस पुराने कृत्रिम और शुद्ध राजनीतिक साम्राज्य का स्थान एक अधिक यथार्थ और अधिक नैतिक ढंग का साम्राज्य ले सकता है और वर्तमान साम्राज्य अपने को शक्तिशाली बनाने की आवश्यकता तथा विवेकपूर्ण स्वार्थ-भाव से प्रेरित होकर यह जान सकते हैं कि राष्ट्रीय स्वायत्तता की स्वीकृति राष्ट्रीयता की अभीतक जीवन्त सहजप्रेरणा के लिये एक विचारपूर्ण और आवश्यक रियायत है एवं उनकी साम्राज्यीय शक्ति तथा एकता को निर्बल करने के स्थान पर उसे सबल करने के लिये प्रयुक्त की जा सकती है। इस प्रकार जब कि स्वतंत्र राष्ट्रों का संघ बनाना अभी असंभव है, ऐसे संघबद्ध साम्राज्यों और स्वतंत्र राष्ट्रों की कोई प्रणाली बनाना, जिनमें इतना निकट साहचर्य हो गया हो जैसा कि पहले कभी देखने में नहीं आया, बिल्कुल ही असंभव नहीं है। इस उपाय से या किन्हीं अन्य उपायों से मनुष्यजाति के लिये किसी-न-किसी प्रकार की राजनीतिक एकता निकट या दूर भविष्य में प्राप्त की जा सकती है।^१

इस प्रकार के निकटतर साहचर्य को लाने के लिये युद्ध ने कई सुझाव उपस्थित किये, पर सामान्यतया ये सब यूरोप के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में सुव्यवस्था स्थापित करनेतक ही सीमित रहे। इनमें से एक सुझाव यह था कि अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा निर्मित तथा सब राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत एक अधिक कठोर अंतर्राष्ट्रीय विधान के द्वारा युद्ध को बिल्कुल रोक दिया जाये, इस विधान का सब राष्ट्रों के द्वारा किसी भी अपराधी के विरुद्ध प्रयोग किया जायेगा। परंतु जबतक इससे अगले प्रभावपूर्ण कदम न उठाये जायेंगे यह हल एक स्वप्नमात्र ही रहेगा; क्योंकि न्यायालय द्वारा निर्देशित विधान को या तो कुछ प्रबलतर मित्रशक्तियों द्वारा, उदाहरणार्थ, शेष यूरोप पर प्रभुत्व रखनेवाले विजयी मित्र-राष्ट्रों की गुटबंदी द्वारा, या समस्त यूरोपीय शक्तियों के एक मंडल अथवा यूरोप के राज्य या यूरोपीय संघ के किसी और रूप द्वारा लागू करना पड़ेगा। महान् शक्तियों की प्रभुतापूर्ण मैत्री केवल मैटरनिच^२ (Metternich) प्रणाली की, सिद्धांत रूप में, नकल होगी और कुछ समय बीतने के बाद वह अनिवार्य रूप से

^१ हिटलर के प्रकट होने तथा जर्मनी द्वारा विश्व-प्रभुत्व के विशाल प्रयत्न ने अपनी सफलता द्वारा—जो कि विरोधाभास है—इसमें सहायता पहुंचायी है और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया ने संसार को अवस्थाओं को पूर्णतया बदल दिया है। यूरोप के संयुक्त राज्य का निर्माण अब क्रियात्मक संभावना बन गया है और इसने आत्म-चरितार्थता की ओर अग्रसर होना आरंभ कर दिया है।

^२ आस्ट्रिया का १८१५—१८४८ का प्रमुख राज्यवेत्ता।

समाप्त भी हो जायेंगी, परंतु, जैसा अनुभव से हमें ज्ञात हो चुका है, यूरोप के मंडल का यह अर्थ होना चाहिये कि विरोधी समुदाय एक अनिश्चित समझौते को बनाये रखने के लिये आतुर भाव में प्रयत्न करें। यह प्रयत्न नये संघर्षों और नये विरोधों को स्थगित तो कर सकता है, पर अंतिम रूप से उन्हें रोक नहीं सकता। ऐसी अधूरी प्रणालियों में विधान का पालन केवल तभीतक होगा जबतक उसकी आवश्यकता रहेगी, जबतक वे शक्तियां जो दूसरों द्वारा अस्वीकृत नये परिवर्तन और पुनर्व्यवस्थाएं अपने में लाना चाहती हैं इस समय को प्रतिरोध के लिये उपयुक्त ही नहीं समझ लेंगी। राष्ट्र के अंदर विधान केवल इसलिये सुरक्षित रहता है कि वहां एक ऐसी स्वीकृत सत्ता होती है जो उसे निर्धारित करने तथा उसमें आवश्यक परिवर्तन करने की शक्ति रखती है; उसे इतना अधिकार प्राप्त होता है कि वह अपने कानून के भंग करनेवालों को दंड दे सके। अंतर्राष्ट्रीय या अंतर्युरोपीय विधान यदि शुद्ध नैतिक शक्ति से किसी और बड़ी शक्ति का प्रयोग करना चाहता है तो उसे ये सुविधाएं प्राप्त होनी चाहियें, क्योंकि यह नैतिक शक्ति उन लोगों द्वारा व्यर्थ की जा सकती है जो इसकी अवज्ञा करने में काफी समर्थ हैं तथा जो इसे भंग करने में अपना लाभ समझते हैं। अतएव यदि नयी व्यवस्था के इन प्रस्तावों के मूल-विचार को क्रियात्मक रूप में सफल बनाना हो तो किसी-न-किसी प्रकार के यूरोपीय संघ का निर्माण, चाहे वह कितना ही ढीला-ढाला क्यों न हो, आवश्यक हो जाता है और यदि यह एक बार बनना आरंभ हो जाये तो ऐसे संघ को आवश्यक रूप से उत्तरोत्तर दृढ़ होते जाना चाहिये तथा एक यूरोपीय संयुक्त राज्य की प्रणाली का अधिकाधिक स्वरूप बनना चाहिये।

यह तो केवल अनुभव बता सकता है कि ऐसी यूरोपीय एकता चरितार्थ की जा सकती है या नहीं और यदि यह चरितार्थ हो भी जाये तो विघटन की उन अनेक शक्तियों और कलह के उन अनेक कारणों के विरोध में भी जो इसे नष्ट करनेतक इसकी परीक्षा लेते रहेंगे इसे स्थिर तथा पूर्ण बनाया जा सकता है या नहीं। पर यह प्रत्यक्ष है कि मानव अहंभाव की वर्तमान अवस्था में यदि यह चरितार्थ कर ली जाये तो यह एक ऐसा महान् शक्तिशाली यंत्र बन जायेगी जिसके द्वारा वे राष्ट्र, जो आजकल मानव प्रगति में सबसे आगे हैं, संसार के शेष राष्ट्रों पर अपना प्रभुत्व जमा लेंगे तथा उनसे अनुचित लाभ उठाना चाहेंगे। साथ ही इसके विरोध में एशियाई एकता और अमरीकन एकता के विचार भी अनिवार्य रूप से उठ खड़े होंगे और जहां इस प्रकार के महाद्वीपीय समुदाय आज की अपेक्षाकृत छोटी राष्ट्रीय एकताओं का स्थान लेकर समस्त मानवजाति के अंतिम एकीकरण की ओर अग्रसर हो रहे होंगे, वहां इनके निर्माण के परिणामस्वरूप ऐसी और इतनी विस्तृत क्रांतियां भी आयेंगी जिनके आगे आजकल की विपत्ति नगण्य प्रतीत होने लगेगी तथा जिनके कारण मानवजाति की आशाएं पूरी होने के स्थान पर छिन्न-भिन्न हो जायेंगी और अंत में

बिल्कुल ही नष्ट हो जायेंगी। परंतु यूरोपीय संयुक्त राज्य के सिद्धांत पर मुख्य आक्षेप यह है कि मनुष्यजाति की सामान्य बुद्धि ने अब महाद्वीपीय विभेदों से परे जाने और उन्हें मानवता की बृहत्तर भावना के अधीन करने का प्रयत्न आरंभ कर दिया है; इसलिये महाद्वीपीय आधार पर किया हुआ विभाजन इस दृष्टिकोण से एक अत्यधिक गंभीर प्रकार का प्रतिक्रियात्मक प्रयत्न होगा जिसके परिणाम मानव-प्रगति के लिये अत्यंत गंभीर हो सकते हैं।

यूरोप वास्तव में कुछ ऐसी विचित्र-सी स्थिति में है कि वह सर्व-यूरोपीय विचार के लिये परिपक्व भी हो गया है और साथ ही उसे लांघकर आगे बढ़ने की आवश्यकता भी वह अनुभव करता है। अभी बहुत दिन नहीं हुए, पिछले यूरोपीय संघर्ष के विषय पर प्रकट किये गये कुछ विचारों ने इन दो प्रवृत्तियों के विरोध का विचित्र ढंग से निदर्शन किया है। एक विचार यह उपस्थित किया गया था कि इस युद्ध में जर्मनी के अपराध का कारण राष्ट्र के अहंमूलक विचार की अति और यूरोप के उस बृहत्तर विचार की अवहेलना था जिसकी अधीनता अब राष्ट्र-विचार को स्वीकार कर लेनी चाहिये। यूरोप के संपूर्ण जीवन को अब एक ऐसी एकता में आबद्ध हो जाना चाहिये जो सबको अपने अंदर समेट ले; उसके हित को सर्वोपरि स्थान मिले एवं राष्ट्र का अहंभाव इस अपेक्षाकृत बड़े अहंभाव के सुगठित अंग के ही रूप में अपना अस्तित्व रखे। क्रियात्मक रूप में यह कई दशाब्दियों के बाद नीत्शे (Nietzsche) के विचार का ही समर्थन है; वह इस बात पर बल देता था कि राष्ट्रीयता तथा युद्ध के विचारों का अब जमाना नहीं रहा और विचारशील मनुष्यों का आदर्श अब अच्छे देशभक्त बनना नहीं, बल्कि अच्छे यूरोपीयन बनना होना चाहिये। पर तुरंत ही यह प्रश्न उठा कि विश्व-राजनीति में तब अमरीका के बढ़ते हुए महत्त्व का क्या होगा? जापान और चीन का तथा एशिया के जीवन में जो नयी जागृति हो रही है उसका क्या अर्थ रह जायेगा? इसपर लेखक को अपना पहला विचार छोड़ना पड़ा तथा उसे यह समझना पड़ा कि यूरोप से उसका आशय यूरोप नहीं, वरन् वे सब राष्ट्र हैं जिन्होंने यूरोपीय सभ्यता के सिद्धांतों को अपनी राज्य-पद्धति और सामाजिक संगठन के आधार-रूप मान लिया है। इस अपेक्षाकृत अधिक दार्शनिक विचार का एक प्रत्यक्ष या कम-से-कम प्रतीयमान लाभ अवश्य है कि वह इसमें अमरीका और जापान का भी समावेश कर लेता है तथा इस प्रकार इस प्रस्तावित ऐक्य के घेरे में उन सब राष्ट्रों को स्वीकार कर लेता है जो वस्तुतः स्वतंत्र या प्रबल हैं, साथ ही वह यह आशा भी दिलाता है कि अन्य राष्ट्र भी जब जापान के उत्साही ढंग से या किसी और प्रकार से यह प्रमाणित कर दें कि वे यूरोपीय स्तर तक पहुंच गये हैं तो वे भी इस दायरे में आ सकेंगे।

वास्तव में यूरोप अपने विचारों में अभी तक शेष जगत् से बहुत अधिक भिन्न है, जैसा कि यूरोप में तुर्की के बराबर बने रहने के प्रति बार-बार के रोष से तथा यूरोपीय

लोगों पर एशिया के लोगों की इस प्रभुता को समाप्त कर देने की इच्छा से प्रदर्शित होता है। फिर भी यह सत्य है कि यूरोप अमरीका और एशिया के साथ बुरी तरह से उलझा हुआ है। कुछ यूरोपीय राष्ट्रों के अमरीका में उपनिवेश हैं, साथ ही एशिया में जहां केवल जापान यूरोप के प्रभावक्षेत्र से बाहर है अथवा उत्तरी अफ्रीका में जो सांस्कृतिक रूप में एशिया के साथ एक है सभी राष्ट्रों के अपने-अपने स्वत्व तथा महत्त्वाकांक्षाएं हैं। यूरोप के संयुक्तराज्य का अर्थ तब स्वतंत्र यूरोपीय राष्ट्रों का एक ऐसा संघ होगा जो अर्ध-अधीन एशिया के ऊपर अपना प्रभुत्व रखता है तथा अमरीका के कुछ भागों पर जिसका अधिकार है; पर वहां उसे वे पड़ोसी राष्ट्र चैन नहीं लेने देंगे जो अभीतक स्वतंत्र हैं, जो उसके इस प्रकार के उग्र अनधिकार-प्रवेश से निश्चय ही पीड़ित, त्रस्त और आच्छादित हो रहे हैं। अमरीका में इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि लैटिन केंद्र तथा दक्षिणी भाग और अंग्रेजी बोलनेवाला उत्तरी भाग एक-दूसरे के अधिक निकट आ जायेंगे तथा मुनरो (Monroe) सिद्धांत पर बहुत अधिक बल दिया जायेगा; इसके जो परिणाम होंगे उनके बारे में पहले से कुछ कहना कठिन है। उधर एशिया में इस स्थिति का अंत इस प्रकार हो सकता है कि या तो बचे हुए स्वतंत्र एशियाई राज्य लुप्त हो जायें अथवा एशिया इतना जाग्रत् हो जाये कि यूरोप उसे छोड़कर चला जाये। ये सब बातें मानव-विकास की पुरानी पद्धति को और अधिक लंबा तथा विश्व-बंधुत्व की उन नयी अवस्थाओं को व्यर्थ कर देंगी जो आधुनिक संस्कृति और विज्ञान ने उत्पन्न की हैं, पर यदि पश्चिम में राष्ट्र-सिद्धांत को सामान्य मानवता की अधिक व्यापक चेतना के स्थान पर यूरोप-सिद्धांत अर्थात् महाद्वीपीय-सिद्धांत में विलीन होना है तो ऐसी घटनाएं होना अनिवार्य है।

इसलिये यदि वर्तमान उथल-पुथल के परिणामस्वरूप किसी नयी अतिराष्ट्रीय व्यवस्था को अभी या बाद में विकसित होना है तो उसका रूप निश्चित ही एक ऐसे संघ का होगा जो एशिया, अफ्रीका और अमरीका तथा साथ ही यूरोप को अपने में मिलायेगा; वह स्वभावतः अंतर्राष्ट्रीय जीवन का एक ऐसा संगठन होगा जो स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क, संयुक्तराज्य, लैटिन गण-राज्य जैसे स्वतंत्र राष्ट्रों तथा साथ ही कई ऐसे साम्राज्यीय और उपनिवेश बनानेवाले राष्ट्रों द्वारा निर्मित होगा जैसे कि यूरोप में अधिकतर राष्ट्र हैं। ये पिछले प्रकार के राष्ट्र—जैसे कि वे आज हैं—या तो अपने-आपमें स्वतंत्र, पर उन अधीनस्थ राष्ट्रों के प्रभु रहेंगे जो, समय की प्रगति के साथ-साथ, अपने ऊपर रखे हुए जुए के प्रति अधिकाधिक असहिष्णु होते चले जायेंगे और या फिर नैतिक प्रगति द्वारा, जिसका चरितार्थ होना अभी बहुत दूर की बात है, कुछ अंश में स्वतंत्र संघीय साम्राज्यों के केंद्र और कुछ में ऐसे राष्ट्र बन जायेंगे जो उन पिछड़ी हुई और असंस्कृत जातियों का तबतक संरक्षण-भार उठायेंगे जबतक वे स्वशासन के योग्य नहीं हो जातीं। संयुक्तराज्य का कहना भी कुछ इसी ढंग का है कि फिलीपाइन पर उसका अधिकार कुछ समय के लिये है और इसी प्रकार का है।

पहली अवस्था में एकता, व्यवस्था और प्रचलित सामान्य विधान जीवित रहेंगे, तथा आंशिक रूप में वे अन्याय की विशाल पद्धति पर आधारित होंगे; उन्हें प्रकृति के उन विद्रोहों, विप्लवों तथा महान् प्रतिशोधों का सामना करना पड़ेगा जिनके द्वारा वह अंत में अन्यायों के विरोध में मानवी भावना को अंतिम रूप से उचित ठहराती है; इन अन्यायों को वह मानव-विकास के मार्ग में अनिवार्य रूप से आनेवाली घटनाएं समझकर ही कुछ समय के लिये सहन करती है। दूसरी अवस्था में यह संभावना अवश्य है कि यह नयी व्यवस्था, चाहे वह अपने प्रारंभिक रूप में स्वतंत्र मानव-समुदायों के स्वतंत्र संघ के अंतिम आदर्श से कितनी भी दूर क्यों न हो, शांतिपूर्वक और जाति की आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति के स्वाभाविक विकसन के द्वारा एक ऐसे सुरक्षित, न्याययुक्त और स्वस्थ राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आधार की ओर ले जा सकती है जो मनुष्यजाति को संभवतः इस योग्य बना देगा कि वह तुच्छ चिंताओं में व्यस्त न रहकर अपनी उच्चतर सत्ता का विकास आरंभ कर दे क्योंकि यह उच्च सत्ता ही उसकी गुप्त भवितव्यता का श्रेष्ठतर भाग है; अथवा यदि, ऐसा न हो तो कौन जानता है कि मानवजाति में प्रकृति का यह लंबा प्रयोग सफल होगा या असफल; फिर भी यह कम-से-कम हमारे भविष्य की वह उच्चतम संभावना तो है जिसकी मानव-मन कल्पना कर सकता है।

छोटी स्वतंत्र इकाई और बृहत्तर केंद्रित इकाई

यदि हम राजनीतिक, प्रशासनीय और आर्थिक प्रणाली के आधार पर मनुष्यजाति के एकीकरण की संभावनाओं पर विचार करें तो हम देखेंगे कि एक विशेष प्रकार की एकता या उसकी ओर उठाया हुआ पहला कदम केवल संभव ही नहीं प्रतीत होता, वरन् जाति की आवश्यकता और उसकी आधारभूत भावना थोड़े-बहुत अनिवार्य रूप में उस एकता की मांग भी करती हैं। यह भावना अधिकांश रूप में पारस्परिक ज्ञान तथा संचार-साधनों की वृद्धि के कारण परंतु आंशिक रूप में जाति के प्रगतिशील मन में अधिक व्यापक और स्वतंत्र बौद्धिक आदर्शों तथा भावप्रधान समवेदनाओं के उन्नत होने के कारण उत्पन्न हुई है। इस आवश्यकता का अनुभव भी कुछ तो इन आदर्शों और समवेदनाओं को पूरा करने की इच्छा के कारण तथा कुछ उन आर्थिक और अन्य भौतिक परिवर्तनों के कारण होता है जो विभाजित राष्ट्रीय जीवन, युद्ध, व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के और इनके फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली अरक्षा तथा जटिल और सुभेद्य आधुनिक सामाजिक संगठन पर आनेवाली विपत्ति के परिणामों को आर्थिक और राजनीतिक मानवप्राणी और आदर्शवादी विचारक दोनों के लिये अधिकाधिक दुःखदायी बना देते हैं। कुछ अंश में यह नयी प्रवृत्ति सफल राष्ट्रों की शेष जगत् को निर्विघ्न रूप से हस्तगत करने, उसका उपभोग करने तथा उससे अनुचित लाभ उठाने की इच्छा से भी उत्पन्न हुई है और इस इच्छा को वे अपनी विकट प्रतिद्वंद्विताओं तथा प्रतियोगिताओं से उत्पन्न खतरे को उठाये बिना किसी पारस्परिक सुखद सद्भाव और समझौते के द्वारा पूर्ण करना चाहते हैं। इस प्रवृत्ति की वास्तविक शक्ति उसके बौद्धिक, भावुक और आदर्शवादी अंगों में है। इसके आर्थिक कारण कुछ अंश में स्थायी हैं और इसलिये शक्ति और निश्चित सफलता के तत्त्व हैं, और जिस अंश में वे कृत्रिम तथा अस्थायी हैं उस अंश में अरक्षा और दुर्बलता को उत्पन्न करते हैं। राजनीतिक प्रेरक इस मिश्रण के निम्नतर भाग हैं, यहाँतक कि इनकी उपस्थिति सारे परिणाम को बिगाड़ सकती है तथा अंत में उस एकता को जो प्रारंभिक रूप में प्राप्त की जा चुकी है निश्चित रूप से उलट-पुलट या नष्ट-भ्रष्ट कर सकती है।

फिर भी अपेक्षाकृत निकट या अधिक सुदूर भविष्य में कोई-न-कोई परिणाम निकल सकता है। अब हम देख सकते हैं कि इसे यदि चरितार्थ होना है तो किन अवस्थाओं में होना है—शुरू-शुरू में यह अत्यंत प्रबल सामान्य आवश्यकताओं अर्थात् व्यापार, शांति और युद्ध की व्यवस्थाओं तथा झगड़ों के सामान्य निर्णय और संसार को सुरक्षित रखने की व्यवस्थाओं के लिये एक प्रकार के समझौते और प्रारंभिक मेल-मिलाप द्वारा चरितार्थ हो सकती है। ये सब स्थूल प्रारंभिक व्यवस्थाएं यदि

एक बार स्वीकार कर ली जायें तो स्वभावतः ही वे प्रधान विचार और सहज आवश्यकता के दबाव से एक अधिक प्रगाढ़ एकता का रूप धारण कर लेंगी; यह भी हो सकता है कि अंत में जाकर वे एक ऐसे सर्व-सामान्य सर्वोच्च राज्य के रूप में विकसित हो जायें जो तबतक टिक सकता है जबतक स्थापित प्रणाली के दोषों और इसके अस्तित्व के विरोधी अन्य आदर्शों और प्रवृत्तियों के उदय के परिणामस्वरूप इसमें एक नया आमूल परिवर्तन ही नहीं आ जाता या यह पूरी तरह से अपने स्वाभाविक तत्त्वों और अंगों में खंडित ही नहीं हो जाता। हमने यह भी देख लिया है कि इस प्रकार की एकता वर्तमान जगत् की ऐसी अवस्थाओं के आधार पर प्राप्त की जा सकती है जो कुछ अंशतक अवश्यंभावी परिवर्तनों से बदल दी गयी हैं—उन अंतर्राष्ट्रीय परिवर्तनों से, जो एक नया मौलिक सिद्धांत चलाने के स्थान पर केवल पुनर्व्यवस्थामात्र करते प्रतीत होते हैं और राष्ट्रों के भीतर होनेवाले उन सामाजिक परिवर्तनों से, जिनका प्रभाव दूरतक पहुंचता है। अर्थात्, यह एकता उसी प्रकार की होगी जैसी वर्तमान समय के स्वतंत्र राष्ट्रों और उपनिवेश बनानेवाले साम्राज्यों के बीच में होती है पर इसके साथ समाज की एक ऐसी आंतरिक व्यवस्था तथा प्रशासनीय योजना होगी जो वेग से राज्य के कठोर समाजवाद और समानता की ओर बढ़ेगी; इनसे स्त्री-जाति और श्रमिकों का विशेष हित होगा; क्योंकि ये इस समय की प्रमुख प्रवृत्तियां हैं। निश्चय ही यह कोई भी विश्वासपूर्वक पहले से नहीं कह सकता कि इस समय की प्रवृत्ति संपूर्ण भविष्य पर सफलतापूर्वक अपना अधिकार जमा लेगी। हम नहीं जानते कि इस महान् मानवी नाटक के कौन-कौन से आश्चर्य, पुराने राष्ट्र-विचार की कौन-सी उद्दाम तरंग, क्या-क्या संघर्ष, कौन-कौन-सी असफलताएं, नयी सामाजिक प्रवृत्तियों के कार्यान्वित होने में कौन-कौन-से अप्रत्याशित परिणाम, बोझिल और यांत्रिक राज्य-समष्टिवाद के विरोध में मानवी भावना का कौन-सा विद्रोह, दार्शनिक अराजकतावाद के ऐसे सिद्धांत की कौन-सी प्रगति और शक्ति जिसका कार्य ही मनुष्य की वैयक्तिक स्वाधीनता और स्वतंत्र आत्म-परिपूर्णता-संबंधी सुदृढ़ आकांक्षा की परिपुष्टि करना है, कौन-कौन-से अप्रत्याशित धार्मिक और आध्यात्मिक महान् परिवर्तन मनुष्यजाति की इस वर्तमान गतिविधि में हस्तक्षेप नहीं करेंगे और इसे एक और प्रकार की घटना में नहीं बदल देंगे। मानव मन अभी प्रकाश या उस निश्चित विज्ञानतक नहीं पहुंचा है जिसके द्वारा वह अगले दिन के विषय में भी कुछ ठीक-ठीक बता सके।

फिर भी, हम यह मान लेते हैं कि इस प्रकार की कोई भी अप्रत्याशित बात नहीं होगी और तब मनुष्यजाति की किसी-न-किसी प्रकार की राजनीतिक एकता चरितार्थ की जा सकेगी। पर एक प्रश्न फिर भी बाकी रह जाता है कि क्या यह वांछनीय है कि यह एकता इस प्रकार से और अभी प्राप्त की जानी चाहिये और ऐसा हो तो किन परिस्थितियों में तथा किन आवश्यक शर्तों के साथ इसे प्राप्त किया जा सकता है,

क्योंकि इनके बिना जिस एकता की प्राप्ति होगी वह मानवजाति के पुराने और अपूर्ण ऐक्यों ही के समान अस्थायी होगी। और पहले हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि जिन बृहत्तर एकताओं को मनुष्यजाति पूर्वकाल में प्राप्त कर चुकी है उन्हें उसने किस मूल्य पर प्राप्त किया था। निकट भूतकाल ने वस्तुतः हमारे लिये राष्ट्र बनाया, फिर राष्ट्रों के एक स्वाभाविक समजातीय साम्राज्य का निर्माण किया जो जाति और संस्कृति में समान थे अथवा जो भौगोलिक आवश्यकता और पारस्परिक आकर्षण द्वारा एक हो गये थे; उसने एक ऐसे कृत्रिम विषमजातीय साम्राज्य की भी स्थापना की जो विजय द्वारा प्राप्त किया गया था तथा जिसे बल-प्रयोग, कानून के जूए तथा व्यापारिक और सैनिक उपनिवेशीकरण द्वारा सुरक्षित रखा गया था, किंतु ये सब अभी तक सच्ची मनोवैज्ञानिक एकताओं पर आधारित नहीं थे। समष्टिकरण के इन सिद्धांतों में से प्रत्येक ने ही सामान्य रूप से मानवजाति को कोई-न-कोई वास्तविक लाभ या उन्नति की संभावना प्रदान की है पर प्रत्येक के ही साथ उसके अपने अस्थायी या स्वभावगत दोष रहे हैं और प्रत्येक ने मानवता के पूर्ण आदर्श को किसी-न-किसी प्रकार की चोट पहुंचायी है।

एक नयी एकता का निर्माण जब बाह्य और यांत्रिक प्रक्रियाओं के द्वारा आगे बढ़ता है, तो इससे पहले कि इकाई अपने आंतरिक जीवन के नये और स्वतंत्र विस्तार का फिर से उपभोग करे, उसे, वास्तव में, साधारणतया और प्रायः ही किसी क्रियात्मक आवश्यकता के कारण आंतरिक संकुचन की प्रक्रिया में से गुजरना पड़ता है, क्योंकि उसकी पहली आवश्यकता और सहज-प्रेरणा उसके अपने अस्तित्व को बनाने तथा सुरक्षित रखने की होती है। अपनी एकता को क्रियान्वित करना उसकी सबसे प्रबल प्रेरणा है और उस उच्चतम आवश्यकता के आगे उसे विभिन्नता, सामंजस्यपूर्ण जटिलता, विविध साधनों की समृद्धि तथा आंतरिक संबंधों की स्वतंत्रता का बलिदान करना पड़ता है, क्योंकि ऐसा किये बिना जीवन की सच्ची पूर्णता प्राप्त करना असंभव है। शक्तिशाली और दृढ़ एकता लाने के लिये उसे एक अति प्रबल केंद्र या केंद्रित राज्य-सत्ता की स्थापना करनी पड़ेगी, चाहे वह सत्ता राजा की हो या सैनिक कुलीन-तंत्र अथवा धनिक-वर्ग की या फिर किसी और शासन-पद्धति की हो। व्यक्ति, जनपद, नगर, प्रदेश या किसी अन्य छोटी इकाई की स्वाधीनता और स्वतंत्र जीवन को इस केंद्र या सत्ता के अधीन होना पड़ेगा तथा इसपर अपने-आपको बलिदान कर देना होगा। इसके साथ ही समाज की एक दृढ़ रूप में यंत्रीकृत तथा कठोर अवस्था के निर्माण की प्रवृत्ति भी पायी जाती है; यह अवस्था कभी-कभी भिन्न-भिन्न वर्गों या श्रेणियों की ऐसी क्रमिक व्यवस्था होगी जिसमें निम्न वर्ग को हीन स्थान और कर्तव्य दिया जायेगा जिसके फलस्वरूप उसे उच्च वर्ग से अधिक संकुचित जीवन बिताना पड़ेगा। यूरोप में राजा, पुरोहित, कुलीनतंत्र, मध्यवर्ग, किसान तथा सेवक-वर्ग की ऐसी क्रमिक वर्गव्यवस्था और भारतवर्ष में कठोर वर्गव्यवस्था इसके उदाहरण हैं।

पहली ने यूरोप में नगर और उपजाति के समृद्ध और स्वतंत्र जीवन का तथा दूसरी ने भारतवर्ष में उत्साही आर्य-वंशों के स्वच्छंद और स्वाभाविक जीवन का स्थान ले लिया था। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम पहले देख भी चुके हैं, पूर्ण रूप से ओजस्वी सामान्य जीवन में सबका या अधिक लोगों का उत्साहपूर्ण और सक्रिय भाग लेना—जिससे पहले समय की छोटी परंतु स्वतंत्र जातियों ने अत्यधिक लाभ उठाया था—अपेक्षाकृत बड़े समुदाय में कहीं अधिक कठिन है, पहले तो यह असंभव ही है। इसके स्थान पर अब किसी एक प्रबल केंद्र या अधिक-से-अधिक एक शासक और संचालक वर्ग या वर्गों में जीवनशक्ति केंद्रित हो गयी है, जब कि समाज का एक बड़ा भाग एक प्रकार की जड़ता में पड़ा हुआ है और वह केवल उस जीवनशक्ति के न्यूनतम और अप्रत्यक्ष अंश का उतना ही उपभोग करता है जितना कि वह ऊपर से छनकर आ सकती है तथा नीचे के स्थूलतर और अधिक दीन और संकीर्ण जीवन को अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित कर सकती है। यह कम-से-कम वह तथ्य है जिसे हम मानव-प्रगति के उस ऐतिहासिक काल में देखते हैं जो आधुनिक जगत् से पहले का काल था तथा जिसने इसका निर्माण किया था। जो नवीन राजनीतिक और सामाजिक रूप इसका स्थान ले रहे हैं या ले लेंगे उनके ठोस निर्माण तथा एकत्रीकरण के लिये केंद्रीकारक और रचनात्मक कठोरता की आवश्यकता भी भविष्य में अनुभव की जा सकती है।

ऐसे छोटे मानव-समुदाय, जिनमें सब लोग सरलतापूर्वक सक्रिय भाग ले सकते हैं, जिनमें विचारों और गतियों को शीघ्रता और स्पष्टता से अनुभव, कार्यान्वित तथा किसी बृहत् और जटिल संगठन की आवश्यकता के बिना ही रूप प्रदान किया जा सकता है, स्वाभाविक रूप में, आत्मरक्षा की सर्व-प्रमुख आवश्यकता से मुक्त होते ही, स्वतंत्रता की ओर झुक जाते हैं। इस प्रकार के वातावरण में स्वेच्छाचारी राजतंत्र या निरंकुश कुलीनतंत्र, अचूक पोपशासन या धर्मान्ध पुरोहित-शासन जैसी प्रणालियां सरलतापूर्वक नहीं पनप सकतीं। जनसाधारण से तथा व्यक्तियों की नित्यप्रति की आलोचना के क्षेत्र से दूर रहने का वह लाभ उन्हें नहीं प्राप्त होता जिसपर उनकी प्रतिष्ठा निर्भर करती है। विशाल समुदायों तथा विस्तृत प्रदेशों में एकरूपता की जिस अनिवार्य आवश्यकता को वे प्रतिष्ठित करने और बनाये रखने के लिये अन्यत्र उचित ठहराते हैं उसकी जरूरत यहां नहीं पड़ती। अतः रोम में हम देखते हैं कि राजतंत्रीय शासन-पद्धति अपने-आपको सुरक्षित नहीं रख सकी और ग्रीस में यह एक ऐसी अस्वाभाविक पद्धति मानी गयी जिसने कुछ काल के लिये जबर्दस्ती अपना अधिकार जमा लिया था, उधर शासन का कुलीनतंत्रीय रूप, यद्यपि वह अधिक शक्तिशाली था, स्पार्टा जैसे शुद्ध सैनिक जन-समुदाय को छोड़कर, और कहीं न तो उच्च और अनन्य सर्वोच्चता प्राप्त कर सका और न ही स्थायी रूप में टिक सका। एक ऐसी जनतंत्रीय स्वतंत्रता की प्रवृत्ति, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति राज्य की सांस्कृतिक संस्थाओं तथा नागरिक जीवन में स्वाभाविक रूप से भाग लेता हो, विधान और नीति के

निर्धारण में समान रूप से अपना मत दे सकता हो तथा उनकी कार्यान्विति में उतना भाग तो ले ही सकता हो जितना कि उसके नागरिकता के अधिकार तथा उसकी वैयक्तिक योग्यता द्वारा उसे मिल सकता है—यह जनतंत्रीय प्रवृत्ति नगर-राज्य की भावना तथा उसके रूप में प्रारंभ से ही विद्यमान थी। रोम में भी यह प्रवृत्ति उपस्थित थी पर वह ग्रीस की भांति न तो इतने वेग से उन्नत हो सकी और न ही पूर्ण रूप से चरितार्थ हुई; कारण, वहां के सैनिक तथा विजयी राज्य को अपनी विदेशी नीति और सैनिक कार्य-व्यवहार के संचालन के लिये स्वेच्छाचारी शासक अथवा एक छोटे कुलीनतंत्रीय वर्ग की आवश्यकता थी; परंतु उस अवस्था में भी जनतंत्रीय तत्त्व सदा विद्यमान रहा और जनतंत्रीय प्रवृत्ति इतनी प्रबल रही कि रोम की आत्मरक्षा और उसके विस्तार के सतत संघर्ष के बीच में भी वह पूर्व-ऐतिहासिक काल से कार्य करती तथा बढ़ती रही। उसकी गति तभी रुकी जब रोम को भूमध्यसागर के साम्राज्य के लिये कारथेज के साथ युद्ध तथा ऐसे ही कई और महान् संघर्ष करने पड़े। भारतवर्ष में प्रारंभिक जन-समुदाय स्वतंत्र समाज थे, इनमें राजा केवल सेना का प्रधान या नगर का मुखिया होता था; बुद्ध के समय में भी जनतंत्रीय तत्त्व पूरी तरह से विद्यमान था, चंद्रगुप्त और मेगस्थनीज़ के समय में यह छोटे राज्यों में उन दिनों भी जीवित रहा जब कि नौकरशाही ढंग से शासित राजतंत्र और साम्राज्य अंतिम रूप से पुरानी स्वतंत्र राज्य-पद्धति का स्थान ले रहे थे। जिस अंश में सारे प्रायद्वीप में या कम-से-कम उसके उत्तरी भाग में भारतीय जीवन के विशाल संगठन की आवश्यकता अधिकाधिक अनुभव होने लगी उसी अंश में स्वच्छंद राजतंत्र की प्रणाली ने समस्त देश पर अपना अधिकार जमा लिया और पंडित एवं पुरोहित-वर्ग ने समाज की मन-बुद्धि पर अपने धर्मतंत्रीय राज्य को तथा उस कठोर शास्त्र को लाद दिया जो सामाजिक एकता और राष्ट्रीय संस्कृति की शृंखला और कड़ी प्रदान करनेवाला समझा जाता था।

जो बात राजनीतिक और नागरिक जीवन में थी वही बात सामाजिक जीवन में भी थी। छोटे जन-समुदाय में एक प्रकार की जनतंत्रीय समानता तो प्रायः अनिवार्य होती ही है; वर्गगत प्रबल विभेदों और विशिष्टताओं का विरोधी तथ्य किसी जाति या वंश के सैनिक काल में तो स्थापित हो सकता है पर वह एक सुप्रतिष्ठित नगर-राज्य के निकट सान्निध्य में चिरकालतक नहीं टिक सकता, हां, कुछ ऐसे कृत्रिम साधनों द्वारा जिनका कि स्पार्टा और वेनिस ने प्रयोग किया था ऐसा हो सकता है। यह विभेद रहे भी, तो भी इसका एकांतभाव कुंद पड़ जाता है और वह अपने-आपको इतना सघन तथा शक्तिशाली नहीं बना सकता कि वह एक दृढ़ वर्ण-परंपरा का रूप धारण कर ले। छोटे जन-समुदाय का स्वाभाविक सामाजिक रूप हम एथेन्स में देख सकते हैं जहां एक गरीब चर्मकार भी उतना ही प्रबल राजनीतिक अधिकार रखता था जितना कि एक कुलीन और धनी व्यक्ति, जहां सर्वोच्च पद और नागरिक कार्य सब वर्गों के व्यक्तियों के लिये सुलभ थे। साथ ही सामाजिक कार्यों और संबंधों में भी उन्हें स्वतंत्र

सहचारिता और समानता प्राप्त थी। भारतीय सभ्यता के प्राचीनतर अभिलेखों में हम इसीसे मिलती-जुलती पर भिन्न प्रकार की जनतंत्रीय समानता देखते हैं, वर्ण-भावना के दंभ और अहंकार से युक्त कठोर वर्ण-परंपरा बाद की बात है; पूर्वकाल के अपेक्षाकृत सरल जीवन में कार्य की विभिन्नता यहांतक कि श्रेष्ठता के साथ भी वैयक्तिक या वर्गीय श्रेष्ठता का भाव नहीं जुड़ा हुआ था। ऐसा मालूम होता है कि आरंभ में सबसे अधिक पवित्र, धार्मिक और सामाजिक कार्य अर्थात् ऋषि और पुरोहित का कार्य सब वर्गों के व्यक्तियों तथा सब प्रकार के व्यवसायियों के लिये खुला हुआ था। धर्मतंत्र, वर्ण-व्यवस्था और निरंकुश राजतंत्र की शक्ति उसी प्रकार साथ-ही-साथ बढ़ी जिस प्रकार मध्यकालीन यूरोप में पादरीवर्ग और राजतंत्रीय आधिपत्य की शक्ति बढ़ी थी। इस शक्ति-वृद्धि का कारण उन नयी परिस्थितियों का दबाव था जो बृहत् सामाजिक और राजनीतिक समुदायों के विकास से उत्पन्न हुई थीं।

प्राचीन ग्रीस, रोम और भारतवर्ष के नगर-राज्यों की इन परिस्थितियों में जिन समाजों ने सांस्कृतिक प्रगति की उन्हें जीवन की एक ऐसी सामान्य स्फूर्ति तथा संस्कृति और निर्माण की एक ऐसी गतिशील शक्ति का विकास करना पड़ा जिससे आगे आनेवाले समुदाय वंचित रह गये तथा जिसे वे केवल स्वनिर्माण के लंबे समय के बाद ही प्राप्त कर सके; इस समय उन्हें एक नये संगठन के विकास में आनेवाली कठिनाइयों का सामना तथा निराकरण करना पड़ा। ग्रीक नगर के सांस्कृतिक और नागरिक जीवन ने—जिसकी सर्वोच्च प्राप्ति एथेन्स में हुई थी—ऐसे जीवन ने जिसमें जीवन-यापन अपने-आपमें एक शिक्षा थी, जहां गरीब से गरीब और धनी से धनी नाटक-घर में साथ-साथ बैठकर सोफोकलीस (Sophocles) और युरिपिडीज़ (Euripides) के नाटक देखा करते तथा उनके बारे में अपना मत देते थे, जहां एथिनियन व्यापारी और दुकानदार सुकरात के सूक्ष्म दार्शनिक वार्तालाप में भाग लेते थे—यूरोप के लिये उसके आधारभूत राजनीतिक सूत्रों और आदर्शों का ही निर्माण नहीं किया वरन् उसकी बौद्धिक, दार्शनिक, साहित्यिक और कलात्मक संस्कृति के सभी मूल स्वरूपों का भी निर्माण किया था। अकेले रोम नगर के समान रूप से सजीव राजनीतिक, वैध और सैनिक जीवन ने यूरोप के लिये उसके राजनीतिक कार्य, सैनिक अनुशासन, विज्ञान, विधान और साम्य के व्यवहार-शास्त्र के नमूनों का, यहांतक कि साम्राज्य और उपनिवेशीकरण के आदर्शों का भी निर्माण किया है। भारतवर्ष में आध्यात्मिक जीवन की प्राचीन सजीवता ने ही—जिसकी झलक हमें वेदों, उपनिषदों तथा बौद्ध ग्रंथों में मिलती है—उन धर्मों, दर्शनों तथा आध्यात्मिक नियमों को उत्पन्न किया था जिन्होंने तबसे प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव द्वारा एशिया या यूरोप में अपनी भावना और ज्ञान के एक अंश का प्रसार करना शुरू कर दिया है। इस स्वतंत्र, सामान्यीकृत, व्यापक रूप से स्पंदनशील, जीवंत और गतिशील शक्ति की जड़ जिसे आधुनिक जगत् केवल अब किसी अंश में पुनः प्राप्त कर रहा है सर्वत्र, सब भेद होते

हुए भी, एक ही थी; समाज के बहुमुखी जीवन में वह एक सीमित वर्ग का नहीं वरन् व्यक्तिमात्र का पूर्ण सहयोग था। प्रत्येक यह समझता था कि उसमें सबकी शक्ति है, साथ ही उसे वैश्व शक्ति के उद्गम प्रवाह में अपनी उन्नति करने, अपना निज-स्वरूप प्राप्त करने, सफलता लाभ करने, सोचने तथा निर्माण करने की एक प्रकार की स्वतंत्रता भी है। वह यही स्थिति अर्थात् व्यक्ति और समुदाय का संबंध है जिसकी पुनः-स्थापना के लिये आधुनिक जीवन ने बोझिल, बेढंगे और अपूर्ण ढंग से किसी हदतक चेष्टा की है, यद्यपि उसके पास प्राचीन मानवजाति की अपेक्षा कहीं अधिक विशाल जीवन-शक्ति और विचार-शक्ति है।

यह संभव है कि यदि पुराने नगर-राज्य और गण-राष्ट्र बने रहते और अपने-आपको बदलकर और नये जनसमुदाय में अपने जीवन को विलीन किये बिना ही, बृहत्तर समुदायों का निर्माण कर लेते तो बहुत-सी समस्याओं का अधिक सरलता से, प्रत्यक्ष अंतर्दृष्टि द्वारा तथा प्रकृति के अनुकूल रहते हुए समाधान हो जाता, जब कि अब हमें बड़े जटिल और दुःखदायी तरीके से तथा बड़े भारी संकटों और व्यापक विप्लवों से डरते हुए इन समस्याओं का हल करना पड़ रहा है। पर ऐसा होना संभव नहीं था। उस पुराने जीवन में बहुत बड़े-बड़े दोष थे जिन्हें वह दूर नहीं कर सकता था। भूमध्यप्रदेश के राष्ट्रों में हम देखते हैं कि समाज के पूर्ण नागरिक और सांस्कृतिक जीवन में सब व्यक्तियों के समान भाग लेने के संबंध में दो अत्यधिक महत्वपूर्ण अपवाद किये गये थे। दास-वर्ग तो उसमें भाग ले ही नहीं सकता था और स्त्रियां भी, जिनकी जीवन-परिधि अत्यंत संकुचित थी, इस अधिकार से प्रायः वंचित ही रखी गयी थीं। उधर भारतवर्ष में दास-प्रथा नहीं के बराबर थी और स्त्रियों को भी शुरू-शुरू में यहां ग्रीस और रोम की स्त्रियों से अधिक स्वतंत्र और सम्मानयुक्त पद प्राप्त था; किंतु शीघ्र ही दास का स्थान सबसे निम्न जाति शूद्र ने ले लिया। शूद्रों और स्त्रियों को सामान्य जीवन और संस्कृति के उच्चतम लाभों से वंचित रखने की यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ती गयी कि भारतीय समाज को भी यह उसके पश्चिमी साथियों के स्तरतक ले आयी। यह संभव है कि प्राचीन समाज में—यदि वह अधिक समयतक जीवित रहता तो—आर्थिक दासता और स्त्रियों की पराधीनता की दो बड़ी समस्याओं पर विचार करके उसी प्रकार उनका समाधान किया जाता जिस प्रकार आधुनिक राज्य में इनपर विचार करके इन्हें सुलझाने की चेष्टा की जा रही है, पर यह बात संशयपूर्ण है। केवल रोम में ही हम कुछ ऐसी प्रारंभिक प्रवृत्तियां देखते हैं जो इस दिशा में कुछ कार्य कर सकती थीं पर वे भी भविष्य की संभावना के अस्पष्ट संकेतों के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकीं।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि मानव-समाज के इस प्राचीन रूप को समुदायों के पारस्परिक संबंधों का प्रश्न सुलझाने में जरा भी सफलता प्राप्त नहीं हुई। युद्ध ही उनके सामान्य संबंध का आधार रहा। स्वतंत्र संघ बनाने के उनके सब प्रयत्न

निष्फल हुए और एकीकरण का एकमात्र साधन सैनिक विजय ही रह गया। उस छोटे समुदाय के मोह ने, जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपने-आपको अत्यधिक सजीव समझता था, एक प्रकार की मानसिक और प्राणिक संकीर्णता उत्पन्न कर दी; यह संकीर्णता अपने-आपको उन नये और अधिक व्यापक विचारों के अनुकूल नहीं बना सकी जिन्हें दर्शन और राजनीतिक विचार अधिक व्यापक आवश्यकताओं और प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित होकर जीवन-क्षेत्र में लाये थे। इसीलिये इन पुराने राज्यों को भंग होना पड़ा; भारतवर्ष में ये गुप्त और मौर्य राजाओं के विशाल नौकरशाही साम्राज्यों में विलीन हो गये जिनके बाद पठान, मुगल और अंग्रेज आये और पश्चिम में ये उन विशाल सैनिक और व्यापारिक विजित प्रदेशों में मिल गये जो सिकन्दर, कार्थेजिनियन कुलीनतंत्र तथा रोम के गणतंत्र और साम्राज्य द्वारा प्राप्त हुए थे। इन पिछले राज्यों की एकता राष्ट्रीय नहीं, बल्कि अतिराष्ट्रीय थी। मनुष्यजाति में अतिव्यापक एकता लाने के लिये ये ऐसे असामयिक प्रयत्न थे जो वास्तव में तबतक पूर्णतया सफल नहीं हो सकते थे जबतक बीच की राष्ट्र-इकाई पूर्ण और स्वस्थ ढंग से विकसित ही न हो जाती।

अतएव राष्ट्रीय समुदाय का निर्माण उस सहस्राब्दी में होना था जो रोम-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के बाद आयी। अपनी इस समस्या को सुलझाने के लिये संसार को उस समय उन अनेकों, वास्तव में, अधिकतर लाभों को छोड़ना पड़ा जिन्हें नगर-राज्यों ने मानवजाति के लिये प्राप्त किया था। इस समस्या को सुलझाने के बाद ही एक सुसंगठित, उन्नतिशील और अधिकाधिक पूर्णताप्राप्त समाज तथा सामाजिक जीवन के शक्तिशाली सांचे को और साथ ही उस सांचे के अंदर जीवन के स्वतंत्र अभ्युदय और उसकी पूर्णता को विकसित करने का कोई सच्चा प्रयत्न किया जा सकता था। पहले हमें जरा इस विकास-क्रम का थोड़ा-सा अध्ययन करना होगा। उसके बाद हम इस विषय पर विचार कर सकते हैं कि बृहत्तर समुदाय के निर्माण का नया प्रयत्न पुनः पीछे हटने के खतरे से खाली हो सकता है या नहीं। इस पीछे हटने में जाति की आंतरिक उन्नति का कम-से-कम कुछ समय के लिये तो बलिदान करना ही पड़ेगा जिससे विशाल बाह्य एकता के विकास और उसकी स्थापना के लिये पूरा प्रयत्न किया जा सके।

पूर्वराष्ट्रीय साम्राज्य-निर्माण का प्राचीन क्रम —

राष्ट्र-निर्माण का आधुनिक क्रम

हम देख चुके हैं कि सच्ची राष्ट्रीय इकाई का निर्माण मानव-समुदाय की एक ऐसी समस्या थी जिसे प्राचीन युग ने मध्ययुग के लिये छोड़ दिया था। प्राचीन युग ने उपजाति, नगर-राज्य, वंश और छोटे प्रादेशिक राज्य से आरंभ किया था—ये सब गौण इकाइयां थीं तथा अपने जैसी उन दूसरी इकाइयों के बीच में रहती थीं जो सामान्य रूप में इनसे मिलती-जुलती तो थीं ही पर साधारणतया भाषा में और अधिकतर या काफी हदतक जाति में भी उनके समान थीं; मानव-जाति के अन्य विभागों से वे कम-से-कम इस बात में अवश्य भिन्न थीं कि उनकी प्रवृत्ति एक-सी सभ्यता की ओर थी और उसी एक समाज में वे सब अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियों द्वारा, आपस में तथा अन्यो से अपनी भिन्नता में सुरक्षित थीं। इस प्रकार ग्रीस, इटली, गॉल, मिस्र, चीन, मीडो-पर्शिया, भारतवर्ष, अरब, इज़राइल आदि सभी इकाइयां एक ऐसे शिथिल सांस्कृतिक और भौगोलिक समुदाय से आरंभ हुई थीं जिसने उन्हें राष्ट्रीय इकाइयां बनने से पहले पृथक् और विशिष्ट सांस्कृतिक इकाइयां बना दिया था। इस शिथिल एकता में उपजाति, वंश या नगर अथवा प्रादेशिक राज्यों ने इस अनिश्चित समूह में विशिष्ट, बलशाली और ठोस एकता के ऐसे अनेकों आधार बना लिये थे जिन्होंने, वास्तव में, अपनी बृहत्तर सांस्कृतिक एकता को अत्यधिक प्रबल रूप में बाह्य जगत् से विषम तथा विपरीत अनुभव किया, परंतु साथ ही ये अपने निजी वैषम्यों, विभेदों और विरोधों को भी प्रायः बहुत अधिक समीपता और तीव्रता से अनुभव कर सकते थे। जहां स्थानीय विशिष्टता का यह भाव अधिक तीव्र था वहां राष्ट्रीय एकीकरण का प्रश्न आवश्यक रूप में कठिनतर हो गया और उसका हल जब कभी हुआ भी तो वह अधिकतर आभासमात्र ही रहा।

इस प्रश्न का हल ढूंढ़ निकालने के लिये कई राष्ट्रों ने यत्न किया था। मिस्र और जूडिया (Judea) के अंदर तो इस कार्य को ऐतिहासिक विकास के उस प्राचीन युग में भी सफलता प्राप्त हुई थी, परंतु जूडिया में निश्चित रूप से और मिस्र में संभावित रूप से इसका पूरा परिणाम तब निकला जब ये विदेशी जुए के कठोर अनुशासन के अधीन हो गये। जहां यह अनुशासन नहीं था, जहां राष्ट्र की एकता किसी प्रकार अंदर से ही—साधारणतया किसी एक बलवान् कुल, नगर, प्रादेशिक इकाई, उदाहरणार्थ, मैसेडोनिया और पर्शिया के पहाड़ी कुलों की शेष सबके ऊपर विजय के द्वारा—प्राप्त

होती थी, वहां नवीन राज्य अपनी उपलब्धि के आधार को दृढ़ करने तथा राष्ट्रीय एकता की नींव गहरी और पक्की करने के लिये प्रतीक्षा करने के स्थान पर एकदम अपनी तात्कालिक आवश्यकता से ध्यान हटाकर नयी विजय के लिये निकल पड़ता था। इससे पहले कि राष्ट्रीय एकता की मनोवैज्ञानिक जड़ें खूब गहरी चली जातीं और राष्ट्र स्थिर रूप से सचेतन हो जाता तथा अपने एकत्व को दृढ़तापूर्वक प्राप्त करके उसके साथ अपना अजेय संबंध स्थापित कर लेता, शासक राज्य ने सैनिक प्रेरणा से चालित होकर — जो उसे इतनी दूर ले आयी थी — एकदम ही उन्हीं साधनों द्वारा एक बृहत्तर साम्राज्य-समुदाय बनाने के लिये प्रयत्न आरंभ कर दिया। असीरिया, मैसेडोनिया, रोम, पर्शिया और बाद में अरब ने भी इसी प्रवृत्ति और इसी क्रम का अनुसरण किया। गैलिक जाति के द्वारा यूरोप और पश्चिमीय एशिया पर किये गये प्रबल आक्रमण और उसके बाद की गॉल की फूट और उसके पतन के मूल में भी शायद यही तथ्य था। ये अवस्थाएं मैसेडोनियन एकीकरण से भी अधिक अपरिपक्व और बेढंगे एकीकरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई थीं। सुगठित राष्ट्रीय एकताओं की आधारशिला बनने से पहले ही इन सब राष्ट्रों ने साम्राज्य-निर्माण के महान् आंदोलन शुरू कर दिये थे।

अतएव, ये साम्राज्य टिक नहीं सके। कुछ दूसरों से अधिक टिके भी, पर उसका कारण यह था कि उन्होंने केंद्रीय राष्ट्र-एकता में अपनी नींवें अधिक दृढ़ जमा ली थीं; इटली में रोम ने ऐसा ही किया था। ग्रीस में एकता के प्रथम प्रवर्तक फिलिप ने थोड़े समय में ही एकीकरण का एक अपूर्ण-सा ढांचा खड़ा कर लिया था और स्पार्टा के पूर्ववर्ती और शिथिल आधिपत्य के कारण ही यह कार्य शीघ्रतापूर्वक हो सका था; यदि उसके उत्तराधिकारियों में विस्तृत कल्पना और उच्च कोटि की बुद्धि के स्थान पर धीरतापूर्ण योग्यता होती तो यह प्रारंभिक, स्थूल और क्रियात्मक रूपरेखा भरी जा सकती थी; ऐसी एकता को फिर दृढ़ और स्थायी भी बनाया जा सकता था। जो व्यक्ति सर्वप्रथम किसी वस्तु की बड़े परिमाण में और शीघ्रतापूर्वक स्थापना करता है उसके उत्तराधिकारी में सदा ही साम्राज्य-विस्तार की प्रेरणा की अपेक्षा संगठन करने की योग्यता या प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति का होना अधिक आवश्यक है। सीजर के बाद अगस्टस आया जिसके फलस्वरूप साम्राज्य अधिक देर तक टिका। उधर फिलिप का उत्तराधिकारी बना सिकन्दर; अपने परिणामों की दृष्टि से यह घटना संसार के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण होते हुए भी अपने-आपमें एक क्षणिक झलक के अतिरिक्त कुछ नहीं थी। रोम को सतर्क प्रकृति ने तबतक कोई असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति नहीं दिया जबतक उसने इटली को एकता के दृढ़ सूत्र में बांध नहीं लिया और अपने साम्राज्य की नींव नहीं रख ली; इसीलिये वह उसका दृढ़तापूर्वक निर्माण करने में सफल हुआ था। यह सब होते हुए भी उसने उस साम्राज्य की स्थापना महान् राष्ट्र के केन्द्र और शीर्षस्थान के रूप में नहीं, बल्कि एक प्रधान नगर के रूप में की और

अधीनस्थ इटली का उसने एक ऐसे आधार के रूप में प्रयोग किया जिस पर से वह चारों ओर के जगत् पर आक्रमण तथा अधिकार कर सके। इससे पहले कि वह कुछ अपेक्षाकृत छोटे और सरल परिमाण में पूर्ण और निरपेक्ष एकीकरण की कला प्राप्त करता और उसे नयी समस्या पर लागू करना सीखता और प्राचीन इटली के गालिक, लैटिन, उम्ब्रियन (Umbrian), ऑस्कन (Oscan) और ग्रेको आपुलियन (Graeco Apulian) अंगों द्वारा प्रस्तुत विभिन्नता और समानता के तत्त्वों को एक ऐसे सजीव राष्ट्रीय संगठन में मिला देता जो रोमन नहीं, बल्कि इटैलियन था, उसे आत्मसात्करण की अर्थात् अस्पष्ट राष्ट्रों की तथा अपनी संस्कृति से भिन्न विकसित या अविकसित संस्कृतियों की कहीं अधिक कठिन समस्या का सामना करना पड़ता। इसलिये, यद्यपि उसका साम्राज्य कई शताब्दियों तक टिक तो गया, पर यह अस्थायी प्राप्ति उसे काफी बल, उत्साह और आंतरिक शक्ति का व्यय करने के बाद हुई थी; वह न तो राष्ट्र-इकाई का और न स्थायी साम्राज्य-एकता का ही निर्माण कर सका, इसलिये अन्य पुराने साम्राज्यों की भांति उसे भी नष्ट होकर अपना स्थान सच्चे राष्ट्र-निर्माण के एक नये युग को सौंप देना पड़ा।

यहां यह बतला देना आवश्यक है कि भूल किस स्थान पर थी। मानवजाति का अपेक्षाकृत छोटे या बड़े समुदायों में प्रशासनीय, राजनीतिक और आर्थिक संगठन एक ऐसा कार्य है जो अपने मूल रूप में उसी श्रेणी का है जिस श्रेणी का भौतिक प्रकृति में प्राणिक जीवों का निर्माण है। इसका अर्थ है कि प्रकृति मुख्यतया ऐसे बाह्य और स्थूल साधनों का प्रयोग करती है जो भौतिक जीवन-शक्ति के सिद्धांतों से नियंत्रित होते हैं; इस जीवन-शक्ति का आशय होता है सजीव रूपों की रचना करना यद्यपि इसका भीतरी आशय एक ऐसे अति-भौतिक, मनोवैज्ञानिक सिद्धांत को प्रकाश में लाना, उसे अभिव्यक्त करना तथा सुरक्षित रूप में उसे कार्यान्वित करना होता है जो प्राण और शरीर के समस्त व्यापारों के पीछे गुप्त रूप में विद्यमान है। एक विशिष्ट, शक्तिशाली, सुकेन्द्रित, सुविस्तृत तथा सुघटित अहंभाव के लिये दृढ़ और स्थायी शरीर और प्राणिक व्यापार का सृजन करना ही उसका संपूर्ण उद्देश्य और उसकी प्रणाली है। जैसा कि हम देख चुके हैं, इस प्रक्रिया के होते समय पहले बृहत्तर और शिथिल एकता में कुछ छोटी और सुस्पष्ट इकाइयां बनती हैं; इनका अस्तित्व दृढ़ और मनोवैज्ञानिक, शरीर समुन्नत तथा सक्रिय क्रिया-कलाप होता है, किंतु बृहत्तर समुदाय में मनोवैज्ञानिक भाव और प्राणिक शक्ति विद्यमान तो हैं, पर संगठित नहीं हैं और न ही उनमें निश्चित कार्यशक्ति होती है; उसका शरीर एक तरल द्रव्य, अर्ध-अस्पष्ट अथवा अधिक-से-अधिक अर्ध-तरल और अर्ध-ठोस पिंड होता है, वह शरीर नहीं, बल्कि शरीर-तत्त्व होता है। इसे अब निर्मित तथा संगठित करना होगा, एक दृढ़ भौतिक आकार, सुनिश्चित प्राणिक क्रिया-कलाप और स्पष्ट मनोवैज्ञानिक तथ्य, आत्म-चैतन्य और मानसिक जीवन-संकल्प देना होगा।

इस प्रकार एक नयी बृहत् एकता का निर्माण हो जाता है; यह अब अपने-आपको फिर उन अनेक अपने जैसी एकताओं के बीच में पाती है जिन्हें पहले तो यह अपना विरोधी तथा अपने से बिल्कुल भिन्न समझती है, पर बाद में उन्हींके साथ, विभेद रखते हुए भी, एक प्रकार का संबंध स्थापित कर लेती है; इसके बाद बृहत्तर और शिथिल एकता में अपेक्षाकृत छोटी विशिष्ट इकाइयों के निर्माण की पुरानी क्रिया फिर दुहरायी जाती है। उसके अंदर की इकाइयां पहले से अधिक बड़ी तथा जटिल हो जाती हैं, इन्हें धारण करनेवाली एकता भी पहले से अधिक विशाल तथा जटिल हो जाती है, पर मूल अवस्था वही रहती है और वैसी ही समस्या फिर से सामने आती है और उसे सुलझाना पड़ता है। प्रारंभ में हमारे सामने नगर-राज्यों और प्रादेशिक जन-समुदायों का तथ्य था, ये इटली या हेलस (Hellas) की शिथिल भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता के पृथक्-पृथक् अंगों के रूप में साथ-साथ रहते थे, और अब तो हेलनिक (Hellenic) या इटैलियन राष्ट्र का निर्माण करने की समस्या भी उपस्थित हो गयी थी। बाद में इसके स्थान पर ऐसी राष्ट्र-इकाइयों का तथ्य सामने आ गया जो या तो निर्मित हो चुकी हैं या जिनका निर्माण अभी हो रहा है; ये पहले ईसाई-राज्य और बाद में यूरोप की शिथिल भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता के स्वतंत्र अंगों के रूप में साथ-साथ रहती थीं; इसके साथ ही इस ईसाई-राज्य के या इस यूरोप के ऐक्य की समस्या भी पैदा हो गयी; इस ऐक्य के विषय में यद्यपि राजनीतिज्ञों या राजनीतिक विचारकों ने अनेक बार व्यक्तिगत रूप में विचार किया था, पर यह कभी भी प्राप्त नहीं हुआ और न ही इसके लिये कोई प्रारंभिक उपाय किये गये। इससे पहले कि इसकी कठिनाइयां हल हो सकतीं, आधुनिक प्रयास और उसकी एकीकरण की शक्तियों ने हमारे सामने राष्ट्र-इकाइयों और साम्राज्य-इकाइयों का एक नया और अधिक जटिल तथ्य उपस्थित कर दिया है। ये इकाइयां जीवन की शिथिल, पर उत्तरोत्तर बढ़ती हुई परस्पर-आश्रितता तथा मनुष्यजाति के व्यापारिक घनिष्ठ संबंध में छिपी हुई थीं; इससे संबंधित मानवजाति के एकीकरण की समस्या ने यूरोप के एकीकरण के अपूर्ण स्वप्न को आच्छादित कर रखा है।

भौतिक प्रकृति में प्राणिक जीव केवल अपने भरोसे नहीं रह सकते; वे या तो दूसरे प्राणिक जीवों के साथ आदान-प्रदान से या फिर अंशतः इस प्रकार के आदान-प्रदान और अंशतः दूसरों का भक्षण करके जीते हैं; क्योंकि आत्मसात्करण की ये प्रक्रियाएं इनमें से प्रत्येक के भौतिक जीवन में समान रूप से पायी जाती हैं। इसके विपरीत, जीवन के एकीकरण में एक ऐसा आत्मसात्करण भी संभव है जो एक-दूसरे को निगल लेने की या सदा ही पृथक् अस्तित्व रखने की प्रक्रिया को पार कर जाता है। इस प्रक्रिया में आत्मसात्करण का अर्थ केवल इतना रह जाता है कि जिन शक्तियों को एक जीवन दूसरे पर प्रक्षिप्त करता है उन्हें वे दोनों परस्पर ग्रहण कर लेते हैं। इसके स्थान पर ऐसी इकाइयों का साहचर्य भी हो सकता है जो सचेतन रूप में अपने-

आपको उस सामान्य एकता के अधीन कर देती हैं जो उनके एकत्र होने की प्रक्रिया में विकसित हो गयी है। इनमें से कुछ इकाइयाँ, वास्तव में नष्ट हो जाती हैं और नये तत्त्वों के उपादान के रूप में काम आती हैं, किंतु सबके साथ ऐसा नहीं होता; सभी का किसी एक प्रबल इकाई द्वारा भक्षण नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस अवस्था में न तो एकीकरण रहता है और न ही किसी बृहत्तर एकता का निर्माण या कोई अविच्छिन्न और विशालतर जीवन ही रहता है; रहता है केवल भक्षक का अस्थायी जीवन जो भक्षित की शक्ति के पाचन और उपयोग पर अवलंबित होता है। मानव-समुदायों के एकीकरण में तब यह समस्या उपस्थित हो जाती है कि उनका निर्माण करनेवाली इकाइयाँ बिना नष्ट या विलीन हुए कैसे एक नयी एकता के अधीन हो जायेंगी।

विजय द्वारा प्राप्त की गयी प्राचीन साम्राज्यरूपी एकताओं की दुर्बलता यह थी कि जिन अपेक्षाकृत छोटी इकाइयों को वे आत्मसात् कर लेती थीं उन्हें वे नष्ट कर देने तथा प्रधान संगठन के जीवन के लिये पोषक तत्व के रूप में बदल देने में प्रवृत्त हो जाती थीं, जैसा कि रोम-साम्राज्य ने किया था। गॉल, स्पेन, अफ्रीका, मिस्र इसी प्रकार समाप्त हुए थे; वे मृतवत् हो गये थे और उनकी सारी शक्ति केन्द्र अर्थात् रोम में खिंच गयी थीं; इस प्रकार साम्राज्य एक ऐसा बृहत् मरणोन्मुख संघात बन गया जिस पर रोम का जीवन कई शताब्दियों तक पलता रहा। ऐसी प्रणाली में अधीनस्थ प्रदेशों की जीवन-समाप्ति का एक परिणाम यह होगा कि उस प्रबल और लोलुप केन्द्र के पास शक्ति के नवीन संचय का कोई और साधन नहीं रह जायेगा। शुरू-शुरू में तो विजित प्रदेशों की सर्वोत्तम बौद्धिक शक्ति का प्रवाह रोम की ओर बढ़ा और उनके सजीव उत्साह ने उसे अत्यधिक सैनिक शक्ति तथा शासन-योग्यता प्रदान की, किंतु अंत में दोनों ही नहीं रहीं; पहले रोम की बौद्धिक शक्ति का नाश हुआ और फिर उस सामान्य विनाश में उसकी सैनिक और राजनीतिक योग्यता भी बह गयी। यदि रोम ने पूर्व से नये विचार और आदर्श ग्रहण न किये होते तो उसकी सभ्यता इतने समय के लिये भी जीवित न रहती। फिर भी इस आदान-प्रदान में न वह सजीवता थी और न ही वह अविरत प्रवाह था जो आधुनिक जगत् में जीवन के विचार और आदर्शों की नित्य नयी लहरों का उतार-चढ़ाव दर्शाता है; यह वास्तव में, साम्राज्यीय संगठन की मंद शक्ति को न तो सचमुच पुनर्जीवन प्रदान कर सकता था और न ही उसके नाश होने की क्रिया को बहुत अधिक देर तक रोक सकता था। जब रोम का नियंत्रण ढीला पड़ गया तो जिस जगत् को उसने इतनी दृढ़ता से जकड़ा हुआ था वह बहुत दिनों तक एक ऐसा विशाल, शिष्ट, सुसंगठित और जीवन-में-मृत्यु समान साम्राज्य बना रहा जो नये संगठन या पुनरुत्थान के योग्य नहीं रह गया था। वहां जीवन का संचार केवल जर्मनी के मैदानों, डैन्यूब पार के रूखे-सूखे प्रदेशों तथा अरब के मरुस्थलों की असभ्य पर उत्साही जातियों के आक्रमण द्वारा ही हो सकता है। किसी भी अधिक स्वस्थ निर्माण की क्रिया के लिये विघटन का पहले आना आवश्यक था।

राष्ट्र-निर्माण के मध्ययुग में हम देखते हैं कि प्रकृति इस प्रारंभिक भूल को सुधार रही थी। सत्य तो यह है कि जब हम प्रकृति की भूलों का वर्णन करते हैं तो हम अपने मानव मनोविज्ञान और अनुभव से उधार लिये हुए रूपक का अशुद्ध रूप में प्रयोग करते हैं, क्योंकि प्रकृति में भूलें नहीं होतीं, यह तो केवल उसकी गति का ढंग होता है जिसमें वह जान-बूझकर एक पूर्वनिश्चित स्वर-लहरी के अनुसार आगे-पीछे डग रखती है। अपने क्रमिक विकास की क्रिया-प्रतिक्रिया में उसके एक-एक डग का अर्थ होता है, उसका अपना स्थान होता है। रोम की एकरूपता का दमनकारी प्रभुत्व एक युक्ति थी, इसका प्रयोग पुरानी अपेक्षाकृत छोटी इकाइयों को स्थायी रूप में विनष्ट करने के लिये नहीं, वरन् उनकी अत्यधिक विभेदात्मक जीवन-शक्ति को निरुत्साहित करने के लिये किया गया था जिससे वे पुनर्जीवित होने पर सच्ची राष्ट्रीय एकता के विकास-मार्ग में कोई अजेय बाधा न उपस्थित कर सकें। शुद्ध राष्ट्र-एकता यदि इस क्रूर अनुशासन में से न गुजरे तो उसे क्या हानि उठानी पड़ सकती है इसका भारतवर्ष के उदाहरण से पता चल जाता है जहां विशाल, शक्तिशाली और सुसंगठित मौर्य, गुप्त, आंध्र और मुगल साम्राज्य ग्राम-समुदायों से लेकर प्रादेशिक या विभिन्न भाषाओं के क्षेत्रों तक की अधीनस्थ एकताओं के अत्यधिक स्वाधीन जीवन को चकनाचूर कर देने में कभी सफल नहीं हो पाये; हम यहां इस एकता से उत्पन्न होनेवाले यथार्थ विनाश के उस खतरे को—जैसा कि असीरियन और काल्डियन (Chaldean) लोगों पर आया था—और आध्यात्मिक तथा अन्य लाभों को, जो इससे बचकर रहने से प्राप्त हो सकते हैं, छोड़ देते हैं। इसे आवश्यकता थी एक ऐसे शासन के दबाव की जो न तो अपने मूल रूप में देशीय हो और न स्थानीय रूप में केंद्रित हो, एक ऐसे विदेशी राष्ट्र के आधिपत्य की जो संस्कृति में उससे बिल्कुल भिन्न हो तथा भारतवर्ष के सांस्कृतिक वातावरण की संवेदनाओं और आकर्षणों के विरुद्ध नैतिक रूप में सुरक्षित हो; इस दबाव से वह इस कार्य को एक शताब्दी में कर सकता था जिसे दो सहस्र वर्षों का अधिक शिथिल साम्राज्यवाद भी नहीं कर पाया था। इस प्रकार की प्रक्रिया का तात्पर्य निश्चित ही एक क्रूर और अधिकतर संकटपूर्ण दबाव और पुरानी संस्थाओं का विनाश होता है; क्योंकि प्रकृति जो युग-युगव्यापी बाधा की आग्रहपूर्ण जड़ता से ऊब चुकी होती है इस बात की ओर अधिक ध्यान देती नहीं प्रतीत होती कि कितनी सुंदर और मूल्यवान् वस्तुएं नष्ट हो रही हैं—उसका तो प्रधान उद्देश्य पूरा होना चाहिये। पर एक बात निश्चित है कि यदि विनाश किया जाता है तो वह केवल इसलिये कि उस उद्देश्यपूर्ति के लिये वह अनिवार्य था।

रोम के दबाव के हटने के बाद यूरोप में नगर-राज्य और प्रादेशिक राष्ट्र एक नये निर्माण के तत्त्वों के रूप में पुनःजीवित हो उठे। किंतु एक देश को छोड़कर, और आश्चर्य की बात है कि स्वयं इटली में, नगर-राज्य ने राष्ट्रीय एकत्व लाने की प्रक्रिया में कोई सच्ची बाधा नहीं उत्पन्न की। इटली में इसके शक्तिशाली पुनर्जीवन का कारण दो

परिस्थितियाँ हो सकती हैं। पहली यह है कि इटली के प्राचीन स्वतंत्र नागरिक जीवन को उसकी समस्त शक्यताओं के चरितार्थ होने से पहले ही असमय में रोम ने दबा दिया था। दूसरी, स्वयं रोम के लंबे नागरिक जीवन और इटली की नगरपालिका में पृथक् जीवन की भावना के आग्रह द्वारा यह बीजरूप में जीवित रहा। यह पृथक् जीवन दबा अवश्य दिया गया था, किंतु इसका अस्तित्व पूर्णतया मिटाया नहीं जा सका था। गॉल और स्पेन का पृथक् गणराष्ट्र और ग्रीस का पृथक् नागरिक जीवन इसके उदाहरण हैं। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक रूप में इटली का नगर-राज्य न तो संतुष्ट और तृप्त भाव में नष्ट ही हुआ और न ही इतना छिन्न-भिन्न हो गया कि पुनः जीवित न किया जा सके। अतः वह नये रूपों में पुनर्जीवित हो उठा। यह पुनर्जीवन संसार की संस्कृति और सभ्यता के लिये अमित लाभ और वरदान के रूप में होते हुए भी स्वयं इटली के राष्ट्रजीवन के लिये संकटपूर्ण था; क्योंकि जैसे ग्रीस के नगर-जीवन ने ग्रेको-रोमन जगत् की कला तथा उसके साहित्य, विचार और विज्ञान को जन्म दिया था उसी प्रकार इटली के नगर-जीवन ने ये सब चीजें पुनः प्राप्त कीं, इन्हें पुनर्जीवन दिया तथा एक नये रूप में इन्हें हमारे आधुनिक युग के सामने उपस्थित किया। अन्य स्थानों पर तो नगर-इकाई मध्ययुग के फ्रांस, फ्लैंडर्स और जर्मनी की स्वतंत्र और अर्ध-स्वतंत्र नगर-पालिकाओं के रूप में ही पुनः प्रकट हुई; ये नगरपालिकाएँ एकीकरण में किसी समय भी बाधक नहीं हुई, उल्टे इन्होंने उसके लिये एक अवचेतन आधार बनाने और साथ ही साथ विचार और कला की समृद्ध प्रेरणाओं और स्वतंत्र गति के द्वारा मध्ययुग की बौद्धिक एकरूपता, अवरुद्धता तथा अस्पष्टता की प्रवृत्ति को रोकने में सहायता पहुंचायी।

आयरलैंड एवं उत्तरी और पश्चिमी स्कॉटलैंड जैसे देशों को छोड़कर, जो रोम के दबाव में नहीं आये थे, प्राचीन गण-राष्ट्र सब जगह नष्ट हो गया। यहां भी यह एकीकरण के लिये उतना ही घातक था जितना कि इटली में नगर-राज्य था, इसने आयरलैंड को एक संगठित एकता का निर्माण करने से तथा पर्वतीय कैल्ट्स को एंग्लो-कैल्टिक स्कॉच (Scotch) राष्ट्र में मिलने से तबतक रोके रखा जबतक कि इंग्लैंड का जुआ उनके ऊपर ही नहीं रख दिया गया और उसने वही काम नहीं किया जो रोम का शासन करता यदि उसका विस्तार ग्रैंपियन पर्वतशृंखला और आयरलैंड के समुद्रों द्वारा रुक न जाता। शेष पश्चिमी यूरोप में रोमन शासन द्वारा किया हुआ कार्य इतना ठोस था कि पश्चिमी देशों पर जर्मनी के उपजातीय राष्ट्रों का आधिपत्य भी पुराने, अत्यंत विशिष्ट और अत्यधिक पृथक् गण-राष्ट्र को पुनः जीवित करने में असफल रहा। इसके स्थान पर उसने जर्मनी में प्रादेशिक राज्यों तथा फ्रांस और स्पेन में सामंतिक और प्रांतीय विभागों का निर्माण कर दिया, परंतु केवल जर्मनी में ही, जो आयरलैंड और स्कॉच पर्वतीय प्रदेशों की भांति रोम के जुए के नीचे नहीं आया था, यह प्रादेशिक जीवन एकीकरण के लिये गंभीर रूप में बाधक सिद्ध हुआ। फ्रांस में

कुछ समय के लिये ऐसा प्रतीत तो अवश्य हुआ कि यह उसे रोक रहा है पर वास्तव में इसने केवल उतने समयतक ही बाधा उपस्थित की जितने समयतक उसने स्वयं फ्रांस की अंतिम एकता में समृद्धि और विभिन्नता के एक तत्त्व के रूप में अपनी प्रतिष्ठा ही न बना ली। इस एकता की अभूतपूर्व पूर्णता उस लंबी प्रक्रिया में छुपी हुई गुप्त प्रतिभा का चिह्न है जिसे हम फ्रांस के इतिहास में शुरू से देखते आये हैं, यद्यपि स्थूल दृष्टि को यह अत्यंत दुःखपूर्ण तथा विक्षिप्त प्रतीत होता है तथा चिरकालतक सामंतिक या राजतंत्रीय स्वेच्छाचारिता एवं अराजकता का बारी-बारी से शिकार रहा है; उधर इसका विकास भी इंग्लैंड के राष्ट्रीय जीवन के क्रमिक, स्थिर तथा कहीं अधिक सुव्यवस्थित विकास से भिन्न ढंग का दिखायी देता है। परंतु इंग्लैंड में अंतिम संगठन की अनिवार्य विविधता और समृद्धि नये राष्ट्र का निर्माण करनेवाली जातियों के अत्यधिक विभेद तथा वेल्स, आयर्लैंड और स्कॉटलैंड के पृथक् सांस्कृतिक इकाइयों के रूप में बने रहने के कारण प्राप्त हुई थी, साथ ही इस बृहत्तर एकता के अंदर ये प्रदेश आत्मसचेतन भी रहे।

अतः राष्ट्र-निर्माण का यूरोपीय क्रम उस प्राचीन क्रम से, जो प्रादेशिक और नगर-राज्य से साम्राज्य में विकसित हुआ था, दो बातों में भिन्न है। पहली यह कि आवश्यक मध्यवर्ती समुदाय की उपेक्षा करके वह एक बृहत्तर एकीकरण की ओर नहीं बढ़ा जिसके फलस्वरूप वह अपनेतक ही सीमित रहा। दूसरे, वह उन तीन आनुक्रमिक अवस्थाओं में से गुजरते हुए शनैः-शनैः परिपक्वता को प्राप्त हुआ जिनके द्वारा एकता उपलब्ध भी हुई और निर्मायक अंग भी नष्ट नहीं हुए और न ही वे एकीकरण के साधनों द्वारा समय से पहले या अनुचित रूप में दबा ही दिये गये। पहली अवस्था केंद्रोन्मुखी और केंद्रविरोधी प्रवृत्तियों के उस लंबे संतुलन में से होती हुई आगे बढ़ी जिसमें सामंतिक प्रणाली ने व्यवस्था और शिथिल किंतु अंतर्जात एकता के सिद्धांत का प्रयोग किया था। दूसरी अवस्था एकीकरण और बढ़ती हुई एकरूपता की एक ऐसी चेष्टा थी जिसमें रोम की प्राचीन साम्राज्यीय प्रणाली के कुछ विशेष पहलू दुहराये तो गये थे, पर इस दुहराने में विनाशक शक्ति और क्षयकारी प्रवृत्ति अपेक्षाकृत कम थी। राजधानीरूपी केंद्र की उत्पत्ति इस अवस्था की पहली विशेषता थी। यह केंद्र रोम की भांति ही अन्य सब स्थानों की सर्वोच्च जीवन-शक्तियां अपनी ओर खींचने लगा। इस अवस्था की दूसरी विशेषता एक ऐसी पूर्ण और सर्वोच्च सत्ता की वृद्धि थी जिसका कार्य राष्ट्रीय जीवन पर वैधानिक, प्रशासनीय, राजनीतिक और भाषासंबंधी एक-रूपता और केंद्रीयता लादना था। शासन करनेवाले आध्यात्मिक नेता की नियुक्ति या एक ऐसे ही संगठन की स्थापना इसकी तीसरी विशेषता थी। इसका कार्य भी धार्मिक विचार और बौद्धिक शिक्षा तथा मंतव्य की वैसी ही एकरूपता को लादना था। एकता लानेवाले इस दबाव का यदि बहुत अधिक प्रयोग किया जाता तो यह रोम के दबाव की भांति ही बुरी तरह से समाप्त हो सकता था, पर इस बीच

विद्रोह और प्रक्षेपण की तीसरी अवस्था आ गयी; इसने सामंतवाद, राजतंत्र, चर्च-शासन आदि साधनों को—ज्यों ही उनका काम समाप्त हो गया—भंग कर दिया या फिर उन्हें अधीन कर लिया और उनके स्थान पर एक ऐसा नया आंदोलन चला दिया जिसका झुकाव एक दृढ़ और सुव्यवस्थित राजनीतिक, वैधानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता और समानता के सार की ओर था। इसकी प्रवृत्ति, जैसे पुराने नगर में वैसे ही आधुनिक राष्ट्र में, इसीलिये प्रयत्नशील रही है कि सभी वर्ग और व्यक्ति मुक्त राष्ट्रीय अस्तित्व की स्वतंत्र शक्ति से लाभ उठायें तथा उसमें भाग लें।

राष्ट्रीय जीवन की तीसरी अवस्था दूसरी अवस्था द्वारा उत्पन्न किये गये एकता और पर्याप्त एकरूपता के लाभों का उपभोग करती है तथा एक ऐसे प्रादेशिक और नागरिक जीवन की संभावनाओं का नये सिरे से सुरक्षित रूप में उपयोग कर सकती है जो पहली अवस्था द्वारा पूरी तरह से नष्ट होने से बच गया था। राष्ट्रीय विकास के इन क्रमों से आधुनिक समय के लिये संघबद्ध राष्ट्र या एक संघीय साम्राज्य के विचार को कल्पना में लाना—यदि और जहां यह अभीष्ट या अपेक्षित हो—अधिकाधिक संभव हो गया है; ऐसा राष्ट्र या साम्राज्य एक मूलभूत और सुचरितार्थ मनोवैज्ञानिक एकता पर सुरक्षित रूप में आधारित होना चाहिये। जर्मनी और अमरीका में यह वस्तुतः एक सरल रूप में पहले ही प्राप्त हो चुका था। यदि चाहें तो हम ऐसी अधीनस्थ सरकारों, ऐसे जिलों और प्रांतिक नगरों के निर्माण के द्वारा आंशिक विकेन्द्रीकरण की ओर निःशंक बढ़ सकते हैं जो सर्वश्रेष्ठ शक्तियों के राजधानी द्वारा पूर्णतया ग्रसे जाने के रोग को दूर करने तथा उन्हें अनेक केन्द्रों एवं चक्रों में से सुगमता और स्वतंत्रतापूर्वक प्रवाहित होने में सहायता पहुंचा सकते हैं। साथ ही हम राज्य के एक ऐसे संगठित उपयोग की कल्पना करते हैं जो समस्त सचेतन, सक्रिय और सजीव राष्ट्र का विवेकपूर्वक प्रतिनिधित्व करे तथा इस प्रकार व्यक्ति और समाज के जीवन में पूर्णता लाने का साधन बन जाये। यही वह अवस्था है जहांतक राष्ट्र-समुदाय का विकास अबतक हो चुका है; और इस समय, भविष्य की प्रवृत्तियों के अनुसार, साम्राज्यीय समुदाय की अधिक व्यापक समस्या या उससे भी अधिक विशाल कुछ ऐसी समस्याएं हमारे सामने हैं जो मानवजाति की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सांस्कृतिक एकता और व्यापारिक तथा राजनीतिक अन्योन्याश्रितता से उत्पन्न हुई हैं।

राष्ट्र-इकाई का निर्माण—तीन अवस्थाएं

राष्ट्र के मध्ययुगीय और वर्तमान विकास को दर्शानेवाली तीन क्रमिक अवस्थाएं एक ऐसी स्वाभाविक प्रक्रिया मानी जा सकती हैं जिसमें जटिल स्थितियों और विषमजातीय उपादानों से आंतरिक क्रिया द्वारा नहीं बल्कि बाह्य क्रिया द्वारा एकता के एक नये रूप का निर्माण करना पड़ेगा। बाह्य साधन सदा ही मनुष्यों की मनोवैज्ञानिक दशा को परिवर्तित रूपों और अभ्यासों में ढालने का प्रयत्न करता है; ऐसा वह एक नयी मनोवैज्ञानिक स्थिति की प्रत्यक्ष रचना द्वारा नहीं वरन् परिस्थितियों और संस्थाओं के दबाव में आकर करता है जब कि यह मनोवैज्ञानिक स्थिति अपने उपयुक्त और लाभदायक सामाजिक रूप स्वतंत्रता और विविधतापूर्वक अपने-आप विकसित कर लेती है। ऐसी प्रक्रिया में सर्वप्रथम तो वस्तुओं के स्वभाव के अनुसार समाज का एक ऐसा शिथिल पर काफी प्रबल विधान और सभ्यता का एक सर्वसामान्य आदर्श होना चाहिये जो एक नयी इमारत खड़ी करने के लिये एक ढांचे का काम दे सके। इसके बाद स्वाभाविक रूप से एक ऐसे कठोर संगठन का समय आना चाहिये जिसका झुकाव एकता और केन्द्रीय नियंत्रण तथा संभवतः उस केन्द्रीय लक्ष्य के अधीन सबको समान स्तर पर लाने तथा एकरूप करने की ओर होगा। अंत में, यदि नये संगठन को जीवन को जड़ तथा रूढ़ ही नहीं बना देना है और इसे प्रकृति की एक सजीव और शक्तिशाली कृति ही बने रहना है तो ज्योंही निर्माण का कार्य सुनिश्चित हो जाये और एकता मन-प्राण का अभ्यास बन जाये, स्वतंत्र आंतरिक विकास का काल अवश्य आना चाहिये। ऐसी अपेक्षाकृत स्वतंत्र आंतरिक क्रिया में, जो समाज की निश्चित आवश्यकताओं, विचारों और उसकी सहज-प्रवृत्तियों द्वारा अपने सार और मूल में सुनिश्चित हो चुकी हों, संगठन के सुरक्षित विकास और निर्माण के अस्तव्यस्त या भंग होने अथवा रुक जाने का कोई भय नहीं रहेगा।

पहली शिथिलतर प्रणाली के रूप और सिद्धान्त को उन तत्त्वों के प्राचीन इतिहास और वर्तमान अवस्थाओं पर अवलंबित होना होगा जिन्हें इस नयी एकता में समाविष्ट होना है। पर यह ध्यान में रखने योग्य है कि यूरोप और एशिया दोनों में एक ऐसी सामान्य प्रवृत्ति थी जिसके विषय में, क्योंकि हम उसका संबंध विचारों के घनिष्ठ आदान-प्रदान से नहीं जोड़ सकते, हमें यह कहना पड़ेगा कि इसके मूल में भी वही स्वाभाविक कारण और प्रयोजन कार्य कर रहे थे। यह प्रवृत्ति एक ऐसे सामाजिक वर्ण-क्रम के विकास की थी जो चार विभिन्न सामाजिक कार्यों—आध्यात्मिक कार्य, राज्य-कार्य, व्यापारिक उत्पादन और विनिमय का दुहरा आर्थिक कार्य तथा पराश्रित श्रम या सेवा-कार्य—के अनुसार किये गये विभाजन पर आधारित था। भाव, रूप

और संतुलन जिन्हें कार्य रूप में परिणत किया गया था, समाज और उसकी परिस्थितियों की प्रवृत्ति के अनुसार संसार के विभिन्न भागों में बिल्कुल अलग-अलग थे, किन्तु मूल सिद्धांत प्रायः एक ही था। सर्वत्र यही प्रेरक शक्ति काम कर रही थी कि सामान्य सामाजिक जीवन को एक ऐसा बृहत् और शक्तिशाली रूप दिया जाये जिसमें इतनी दृढ़ता हो कि इसके द्वारा वैयक्तिक और छोटे सामुदायिक हित एक पर्याप्त धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक एकता और समानता के नियंत्रण में लाये जा सकें। हम यह देख सकते हैं कि इस्लामी सभ्यता—चाहे उसमें सहधर्मियों के लिये समानता और भ्रातृभाव का सिद्धांत प्रबल था तथा दासों के लिये एक ऐसी अनोखी प्रथा बन गयी थी जिसके अनुसार दास भी गद्दी का अधिकारी हो सकता था—समाज का ऐसा रूप कभी भी विकसित नहीं कर सकी। राजनीतिक और प्रगतिशील यूरोप के साथ निकट संपर्क रखते हुए भी, यहांतक कि खलीफों के साम्राज्य के नष्ट होने के बाद भी, वह शक्तिशाली, सजीव, सुसंगठित और चेतन राष्ट्र-इकाइयों को उन्नत करने में सफल नहीं हुई; यह कार्य तो केवल अब आधुनिक विचारों और अवस्थाओं के दबाव के कारण, हो रहा है।

परंतु जहां प्रारंभिक अवस्था सफलतापूर्वक प्राप्त कर भी ली गयी थी, वहां ये अगली अवस्थाएं प्रकट हुई ही हों, यह आवश्यक नहीं। यूरोप का सामंतिक युग अपने चार वर्गों—पादरी, राजा और सामंत, मध्यवर्ग तथा श्रमिक वर्ग—सहित भारतवर्ष के पुरोहित, सैनिक वर्ग, व्यवसायी और शूद्रों के चतुर्वर्ण से काफी मिलता-जुलता है। भारतीय प्रणाली ने अपनी विशिष्टता एक ऐसे विभिन्न विचार-क्रम से ग्रहण की थी जो राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विचार-क्रम से कहीं अधिक धार्मिक तथा नैतिक था; फिर भी क्रियात्मक रूप में इस प्रणाली का प्रधान कार्य सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र से संबंध रखता था, और पहली दृष्टि में ही इस बात का कोई कारण नहीं दिखायी देता कि यह, छोटी-मोटी बातों में विभिन्नता होते हुए भी, सामान्य विकास का अनुसरण क्यों न करे। अपनी विशाल सामंतिक पद्धति के साथ तथा मिकाडो (Mikado) के आध्यात्मिक और लौकिक नेतृत्व तथा बाद में मिकाडो और शोगुन (Shogun) के दुहरे प्रधानत्व में जापान ने एक ऐसी अत्यधिक शक्तिशाली और आत्मसचेतन राष्ट्र-इकाई विकसित कर ली थी जो संसार में पहले कभी देखने में नहीं आयी। चीन भी अपने श्रेष्ठ पंडितवर्ग की सहायता से जिसमें—ब्राह्मण और क्षत्रिय के आध्यात्मिक और लौकिक ज्ञान और शासन-प्रबंध के कार्य तथा राष्ट्रीय एकता के प्रधान और आदर्श व्यक्ति के रूप में चीन का सम्राट और देवपुत्र एक हो गये थे—संयुक्त राष्ट्र बनने में सफल हुआ था। भारतवर्ष में जो इसका विभिन्न परिणाम हुआ, उसका अन्य कारणों के साथ-साथ एक कारण यह भी था कि यहां सामाजिक व्यवस्था का विकास और ही ढंग से हुआ। अन्य स्थानों पर इस विकास ने लौकिक संगठन और नेतृत्व की दिशा ग्रहण की थी; स्वयं राष्ट्र में ही

इसने एक ऐसी स्पष्ट राजनीतिक आत्म-चेतना उत्पन्न कर दी जिसके परिणामस्वरूप पुरोहित वर्ग या तो सैनिक और प्रशासनीय वर्ग के अधीन हो गया अथवा उसने उनके साथ समानता प्राप्त कर ली; कहीं-कहीं तो वे दोनों एक सामान्य आध्यात्मिक और लौकिक नेता के अधीन एक हो गये। उधर मध्यकालीन भारतवर्ष में, इस विकास की प्रवृत्ति पुरोहित वर्ग की सामाजिक प्रबलता की ओर थी; वहां सामान्य राजनीतिक चेतना का स्थान एक ऐसी सामान्य आध्यात्मिक चेतना ने ले लिया था जो राष्ट्रीय भावना का आधार बन गयी। कोई ऐसा लौकिक केन्द्र स्थायी रूप में वहां विकसित नहीं हुआ और न ही कोई ऐसा महान् सम्राट् अथवा राजा ही हुआ जो अपनी प्रतिष्ठा, शक्ति, प्राचीन गौरव और इस अधिकार के बल पर कि सब लोग उसका सम्मान करें तथा उसकी आज्ञा का पालन करें, पुरोहित वर्ग की इस प्रतिष्ठा और प्रबलता का पराभव या उसकी बराबरी तथा राजनीतिक और साथ ही आध्यात्मिक और सांस्कृतिक एकता की भावना उत्पन्न कर सका हो।

चर्च और राजतंत्रीय राज्य का आपसी संघर्ष यूरोप के इतिहास का एक अत्यंत प्रधान और महत्वपूर्ण पहलू है। यदि इस झगड़े का परिणाम विपरीत होता तो मानवजाति का समस्त भविष्य अति संकटपूर्ण हो जाता। पर हुआ यह कि चर्च को स्वाधीनता और राज्य-सत्ता पर से अपना अधिकार छोड़ना पड़ा। जो राष्ट्र कैथोलिक बने रहे उनमें भी राज्य सत्ता की वास्तविक स्वाधीनता तथा प्रबलता का सफल रूप में समर्थन किया गया था, क्योंकि फ्रांस के राजा ने गैलिकन चर्च और पादरी-वर्ग को इस प्रकार से अपने वश में कर रखा था कि फ्रेंच राज्य-कार्यों में पोप का कोई वास्तविक हस्तक्षेप संभव ही नहीं रहा। स्पेन में पोप और राजा में घनिष्ठ मैत्री होते हुए भी तथा पोप की पूर्ण आध्यात्मिक सत्ता को सिद्धांत-रूप में स्वीकार किये जाने पर भी असल में सांसारिक प्रधान अर्थात् राजा ही धार्मिक नीति का निर्धारक और धर्म-अपराधियों के क्रूर दंड-विधान का अध्यक्ष होता था। इटली में रोम के कैथोलिक संप्रदाय के आध्यात्मिक प्रधान की स्थानीय उपस्थिति राजनीतिक रूप में संयुक्त राष्ट्र की उन्नति में एक विशाल नैतिक बाधा बन गयी; स्वाधीनताप्राप्त इटैलियन लोगों ने जोश में आकर रोम में राजतंत्र की स्थापना का जो निश्चय किया वह वास्तव में इस नियम का प्रतीक था कि एक सचेतन और राजनीतिक रूप में संगठित राष्ट्र की उसके अपने अंदर केवल एक ही सर्वोच्च और केंद्रीय सत्ता हो सकती है और वह लौकिक सत्ता होनी चाहिये। जो राष्ट्र इस अवस्थातक पहुंच गया है या पहुंच रहा है उसे, धर्म को वैयक्तिक रूप देकर, धार्मिक और आध्यात्मिक अधिकार को अपने सामान्य लौकिक और राजनीतिक जीवन से या तो अलग करना पड़ेगा या उसे सांसारिक प्रधान की एकलव्य सत्ता को बनाये रखने के लिये राज्य और चर्च की मैत्री के द्वाग दोनों को एक कर देना होगा, या फिर आध्यात्मिक और सांसारिक नेतृत्व को एक सत्ता में मिला देना पड़ेगा जैसा कि जापान और चीन में तथा सुधार-आंदोलन के समय

इंग्लैंड में किया गया था। भारतवर्ष में भी जिन लोगों ने सर्वप्रथम किसी प्रकार की राष्ट्रीय चेतना विकसित की थी—इसमें आध्यात्मिक तत्त्व विशेष नहीं था—वे राजपूत थे, विशेषकर मेवाड़ के, जिनके लिये सब प्रकार से राजा ही समाज और राष्ट्र का मुखिया होता था। राष्ट्रीय चेतना को प्राप्त करके जो लोग संगठित राजनीतिक एकता के सबसे अधिक निकट पहुंच गये थे वे सिख और मरहठे थे; सिखों के लिये गुरु गोविंद सिंह ने सोच-विचारकर ही खालसा में एक सामान्य लौकिक और आध्यात्मिक केंद्र की स्थापना की थी और मरहठों ने राष्ट्र के प्रतिनिधि-स्वरूप एक लौकिक नेतृत्व का समर्थन ही नहीं किया बल्कि अपने-आपको भी इस प्रकार से लौकिक बना लिया कि बिना किसी भेद-भाव के सारी जाति—ब्राह्मण, शूद्र सभी—कुछ समय के लिये स्वभावतः ही सिपाहियों, राजनीतिज्ञों तथा शासकों की एक प्रबल जाति बन गयी।

दूसरे शब्दों में, एक रूढ़ सामाजिक वर्गक्रम की संस्था को, ऐसा प्रतीत होते हुए भी कि यह राष्ट्रीय निर्माण की प्रारंभिक प्रवृत्तियों के लिये एक आवश्यक अवस्था रह चुकी है, अपने अंदर परिवर्तन लाने तथा अगली अवस्थाओं को स्थान देने के लिये अपने विघटन की तैयारी करने की आवश्यकता थी। जो यंत्र किसी विशेष कार्य या किन्हीं विशेष अवस्थाओं में उपयोगी होता है उसे यदि तब भी पकड़े रखा जाये जब कि कोई दूसरा कार्य करना हो या वे अवस्थाएं ही बदल जायें तो वह अवश्य ही बाधा बन जाता है। करने की बात अब यह थी कि एक वर्ग की आध्यात्मिक सत्ता तथा दूसरे की राजनीतिक सत्ता दोनों के स्थान पर विकसनशील राष्ट्र का सामान्य जीवन धार्मिक प्रधान की जगह लौकिक प्रधान के अधीन एक ही केंद्र में संगठित हो जाये अथवा यदि लोगों में धार्मिक प्रवृत्ति इतनी जोर पर हो कि आध्यात्मिक और सांसारिक विषयों को अलग न किया जा सके तो राष्ट्र के जीवन को एक ऐसे राष्ट्रीय प्रधान के अधीन संगठित किया जाये जो दोनों क्षेत्रों में सत्ता का मूल केंद्र बन सकता हो। राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने के लिये—जिसके बिना किसी भी पृथक् राष्ट्र-इकाई का सफल निर्माण नहीं हो सकता—यह विशेष रूप में आवश्यक हो गया था कि जो भाव, कार्य और साधन उसके निर्माण के लिये उपयोगी हैं वे कुछ समय के लिये आगे आ जायें और शेष सब पीछे रहकर उन्हें सहारा देते रहें। अपने कार्यक्षेत्र में ही सीमित रहनेवाला चर्च या पुरोहित-वर्ग किसी राष्ट्र की संगठित राजनीतिक एकता का निर्माण नहीं कर सकता; क्योंकि वह राजनीतिक और प्रशासनीय हितों द्वारा नहीं वरन् अन्य हितों द्वारा चालित होता है और उससे यह आशा भी नहीं की जा सकती कि वह अपनी विशिष्ट भावनाओं और हितों को उनके अधीन कर दे। ऐसा वह केवल तभी कर सकता है जब कि धार्मिक या पुरोहित-वर्ग ही—जैसा कि तिब्बत में है—देश का वास्तविक शासन करनेवाला राजनीतिक वर्ग ही न बन जाये। भारतवर्ष में उस वर्ग का प्रभुत्व, जो पुरोहितीय और धार्मिक या आंशिक रूप में आध्यात्मिक अभिरुचियों और हितों द्वारा चालित होता था—ऐसे वर्ग का जिसका

विचार और समाज पर आधिपत्य था तथा जो राष्ट्रीय जीवन के सिद्धांतों को निर्धारित तो करता था पर, वास्तव में, शासनप्रबंध नहीं करता था—सदैव ही उस विकास के लिये बाधक रहा है जिसका अनुसरण अधिक ऐहलौकिक भाववाली यूरोपीय और मंगोल जातियां करती थीं। अब, यूरोपीयन सभ्यता के आने के बाद, जब कि ब्राह्मणजाति ने राष्ट्रीय जीवन पर अपने एकांत अधिकार को अधिकांश रूप में खो ही नहीं दिया है बल्कि वह स्वयं ही अधिकतर सांसारिक हो गयी है, राजनीतिक और लौकिक हितों को प्रधानता मिल गयी है; एक व्यापक राजनीतिक चेतना जाग उठी है तथा राष्ट्र की संगठित एकता—आध्यात्मिक और सांस्कृतिक एकता से अलग—वस्तुतः संभव हो गयी है, यह अब अस्पष्ट और अवचेतन प्रवृत्तिमात्र नहीं है।

अतएव राष्ट्र-इकाई के विकास की दूसरी अवस्था सामाजिक ढांचे का ही परिवर्तित रूप रही है जिससे राजनीतिक और प्रशासनीय एकता के शक्तिशाली और प्रत्यक्ष केंद्र के लिये स्थान बनाया जा सके। इस अवस्था के साथ एक प्रबल प्रवृत्ति भी आवश्यक रूप में जुड़ी हुई है कि जो स्वाधीनताएं रूढ़ सामाजिक वर्गक्रम से प्राप्त होती हैं उन्हें भी नष्ट कर दिया जाये; और साधारणतया सत्ता एक ऐसी राजतंत्रीय सरकार के हाथों में सौंप दी जाये जो सदा स्वेच्छाचारी नहीं तो कम-से-कम प्रबल अवश्य हो। पर आधुनिक जनतंत्रीय विचारों के अनुसार राजा को लोग उसी अवस्था में सहन करते हैं जब कि वह राज्य-जीवन का अकार्यकारी एवं नाममात्र का प्रधान, सेवक अथवा शासन-कार्य का एक सुविधाजनक केंद्र हो; वास्तविक नियंत्रण रखने के लिये अब उसकी आवश्यकता नहीं रही है। परंतु इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि राष्ट्र-प्रतिरूप के विकास में—जैसा कि इसका विकास मध्ययुग में वस्तुतः हो चुका था—एक शक्तिशाली राजा का ऐतिहासिक महत्त्व रहा है। यहांतक कि स्वाधीनता-प्रेमी, द्वीपीय-भावयुक्त और व्यक्तिवादी इंग्लैंड में भी प्लैंटेजेनेट्स (Plantagenets) और ट्यूडर्स (Tudors) राजा ऐसे वास्तविक और सक्रिय केंद्र-बिंदु थे जिनके चारों ओर पनपकर राष्ट्र एक दृढ़ रूप तथा परिपक्व शक्ति को प्राप्त हुआ; उधर अन्य महाद्वीपीय देशों में कैपेट्स (Capets) और उनके उत्तराधिकारियों द्वारा फ्रांस में, स्पेन में कैस्टाइल (Castile) वंश द्वारा और रूस में रोमेनौफ्स (Romanoffs) और उनके पूर्वजों के द्वारा जो कार्य किया गया था वह तो और भी अधिक महत्वपूर्ण है। इनमें से अंतिम दृष्टांत के बारे में यह कहा जा सकता है कि ईवानों (Ivans), पीटरों (Peters) और कैथेरिनों (Catherine) के बिना रूस का अस्तित्व ही न होता। आधुनिक समय में भी होहेंनसोलर्न्स (Hohenzollerns) ने जर्मनी के एकीकरण और विकास के लिये जो मध्ययुगीय-सा कार्य किया उसे भी जनतंत्रवादी जातियों ने व्याकुल और विस्मित भाव में देखा क्योंकि इन लोगों के लिये इस प्रकार की घटना को समझना तो कठिन था ही किंतु इसकी तथ्यता पर विश्वास करना और भी अधिक कठिन था। पर हम बाल्कन

के नये राष्ट्रों के प्रथम निर्माण-युग में भी यही बात देख सकते हैं। उनके विकास को केंद्रित करने और उसे सहायता पहुंचाने के लिये राजा की आवश्यकता—चाहे उसके साथ कितनी ही विचित्र सुखांत या दुःखांत घटनाएं क्यों न लगी हुई हों—पुरानी आवश्यकता की भावना की अभिव्यक्ति के रूप में पूर्णतया समझ में आ जाती है; यद्यपि यह आवश्यकता अब उतनी वास्तविक नहीं रही है,^१ किंतु इन जातियों के अवचेतन मनों में यह अब भी अनुभव की जाती थी। आधुनिक ढंग के राष्ट्र के रूप में जापान के नये निर्माण में मिकाडो ने भी इसी प्रकार का कार्य किया था। नवनिर्माताओं की सहज-प्रेरणा इस आंतरिक आवश्यकता को पूरा करने के लिये उसे अपने असहाय एकांतवास से बाहर खींच लायी थी। क्रांतिकारी चीन ने भी एक नये राष्ट्रीय राजतंत्र में अपने-आपको बदलने के लिये एक अल्पकालीन अधिनायकवाद स्थापित करने का प्रयत्न किया था; इस प्रयत्न के मूल में जितना व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का हाथ था उतने ही बलपूर्वक क्रियात्मक मन की भावना भी उसमें कार्य कर रही थी।^२ राष्ट्रीय जीवन के विकास की इस अत्यंत संकटपूर्ण अवस्था के समय इसे केंद्रित करने तथा इसे कोई आकार देने में राजा ने जो महान् कार्य किया है उसकी भावना इस प्रवृत्ति का मर्म बताती है कि राजपद भी एक प्रकार का पवित्र पद है; यह प्रवृत्ति पूर्व में तो प्रचलित है ही, पर पश्चिम के इतिहास में भी इसका नितांत अभाव नहीं है। यह उस प्रगाढ़ राजभक्ति का भी आशय समझाती है जिसके साथ महान् राष्ट्रीय वंशों या उनके उत्तराधिकारियों की उनके हास और पतन के समय में भी सेवा की गयी।

किंतु राष्ट्रीय विकास के इस आंदोलन की विशिष्ट भूमिका चाहे कितनी भी हितकारी क्यों न हो, फिर भी इसके साथ, प्रायः विनाशक रूप में ही, जाति की आंतरिक स्वतंत्रताओं का एक ऐसा अवरोध जुड़ा हुआ है जो आधुनिक मनोवृत्ति को प्राचीन राजतंत्रीय स्वेच्छाचारिता और प्रवृत्तियों के बारे में बड़े स्वाभाविक पर अवैज्ञानिक ढंग से अत्यंत अनुदार मत बना लेने को बाधित कर देता है, क्योंकि यह सदा केंद्रीकरण, कठोरता, एकरूपता, दृढ़ नियंत्रण तथा एकाग्र निर्देशन का कार्य होता है। एक ही कानून, एक ही सिद्धांत और एक ही केंद्रीय सत्ता को सार्वभौम रूप देने की आवश्यकता इसे पूरी करनी पड़ती है, अतएव इसकी भावना भी यही होगी कि अधिकार को स्थापित तथा उसे केंद्रित किया जाये एवं स्वाधीनता और विविधता को

^१ अब इसका स्थान अर्ध-दिव्य नेता फ्यूहरर (Führer) के आध्यात्मिक और राजनीतिक प्रधानत्व ने ले लिया है, मानों उसने जाति के व्यक्तित्व को ही अपने में मूर्तिमान् कर लिया हो।

^२ यहां यह जान लेना चाहिये कि चीन में आधुनिक व्यक्ति के जनतंत्रीय आदर्शवाद को भी किसी "नेता" का—चाहे वह सन यात सेन हो या चियांग काई शेक—आश्रय लेना पड़ा था। प्रेरणा की शक्ति इसी सजीव केंद्र के सामर्थ्य पर ही निर्भर रही है।

सीमित कर दिया जाये या उसे बिल्कुल दबा दिया जाये। इंग्लैंड में एडवर्ड चतुर्थ से एलिज़ाबेथ तक का नया राजतंत्र-युग, फ्रांस में हेनरी चतुर्थ से लुई चौदहवें तक का वह महान् बूरबों (Bourbon) युग, स्पेन का वह युग जो फर्डिनंड से फिलिप द्वितीयतक चला था, रूस में महान् पीटर और कैथरीन का युग—सब ऐसे युग थे जिनमें ये राष्ट्र परिपक्वता को प्राप्त करके पूर्णतया सुगठित हो गये थे तथा अपनी भावना में दृढ़ होकर शक्तिशाली रूप में संगठित हो गये थे। ये सब स्वेच्छाचारिता के या उसके आंदोलन के युग थे; साथ ही इनमें एकरूपता का एक विशेष आधार स्थापित किया गया था या उसके लिये यत्न किया गया था। इस स्वेच्छाचारिता ने पहले से राज्य के पुनर्जीवित होते हुए सिद्धांत को तथा जाति के जीवन, विचार और अंतःकरण पर अपनी इच्छा लादने के उसके अधिकार को अपने प्राचीनतर वेश में छिपा रखा था, जिससे कि वह एक, अखंड, अविभाजित, पूर्णतः निपुण अनुशासित मन और शरीर बन सके।'

इस बात को ध्यान में रखते हुए हम ठ्यूडर और स्टूअर्ट राजवंशों के जनता पर राजतंत्रीय सत्ता और धार्मिक एकरूपता लादने के प्रयत्न को स्पष्ट रूप में समझ सकते हैं। इससे फ्रांस के धर्मयुद्धों का, स्पेन के कैथोलिक राजतंत्रीय शासन तथा न्यायालयी अन्वेषण के अतिक्रूर ढंग का और रूस के निरंकुश जारों की एक स्वेच्छाचारी राष्ट्रीय धर्म लादने की उत्पीड़क इच्छा का वास्तविक अर्थ भी हमारी समझ में आ सकता है। इंग्लैंड में इस प्रयत्न को सफलता नहीं मिली, क्योंकि एलिज़ाबेथ के बाद इसके लिये कोई वास्तविक आवश्यकता अनुभव ही नहीं हुई; कारण, राष्ट्र अब सुगठित, शक्तिशाली तथा बाह्य संकट से सुरक्षित हो चुका था। अन्य स्थानों, प्रोटेस्टैंट और कैथोलिक देशों में यह सफल भी हुआ; बहुत कम स्थानों पर—जैसे पोलैंड में, जहां यह कार्यान्वित किया ही नहीं जा सका या इसे सफलता ही नहीं मिली, इसका परिणाम अत्यंत दुःखदायी हुआ। निश्चय ही, मनुष्य की आत्मा के लिये यह सभी जगह अत्याचाररूप था, पर इसका कारण केवल शासकों की स्वाभाविक दुष्टता ही नहीं थी, राजनीतिक और यांत्रिक साधनों द्वारा राष्ट्र-इकाई के निर्माण में यह एक अनिवार्य अवस्था थी। यदि यूरोप में इसने केवल इंग्लैंड को ही एक ऐसा देश रहने दिया जहां स्वतंत्रता स्वाभाविक क्रमों द्वारा आगे बढ़ सकी, तो यह, निःसंदेह, अधिकतर जाति के प्रबल गुणों और इससे भी बढ़कर उसके समृद्ध इतिहास और द्वीपीय परिस्थितियों के कारण था।

इस विकास में राजतंत्रीय राज्य ने मनुष्यों की धार्मिक स्वतंत्रताओं को कुचल दिया था या फिर उन्हें अधीन कर लिया था। अधीनस्थ या मित्रतापूर्ण धार्मिक संघ को उसने अपने दैवी अधिकार का पुरोहित तथा धर्म को सांसारिक राजपद का सेवक बना

यह सर्वाधिकारवादी सिद्धांत रूस, जर्मनी तथा इटली में रोचक पूर्णता के साथ निर्दिष्ट हो रहा है।

लिया। उसने कुलीनतंत्र की स्वतंत्रता को नष्ट कर दिया, केवल उसके कुछ अधिकार छोड़ दिये और वे भी उसे राजा की शक्ति बढ़ाने तथा उसे पुष्ट करने के लिये दिये गये थे। इसने मध्यवर्ग को कुलीनवर्ग के विरोध में खड़ा करके, जहां भी संभव हुआ, उसकी वास्तविक और सजीव नागरिक स्वतंत्रता को नष्ट कर दिया, केवल उसके बाह्य रूप को तथा उसके विशेष स्वत्व और अधिकार के कुछ अंगों को रहने दिया। उधर साधारण जनता के कोई अधिकार थे ही नहीं जिन्हें वह नष्ट करता। इस प्रकार राजतंत्रीय राज्य ने सारे राष्ट्रीय जीवन को अपने कार्यकलाप में केंद्रित कर लिया। चर्च अपने नैतिक प्रभाव तथा कुलीनवर्ग अपनी सैनिक परंपराओं और योग्यताओं के द्वारा, मध्यवर्ग अपने वकीलों की बुद्धि या कूटनीति तथा अपने विद्वानों, विचारकों और जन्मजात व्यावसायिक बुद्धिवाले व्यक्तियों की साहित्यिक योग्यता और प्रशासनीय निपुणता के द्वारा उसकी सेवा करता था; सर्वसाधारण लोग राज्य को कर देते थे तथा उसकी वैयक्तिक और राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं को अपने रक्त से सींचते थे। पर इस संपूर्ण शक्तिशाली ढांचे और सुगठित व्यवस्था के लिये उसकी अपनी विजय ही अभिशाप बन गयी, उसके भाग्य में यही बदा था कि वह या तो एकदम चरमराकर गिर जाये और फिर नयी आवश्यकताओं और नये अधिकरणों के आगे कुछ-कुछ अनिच्छापूर्वक और शनैः-शनैः अपना पद छोड़ दे। उसका सहन तथा समर्थन केवल उतने समय के लिये ही किया गया जबतक राष्ट्र चेतन या अवचेतन रूप में उसकी आवश्यकता और उसका औचित्य अनुभव करता रहा; ज्यों ही वह चीज पूरी होकर समाप्त हो गयी, त्यों ही अनिवार्य रूप से वही पुरानी समस्या आ उपस्थित हुई जो अब पूर्णतया सचेतन हो जाने के कारण और अधिक न तो दबायी जा सकती थी और न ही सदा के लिये रोकी जा सकती थी। पुरानी व्यवस्था को स्वांगमात्र में बदलकर राजतंत्र ने अपना आधार अपने-आप नष्ट कर लिया था। चर्च की पुरोहितीय सत्ता के विषय में जब एक बार आध्यात्मिक आधार पर शंका की जाने लगी तो अब वह और अधिक लौकिक साधनों—तलवार या कानून—के बल पर नहीं टिक सकती थी। कुलीनतंत्र क्योंकि अपने विशेषाधिकारों को रखते हुए भी अपने सच्चे कर्तव्यों को छोड़ बैठा था, निम्नवर्ग उससे घृणा करने लगा तथा उसे संदेह की दृष्टि से देखने लगा। उधर मध्यवर्ग ने, जो अब अपनी योग्यता के प्रति सचेतन तथा अपनी सामाजिक और राजनीतिक हीनता से क्षुब्ध हो उठा था, अपने विचारकों की आवाज से जागकर विद्रोह का आंदोलन उठाया और सर्वसाधारण से सहायता के लिये प्रार्थना की; मूक, पीड़ित और दुःखी जनता इस नयी सहायता को प्राप्त कर उठ बैठी जो उसे पहले कभी नहीं मिली थी; उसने सारी सामाजिक व्यवस्था को उलट दिया। पुराने युग के विनाश और नये युग के जन्म का यही कारण था।

हमने इस विशाल क्रांतिकारी आंदोलन का आंतरिक औचित्य देख लिया है। केवल अपने अस्तित्व के लिये न तो राष्ट्र-इकाई निर्मित ही होती है और न ही वह

बनी रहती है। उसका आशय होता है मानव-समुदाय के एक ऐसे बृहत्तर सांचे का निर्माण करना जिसमें संपूर्ण जाति—केवल वर्ग और व्यक्ति नहीं—अपने पूर्ण मानव-विकास की ओर बढ़ सके। जबतक निर्माण-कार्य के लिये श्रम करना पड़े, यह बृहत्तर विकास रुक सकता है और सत्ता एवं व्यवस्था को प्रथम स्थान दिया जा सकता है, पर जब समुदाय को अपने अस्तित्व का निश्चय हो जाये और वह एक आंतरिक विस्तार की आवश्यकता अनुभव करने लगे तो इसका कुछ प्रयोजन नहीं रहेगा। तब इन पुराने बंधनों को तोड़ना पड़ेगा, निर्माण के साधनों को विकासमार्ग में बाधा समझकर त्याग देना होगा। तब स्वतंत्रता जाति का प्रेरक शब्द हो जायेगी। जो धर्म-संघ विचार की स्वतंत्रता तथा नये नैतिक और सामाजिक विकास को दबाता था उसे अपने निरंकुश अधिकार से च्युत कर देना होगा जिससे मनुष्य मानसिक तथा आध्यात्मिक रूप में स्वतंत्र हो सके। शासक और कुलीन-वर्ग के एकाधिकारों और विशेषाधिकारों का नाश करना होगा जिससे सभी राष्ट्रीय शक्ति, समृद्धि और गतिविधि में अपना भाग ले सकें। और अंत में मध्यवर्ग के पूंजीवाद को भी एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था स्वीकार करने के लिये प्रेरित या विवश करना पड़ेगा जिसमें कष्ट, दारिद्र्य और शोषण नहीं होंगे तथा समाज की धन-संपत्ति का उन सभी के द्वारा समान रूप से उपयोग किया जायेगा जो उसे अर्जित करने में सहायक होते हैं। सब क्षेत्रों में मनुष्यों को अपने स्वत्व को प्राप्त करना होगा, अपने अंदर के मनुष्यत्व की महत्ता और स्वतंत्रता को समझना तथा अपनी पूरी क्षमता के अनुसार कार्य करना होगा।

कारण, स्वतंत्रता पर्याप्त नहीं है, न्याय भी आवश्यक है और इसकी मांग प्रबल हो रही है, समानता की पुकार उठ रही है। निश्चय ही, पूर्ण समानता का इस संसार में अस्तित्व नहीं है; पर इस शब्द का उद्देश्य पुरानी सामाजिक व्यवस्था की अन्याययुक्त और अनावश्यक असमानताओं का विरोध करना था। न्याययुक्त सामाजिक व्यवस्था के अंदर सबको समान अवसर प्राप्त होगा, सभीको अपनी मानसिक शक्तियों की वृद्धि तथा उनके प्रयोग के लिये समान शिक्षा दी जायेगी और जहांतक हो सकेगा सामुदायिक जीवन के लाभों में सबका बराबर हिस्सा होगा; यह सब उन लोगों को अधिकारपूर्वक मिलेगा जो अपनी क्षमताओं का प्रयोग करके इस जीवन को स्थायी, शक्तिशाली और उन्नत करने में सहायता पहुंचावेंगे। जैसा कि हम देख चुके हैं, यह आवश्यकता स्वतंत्र सहकारिता के एक ऐसे आदर्श का रूप धारण कर सकती थी जिसे जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करनेवाली दूरदर्शी और उदार केंद्रीय सत्ता मार्ग दिखाती और सहायता पहुंचाती, पर यह वास्तव में पूर्ण और समर्थ राज्य के पुराने विचार की ओर लौट पड़ी है जो राजतंत्रीय, धार्मिक और कुलीन नहीं वरन् लौकिक, जनतंत्रीय और सामाजिक है, इसमें समानता और समुदाय की योग्यता की आवश्यकता के आगे स्वतंत्रता का बलिदान कर दिया गया है। लौटने की इस क्रिया के मनोवैज्ञानिक कारणों पर हम अभी विचार नहीं करेंगे। शायद स्वतंत्रता और

समानता में, स्वतंत्रता और अधिकार में तथा स्वतंत्रता और संगठित योग्यता में पूर्णतया संतोषजनक मेल तबतक कभी भी नहीं हो सकता, जबतक मनुष्य—व्यष्टि तथा समष्टि रूप में—अहंभाव के सहारे जीता है, जबतक उसमें महान् आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक परिवर्तन नहीं आ जाता और सामुदायिक संसर्गमात्र से ऊपर उठकर वह उस तीसरे आदर्शतक नहीं पहुंच जाता जिसे स्वतंत्रता और समानता के प्रेरक शब्दों के साथ जोड़ देने के लिये किसी अस्पष्ट आंतरिक अनुभूति ने फ्रांस के क्रांतिकारी विचारकों को उकसाया था। यह आदर्श भ्रातृ-भाव का आदर्श है, यदि कम भावुक तथा अधिक सच्चे शब्दों में कहें तो एक आंतरिक एकता का आदर्श है और तीनों में महान् है, यद्यपि यह अभीतक लोगों की जिह्वा पर एक कोरा शब्दमात्र है। इसे किसी सामाजिक, राजनीतिक अथवा धार्मिक साधन ने अबतक न तो उत्पन्न किया है और न ही वह इसे उत्पन्न कर सकता है; इसे मनुष्य की आत्मा में जन्म लेना होगा और अंदर की गुप्त और दिव्य गहराइयों में से प्रादुर्भूत होना होगा।

अंतर्राष्ट्रीय एकता की ओर पहला कदम :

उसकी बहुत बड़ी कठिनाइयां

राष्ट्र-इकाई का विकास निश्चित ही आंतरिक आवश्यकता और भावना के अधिकाधिक दबाव के कारण, पर राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शक्तियों, पद्धतियों और साधनों के माध्यम से हुआ। इसके अध्ययन से हमें पता चलता है कि इसकी प्रगति एक ऐसी अनिश्चित-सी रचना से शुरू हुई जिसमें अनेक प्रकार के तत्त्व एकीकरण के लिये एक साथ उपस्थित थे और यह प्रगति एक प्रबल केंद्रीकरण और दबाव के एक ऐसे काल में से गुजरी जिसमें सचेतन राष्ट्रीय अहंभाव विकसित और सुदृढ़ हुआ, साथ ही इसे अपने आभ्यंतरिक जीवन का केंद्र एवं उसके साधन भी प्राप्त हुए। उसके बाद यह सुनिश्चित और पृथक् अस्तित्व तथा आंतरिक एकता के—अब बाह्य दबाव के कारण नहीं—उस अंतिम कालतक पहुंची जिसमें स्वाधीनता का उपभोग करना और राष्ट्रीय जीवन के लाभों में सबका सक्रिय और अधिकाधिक समान भाग लेना संभव हो गया। यदि मानवजाति की एकता को भी उन्हीं साधनों तथा अभिकरणों द्वारा और उसी ढंग से प्राप्त करना है जिनके द्वारा तथा जिस ढंग से राष्ट्र की एकता प्राप्त की गयी थी तो हमें यह आशा रखनी चाहिये कि इसका क्रम भी ऐसा ही होगा। कम-से-कम यह एक अत्यधिक प्रत्यक्ष संभावना अवश्य है और समस्त सृजन के प्राकृतिक नियम के अनुकूल जान पड़ती है जिसके अनुसार सृजन एक शिथिल द्रव्य से, शक्तियों और उपादानों के कम या अधिक अगठित और अनिश्चित रूप से आरंभ होता है और संकोच, सिमटाव और घनीकरण की क्रिया में से गुजरता हुआ एक ऐसे दृढ़ सांचे का रूप धारण कर लेता है जिसमें जीवन के विभिन्न रूपों के समृद्ध ढंग से विकसित होने की निश्चित संभावना अवश्य होती है।

हम यदि संसार की वास्तविक अवस्था तथा उसकी तात्कालिक संभावनाओं पर विचार करें तो हम देखेंगे कि पहले शिथिल निर्माण और अपूर्ण व्यवस्था के काल का आना अनिवार्य है। न तो मानवजाति की बौद्धिक तैयारी, न उसकी भावनाओं का विकास और न ही वे आर्थिक और राजनीतिक शक्तियां और अवस्थाएं जो इसका संचालन करती हैं या इसे व्यस्त रखती हैं, आंतरिक या बाह्य दबाव के उस स्थलतक पहुंची होती हैं जो हमें इस बात की निश्चित आशा दिला दे कि हमारे जीवन का आधार पूर्णतया बदल जायेगा या एक पूर्ण या वास्तविक एकता स्थापित हो जायेगी। मनोवैज्ञानिक एकता तो दूर रही, अभीतक एक वास्तविक बाह्य एकता भी संभव नहीं

प्रतीत होती। यह सत्य है कि इस प्रकार की वस्तु की एक अस्पष्ट-सी भावना और आवश्यकता शीघ्रता से बढ़ती जा रही है और युद्ध का प्रत्यक्ष दृष्टांत भविष्य के प्रधान विचार को उस प्रारंभिक अवस्था में से निकाल लाया है जिसमें वह कुछ शांति के समर्थकों और अंतर्राष्ट्रीयवादी आदर्शप्रेमियों का एक उदार स्वप्नमात्र था। लोग इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि इसमें अंतिम वास्तविकता की एक शक्ति निहित है; और जो लोग इसे बुद्धिजीवियों और सनकियों की पोषित धारणा के रूप में नीचा दिखाना चाहते हैं उनकी आवाज में अब उतना व्यापक प्रभाव और विश्वास नहीं रहा है; कारण, साधारण जन की सामान्य बुद्धि, अर्थात् जड़ मन की उस अदूरदर्शी सामान्य बुद्धि का उसे दृढ़ आश्रय नहीं मिलता जिसे तात्कालिक तथ्यों की प्रबल अनुभूति तो होती है पर जो भविष्य की संभावनाओं के प्रति पूर्णतया अंधेरे में रहती है। सर्वसाधारण के विचारों का पुनः निर्माण करने के लिये इस युग के बुद्धिजीवियों ने जिस उत्तरोत्तर प्रबल होते हुए विचार को गढ़ा था उसकी बौद्धिक तैयारी अभीतक कुछ विशेष नहीं हुई है। न ही वर्तमान अवस्थाओं के विरोध में बढ़ते हुए विद्रोह को इतनी जन-शक्ति प्राप्त हुई है जिससे उन विशाल जन-समुदायों के लिये, जिनका किसी आदर्श के प्रति प्रेम है तथा जिनमें मानवजाति के लिये एक नया संतोष प्राप्त करने की आशा उत्पन्न हो गयी है, यह संभव हो जाये कि वे वस्तुओं के वर्तमान आधार को तोड़कर सामूहिक जीवन की एक नयी प्रणाली गढ़ लें। एक दूसरी दिशा में, जो समाज के व्यक्तिवादी आधार के स्थान पर बढ़ता हुआ समूहवाद ले आयेगी, विद्रोह की इस प्रकार की बौद्धिक तैयारी काफी हदतक हो गयी है और उसके लिये सम्मिलित जनशक्ति भी पैदा हो गयी है। इसके लिये युद्ध ने द्रुतगति से कार्य किया है तथा वह हमें एक चरितार्थ राज्य-समाजवाद की संभावना के काफी निकट ले आया है—यह जनतंत्रीय ही हो यह आवश्यक नहीं। किंतु अंतर्राष्ट्रीय एकीकरण के शक्तिशाली आंदोलन के लिये ऐसी अनुकूल पूर्व-अवस्थाएं उत्पन्न नहीं हुई हैं। इस दिशा में एक सामूहिक और सक्रिय आदर्शवाद के लिये कोई महान् सफल प्रयत्न होगा ही यह भविष्यवाणी युक्तिसंगत नहीं हो सकती। तैयारी संभवतया शुरू हो चुकी है और यह भी संभव है कि हाल की घटनाओं ने इसे अत्यधिक सुगमता और गति प्रदान की है पर यह अभी है केवल अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही।

यदि संसार के बुद्धिजीवी अंतर्राष्ट्रीय जीवन की संपूर्ण स्थिति का सामान्य सिद्धांतों के आधार पर पूर्णतः या जड़-मूल से दुबारा निर्माण करना चाहें तो इन अवस्थाओं में उनके विचार तथा उनकी योजनाएं तुरंत ही चरितार्थ नहीं हो सकतीं। सर्जनशील मानव-आशा के एक सामान्य आदर्शवादी आंदोलन की अनुपस्थिति में ही—उस आशा के जो ऐसे परिवर्तनों को लाना संभव कर देगी—भविष्य अपना रूप ग्रहण करेगा, यह कार्य विचारक के विचार नहीं वरन् राजनीतिज्ञ का वह क्रियात्मक मन करेगा जो उस समय के सामान्य विवेक और स्वभाव को दर्शाता है और साधारणतया

ऐसे कार्य को संपन्न करता है जो 'संभव' को अधिकतम मात्रा में नहीं बल्कि न्यूनतम मात्रा में चरितार्थ करता है। विशाल जनसमुदाय का सामान्य औसत मन उन्हीं विचारों को सुनने के लिये तैयार होता है जिन्हें ग्रहण करने की उसे शिक्षा मिल चुकी है, वह कभी इस विचार को और कभी उस विचार को एकपक्षीय आग्रह के साथ पकड़ने का आदी होता है, फिर भी वह अपने कार्य में जितना अपने हितों, आवेशों और पक्षपातों द्वारा संचालित होता है उतना अपने विचारों द्वारा नहीं। राजनीतिज्ञ और राजनेता भी—और आजकल संसार राजनीतिज्ञों से तो भरा हुआ है पर राजनेताओं से बिल्कुल ही खाली है—जनसमुदाय की इसी औसत बुद्धि से कार्य करते हैं; एक तो इसके द्वारा संचालित होता है और दूसरे को इसे सदा प्रमुख स्थान देना पड़ता है, किंतु वह इसे चाहे जिधर नहीं ले जा सकता, जबतक कि वह उन महान् प्रतिभाशाली और प्रभावपूर्ण व्यक्तियों में से ही न हो जिनमें व्यापक मन और विचार की सक्रिय शक्ति होती है तथा जो मनुष्यों पर अत्यधिक अधिकार और प्रभाव रखते हैं। इसके अतिरिक्त, जनसाधारण के सामान्य औसत मन की सीमाओं के साथ-साथ राजनीतिज्ञ के मन की अपनी सीमाएं भी होती हैं, बल्कि वह पुरानी अवस्थाओं के प्रति अधिक आदर-भाव रखता है। वह किसी ऐसे बड़े साहसिक कार्य के लिये प्रयत्न करना पसंद नहीं करता जिसमें पूर्वकाल का सुरक्षित आधार छोड़ना पड़े; किसी अनिश्चित और नये कार्य को हाथ में लेने में वह अधिक असमर्थ होता है। ऐसा करने के लिये वह जनमत या किसी शक्तिशाली हित द्वारा बाधित किया जायेगा या वह स्वयं ही किसी ऐसी महान् और नयी प्रेरणा के वशीभूत हो जायेगा जो उस समय के मानसिक वातावरण में व्याप्त है।

यदि राजनीतिज्ञ को पूर्णतया अपने ऊपर ही छोड़ दिया जाये, तो हम इतिहास में घटित बड़ी-से-बड़ी अंतर्राष्ट्रीय क्रांति के इससे अधिक श्रेष्ठ और प्रत्यक्ष परिणाम की आशा नहीं कर सकते कि सीमांतों पर पुनर्व्यवस्था स्थापित हो जाये, अधिकार और संपत्ति का पुनर्वितरण हो जाये और अंतर्राष्ट्रीय, व्यापारिक और अन्य संबंध कुछ अच्छे-बुरे रूप में किसी हदतक विकसित हो जायें। यह एक बड़ी दुःखद संभावना है जो उन अधिक दुःखद क्रांतियों को जन्म देगी—जबतक इस समस्या का हल नहीं हो जाता—जिनके कारण संसार का भविष्य किसी भी प्रकार सुरक्षित नहीं है। फिर भी हम यह आशा कर सकते हैं कि पुरानी व्यवस्था के नैतिक पतन के परिणामस्वरूप नयी व्यवस्था के आरंभ करने के लिये कोई गंभीर प्रयत्न होना चाहिये, कारण, जाति का मन अब बहुत हदतक गतिशील हो गया है, उसकी भावनाएं प्रबल रूप में जाग उठी हैं तथा यह भाव काफी व्यापक हो रहा है कि पुरानी स्थिति अब और नहीं सही जाती; राजनीतिज्ञों को भी अब यह काफी स्पष्ट हो गया है कि ऐसे राष्ट्रीय अहंभावों के घेरे पर टिका हुआ अंतर्राष्ट्रीय संतुलन अब और नहीं चल सकता जिन्हें पारस्परिक भय और संकोच ने, असफल पंचायती संधियों तथा हेग (Hague) की अदालतों एवं

यूरोपीय सहयोग (European Concert) के मूर्खतापूर्ण विरोधों ने नियंत्रण में रखा हुआ है। युद्धजनित राग-द्वेष तथा राष्ट्रों की स्वार्थपूर्ण आशाएं निश्चित ही मार्ग में बड़ी बाधाएं होती हैं और वे ऐसे किसी भी प्रारंभ को आसानी से या तो व्यर्थ कर सकती हैं या फिर उसे केवल अस्थायी वस्तु बना सकती हैं। किंतु, और कुछ न भी हो, तो भी संघर्ष की कठोरता के शांत होने के बाद उत्पन्न हुई थकावट और आंतरिक प्रतिक्रिया ही नयी भावनाओं, शक्तियों, घटनाओं तथा नये विचारों को ऊपर उठने का अवसर दे सकती है जो इस घातक प्रभाव को अशक्त कर देंगे।^१

फिर भी, जिसकी अधिक-से-अधिक आशा की जा सकती है वह भी बहुत कम होगा। राष्ट्रों के आंतरिक जीवन में युद्ध के अंतिम फल तो गंभीर और प्रबल होंगे ही, क्योंकि वहां सब कुछ तैयार है, जो दबाव अनुभव किया जाता है वह बहुत अधिक है और इस दबाव के दूर होने के बाद इसकी व्यापकता भी अपने परिणामों में उतनी ही बड़ी होगी; किंतु अंतर्राष्ट्रीय जीवन में हम केवल अधिक-से-अधिक आमूल परिवर्तन के उतने ही न्यूनतम भाग की आशा कर सकते हैं जो, कितना भी थोड़ा क्यों न हो, एक सुदृढ़ आरंभ-स्थल बन सकता है, एक काफी सशक्त बीज हो सकता है जिससे भावी विकास सुनिश्चित हो जायेगा। वास्तव में यदि इस विश्वव्यापी संघर्ष की समाप्ति से पहले ही कुछ ऐसी घटनाएं पैदा हो जातीं जो यूरोप की सामान्य मनोवृत्ति को बदलने, उसके शासकों के क्षुद्र विचारों को अधिक गहराई प्रदान करने तथा आमूल परिवर्तन की आवश्यकता का जितना व्यापक भाव अबतक विकसित हुआ है उससे अधिक व्यापक भाव उत्पन्न करने में काफी सशक्त होतीं, तो इससे अधिक की आशा भी की जा सकती थी; पर यह महान् युद्ध जब समाप्ति पर आया, तो ऐसी कोई संभावना सामने नहीं आयी। यह गतिशील काल, जिसमें ऐसे संकट के समय मनुष्यों के सफल विचारों और उनकी प्रवृत्तियों का निर्माण होता है, बिना कोई महान् और गहन प्रेरणा पैदा किये ही चला गया। केवल दो बातें ऐसी थीं जिनके संबंध में लोगों की सामान्य मनोवृत्ति पर प्रबल प्रभाव पड़ा था। सबसे पहले तो इस बड़ी विपत्ति के दुबारा आने की संभावना के विरोध में एक विद्रोह का भाव पैदा हो गया। पर इससे भी अधिक प्रबल रूप से इस बात की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी कि ऐसे साधन ढूंढे जायें जो क्रांति के द्वारा उत्पन्न हुई जाति के आर्थिक जीवन की अभूतपूर्व

^१ यह १९१६ में युद्ध की समाप्ति से पहले, लिखा गया था। यह अपेक्षाकृत सुखकर संभावना तत्काल ही चरितार्थ नहीं हो सकी थी, पर इस बढ़ती हुई अरक्षा, अव्यवस्था तथा विपत्ति ने यह अधिकाधिक अनिवार्य कर दिया है कि यदि आधुनिक सभ्यता को रक्तपात और अव्यवस्था में ही समाप्त नहीं होना है तो किसी अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली का निर्माण अवश्य होना चाहिये। इस आवश्यकता का ही यह फल हुआ कि पहले राष्ट्रसंघ (League of Nations) और बाद में संयुक्त राष्ट्रसंघ (U.N.O.) की स्थापना हुई; यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से इनमें से कोई भी अधिक संतोषप्रद प्रमाणित नहीं हुआ, फिर भी यह प्रत्यक्ष हो गया है कि भविष्य में व्यवस्था के लिये किसी ऐसे संगठित केंद्र का होना अति आवश्यक है।

अस्तव्यस्तता को दूर कर दें। अतएव इन्हीं दो दिशाओं में कुछ वास्तविक प्रगति होने की आशा की जा सकती थी; क्योंकि यदि सामान्य आशा और इच्छा को पूरा करना है तो इतना प्रयत्न तो होना ही चाहिये, इनकी उपेक्षा करने का अर्थ होगा कि यूरोप की राजनीतिक बुद्धि का दिवाला निकल गया है। इस असफलता के कारण यूरोप की सरकारों और उसके शासक वर्गों पर यह लंछन लगेगा कि वे नैतिक और बौद्धिक रूप से शक्तिहीन हो गये हैं; और अंत में तो यह यूरोपीय जातियों को अपनी वर्तमान संस्थाओं और मूढ़ एवं दिग्भ्रांत नेतृत्व के विरुद्ध व्यापक विद्रोह करने के लिये भड़का भी सकती है।

इसलिये अब यह आशा की जा सकती थी कि युद्ध को कम और नियंत्रित करने के लिये, युद्ध-सामग्री को परिमित करने तथा संकटपूर्ण झगड़ों को संतोषजनक रूप में निबटाने और विशेषकर व्यापारिक उद्देश्यों और हितों के संघर्ष का सामना करने के लिये—यद्यपि यह सबसे अधिक कठिन है—कोई स्थायी और फलप्रद साधन जुटाने का प्रयत्न किया जाये; वास्तव में, यह संघर्ष आजकल उन सब अवस्थाओं में से एक प्रभावशाली अवस्था है जो युद्ध के पुनरावर्तन को अनिवार्य कर देती है यद्यपि यही इसका एकमात्र कारण नहीं है। यदि इस व्यवस्था के अंदर अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण का बीज विद्यमान हो, यदि यह एक शिथिल अंतर्राष्ट्रीय संघटन की ओर उठाया गया पहला कदम बन जाये अथवा इसमें उसके तत्त्व या प्रारंभिक रूपरेखाएं ही निहित हों या यह एक ऐसी प्रथम योजना बन जाये जिसे अपनाकर मानवजीवन, संयुक्त अस्तित्व की ओर बढ़ते हुए, विकास का एक सांचा प्राप्त कर ले, तो शुरू में चाहे यह व्यवस्था कितनी भी प्रारंभिक या असंतोषजनक क्यों न हो, भविष्य के लिये प्राप्ति की आशा सुनिश्चित हो जायेगी। एक बार इस व्यवस्था के शुरू हो जाने पर मनुष्यजाति का इससे पीछे हटना असंभव हो जायेगा, इस विकास के मार्ग में कितनी ही कठिनाइयां, निराशाएं, प्रतिक्रियाएं, बाधाएं, कितने ही संघर्ष, या क्रूर विघ्न क्यों न आयें, ये अंत में उस अंतिम और अनिवार्य परिणाम में बाधक होने की जगह सहायक ही होंगे।

फिर भी, यह आशा निर्मूल है कि अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण का सिद्धांत आरंभ में ही पूर्णतया सफल हो जायेगा अथवा यह शिथिल रचना जो शुरू में संभवतः अर्ध-स्पष्ट और अर्ध-अस्पष्ट ही होगी भविष्य के संघर्षों, विस्फोटों और विपत्तियों को रोक देगी।^१ कठिनाइयां बहुत बड़ी हैं। जाति का मन अभी आवश्यक अनुभव से वंचित है; इसके शासकवर्ग की बुद्धि को विवेक और दूरदर्शिता का न्यूनतम आवश्यक अंश भी प्राप्त नहीं हुआ है; लोगों के स्वभाव में आवश्यक सहज-प्रेरणाएं और भावनाएं

^१ इस भविष्यवाणी को—जो उस समय करनी काफी आसान थी—और इसके अनुमानित कारणों को घटनाक्रम तथा उससे भी बड़े तथा अधिक संकटपूर्ण युद्ध के आरंभ ने पूरी तरह सत्य सिद्ध किया है।

उन्नत नहीं हुई हैं। अतएव, जो भी व्यवस्था की जायेगी वह राष्ट्रीय अहंभावों, तृष्णाओं, लालसाओं और अधिकामनाओं के पुराने आधार पर ही आगे बढ़ेगी और उन्हें केवल उतना ही अनुशासित करने का यत्न करेगी जितना कि अत्यंत दुःखदायी संघर्षों को रोकने के लिये पर्याप्त होगा। जिन साधनों का पहले प्रयोग किया जायेगा वे अवश्य ही काफी नहीं होंगे, क्योंकि उन्हीं अहंभावों को, जिन्हें नियंत्रित करने की आवश्यकता है, अधिक महत्व दिया जायेगा; संघर्ष के कारण फिर भी बने रहेंगे; इसे उत्पन्न करनेवाली मनोवृत्ति भी जीवित रहेगी, शायद थक जाये या अपनी कुछ गति-विधियों में थोड़े समय के लिये दब भी जाये, पर जड़-मूल से यह नष्ट फिर भी नहीं होगी। संघर्ष के साधनों पर नियंत्रण रखा जा सकता है, पर उन्हें बना फिर भी रहने दिया जायेगा। युद्ध-सामग्री पर भी कुछ रोक हो सकती है, पर उसका पूरा बहिष्कार नहीं होगा; राष्ट्रीय सेनाओं की संख्या को सीमित किया जा सकता है—यद्यपि यह होगा भ्रांतिपूर्ण—पर वे रखी फिर भी जायेंगी; विज्ञान अब भी बड़ी चतुरता से सामूहिक हत्या के ढंग खोजने में लगा रहेगा। युद्ध केवल तभी समाप्त किया जा सकता है, यदि राष्ट्रीय सेनाओं को भी समाप्त कर दिया जाये, तब भी यह कठिनाई से तथा एक और ऐसी मशीनरी के निर्माण के द्वारा समाप्त हो सकता है जिसे मानवजाति अभी तक बनाना नहीं जानती और यदि वह इसे बना भी ले तो भी कुछ समय के लिये इसका प्रयोग करने में वह पूर्णतया समर्थ या इच्छुक नहीं होगी। और राष्ट्रीय सेनाओं को समाप्त करना संभव भी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र अन्य सब राष्ट्रों पर अत्यधिक अविश्वास करता है, उसकी अनेकों महत्वाकांक्षाएं हैं, तृष्णाएं हैं, वह किसी और के लिये नहीं तो अपने बाजारों की रक्षा तथा अपने राज्य, उपनिवेश एवं अधीनस्थ जातियों को दबाये रखने के लिये ही सशस्त्र रहने की आवश्यकता अनुभव करता है। व्यापारिक महत्वाकांक्षाएं और प्रतिस्पर्द्धाएं, राजनीतिक अभिमान, स्वप्न, अभिलाषाएं और ईर्ष्याएं—ये सब केवल जादू की छड़ी घुमाने से ही विलीन नहीं हो जायेंगे, कारण यूरोप ने चिरपोषित महत्वाकांक्षाओं, ईर्ष्याओं और घृणाओं के मूर्खतापूर्ण संघर्ष में अपने पुरुष-समाज का दशमांश नष्ट कर डाला है और दशाब्दियों में प्राप्त किये हुए साधन तीन वर्ष में ही युद्ध की भट्टी में झोंक दिये हैं। इससे पहले कि राष्ट्रों का मनोविज्ञान एक ऐसी “आश्चर्यजनक, समृद्ध और विचित्र” वस्तु में बदल जाये जो युद्ध और अंतर्राष्ट्रीय मुठभेड़ों को हमारे दुःखी और लड़खड़ाते हुए जीवन से बिल्कुल निकाल दे, यह आवश्यक है कि जागृति और अधिक गहरी हो जाये तथा कार्य की विशुद्धतर जड़ों पर अधिकार कर ले।

यदि राष्ट्रीय अहंभाव विद्यमान है, संघर्ष के साधन उपस्थित हैं तो उसके कारणों, अवसरों और बहानों का भी अभाव नहीं होगा। वर्तमान युद्ध के छिड़ने का कारण यह था कि सभी प्रमुख राष्ट्र दीर्घकाल से एक ऐसे रास्ते पर चल रहे थे कि उसका आना अनिवार्य हो गया। यह शुरू इसलिये हुआ कि एक तो बाल्कन प्रायद्वीप का झमेला

खड़ा हो गया और दूसरे उत्तरी अफ्रीका में एक निकटपूर्वीय आशा और व्यापारिक एवं औपनिवेशिक प्रतिस्पर्द्धाएं पैदा हो गयीं; इससे बहुत पहले कि कोई एक या अधिक राष्ट्र हाथ में तोप-बंदूक लेकर लड़ें, प्रबल राष्ट्र शांतिकाल में ही इन्हीं बातों पर आपस में लड़ते आ रहे थे। साराजैवो (Sarajevo) और बेल्ट्जियम ने तो केवल निर्धारक अवस्थाओं का ही काम किया; इसके मूल कारणोंतक पहुंचने के लिये हमें पीछेतक, कम-से-कम अगादीर (Agadir) और ऐलजसिरास (Algeciras) तक जाना पड़ेगा। मोरक्को से त्रिपोलीतक, त्रिपोली से थ्रेस और मैसेडोनियातक और मैसेडोनिया से हरट्सगोविना (Herzegovina) तक यह बिजली की लहर कार्य-कारण और कर्म तथा उसके फल के उस अनिवार्य तर्क के अनुसार दौड़ती रही जिसे हम कर्म-सिद्धांत कहते हैं। इससे मार्ग में पहले तो छोटे-मोटे विस्फोट होते रहे, पर ज्यों ही इसे भड़काने का अवसर मिला, इसने वहां एक ऐसा बड़ा विस्फोट उत्पन्न कर दिया जिससे यूरोप रक्तपात और ध्वंस का क्षेत्र बन गया। बाल्कन का प्रश्न संभवतः अंतिम रूप से सुलझाया जा सकता है यद्यपि यह है बड़ा अनिश्चित; शायद अफ्रीका से जर्मनी को निश्चित रूप से निकाल देने से स्थिति कुछ सुधर सकती है, क्योंकि तब वह महाद्वीप उन तीन-चार राष्ट्रों के अधिकार में आ जाता है जो आजकल मित्र-राष्ट्र हैं। किंतु जर्मनी को नक्शे से मिटा भी दिया जाये, और यूरोप में उसके क्षोभों और उसकी महत्वाकांक्षाओं को महत्त्व न भी मिले, तो भी युद्ध के मूल कारण नष्ट नहीं होंगे। निकट और सुदूर पूर्व का एशियाई प्रश्न फिर भी बना रहेगा; यह अब नयी अवस्थाओं और नये रूपों में प्रकट होकर अपने अंगभूत तत्त्वों को फिर से एकत्र कर सकता है, पर यह संकट से इतना आक्रांत रहेगा कि यदि यह बुद्धिमत्तापूर्वक न सुलझाया गया या सुलझा ही नहीं तो यह काफी निश्चित रूप में पहले से कहा जा सकता है कि मनुष्यजाति के अगले महायुद्ध का क्षेत्र या प्रारंभ-स्थल एशिया होगा। यह कठिनाई हल हो भी जाये, तो भी जहां राष्ट्रीय अहंभाव और लोलुपता की भावना अपनी तुष्टि चाहती है वहां युद्ध के नये कारण अनिवार्य रूप से उत्पन्न हो जायेंगे। जबतक यह जीवित है, यह अपनी तुष्टि करना चाहेगी, परिपूर्ति इसे स्थायी संतोष कभी नहीं दे सकती। वृक्ष अपने फल अवश्य उत्पन्न करेगा और प्रकृति सदा ही एक परिश्रमी उद्यान-रक्षिका है।

सेना और युद्ध-सामग्री को सीमित कर देना युद्ध का झूठा इलाज है। नियंत्रण का कोई सफल अंतर्राष्ट्रीय साधन प्राप्त हो भी जाये तो भी युद्ध का संयोग वास्तविक रूप में सामने उपस्थित होने पर यह साधन निष्क्रिय हो जायेगा। यूरोपीय संघर्ष ने यह प्रत्यक्ष कर दिया है कि युद्धकाल में देश को शस्त्र बनाने का एक विशाल कारखाना बनाया जा सकता है और राष्ट्र अपने सारे शांतिपूर्ण पुरुषसमाज को सेना में बदल सकता है। इंग्लैंड के पास आरंभ में एक छोटी और बहुत साधारण-सी सशस्त्र सेना थी, पर केवल एक वर्ष में ही उसने लाखों पुरुष खड़े कर लिये और दो वर्ष में तो

वह उन्हें शिक्षा देकर, उन्हें लैस करने तथा सफलतापूर्वक मुकाबले में खड़ा करने में भी समर्थ हो गया। यह प्रत्यक्ष दृष्टांत हमें यह बताने के लिये पर्याप्त है कि सेना और युद्ध-सामग्री को सीमित कर देने से केवल शांतिकाल में राष्ट्र का बोझ तो हल्का हो सकता है, किंतु इसी तथ्य के बल पर संघर्ष के और अधिक साधन जमा हो जाते हैं; तो भी युद्ध की घातक तीव्रता और उसकी व्यापकता न तो रुक ही सकती है और न ही कम हो सकती है। न ही एक ऐसे अधिक दृढ़ अंतर्राष्ट्रीय विधान का निर्माण, जिसके पीछे अधिक प्रभावपूर्ण स्वीकृति का बल हो, इसका कोई असंदिग्ध और पूर्ण प्रतिकार होगा। यह प्रायः कहा जाता है कि आवश्यक बात यही है; जिस प्रकार राष्ट्र में विधान ने व्यक्तियों, परिवारों और कुलों के झगड़े मिटाने के पुराने असभ्य तरीके को शक्तिशाली पंचायत-निर्णय के द्वारा स्थानच्युत कर दिया है और उसे दबा दिया है, उसी तरह की कोई विधि राष्ट्रों के जीवन में भी संभव होनी चाहिये। शायद अंत में ऐसा हो जाये, पर इसके तत्काल ही सफलतापूर्वक क्रियान्वित होने की आशा करने का यह अर्थ होगा कि हम विधान की सफल सत्ता के सच्चे आधार की और एक विकसित राष्ट्र के अंगों तथा उस अंतर्राष्ट्रीय संगठन के अंगों के भेद की उपेक्षा कर रहे हैं जिसे आरंभ करने का प्रस्ताव रखा गया है तथा जो अभी बहुत कम विकसित हुआ है।

राष्ट्र में या समाज में विधान की सत्ता वास्तव में मनुष्य-निर्मित नियमों और व्यवस्थाओं के किसी तथाकथित "गौरव" या रहस्यमयी शक्ति पर निर्भर नहीं करती। उसकी शक्ति के वास्तविक स्रोत दो हैं : बहुमत या प्रबल अल्पमत अथवा समूचे समाज की इसे बनाये रखने की तीव्र अभिलाषा और दूसरा, पुलिस और सेना की एक ऐसी असाधारण सशस्त्र शक्ति पर अधिकार जो उस अभिलाषा को पूर्ण कर सके। न्याय की आलंकारिक तलवार भी तभी कार्य कर सकती है जब कि विद्रोही और विपक्षी पर अपने कानून और दंड-विधान लागू करने के लिये उसके पीछे सचमुच की तलवार होती है। और इस सशस्त्र शक्ति का प्रधान गुण यह है कि यह किसी की, किसी व्यक्ति या समाज के किसी निर्मित समुदाय की नहीं होती, यह केवल राज्य की, राजा की या उस शासक वर्ग या संस्था की होती है जिसमें राजकीय सत्ता केंद्रीभूत है। सुरक्षा तब भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती यदि राज्य की सशस्त्र शक्ति समुदायों और व्यक्तियों की उन सशस्त्र शक्तियों के अस्तित्व द्वारा प्रतिस्तुलित हो गयी हो या उसका सर्वोपरि प्रभुत्व कम हो गया हो जो केंद्रीय नियंत्रण से किसी-न-किसी रूप में स्वतंत्र हैं या शासक सत्ता के विरोध में अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकती हैं। फिर भी, इस सत्ता के होते हुए भी, जिसे एकमात्र और केंद्रीकृत सशस्त्र शक्ति की सहायता प्राप्त है, कानून व्यक्तियों और वर्गों में होनेवाले कलह को नहीं रोक सका, क्योंकि यह कलह के मनोवैज्ञानिक, आर्थिक और अन्य कारण दूर करने में समर्थ नहीं हुआ है। अपराध एवं उसका दंड सदा ही एक प्रकार का पारस्परिक बल-प्रयोग, विद्रोह और

नागरिक कलह होता है और पुलिस द्वारा भली प्रकार सुरक्षित और विधान-पालक समाजों में भी अभीतक अपराधों का बाहुल्य है; यहाँतक कि संगठित अपराध भी हो सकता है यद्यपि यह साधारणतः न तो टिक सकता है और न ही अपनी शक्ति को एक स्थान पर स्थिर कर सकता है; कारण, समाज की समस्त तीव्र भावना और उसका सफल संगठन उसके विरोध में होते हैं। पर यहाँ अधिक प्रयोजनीय बात यह है कि विधान संगठित राष्ट्र में नागरिक कलह और उग्र या सशस्त्र विरोध की संभावना को अभीतक रोक नहीं सका है, हाँ, उसने इसे कम अवश्य कर दिया है। जब कभी किसी वर्ग या सिद्धांत को यह प्रतीत हुआ कि उसके साथ असह्य अन्याय का व्यवहार हो रहा है या उसे दबाया जा रहा है और उसने देखा कि विधान और उसका सशस्त्र बल विरोधी हित के साथ इतनी समग्रता से जुड़ गये हैं कि विधान के नियमों को स्थगित करना और अत्याचार की उग्रता के विरुद्ध तीव्र रूप में विद्रोह करना ही एकमात्र इलाज रह गया है या एकमात्र इलाज प्रतीत होता है, तो उसने, सफलता की कुछ आशा दिखलायी देने पर, शक्ति द्वारा निर्णय करने के प्राचीन सिद्धांत का ही आश्रय लिया। अपने समय में भी हमने यह देखा है कि विधान का अत्यधिक पालन करनेवाले राष्ट्र भी दुःखदायी गृह-युद्ध के किनारे तक पहुँच जाते हैं और उत्तरदायी राजनीतिज्ञ यह घोषित कर देते हैं कि यदि कोई अवांछनीय नियम लागू कर दिया गया तो वे गृह-युद्ध का आश्रय लेने को तैयार हैं, चाहे यह विधान सर्वोच्च व्यवस्थापिका शक्ति द्वारा राजा की स्वीकृति के साथ ही पास किया गया हो।

किंतु ऐसी किसी भी शिथिल अंतर्राष्ट्रीय रचना में, जो वर्तमान समय में संभव है, सशस्त्र शक्ति फिर से अपने अंगभूत समुदायों में बंट जायेगी; यह इन समुदायों की ही होगी, इसपर किसी सर्वोच्च सत्ता, अति-राज्य या संघीय परिषद् का अधिकार नहीं होगा। यह अवस्था उन सामंतिक युगों के अस्त-व्यस्त संगठन से मिलती-जुलती होगी जिनमें प्रत्येक उमराव और सरदार के अपने अलग अधिकार-क्षेत्र और सैनिक-साधन होते थे और यदि वह काफी शक्तिशाली होता या अपने बहुत-से उमराव-मित्रों में से आवश्यक जन-बल प्राप्त कर सकता तो वह राजसत्ता के विरोध में खड़ा हो सकता था। और इस अवस्था में तो सामंतिक राजा की समकक्ष ऐसी सत्ता भी नहीं होगी—ऐसे राजा की जो और कुछ न भी हो, वास्तविक राजा भी न हो, कम-से-कम राजा का प्रधान उमराव तो हो—जो प्रभुत्व का गौरव रखती हो और जिसके पास इस गौरव को सुदृढ़ और स्थायी वास्तविकता बनाने के कुछ साधन हों।

एक संघटित सशस्त्र शक्ति राष्ट्रों और उनके पृथक्-पृथक् सैनिक बल पर नियंत्रण कर भी ले तो भी अवस्था में कुछ अधिक सुधार नहीं होगा; क्योंकि यह संघटित शक्ति विघटित हो जायेगी और इसके विभिन्न अंग युद्ध के प्रत्यक्ष रूप में छिड़ते ही अपने विरोधी उद्गमों की ओर लौट जायेंगे। विकसित राष्ट्र में व्यक्ति एक इकाई है और वह व्यक्तियों के समुदाय में खो गया है। युद्ध में वह जितनी शक्ति लगा

सकता है उसका वह ठीक-ठीक अनुमान नहीं कर सकता, जो व्यक्ति उससे संबंधित नहीं हैं उन सबसे वह डरता है क्योंकि उन्हें वह क्रुद्ध सत्ता के स्वाभाविक समर्थक मानता है; विद्रोह उसके लिये एक अत्यंत अनिष्टकारी और अचिंतनीय व्यापार है, यहांतक कि एक ऐसा प्रारंभिक षड्यंत्र है जो हर समय हजारों संकटों और आतंकों से परिपूर्ण रहता है; ये संकट जो दो-चार गिनी-चुनी संभावनाएं हैं उनके विरुद्ध भी अपनी भयंकर और ठोस दीवार खड़ी कर देते हैं। सिपाही भी एक अकेला व्यक्ति है, वह शेष सबसे डरता है, एक भयानक दंड उसके ऊपर झूलता रहता है, जरा-सी अविनय होते ही उसे उस दंड का भागी बनना पड़ता है, अपने साथियों में से वह किसी की सहायता पर निश्चित रूप से भरोसा नहीं कर सकता। उनकी ओर से थोड़ा विश्वास हो भी जाये पर नागरिकों में से तो उसे किसी से भी वास्तविक सहायता के मिलने का भरोसा नहीं होता। इस प्रकार वह उस नैतिक शक्ति से वंचित हो जाता है जो उसे विधान और सरकार की सत्ता की अवहेलना करने में उत्साहित करती है। अपनी साधारण भावना में भी वह किसी व्यक्ति, कुटुंब या वर्ग का नहीं है, वह राज्य और देश का है, या कम-से-कम उस मशीन का है जिसका कि वह एक अंग है। पर यहां ये अंग वे थोड़े-से राष्ट्र होंगे—जिनमें से कुछ शक्तिशाली साम्राज्य भी होंगे—जो अच्छी तरह पर्यवेक्षण कर सकते हैं, अपनी शक्ति का अनुमान लगा सकते हैं तथा यह जान सकते हैं कि कौन-कौन उनके मित्र हैं, तथा कितनी शक्ति उनके विरोध में है; उन्हें केवल सफलता या असफलता की संभावनाओं के विषय में ही सोचना पड़ेगा। संघटित सेना के सिपाही हृदय से अपने देश के होंगे, उस अस्पष्ट सत्ता के नहीं जो उनका संचालन करती है।

अतएव, एक ऐसे अंतर्राष्ट्रीय राज्य के वास्तविक विकास के रुके रहने पर, जिसका निर्माण इस ढंग से हुआ हो कि वह राष्ट्रों के एक शिथिल संघमात्र या फिर राष्ट्रीय सरकारों के प्रतिनिधियों के कोरे अधिवेशन से अलग कुछ हो, आदर्शवादियों द्वारा कल्पित शांति और एकता का शासन इन राजनीतिक या प्रशासनीय साधनों द्वारा कभी स्थापित नहीं हो सकता अथवा यदि स्थापित हो भी जाये तो सुरक्षित तो कभी भी नहीं रह सकता। स्वयं युद्ध को उड़ा भी दिया जाये तो भी जिस प्रकार राष्ट्र में व्यक्ति अपराध करते हैं, वर्गों के झगड़ों में दुःखदायी सामूहिक हड़तालें होती हैं वैसे ही इस अंतर्राष्ट्रीय राज्य में झगड़े के और ढंग निकल आयेंगे और ये युद्ध से भी अधिक भयंकर हो सकते हैं। पर इनकी भी आवश्यकता है, प्रकृति की व्यवस्थित प्रणाली में इनका आना अनिवार्य है, इनका प्रयोजन अहंमूलक वैमनस्य, लालसा और महत्वाकांक्षा की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता को पूरा करना ही नहीं है बल्कि ये अन्याय, दमित अधिकारों और विफल संभावनाओं के विचार के विकास और उसके विरुद्ध रक्षा के साधन भी हैं। नियम सदा वही है। जहां अहंभाव कार्य का उद्गम है वहां इसके अपने वास्तविक परिणाम और प्रतिक्रियाएं तो सामने आयेंगी ही, बाह्य

मशीनरी इन्हें कितना भी कम कर दे, इन्हें दबा दे, पर अंत में इनका विस्फोट निश्चित रूप में होगा ही; इसमें समय लग सकता है पर सदा के लिये इसे रोका नहीं जा सकता।

इतना तो प्रत्यक्ष है कि किसी शक्तिशाली केंद्रीय नियंत्रण के बिना कोई भी शिथिल रचना संतोषप्रद, सफल या स्थायी नहीं हो सकती, वह चाहे उस रचना से कितनी भी कम शिथिल, कितनी भी अधिक दृढ़ क्यों न हो जिसका निकट भविष्य में विकसित होना इस समय संभव प्रतीत हो रहा है। वस्तुस्थिति की यह मांग है कि अब अगला कदम उठाया जाना चाहिये, एक प्रबलतर कठोरता के लिये और राष्ट्रीय स्वाधीनताओं के सिमटाव तथा एक ऐसी अद्वितीय केंद्रीय सत्ता की स्थापना के लिये कार्य करना चाहिये जिसका पृथ्वी की समस्त जातियों पर एक-सा नियंत्रण हो।

सफलता की कुछ दिशाएं

वर्तमान समय में जो रूप, शक्तियां और प्रणालियां संभव हैं या भविष्य में जिनके प्रकट होने की संभावना है उनमें से किस भाग्यशाली रूप, शक्ति और प्रणाली को जगत् की गुप्त 'इच्छाशक्ति' मनुष्यजाति के बाह्य एकीकरण का कार्य सौंपिगी, यह एक मनोरंजक विषय है, तथा उनके लिये जो तात्कालिक घटनाओं के सीमित क्षेत्र के पार देख सकते हैं, चिंतन के योग्य आकर्षक विषय भी है; पर दुर्भाग्य से इस समय यह इससे अधिक कुछ नहीं हो सकता। मानवजाति के इस युग की अनेकों संभावनाएं ही,—ऐसे युग की जो अत्यधिक विभिन्न और प्रबल शक्तियों से आच्छादित है तथा जिसमें नये आंतरिक विकास और बाह्य परिवर्तन अधिकता से हो रहे हैं,—एक अभेद्य कुहरा उत्पन्न कर देती हैं जिसमें बृहत् वस्तुओं के केवल अस्पष्ट रूपों का ही आभास मिलता है। ऐसी अनिश्चित अवस्था में हम केवल वे ही विचार प्रस्तुत कर सकते हैं जिनकी प्रेरणा हमें शक्तियों की वर्तमान स्थिति और विगत अनुभवों से प्राप्त होती है।

आजकल की अंतर्राष्ट्रीय अवस्थाओं तथा अंतर्राष्ट्रीय मनोवृत्ति एवं नैतिकता की वर्तमान स्थिति में स्वतंत्र राष्ट्रीयताओं के संगठन के आधार पर की जानेवाली तात्कालिक व्यवस्था के विचार को हमने क्रियात्मक रूप से असंभव समझकर छोड़ दिया है, यद्यपि यह प्रत्यक्ष है कि यह एक आदर्श आधार हो सकता था, क्योंकि इसकी मूल प्रेरक शक्ति वर्तमान समय के दो महान् सिद्धांतों, राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता की समस्वरता में निहित होती। इसे अपनाने का यह अर्थ होता कि मानव-एकता की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न एक युक्तिपूर्ण तथा साथ ही दृढ़ नैतिक आधार पर किया जा रहा है; एक ओर तो मनुष्यों के सभी विशाल प्राकृतिक समुदायों के जीवित रहने तथा अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखने का अधिकार स्वीकार करना पड़ता तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता को मानव-व्यवहार का प्रतिष्ठित सिद्धांत मानकर उसे सम्मानयुक्त स्थान देना होता, और दूसरी ओर एकीकृत और संघबद्ध मानवजाति में व्यवस्था, सहायता, सर्वसाधारण के पारस्परिक सहयोग तथा सामान्य जीवन और हितों की आवश्यकता यथेष्ट मात्रा में अनुभव करनी होती। आदर्श समाज या आदर्श राज्य वह होता है जिसमें व्यक्ति की पूर्णता के लिये उसकी वैयक्तिक स्वाधीनता और स्वतंत्र विकास को भी उतना ही महत्त्व दिया जाता है जितना कि समष्टि—समाज या राष्ट्र—की आवश्यकताओं अर्थात् निपुणता, एकता, स्वाभाविक प्रगति और आभ्यंतरिक पूर्णता को दिया जाता है। इसी प्रकार समस्त मनुष्यजाति के आदर्श

समुदाय, अंतर्राष्ट्रीय समाज या राज्य में भी राष्ट्रीय स्वाधीनता एवं स्वतंत्र राष्ट्रीय विकास और आत्म-चरितार्थता को मानवजाति की एकता और संयुक्त प्रगति एवं पूर्णता के साथ उत्तरोत्तर संगति प्राप्त करते जाना चाहिये।

अतएव, यदि यह मूल सिद्धांत स्वीकार कर लिया जाता तो भी कुछ हेर-फेर अवश्य होते क्योंकि उस अवस्था में स्थितियों के एक पूर्ण कार्यकारी संयोग के उपस्थित होने में कठिनाई आती। राष्ट्रीय समुदाय के विकास में ऐसा ही हुआ था; एक समय उसमें स्वाधीनता पर जोर दिया गया था तो दूसरे समय निपुणता और व्यवस्था पर। पर, क्योंकि समस्या की ठीक स्थिति प्रारंभ से ही समझ ली गयी होती और इसके सुलझाने का कार्य अज्ञानपूर्ण संघर्ष पर न छोड़ा गया होता तो किसी उचित समाधान के शीघ्र ही हो जाने की कुछ आशा हो सकती थी और तब इस प्रक्रिया में विशेष तनाव और उपद्रव भी न होता।

किंतु मानवजाति के ऐसे अपूर्व सौभाग्य की संभावना कहां! और आदर्श अवस्थाओं की आशा की भी नहीं जा सकती क्योंकि वे एक ऐसी मनोवैज्ञानिक स्पष्टता, व्यापक विवेकशीलता, वैज्ञानिक बुद्धि तथा सबसे बढ़कर एक ऐसी नैतिक उच्चता तथा सच्चाई की मांग करती हैं जिनकी ओर न तो जनसमुदाय और न उसके नेता और शासक ही अभी तक प्रवृत्त हुए हैं। इनके अभाव में विवेक, न्याय और पारस्परिक दया-भाव को नहीं वरन् शक्तियों की प्रवृत्ति तथा उनके क्रियात्मक और वैधानिक समन्वय को इसका तथा अन्य समस्याओं का समाधान करना पड़ेगा। वैयक्तिक अहंभाव और समाज के सामूहिक अहंभाव की मुठभेड़ के साथ-साथ मध्यवर्ती शक्तियों के अनवरत संघर्ष ने, वर्ग-वैमनस्य ने तथा चर्च और राज्य के, राजा और सामंतों के, पूंजीवादी मध्यवर्ग और श्रमी निम्नवर्ग के झगड़ों ने जिस प्रकार राज्य और व्यक्ति की समस्या को आक्रांत और आच्छन्न कर दिया है उसी प्रकार ठीक ऐसी ही मध्यवर्ती शक्तियों की मांगें राष्ट्र और अंतर्राष्ट्रीय मानवता की इस समस्या को भी निश्चित रूप से आक्रांत कर देंगी। व्यापारिक हितों और मेलों को, सांस्कृतिक या जातीय समवेदनाओं को तथा सर्व-इस्लामवाद, सर्व-स्लाववाद, सर्व-जर्मनवाद, सर्व-एंग्लो-सैक्सनवाद और भविष्य में प्रकट होनेवाले सर्व-अमरीकनवाद एवं सर्व-मंगोलियनवाद को छोड़ भी दिया जाये, साथ ही उन भीमकाय दैत्यों को भी छोड़ दिया जाये जो अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं तो भी साम्राज्यवाद का, उस विशालकाय सशस्त्र और दुर्दांत राक्षस का महान् मध्यवर्ती प्रश्न तो बना ही रहेगा जिसके स्वभाव में ही यह निहित है कि वह प्रत्येक पददलित अथवा असुविधाजनक राष्ट्रीय इकाई को हानि पहुंचाकर अपनी इच्छापूर्ति करना चाहता है और इस बात पर आग्रह करता है कि उसकी अपनी आवश्यकताओं को नवोदित अंतर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता की अपेक्षा प्रमुख स्थान मिलना चाहिये। यह तो मानना पड़ेगा कि यह परितोष उसे कुछ समय के लिये मिलना चाहिये, उसकी इस मांग को बहुत समयतक रोकना संभव नहीं होगा। जो कुछ भी हो, उसकी मांगों की अवहेलना करना या यह कल्पना करना कि

वे कलम के जोर से समाप्त की जा सकती हैं, असंभवनीय आदर्शवाद की स्वर्णिम बालू पर सुंदर किले बनाने के समान होगा।

सिद्धांत को वास्तविक रूप में कार्यान्वित करने में प्रमुख स्थान शक्तियों का होता है, नैतिक सिद्धांतों, विवेक और न्याय को वहींतक स्थान मिलता है जहांतक शक्तियां उन्हें स्वीकार करने के लिये बाधित हो जाती हैं अथवा उकसा दी जाती हैं या फिर, जैसा कि प्रायः होता है, उनका प्रयोग गौण साधनों या युद्ध के उत्तेजक नारों के रूप में अथवा अपने हितों पर परदा डालने के लिये किया जाता है। कभी-कभी विचार सशस्त्र शक्तियों के रूप में भी फूट पड़ते हैं और आदर्शविहीन शक्तियों के घेरे को तोड़कर अपना मार्ग बना लेते हैं, इसके विपरीत कभी-कभी वे हितों को अपने अधीनस्थ सहायक भी बना लेते हैं जो उनकी स्वार्थाग्नि में ईंधन का काम करते हैं और कभी तो वे बलिदानों के द्वारा भी विजय प्राप्त करते हैं; पर साधारणतया उन्हें अप्रत्यक्ष दबाव के द्वारा नहीं बल्कि प्रबल शक्तियों के अनुकूल रहकर ही कार्य करना होता है, यहांतक कि इन्हें रिक्षत देनी और इनकी लल्लो-चप्पो करनी पड़ती है अथवा इनके द्वारा और इनके पीछे रहकर कार्य करना पड़ता है। इससे भिन्न और कोई स्थिति हो भी नहीं सकती जबतक कि साधारण तथा सामाजिक मनुष्य में बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक गुण अधिक और प्राणिक, भावुक तथा अर्द्ध-विचारशील नर-पशु के गुण अपेक्षाकृत कम नहीं हो जाते। अचरितार्थ अंतर्राष्ट्रीय विचार को तो अभी कम-से-कम कुछ समय के लिये इसी गौण विधि से तथा राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद की प्राप्त शक्तियों के अनुकूल रहकर ही कार्य करना पड़ेगा।

यह प्रश्न उठ सकता है कि जबतक दृढ़ और व्यवस्थित प्रणाली की पूर्ण स्थापना के लिये अवस्थाएं तैयार होती हैं तबतक क्या न्याययुक्त अंतर्राष्ट्रीयता का विचार, जिसके मूल में स्वतंत्र राष्ट्रीयताओं के सिद्धांत के प्रति आदरभाव है, कहीं संसार के विचारकों और बुद्धिजीवियों के प्रयत्नों के फल-स्वरूप इतनी प्रगति तो नहीं कर लेगा कि उसका राज्यों और सरकारों पर इतना अदम्य दबाव पड़े कि वे उसकी मांगों को पूर्ण रूप से नहीं तो अधिकांश में ही स्वीकार कर लें। इसका उत्तर यह है कि राज्य और सरकारें साधारणतः एक नैतिक दबाव के आगे केवल वहींतक झुकती हैं जहांतक वह उन्हें अपने प्रधान हितों का बलिदान करने के लिये विवश नहीं करता। कोई भी सुदृढ़ साम्राज्य अपने अधीनस्थ देशों को आसानी से मुक्त नहीं करेगा, न ही वह, विवश हुए बिना, किसी ऐसे राष्ट्र को, जो इस समय उसके अधीन है, अंतर्राष्ट्रीय समिति के अधिवेशन में, अपने समान ही स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में भाग लेने की अनुमति देगा। स्वाधीनता का पुराना उत्साह एक ऐसा आदर्श है जिसने फ्रांस को स्वतंत्र इटली के विकास में सहायता देने अथवा फ्रांस और इंग्लैंड को एक नया ग्रीक राष्ट्र उत्पन्न करने की प्रेरणा दी। वे राष्ट्रीय स्वाधीनताएं जिनकी प्रतिष्ठा की मांग युद्ध के समय में तलवार के बल पर की जाती थी—अब तो यूं कहना चाहिये कि तोप की

आवाज के साथ की जाती है—केवल वही थीं जो पहले से स्थापित हो चुकी थीं और इसलिये उनका अभी भी जीवित रहने का अधिकार समझा जाता था। इसके आगे केवल एक बात की मांग और की गयी कि इस समय जो स्वतंत्र राज्य विद्यमान हैं उनमें वे प्रदेश मिला दिये जायें जिनमें उनके अपने राष्ट्र के वे लोग रहते हैं जो अभीतक विदेशी जुए के नीचे हैं। यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि एक बृहत्तर सर्बिया, एक बृहत्तर रूमानिया का निर्माण किया जाये, इटली का 'अनधिकृत' प्रदेश पुनः प्राप्त कर लिया जाये और अलसास-लौरेन फ्रांस को वापिस मिल जाये। पोलैंड को केवल रूसी प्रभुत्व के नीचे ही स्वायत्त शासन देने का वचन दिया गया था जबतक कि रूस के ऊपर जर्मनी की विजय ने मित्रराष्ट्रों की रुचि और उसके साथ-साथ उनके आदर्शवाद को ही नहीं बदल दिया। बहुत-से लोग आजकल साम्राज्यीय आधिपत्य के नीचे अथवा, जहां यह नहीं होता, साम्राज्यीय 'संरक्षण' या 'प्रभाव' के नीचे एक प्रकार के स्वायत्त शासन को राष्ट्रीय स्वतंत्रता की पुनः स्थापना से अधिक क्रियात्मक विचार मानते हैं। यह शायद संघबद्ध साम्राज्यों के एक ऐसे सिद्धांत के अस्पष्ट विकास की ओर संकेत करता है जिसपर हम भविष्य की एक संभावना के रूप में विचार कर चुके हैं। राष्ट्रीय स्वाधीनता को एक पूर्ण आदर्श के रूप में अब वह सामान्य स्वीकृति नहीं मिलती जो उसे पहले मिलती थी और न ही उसकी अब कोई सृजनात्मक शक्ति ही रही है। स्वाधीनता के लिये संघर्षरत राष्ट्रों को अब केवल अपने उत्साह और सामर्थ्य पर ही निर्भर रहना पड़ता है। वे दूसरों से केवल एक साधारण-सी अथवा अनिश्चित सहायता की ही आशा कर सकते हैं, कुछ उत्साही व्यक्ति या छोटे-मोटे समुदाय उन्हें अवश्य सहायता देते हैं, पर वह भी केवल मौखिक और निष्प्रभाव ही होती है। अत्युन्नत बुद्धिशाली व्यक्तियों में से भी बहुत-से आजकल के अधीन राष्ट्रों के लिये आश्रित स्वायत्त शासन के विचार का उत्साहपूर्वक समर्थन करते हैं, पर प्रतीत ऐसा होता है कि वे उनकी पूर्ण स्वाधीनता की हल्की-सी इच्छा को भी सहन नहीं करते। साम्राज्यवाद अपनी प्रगति के मार्ग पर इतनी दूर पहुंच गया है और साम्राज्यीय समुदाय ने अत्यधिक स्वतंत्र कल्पनावाले व्यक्तियों को भी इतना प्रभावित कर दिया है कि वे भी इसे मानव-विकास में एक चरितार्थ शक्ति मानने लगे हैं।

मानवजाति की अपने अंतर्राष्ट्रीय अस्तित्व को अधिक विशाल और अधिक निर्बाध दिशाओं में संगठित करने की नयी प्रेरणा के द्वारा चालित होकर यह भावना और कितनी आगे बढ़ेगी यह कौन कह सकता है ! यह भी संभव है कि वह अधीरता जो जर्मन अपने साम्राज्यीय काल में छोटे राष्ट्रों के लगातार बने रहने के विरुद्ध स्पष्ट रूप में प्रकट करता था—ये राष्ट्र अपने विहित अधिकारों द्वारा बृहत् राजनीतिक और व्यापारिक संघों का दृढ़तापूर्वक विरोध करते थे—अपनी कठोरता को कम करके भी भविष्य में अपनी मांग को उचित ठहरा सकती है, साथ ही मानवजाति की सामान्य

बुद्धि के द्वारा स्वीकार भी की जा सकती है यद्यपि तब इसका रूप इतना क्रूर, गर्वीला और अत्यंत अहंकारपूर्ण नहीं रहेगा। अर्थात् मनुष्यजाति के राजनीतिक विवेक में एक अधिक बलवती प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है जो मिश्रित साम्राज्यों और स्वतंत्र राष्ट्रों की पूर्व दशा के आधार पर नहीं, वरन् विशाल साम्राज्यीय समुदायों की प्रणाली के अनुसार राज्यों की पुनः व्यवस्था करना चाहेगी और शायद अंत में उसपर आग्रह भी करेगी।^१

परन्तु यह विकास न भी हो, अथवा समय पर अपने-आपको चरितार्थ न भी करे, तो भी वर्तमान समय के स्वतंत्र और असाम्राज्यीय राज्य अपने-आपको किसी भी ऐसी अंतर्राष्ट्रीय परिषद् या अन्य प्रणाली के अंतर्गत पायेंगे जो उस समय स्थापित हो जायेगी, पर उनकी यह स्थिति बहुत कुछ वैसी होगी जैसी मध्ययुग के छोटे उमरावों की बड़े सामंतिक उमरावों की तुलना में थी, यह स्थिति समानता की नहीं, वरन् अधीनता की होगी। युद्ध ने यह तथ्य स्पष्ट कर दिया है कि अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से केवल बड़ी शक्तियाँ ही महत्त्व रखती हैं; अन्य सबका अस्तित्व तो केवल अधीनता, संरक्षण या मित्रता के आधार पर होता है। जबतक संसार की व्यवस्था पृथक् राष्ट्रीयताओं के सिद्धांत पर आधारित थी यह एक गुप्त तथ्यमात्र रहा और इससे छोटे राष्ट्रों के जीवन पर कोई वास्तविक महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा, पर जब संयुक्त कार्य की अथवा एक अनवरत सक्रिय और अन्योन्य-कार्य की आवश्यकता विश्व-प्रणाली का एक स्वीकृत अंग या आधार बन जायेगी तो यह सुरक्षा समाप्त हो सकती है। जो छोटा राष्ट्र महान् शक्तियों या शक्तियों के एक समुदाय की इच्छा के विरोध में खड़ा हो जाता है उसकी स्थिति वर्तमान युद्ध में तटस्थ रहनेवाली छोटी शक्तियों अथवा बड़े न्यासों द्वारा घिरी हुई निजी कंपनी की स्थिति से भी अधिक खराब हो जायेगी। उसे किसी एक या दूसरे शोषकदल का नेतृत्व स्वीकार करने के लिये विवश होना पड़ेगा जब कि राष्ट्र-परिषद् में उसका अपना स्वतंत्र महत्त्व या कार्य कुछ नहीं होगा।

इसमें कोई संदेह नहीं कि साम्राज्यीय उत्पीड़न के विरोध में छोटे राष्ट्रों का अपना अस्तित्व रखने और अपने हितों का प्रबल समर्थन करने का अधिकार अभीतक एक शक्तिशाली प्रवृत्ति है; कम-से-कम यह अंतर्राष्ट्रीय टक्कर के विवादास्पद प्रश्नों में से एक अवश्य था। किंतु अकेली सत्ताकांक्षी शक्ति के उत्पीड़न के विरोध में इस अधिकार का आग्रह एक बात है और राष्ट्रों के सामान्य हित के लिये बड़ी शक्तियों के बहुमत द्वारा निर्णीत व्यवस्था के विरुद्ध इसका आग्रह निकट भविष्य में संभवतः एक बिल्कुल अलग चीज मानी जायेगी; कुछ छोटी तटस्थ शक्तियाँ अलग रहने की तथा विशाल अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष से यथासंभव कम प्रभावित होने की इच्छा करती थीं। इनकी

^१ यदि इटली, जर्मनी और जापान की महत्वाकांक्षाओं की तथा सामान्य रूप से फासिस्ट सिद्धांतों की विजय हो जाती तो उसके फलस्वरूप ऐसी व्यवस्था हो सकती थी।

असुविधा को उस समय के वे योद्धा-राष्ट्र ही तीव्र रूप में अनुभव नहीं करते थे जिन्हें इन असुविधाओं को कम करने के लिये कभी प्रत्यक्ष और कभी अप्रत्यक्ष दबाव का प्रयोग करना पड़ता था, बल्कि वे शक्तियां स्वयं भी अनुभव करती थीं, क्योंकि वे तटस्थता की वृत्ति को युद्ध में सक्रिय भाग लेने के बोझ और कष्ट से कम अनिष्टकारी मानती थीं, और इसीलिये वे इसे पसंद भी करती थीं। किसी भी अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली में इन छोटी स्वतंत्र शक्तियों की यह मांग एक तुच्छ अहंभावना मानी जा सकती है, साथ ही यह बृहत् सामान्य हितों के लिये, अथवा, यह भी संभव है कि महान् विश्वव्यापी हितों के आपसी संघर्षों के निपटारे के लिये एक असह्य बाधा समझी जायेगी। ऐसा वास्तव में हो सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय एकता के किसी भी संविधान में महान् शक्तियां इस बात का ध्यान रखेंगी कि उनके अपने बल और प्रभाव के अनुरूप ही उनकी आवाज भी होनी चाहिये; पर संविधान का बाह्य रूप जनतंत्रीय हो तो भी व्यवहार-रूप में यह महान् शक्तियों का कुलीन-तंत्र ही बन जायेगा। संविधान तथ्यों को केवल छिपा सकते हैं, उन्हें नष्ट नहीं कर सकते; कारण, संविधान के मूल में कोई भी विचार क्यों न हो, पर इसका कार्य तो सदा उस समय की उन चरितार्थ शक्तियों का ही होता है जो उसे प्रभावकारी रूप से कार्यान्वित कर सकती हैं। आजकल अधिकांश सरकारों का रूप जनतंत्रीय है या उनका यह रूप रहा है, पर वास्तव में अभीतक सच्चा जनतंत्रीय राज्य कहीं भी नहीं हुआ। जो लोग जनता के नाम से शासन करते थे वे वास्तव में सर्वत्र ही पूंजीपति, व्यावसायिक और मध्यवर्गीय लोग होते थे। इसी प्रकार किसी भी अंतर्राष्ट्रीय परिषद् या नियंत्रण में मानवता के नाम से कुछ बड़े साम्राज्य ही शासन करेंगे।

यदि यह बात न भी हो तो भी ऐसी स्थिति साधारणतया कुछ समय के लिये ही रह सकती है; अधिक देरतक तो यह तभी रह सकती है जब कि कुछ ऐसी नयी शक्तियां आगे आकर कार्य शुरू कर दें जिनका काम ही बड़े साम्राज्यीय समुदाय बनाने की प्रवृत्ति को—यह प्रवृत्ति आजकल सारे संसार में बड़ी प्रबल है—रोकना या नष्ट करना होगा। तब अवस्था कुछ काल के लिये लगभग उस समय के सामंतिक यूरोप की अवस्था के समान हो जायेगी जब वह असमय में संयुक्त ईसाई राज्य स्थापित करने के लिये परिश्रम कर रहा था—कुछ अत्यंत विरोधी, विषमजातीय, जटिल और उलझे हुए हित एक-दूसरे को पराभूत करने की चेष्टा में थे, कुछ छोटी कम महत्वपूर्ण शक्तियां भी थीं जो कुछ बड़ी शक्तियों द्वारा आक्रांत तथा आंशिक रूप में विवश कर दी गयी थीं, उधर बड़ी शक्तियां अपने संयुक्त, विभाजित और विरोधी हितों की अनिवार्य जटिलता में से निकलने के लिये संघर्ष कर रही थीं, इसके लिये वे उन सभी साधनों का प्रयोग करती थीं जो उन्हें नयी प्रणाली से प्राप्त होते थे, वर्गों, विचारों, प्रवृत्तियों और संस्थाओं की जो भी सहायता उन्हें मिल सकती थी उसका वे इस उद्देश्य के लिये उपयोग करती थीं। तब एशियाई, अफ्रीकी और

अमरीकी जागीरों और बाजार के एवं वर्गों के संघर्ष के प्रश्न भी उठ खड़े होंगे। ये प्रश्न प्रारंभ तो राष्ट्रीय प्रश्नों के रूप में होंगे, पर बाद में अंतर्राष्ट्रीय बन जायेंगे। समाजवाद, अराजकतावाद और मानवजाति का अवशिष्ट प्रतियोगीय युग प्रधानता प्राप्त करने के लिये आपस में संघर्ष करने लगेंगे; यूरोपीयवाद, एशियाईवाद, अमरीकनवाद की आपसी टक्करें शुरू हो जायेंगी। इस विशाल उलझन का कोई-न-कोई हल तो निकालना ही पड़ेगा। ऐसा करने के लिये शायद उन साधनों का भी प्रयोग करना पड़ेगा जो हमारे सुपरिचित ऐतिहासिक साधनों से बहुत भिन्न होंगे। अंतर्राष्ट्रीय समानतंत्र या राजसंघ में युद्ध समाप्त किया जा सकता है अथवा उसे कभी-कभी होनेवाले गृहयुद्धतक सीमित किया जा सकता है। दबाव के नये ढंग—उदाहरणार्थ व्यापारिक ढंग जिन्हें हम आजकल बहुत बढ़ते हुए देख रहे हैं—साधारणतया इसका स्थान ले सकते हैं; कई और ऐसी युक्तियाँ भी गढ़ी जा सकती हैं जिनकी हम इस समय कल्पना भी नहीं कर सकते। पर सामान्य मानवजाति की स्थिति फिर भी आवश्यक रूप में वैसी ही रहेगी जैसी भूतकाल में अपेक्षाकृत छोटे अर्निर्मित समुदायों की थी, इसे सफलता, आंशिक सफलता या असफलता के उसी प्रकार के तथ्यों की ओर प्रगति करनी होगी।

इस समस्या को सुलझाने का सबसे अधिक स्वाभाविक और सरल समाधान यह होगा—यद्यपि यह समाधान आज संभव नहीं दीखता—कि संसार को कुछ ऐसे साम्राज्यीय समुदायों में विभक्त कर दिया जाये जो कुछ अंश में संघीय और कुछ अंश में राज्यसंघाधीन समानतंत्रों या साम्राज्यों से निर्मित हों। राष्ट्रीय अहंभावों की वर्तमान शक्ति को देखते हुए ऐसा समाधान यद्यपि किया नहीं जा सकता, पर विचारों की प्रगति और बदलती हुई परिस्थितियों की शक्ति किसी दिन एक ऐसी रचना को जन्म दे सकती हैं और इसके फलस्वरूप एक अधिक संयुक्त राज्यसंघ स्थापित हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अमरीका उत्तरोत्तर विश्वबंधुत्व की ओर बढ़ रहे संयुक्तराज्य और मध्य और दक्षिण अमरीका के लैटिन गणराज्यों के बीच एक ऐसे श्रेष्ठतर समझौते की ओर अस्पष्ट रूप में झुक रहा है जिससे कभी संयागवश एक राज्यसंघाधीन अंतर-अमरीकन राज्य बनाने में सफलता प्राप्त हो सकती है। यदि युद्ध के परिणामस्वरूप जर्मनी और आस्ट्रिया के राज्य पूर्ण रूप से भंग न हो जाते तो राज्यसंघाधीन ठ्यूटोनिक साम्राज्य का सिद्धांत निकट भाविष्य में कार्यान्वित हो भी सकता था; अब इनके टूट जाने पर भी यह सिद्धांत सुदूर भविष्य में चरितार्थ हो सकता है।' इसी प्रकार के समुदाय एशियाई संसार में भी प्रकट हो सकते हैं। मनुष्यजाति को इन बड़े प्राकृतिक समुदायों में विभाजित कर देने से एक लाभ यह होगा कि कुछ कठिन विश्व-समस्याएं सरल हो जायेंगी और शांति, आपसी समझौते

दुर्भाग्यवश, फ्यूहरर (Führer) के अधीन सैनिक जर्मनी के भयानक रूप से बने रहने के कारण डम परिणाम की निर्यात में विलीन होना ही लिखा है।

और महत्तर विचारों के बढ़ने और विकसित होने से विश्व-राज्य का संगठन अपेक्षाकृत कम कठिनाई से हो सकेगा।

राष्ट्र के अपने पहले अनिश्चित सामंतिक रूप में से वर्तमान रूप में विकसित होने का उदाहरण एक अन्य संभवनीय समाधान उपस्थित करता है। जिस प्रकार वहां विभिन्न बलों और समान शक्तियों के सतत संघर्ष ने अपने में से एक को, अपने बराबरीवालों में से प्रमुख को अर्थात् सामंतिक राजा को आवश्यक रूप से उठने का अवसर दिया जिसने एक केंद्रित राज्यतंत्र का रूप धारण कर लिया, उसी प्रकार यह सोचा जा सकता है कि यदि संसार के साम्राज्य और राष्ट्र आपस में एक शांतिपूर्ण समाधानतक पहुंचने में असफल हो जायें, यदि वर्ग-कठिनाइयों, अंतर्व्यावसायिक कठिनाइयों, अनेकों नये विचारों और प्रवृत्तियों के संघर्षों का फल एक लंबी अव्यवस्था, उत्पात या सतत परिवर्तन हो, तो एक ऐसा राजा-राष्ट्र उत्पन्न हो सकता है जिसका कार्य ही यह होगा कि वह अर्द्ध-अव्यवस्था या अर्द्ध-व्यवस्था में से एक वास्तविक और स्थायी व्यवस्था विकसित कर ले। हम इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके हैं कि किसी एक राष्ट्र द्वारा संसार की सैनिक विजय संभव नहीं है, और जिन अवस्थाओं में ऐसा हो सकता है वे न तो आजकल उपस्थित हैं और न ही उनके प्रकट होने की कोई प्रत्यक्ष संभावना ही है। पर एक साम्राज्यीय राष्ट्र, उदाहरणार्थ इंग्लैंड, सारे संसार पर छा गया है, समुद्रों पर उसका अधिकार है, अपने निर्मायक अंगों को सफलतापूर्वक संघबद्ध करना और उनके संपूर्ण अंतर्निहित बल की व्यवस्था करना वह जानता है, अपने-आपको नवीन युग की अत्यधिक उन्नतिशील उदार प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि और संरक्षक बनाने में वह प्रवीण है, वह अपनी विजय में रुचि रखनेवाली अन्य शक्तियों और राष्ट्रों के साथ मित्रता स्थापित करता है और इस बात का प्रमाण देता है कि वह एक न्याययुक्त और सफल अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का भेद जानता है; वह संभवतः राष्ट्रों का पंच और अंतर्राष्ट्रीय सरकार का सफल केंद्र बन सकता है; पर इस संभावना का किसी भी रूप में चरितार्थ होना अभीतक बहुत दूर की बात है। किंतु नयी परिस्थितियों में यह भविष्य में पूरी हो भी सकती है।

यदि विश्व-संगठन का कार्य बहुत कठिन सिद्ध हुआ, यदि एक स्थायी समझौता न हो सका अथवा एक सुनिर्मित वैधानिक सत्ता स्थापित न की जा सकी तो इस कार्य को एक साम्राज्य नहीं, बल्कि ऐसी दो या तीन महान् साम्राज्यीय शक्तियां हाथ में ले सकती हैं जिनकी रुचियां आपस में इतनी मिलती हों तथा जो विचार में भी इतनी एक-रूप हों कि वे अपने संभावित विरोधों और ईर्ष्याओं को समाप्त कर दें; उनमें समस्त प्रतिरोध का दमन करने अथवा उसे दबा देने और एक प्रकार का सफल अंतर्राष्ट्रीय कानून और शासन लागू करने की सामर्थ्य भी होनी चाहिये।' तब प्रक्रिया

कष्टप्रद अवश्य होगी और साथ ही उसमें नैतिक और आर्थिक दबाव की अत्यधिक क्रूरता भी हो सकती है, पर यदि उसे सफलता का श्रेय प्राप्त हो जाये या वह वैधानिकता और न्याय का या कम-से-कम एक समृद्ध व्यवस्था का व्यावहारिक-सारूप भी विकसित कर ले तो वह अंत में एक सार्वजनिक नैतिक सहायता प्राप्त कर सकती है तथा स्वतंत्रतर और श्रेष्ठतर रूपों का प्रारंभ-स्थल सिद्ध हो सकती है।

एक और संभावना, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, यह है कि केवल अंतःसरकारी और राजनीतिक विकास में—और हमने केवल इसीपर विचार किया है—बहुत समय से उमड़ने-धुमड़नेवाला वर्ग-युद्ध व्याघात पहुंचा सकता है। युद्ध की भयानक कसौटी पर श्रमिक अंतर्राष्ट्रीयतावाद भी उसी प्रकार नष्ट हो गया जैसे अंतर्राष्ट्रीयतावाद के अन्य रूप—वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, शांतिवादी और धार्मिक—नष्ट हो गये थे और महान् संकट के समय श्रम और पूंजी का आपसी संघर्ष भी रुक गया था। उस समय यह आशा की जाती थी कि युद्ध के बाद एकता, मेल और समझौते की भावना प्रबल हो जायेगी और जिस संघर्ष का भय है वह टाला जा सकेगा। मानव-प्रकृति या इतिहास की कोई भी चीज उस समय की आशाओं में इस प्रकार का दृढ़ विश्वास नहीं बंधाती थी। यूरोपीय संघर्ष की भांति अंतर्वर्गीय विरोध भी बहुत समय से मंडरा रहा था। यूरोपीय संघर्ष के आने से पूर्व विश्वशांति की अत्यधिक आशा की गयी थी तथा यूरोपीय सहयोग और पंच-निर्णय-विषयक संधियों के लिये प्रयत्न किये गये थे जिससे कि युद्ध अंतिम रूप से असंभव हो जाये। यह आशा कि श्रमिक और पूंजीपति समरस होकर उच्चतर राष्ट्रीय हितों के लिये परस्पर मधुर समझौते के गीत गाते हुए संघर्ष के समस्त तीव्र कारणों को सरस ढंग से सुलझा देंगे वंचनापूर्ण और भ्रमात्मक है। सरकारों को समाजवादी रूप और उद्योग को अधिकाधिक राष्ट्रीय रूप दे देने से भी संघर्ष के मूल कारण दूर नहीं होंगे। कारण, नये राज्य-समाजवाद के रूप तथा उसकी अवस्थाओं का यह कठिन प्रश्न तब भी बना रहेगा कि इसकी व्यवस्था श्रम के हित में होगी या पूंजीवादी राज्य के और इसका संचालन जनतंत्रीय दिशा में स्वयं कार्यकर्ताओं द्वारा होगा अथवा वर्तमान शासक-वर्गों द्वारा कुलीनतंत्रीय या नौकरशाही ढंग से। यह प्रश्न उन विरोधों को जन्म दे सकता है जो बड़ी सरलता से एक अंतर्राष्ट्रीय या कम-से-कम एक अंतर्यूरोपीय संघर्ष का रूप धारण कर सकते हैं; जैसा कि युद्ध-संकट के समय हुआ था यह प्रत्येक राष्ट्र में एकता लाने के स्थान पर उसे दो में विभक्त भी कर सकता है। और इस प्रकार के संघर्ष के परिणामों का बहुत बड़ा प्रभाव हो सकता है—या तो मनुष्यों के विचार और उनका जीवन सक्रिय रूप में तो ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका की सम्मिलित शक्ति या इसकी विपरीत अवस्था में फासिस्ट शक्तियां जगत् में एक प्रारंभिक व्यवस्था आरोपित कर सकती हैं।

नयी दिशाएं ग्रहण कर लेंगे या फिर वर्तमान राष्ट्रों और साम्राज्यों की सीमाएं ही समाप्त हो जायेंगी।'

'यह कल्पित अनुमान राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय जीवन के युद्धोत्तर विकास द्वारा पूरी तरह सत्य सिद्ध हुआ तथा अधिकाधिक सत्य सिद्ध होता गया। स्पेन में अमानुषिक हत्याकांड, रूस, इटली और जर्मनी में समाजवाद के दो विरोधी रूपों का विकास, फ्रांस में विक्षुब्ध राजनीतिक स्थिति—ये सब इन प्रवृत्तियों की चरितार्थता के उदाहरण थे। पर जब साम्यवाद का जन्म हुआ तो यह प्रवृत्ति अपने उच्चतम शिखर तक पहुंच गयी; और ऐसा प्रतीत होता है कि भविष्य नयी दुनिया में साम्यवाद और अभी तक जीवित पूंजीउद्योगवाद में अथवा पुरानी दुनिया के दो महाद्वीपों में साम्यवाद और सामाजिक जनतंत्र की अधिक नरम प्रणाली में होनेवाले संघर्ष का द्रष्टा बनेगा। पर सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि जिन विचारों का इस अध्याय में उस समय उल्लेख किया गया था जब भविष्य की संभावनाएं वर्तमान संभावनाओं से कहीं अधिक भिन्न थीं और सब कुछ प्रवहमान तथा संदिग्ध अस्त-व्यस्तता से विक्षुब्ध था, वे अब पुराने पड़ गये हैं, क्योंकि एक इससे भी अधिक विस्मयजनक संघर्ष बीच में आ गया है और उसने उन सब अवस्थाओं का सफाया कर दिया है जो पहले विद्यमान थीं। फिर भी, उनमें से कुछ अभी जीवित हैं और वे नयी प्रायोगिक विश्व-व्यवस्था के लिये अथवा, सच पूछो तो किसी भी भावी विश्व-व्यवस्था के सुरक्षित विकास के लिये संकट उपस्थित करती हैं।

एकरूपता और स्वतंत्रता की समस्या

जिस प्रश्न से हमने आरंभ किया था उसका कुछ उत्तर तो मिल गया है। राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों के लिये तथा विशुद्ध राजनीतिक और प्रशासनीय साधनों द्वारा मनुष्यजाति के राजनीतिक एवं प्रशासनीय एकीकरण की संभावना को उतनी पूर्णता से जांच लेने के बाद, जितनी पूर्णता की हमारा ज्ञान हमें अनुमति देता है, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि यह केवल संभव ही नहीं है, वरन् मनुष्यजाति के विचारों और प्रवृत्तियों ने तथा तात्कालिक घटनाओं, वर्तमान शक्तियों और आवश्यकताओं के परिणाम ने निश्चयात्मक रूप से इस दिशा में कार्य करना आरंभ भी कर दिया है। यह संभावना मानव-विकास के प्रवाह में विश्व-प्रकृति द्वारा उत्पन्न एक प्रबल धारा है तथा मानवजाति के पिछले इतिहास और हमारी वर्तमान परिस्थितियों का युक्तियुक्त परिणाम है। तथापि पहले से यह भविष्यवाणी करनी उचित नहीं कि यह बिना कष्ट के शीघ्र ही विकसित हो जायेगी या अंत में इसे निश्चित रूप में सफलता ही प्राप्त होगी। इसके मार्ग की कुछ कठिनाइयां हम देख चुके हैं, साथ ही हम यह भी देख चुके हैं कि उन कठिनाइयों को पार करने के लिये यह क्रियात्मक रूप से किन दिशाओं में अग्रसर हो सकती है। हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि जो दिशा संभवतः इसे नहीं ग्रहण करेगी वही आदर्श दिशा है, मानवजाति की उच्चतम योग्यता और उसका सर्वश्रेष्ठ विचार तथा न्याय उसीकी मांग करते हैं, और इसे स्थायी सफलता की अधिकतम संभावना भी उसीसे प्राप्त हो सकती है। यह संभव है कि जबतक हमारे सामूहिक विकास का अगला युग नहीं आ जाता, यह स्वतंत्र और समान राष्ट्रों के संघ का रूप पूरी तरह से नहीं धारण कर सकेगी, न ही यह राष्ट्रीयतावाद और अंतर्राष्ट्रीयतावाद के विरोधी सिद्धांतों के पूर्ण समन्वय को अपने प्रेरक भाव के रूप में ग्रहण ही कर सकेगी।

अब हमें समस्या के दूसरे पक्ष पर, अर्थात् मानव-जीवन और मानव-विकास के उद्गमों पर इसके प्रभाव के विषय में, विचार करना है। मानवजाति का राजनीतिक और प्रशासनीय एकीकरण केवल संभव ही नहीं है, वरन् हमारा वर्तमान विकास इसकी ओर इंगित भी कर रहा है। जो सामूहिक राष्ट्रीय अहंभाव इसका विरोध करता है वह उस एकता लानेवाली वर्तमान प्रवृत्ति की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई धारा द्वारा दबाया जा सकता है जिसे यूरोपीय युद्ध के भयंकर संकट ने आकृति और स्पष्ट वाणी प्रदान की। किंतु अब प्रश्न यह रह जाता है कि क्या एक सुदृढ़ एकीकृत व्यवस्था का, जो अपनी पहली अनिश्चित रचनावाली स्थिति में नहीं है, बल्कि विकसित, पूर्णतर और साथ ही सबल भी हो चुकी है, आवश्यक रूप में यह अर्थ नहीं है कि वह मनुष्यजाति

की वैयक्तिक और सामूहिक स्वाधीनताओं को अत्यधिक दबा देगी और एक ऐसी आतंककारी मशीन बन जायेगी जिसके द्वारा मनुष्यजाति के आंतरात्मिक जीवन के स्वतंत्र विकास के मार्ग में कम-से-कम कुछ समय के लिये गंभीर बाधा उपस्थित हो जायेगी, या उसका क्षेत्र संकुचित हो जायेगा अथवा उसके अत्यधिक दबा दिये जाने का डर हो जायेगा ? हम देख चुके हैं कि ऐसे विकास में, अनिश्चित रचना के काल के बाद, साधारणतया प्रतिरोध और सिमटाव का काल आता है। इस काल में दृढ़तर एकीकरण के लिये प्रयत्न किया जायेगा जिससे नयी एकता को दृढ़ सांचे प्रदान किये जा सकें। पिछले एकीकरणों में इसका परिणाम इस रूप में दृष्टिगोचर हुआ कि मानव-जीवन की स्वाधीनता का वह सिद्धांत दब गया जो मानवजाति के पिछले आध्यात्मिक, राजनीतिक और सामाजिक संघर्षों की अमूल्य देन था, और भविष्य में भी इसी परिणाम के आने की संभावना है। विकास का क्रम आगे भी प्रगति की इसी नयी दिशा में अपने-आपको चरितार्थ करेगा।

इस प्रकार का विकास केवल संभव ही नहीं, बल्कि अनिवार्य हो जायेगा, यदि मानवजाति का एकीकरण इस जर्मन सिद्धांत के अनुसार आगे बढ़े कि एक ही योग्य साम्राज्य, राष्ट्र या जाति का संसार पर उत्तरोत्तर प्रभुत्व होना चाहिये। यदि 'भवितव्यता' इस साधन का प्रयोग करे कि दो या तीन प्रबल साम्राज्यीय राष्ट्र समस्त मनुष्यजाति को अपने अधीन कर लें, या सुसंगठित और ऐक्यबद्ध यूरोप एक ऐसी कार्यकारी शक्ति बन जाये जो राजनीतिक विचारकों की एक विशेष योजना को विकसित करके शेष संसार को हस्तगत कर ले और काली जातियों को अनिश्चित समय के लिये अपने संरक्षण में ले ले तो इस प्रकार का विकास होना अनिवार्य हो जायेगा।

इस संरक्षण का प्रत्यक्ष उद्देश्य और हेतु कम उन्नत जातियों को सभ्य बनाना अर्थात् उन्हें यूरोपीय सांचे में ढालना होगा। पर हम जानते हैं कि क्रियात्मक रूप में इसका अर्थ उनसे अनुचित लाभ उठाना होगा, क्योंकि मानव-प्रकृति के अनुसार, उदार, पर सबल संरक्षक अपने विकास तथा समस्त संसार के हित में इस सुअवसर से अधिकतम लाभ उठाना उचित समझेगा। अपनी सुरक्षा के लिये शासन सर्वोच्च शक्ति पर निर्भर रहेगा और शासित जातियों की स्वाधीनता की अभिलाषाओं का इस आधार पर विरोध करेगा कि ये जातियां या तो अयोग्य हैं या उनकी स्वतंत्रता की अभीप्सा अभी परिपक्व नहीं हुई है; ये दोनों युक्तियां सदा ही ठीक रह सकती हैं, क्योंकि जो इन्हें प्रस्तुत करते हैं, उनके लिये यह संतोषजनक ढंग से कभी भी असत्य नहीं सिद्ध की जा सकतीं। शुरू-शुरू में यह शासन इस प्रकार लागू किया जा सकता है कि शासक जातियों की वैयक्तिक स्वाधीनता का सिद्धांत तो सुरक्षित रहे और उधर शासितों पर एक हितकारी अधीनता लाद दी जाये, पर ऐसा शासन ठहर नहीं सकेगा। भूतकाल का अनुभव हमें सिखाता है कि साम्राज्यीय जाति में स्वाधीनता के सिद्धांत से सत्ता के सिद्धांत को अधिक महत्त्व देने की आदत उत्पन्न हो जाती है तथा वह उसके

अपने अंदर प्रतिक्रिया करती है और पहले तो अलक्षित रूप में और बाद में विचार-परिवर्तन तथा परिस्थिति के वश होनेवाले भाग्य-परिवर्तन के द्वारा उसकी अपनी आंतरिक स्वतंत्रता को नष्ट करने का कारण बन जाती है। इस स्थिति से निकलने के केवल दो रास्ते हो सकते हैं, या तो उन जातियों में स्वाधीनता का सिद्धांत विकसित हो जाये जो अभीतक अधीन हैं, या यूँ कहें कि जिन पर दूसरे अपने लाभ के लिये शासन करते हैं अथवा संसार में इस सिद्धांत का सामान्य रूप से हास ही हो जाये। या तो उच्चतर अवस्था को ऊपर से आकर आच्छादित कर लेना चाहिये या फिर हीनतर अवस्था को नीचे से उठकर आक्रांत कर लेना चाहिये। एक ही व्यवस्थित मानव-प्रणाली में दोनों सदा इकट्ठी नहीं रह सकतीं। इस संबंध को समाप्त करनेवाली परिस्थितियों के अभाव में दस में से नौ बार तो अधिक अप्रीतिकर संभावना की ही विजय होती है।^१

क्रियात्मक रूप में, एकीकरण के ये सब साधन बल और दबाव के प्रयोग से ही आगे बढ़ेंगे और यदि किन्हीं सीमित साधनों का पहले से सोच-विचार के, अधिक समय के लिये, व्यापक रूप में प्रयोग किया जायेगा तो इससे दबाव डालनेवाले लोगों में स्वाधीनता के सिद्धांत के प्रति सम्मान घट जायेगा और उधर जिन पर दबाव डाला जाता है उनके अंदर स्वाधीनता की भावना भी क्षीण हो जायेगी। यह प्रयोग प्रबल सत्ता के उस विरोधी सिद्धांत की वृद्धि के पक्ष में है जिसकी संपूर्ण प्रवृत्ति ही कठोरता, एकरूपता और जीवन की एक यांत्रिक और उसके फलस्वरूप अंत में अविकसनशील प्रणाली लाने की ओर है। यह कार्य और कारण का एक ऐसा मनोवैज्ञानिक संबंध है जिसका परिणाम टाला नहीं जा सकता जबतक कि इस बात का ध्यान न रखा जाये कि सत्ता का समस्त प्रयोग स्वतंत्र सहमति के यथासंभव अधिक-से-अधिक व्यापक आधार पर किया जा रहा है। एकीकरण की जो प्रणालियाँ इस तरह चलायी जायेंगी वे अपनी प्रकृति और मूलस्वभाव के कारण सुधार-भावना का स्वतंत्र प्रयोग नहीं कर सकेंगी; क्योंकि वे अत्यधिक अनिच्छुक तत्त्व के दबाव से कार्य करने के लिये विवश हो जायेंगी, साथ ही इसके लिये उन्हें समस्त प्रतिरोधी शक्तियों और प्रवृत्तियों को दूर करने के लिये अपनी इच्छा-शक्ति का भी प्रयोग करना पड़ेगा। उन्हें स्वाधीनता के उन सब रूपों को दबा देने, कम कर देने, यहांतक कि शायद उन्हें समाप्त कर देने के लिये बाधित होना पड़ेगा जिनका प्रयोग, जैसा कि अनुभव उन्हें बताता है, विद्रोह या प्रतिरोध की भावना का पोषण करने के लिये किया जा रहा है; इन रूपों से हमारा अभिप्राय स्वतंत्र कर्म और स्वतंत्र आत्म-अभिव्यक्ति की उन सब बृहत्तर स्वाधीनताओं

^१ वर्तमान वस्तुस्थिति के साथ अब ये विचार संगत नहीं रहे। एशिया अब अधिकतर स्वतंत्र है या स्वतंत्र हो रहा है, प्रभुताशाली पश्चिम या प्रभुताशाली यूरोप के विचार में अब वह शक्ति नहीं रही है; यह विचार, वास्तव में, अब मनुष्य के मन से ही हट गया है बल्कि क्रियात्मक रूप में तो इसका अब कोई अस्तित्व ही नहीं रहा है।

से है जो मानव-स्वतंत्रता के सर्वश्रेष्ठ, अत्यधिक सबल और प्रेरक भाग हैं। एकीकरण की ये प्रणालियाँ पहले जोर-जबर्दस्ती तथा बाद में कानूनी प्रतिबन्ध और दमन के द्वारा उस स्वतंत्रता के सब तत्त्वों को मिटा देने के लिये विवश हो जायेंगी जिसे आज हम राष्ट्रीय स्वतंत्रता कहते हैं। इस प्रक्रिया में वैयक्तिक स्वाधीनता मानवजाति के दोनों भागों—उत्पीड़ित जनता, और अनिवार्य प्रतिक्रिया और संक्रमण के परिमाणस्वरूप, साम्राज्यीय राष्ट्र या राष्ट्रों—में नष्ट हो जायेगी। इसमें पुरानी स्थिति सदा ही आ सकती है, कारण, अपनी प्रतिष्ठा और स्वतंत्रता का प्रतिपादन करना मनुष्य का एक ऐसा गुण है जिसे उसने सुदीर्घ विकास और कष्टप्रद प्रयास के बाद ही प्राप्त किया है; दूसरों की स्वतंत्रता का आदर करना उसे अब भी स्वाभाविक रूप में रुचिकर नहीं है, यद्यपि इसके बिना उसकी अपनी स्वाधीनता भी वस्तुतः सुरक्षित नहीं रह सकती, पर जहां भी उसके लिये दबाव डालना और आधिपत्य जमाना संभव हो, वहां ऐसा करना—यह ध्यान में रहे कि उसका उद्देश्य प्रायः अच्छा ही होता है—अथवा जो लोग अपना आधिपत्य जमा सकते हैं उनके द्वारा कुछ अंश में ठगा जाना और कुछ अंश में उनका दास बन जाना उसकी जन्मजात पाशविक प्रवृत्तियाँ हैं। इसलिये जितनी भी थोड़ी-बहुत सामान्य स्वाधीनताएं मनुष्य अपने लिये निर्मित कर सका है उनका अनावश्यक अवरोध करने से वह वस्तुतः एक कदम पीछे हट जाता है, इसका तात्कालिक लाभ चाहे जो हो। मानव प्रकृति और मानव समाज की अपूर्ण अवस्थाएं जितने उत्पीड़न या दमन को अनिवार्य कर देती हैं उतने से अधिक को रखनेवाला प्रत्येक संगठन समस्त जाति के विकास को आघात पहुंचाता है, इस बात का विशेष महत्त्व नहीं कि वह कहां और किसके द्वारा क्रियान्वित किया जाता है।

इसके विपरीत, यदि जाति का औपचारिक एकीकरण स्वतंत्र राष्ट्रों और साम्राज्यों को मिलाकर चरितार्थ किया जाये और यदि ये साम्राज्य मनोवैज्ञानिक वास्तविकताएं तथा इसके फलस्वरूप स्वतंत्र संगठन बनाने की चेष्टा करें, अथवा यदि तबतक जाति इतनी उन्नति कर ले कि एकीभूत मानवजाति में स्वतंत्र राष्ट्रीय या सांस्कृतिक समुदाय-निर्माण का सिद्धांत अपनाया जा सके, तब पीछे हटने का भय बहुत कम हो जायेगा, फिर भी यह रहेगा अवश्य; क्योंकि, जैसा हम देख चुके हैं, व्यवस्था और एकरूपता का सिद्धांत एकीकरण के काल की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। स्वाधीनता का सिद्धांत एकरूपता के विकास के मार्ग में एक स्वाभाविक बाधा उपस्थित करता है; यद्यपि यह सच्ची व्यवस्था से पूर्णतया मेल रख सकता है और ऐसी पूर्व-स्थापित व्यवस्था के साथ आसानी से रह भी सकता है जिसमें इसे अपना उपयुक्त स्थान मिल चुका है, फिर भी, व्यावहारिक रूप में, इसकी नयी व्यवस्था के साथ उतनी आसानी से मेल नहीं बैठता; कारण वह इससे उन नये बलिदानों की मांग करती है जिनके लिये यह अभी मनोवैज्ञानिक रूप में तैयार नहीं हुआ है। पर इस बात का अपने-आपमें कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि प्रगति मात्र में कुछ-न-कुछ संघर्ष और अनुकूलिकरण की कठिनाई

उपस्थित रहती ही है, और यदि इस क्रिया में एक ओर स्वाधीनता को और दूसरी ओर व्यवस्था को कुछ हानि पहुंचे तो भी ये थोड़े अनुभव के बाद काफी आसानी से नयी अनुकूलता प्राप्त कर लेंगी। दुर्भाग्य से, आत्मख्यापन करनेवाली प्रत्येक प्रवृत्ति या प्रत्येक सिद्धांत का अपने विकास-काल में यह स्वभाव होता है कि, ज्योंही उसे अनुकूल परिस्थितियां प्राप्त होती हैं, वह अपने अधिकार तथा अपनी मांगों की अत्यधिक पुष्टि करने लगता है, अपनी इच्छाओं की एकांगी सफलता प्राप्त कर लेता है, निरंकुश शासन स्थापित करना चाहता तथा अन्य प्रवृत्तियों और सिद्धांतों को, विशेषकर उनको जो उसे सहजबुद्धि के द्वारा अपनी प्रकृति से बहुत दूर प्रतीत होते हैं, निरुत्साहित करता है, यहांतक कि उन्हें कुचल भी देता है। और यदि वह देखता है कि ये विरोधी शक्तियां उसका सामना कर रही हैं, तो उसकी आत्मख्यापन की प्रेरणा क्रोधित, प्रचंड और निष्ठुर हो उठती है; अनुकूलता के लिये संघर्ष के स्थान पर शत्रुतापूर्ण झगड़ा हो जाता है जो प्रबल परिवर्तनों में से, क्रिया-प्रतिक्रिया तथा विकास और विद्रोह में से गिरता-पड़ता तबतक आगे बढ़ता रहता है जबतक कि संघर्ष में किसी एक पक्ष को विजय ही नहीं प्राप्त हो जाती।

मनुष्यजाति के अतीत विकास में यही हुआ है; स्वाधीनता के विरुद्ध व्यवस्था और एकरूपता का संघर्ष सभी बड़े धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक मानव-संगठनों और विकासों का प्रधान तथ्य रहा है। निकट भविष्य में विकास का कोई अधिक युक्तियुक्त सिद्धांत मिल जायेगा यह भविष्यवाणी करने का अभीतक कोई कारण नहीं दिखायी देता। निःसंदेह ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य अपने अतीत इतिहास के किसी भी ज्ञात काल की अपेक्षा, अधिक सामान्य रूप से विचारशील प्राणी बन गया है तथा बनता जा रहा है। पर इससे, दो-एक दिशाओं को छोड़कर, न तो उसका मन ही अधिक विवेकशील हुआ है और न ही उसकी भावना में ही अधिक सामंजस्य आया है; कारण, वह अभी भी अपने विवेक का प्रयोग किसी बुद्धिमत्तापूर्ण समझौते पर पहुंचने की अपेक्षा अधिकतर झगड़े और पारस्परिक विरोध को उचित ठहराने के लिये करता है। साथ ही उसका मन और विवेक सदा उसकी प्राणिक इच्छाओं और लालसाओं के दास रहते हैं। अतएव, हमें यह मानना होगा कि सर्वोत्तम परिस्थितियों में भी विकास की पुरानी प्रणाली अपना जोर जमायेगी और मानव-एकीकरण के प्रयत्न में पुराने संघर्ष का पुनरावर्तन भी अवश्य होगा। अधिकार और व्यवस्था का सिद्धांत एक यांत्रिक संगठन की स्थापना के लिये प्रयत्न करेगा, उधर स्वाधीनता का सिद्धांत इसके विरोध में खड़ा हो जायेगा और एक अधिक नमनीय, स्वतंत्र और व्यापक प्रणाली की मांग करेगा। ये दो पुराने शत्रु मानव-एकता के नियंत्रण के लिये आपस में उसी प्रकार संघर्ष करेंगे जैसा इन्होंने पहले राष्ट्र के विकसनशील रूप के नियंत्रण के लिये किया था। इस क्रिया में राष्ट्रीय और वैयक्तिक स्वाधीनताओं के नष्ट हो जाने की संभावना है, क्योंकि परिस्थितियां अपेक्षाकृत संकुचित शक्ति के अनुकूल

हैं; यदि ये कानून और प्रतिबंधों की गोलाबारी के द्वारा जबर्दस्ती नहीं दबायी गयीं तो यह इनके लिये सौभाग्य की बात होगी।

यदि स्वयं राष्ट्रों में ही वैयक्तिक स्वाधीनता की भावना अपने पुराने उत्साह के साथ फलती-फूलती रही तो शायद ऐसा न भी हो; क्योंकि तब यह सहज सहानुभूतिवश और स्वयं अपने लिये भी सभी अंगभूत राष्ट्रों की स्वाधीनता के सम्मान की मांग करेगी। पर, जहांतक वर्तमान समय की बाह्य परिस्थितियों से पता चलता है, हम एक ऐसे युग में प्रवेश कर रहे हैं जिसमें वैयक्तिक स्वाधीनता के आदर्श की यदि अस्थायी रूप से मृत्यु न भी हुई या वह कम-से-कम एक गहरी मूर्च्छा, सुषुप्ति अथवा लंबी नींद में न भी चला गया तो भी वह राज्य-सिद्धांत-रूपी राहु से पूर्णरूपेण ग्रस अवश्य लिया जायेगा। जब-जब एकीकरण में सिमटाव और यंत्रीकरण की क्रिया की जायेगी तब-तब प्रत्येक अंगभूत इकाई में भी इसी प्रकार की क्रिया हो सकती है। अब इस दोहरी प्रक्रिया में स्वाधीनता की भावना को संरक्षण या पोषण कहां से प्राप्त होगा? स्वतंत्रता के पुराने क्रियात्मक सिद्धांत इस दोहरी क्रिया में विलीन हो जायेंगे और स्वस्थ विकास की एकमात्र आशा स्वाधीनता के एक ऐसे नये सिद्धांत में निहित रहेगी जिसे मानव-मन की एक नयी शक्तिशाली—आध्यात्मिक या बौद्धिक—प्रवृत्ति जन्म देगी; यह प्रवृत्ति वैयक्तिक स्वाधीनता को सामाजिक जीवन के सामूहिक आदर्श के साथ तथा समुदाय-इकाई की स्वाधीनता को मनुष्यजाति के लिये अधिक एकीभूत जीवन की नवोदित आवश्यकता के साथ समन्वित कर देगी।

इस बीच, हमें यह सोचना है कि बाह्य अर्थात् राजनीतिक और प्रशासनीय प्रणाली जिन अधिक बाह्य और यांत्रिक दिशाओं को पसंद करती हैं उनमें एकीकरण का सिद्धांत किस हदतक लागू हो सकता है और कहांतक वे अपने उग्रतर सिद्धांतों के अनुसार जाति के सच्चे विकास के पूर्ण होने में सहायक या बाधक होंगी। हमें यह भी सोचना है कि स्वयं राष्ट्रीयता के सिद्धांत पर इनका क्या प्रभाव पड़ेगा, क्या उसके पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने की संभावना है, अथवा, यदि उसे बचा लिया गया, तो नये एकीभूत जीवन में उस गौण राष्ट्र-इकाई का क्या स्थान होगा? इसमें नियंत्रण के प्रश्न तथा 'मनुष्यमात्र की संसद्' और राजनीतिक संगठन के अन्य विचार भी आ जाते हैं जो सामूहिक जीवन के विज्ञान की इस नयी और गंभीर समस्या से संबंधित होंगे। तीसरे, एकरूपता का प्रश्न है, एकरूपता कहांतक जाति के लिये लाभदायक है अथवा एकता के लिये आवश्यक है? यह स्पष्ट है कि हम यहां उन समस्याओं को हाथ में ले रहे हैं जिन पर हमें पूर्व-विचारित समस्याओं की अपेक्षा अधिक गूढ़ ढंग से तथा कम व्यावहारिक रूप में विचार करना पड़ेगा। कारण, यह सब अभी भविष्य के गर्भ में है और जितना प्रकाश हमें प्राप्त हो सकता है वह पिछले अनुभव एवं जीवन, प्रकृति और समाजशास्त्र के सामान्य नियमों का है; वर्तमान इनके समाधान पर केवल एक धुंधला-सा प्रकाश डालता है, क्योंकि यह समाधान भविष्य की अचिंत्य

संभावनाओं के अंधकार में छिपा पड़ा है। हम पहले से कुछ नहीं देख सकते; हम केवल विचार कर सकते हैं, सिद्धांत बना सकते हैं।

हम देखते हैं कि हमेशा दो चरम संभावनाएं होती हैं और साथ ही इनमें समझौते के भी कुछ-एक ढंग कम या अधिक संभव हो सकते हैं। वर्तमान समय में राष्ट्र मानव-समुदाय की एक ऐसी दृढ़ सामूहिक इकाई है जिसकी अधीनता अन्य सब इकाइयां स्वीकार करती जा रही हैं; साम्राज्यीय इकाई भी अभी तक केवल राष्ट्रीय इकाई का विकास ही रही है और अभी हाल में साम्राज्य, रोमन साम्राज्य की भांति, सचेतन रूप से एक अधिक व्यापक समुदाय-निर्माण के कार्य में नहीं लगे रहे हैं, बल्कि उनका उद्देश्य सदा अधिकार और विस्तार की सहज-प्रवृत्ति को, भूमि और धन-धान्य की तृष्णा को तथा शक्तिशाली और समृद्ध राष्ट्रों के प्राणिक, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक आधिपत्य की भावना को तुष्ट करना रहा है। पर यह राष्ट्र-इकाई को समुदाय के बृहत्तर सिद्धांत में अंतिम रूप से विलीन होने के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान नहीं करता। किसी भी मानव-एकता में, चाहे वह कितनी भी पूर्ण, अनुदार और एकरूप क्यों न हो, सामूहिक इकाइयां अवश्य होंगी, कारण, यह केवल मानव-प्रकृति का ही नहीं, बल्कि जीवन और प्रत्येक समुदाय-निर्माण का सिद्धांत है; हमें यहां विश्व-सत्ता के मूल नियम का, सृष्टि के आधारभूत गणित और भौतिकशास्त्र का आभास मिलता है। किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राष्ट्र को ही सदा सामूहिक इकाई के रूप में रहना चाहिये। यह बिल्कुल समाप्त भी हो सकता है; इस समय भी लोग राष्ट्र-सिद्धांत को अस्वीकार करने लगे हैं, जन्मभूमि-विरोधी विचार अर्थात् विश्व-नागरिक का सिद्धांत जन्म ले चुका है और यह विचार लड़ाई से पहले भी उत्तरोत्तर बढ़ रहा था; यद्यपि अब यह कुछ समय के लिये आतंकित, शांत और निरुत्साहित हो गया है, पर यह किसी भी प्रकार नष्ट नहीं हुआ है; बल्कि आगे चलकर यह दुगुने जोर से फिर उठ सकता है। दूसरी ओर, राष्ट्र-सिद्धांत अपनी पूरी शक्ति के साथ जीवित रह सकता है अथवा ऐसी दशा में, किसी भी संघर्ष और प्रत्यक्ष पतन के बाद भी, बृहत्तर एकता में अपने जीवन, अपनी स्वतंत्रता और सबल विशिष्टता की पुष्टि कर सकता है। अंत में, यह भी संभव है कि यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य रहने की अपेक्षा फ्रेंच विभाग या इंगलिश प्रांत के समान सुविधाजनक एवं प्रशासनीय साधनमात्र रह जाये, किंतु तब इसकी शक्ति क्षीण और गौण हो जायेगी, यहांतक कि इसमें वास्तविक शक्ति या विशिष्टता अथवा पृथक्ता की कोई सजीव भावना भी नहीं रहेगी। किंतु फिर भी मानव-एकता के अगले विघटन का प्रारंभ-स्थल बनने के लिये इसकी उतनी यांत्रिक विशिष्टता बनी रह सकती है जितनी इस प्रयोजन के लिये पर्याप्त हो—क्योंकि यदि एकीकरण वास्तविक की अपेक्षा यांत्रिक अधिक हुआ अर्थात्, यह राजनीतिक और प्रशासनीय उद्देश्यों से संचालित होता रहा और इसे आर्थिक और सामाजिक अथवा केवल सांस्कृतिक सुख-सुविधाओं के अनुभव का बल मिलता रहा और यह

मानवजाति की आध्यात्मिक एकता का स्थूल आधार बनने में असमर्थ रहा तो इसका विघटित होना अनिवार्य हो जायेगा।

यही बात एकरूपता के आदर्श पर भी लागू होती है; बहुत-से व्यक्तियों के लिये तो, विशेषतया उनके लिये जिनके मन कठोर और यांत्रिक सांचे में गढ़े हुए हैं और जो कल्पना एवं स्वतंत्र प्राणिक प्रेरणा की अपेक्षा तर्क और बौद्धिकता से अधिक प्रभावित हैं या किसी भी विचार की सुन्दरता से सहज ही बहककर उसकी सीमाओं को भुला देते हैं, एकरूपता ही आदर्श है; कभी-कभी तो वह उनके लिये ऐसा सर्वोच्च आदर्श बन जाती है जिससे ऊंचे की वे कल्पना भी नहीं कर सकते। मनुष्यजाति की एकरूपता, यद्यपि वर्तमान परिस्थितियों में असाध्य है और अति सुदूर भविष्य को छोड़कर कुछ दिशाओं में अकल्पनीय भी है, तथापि अंत में यह असंभव नहीं होगी, क्योंकि जीवन-परिपाटी और ज्ञान की एकरूपता के लिये तथा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और शिक्षासंबंधी एकरूपता के लिये असीम प्रयत्न अवश्य हो रहा है या हो चुका है; यदि इस सबको उसकी अंतिम पराकाष्ठा तक पहुंचाया गया तो स्वभावतः ही यह संस्कृति की एकरूपता को भी जन्म देगा। यदि यह चरितार्थ हो गया तो पूर्ण विशुद्ध एकरूपता के मार्ग में केवल एक बाधा रह जायेगी, वह भाषा की विभिन्नता होगी, क्योंकि भाषा ही विचार को उत्पन्न तथा निर्धारित करती है यद्यपि वह स्वयं भी विचार से उत्पन्न तथा निर्धारित होती है; जबतक भाषा की विभिन्नता रहेगी, तबतक विचार, ज्ञान और संस्कृति में भी कुछ हदतक स्वतंत्र विविधता रहेगी। पर यह बात सहज ही कल्पना में आ सकती है कि संस्कृति की सामान्य एकरूपता तथा घनिष्ठ जीवन-साहचर्य सार्वभौम भाषा की पहले से अनुभव की हुई आवश्यकता को अदम्य शक्ति देंगे, और यह सार्वभौम भाषा यदि एक बार उत्पन्न हो जाये अथवा लोग इसे एक बार अपना लें तो यह अंत में प्रादेशिक भाषाओं को समाप्त कर सकती है, जिस प्रकार लैटिन ने गॉल, स्पेन और इटली की भाषाओं को समाप्त कर दिया था, या अंग्रेजी भाषा कोरनिश, गेलिक और अर्स (Erse) को समाप्त करके वैल्श भाषा में अनुचित हस्तक्षेप करने लगी थी। दूसरी ओर, मानव-मन की बढ़ती हुई व्यक्ति-भावना के कारण, आजकल स्वतंत्र विविधता का और एकरूपता की अस्वीकृति का सिद्धांत पुनः जीवित हो रहा है। यदि इस प्रवृत्ति की विजय हुई तो जाति के एकीकरण को इस प्रकार संगठित होना पड़ेगा कि वह अपनी अंगभूत इकाइयों की स्वतंत्र संस्कृति और उनके विचार एवं जीवन का सम्मान कर सके। किंतु प्रबल एकरूपता की एक तीसरी संभावना भी है, यह उन छोटे-मोटे भेदों को, जो उसके प्रभुत्व की नींव के लिये संकट नहीं पैदा करते, अनुमोदित करेगी, यहांतक कि उन्हें उत्साहित भी करेगी। यहां भी ये भेद अपनी सीमाओं में सबल, सशक्त और कुछ हदतक विशिष्ट—किंतु पृथक् नहीं—रह सकते हैं अथवा ये बिल्कुल गौण रंग-रूप भी रख

इन विशाल समस्याओं पर किसी प्रकार की पूर्णता के साथ विचार करना यहां संभव नहीं है। हम केवल कुछ ऐसे विचार ही उपस्थित कर सकते हैं जो एकीकरण की समस्या के विवेचन में हमारा मार्गदर्शन करें। समस्या बहुत विशाल और अस्पष्ट है, इसके ऊपर यहां-वहां यदि प्रकाश की एक किरण भी पड़ जाये तो इसकी कठिनाई अथवा धूमिलता के कम होने में सहायता मिल सकती है।

सकते हैं, पर फिर भी विविध विकास के नये चक्र में एकरूपता के विलयन का प्रारंभ-स्थल बनने के लिये ये पर्याप्त होंगे।

यही बात मनुष्यजाति को संचालित करनेवाले संगठन के विषय में भी कही जा सकती है। यह केन्द्रीय सत्ता के अधीन एक ऐसा कठोर साधन हो सकता है जिसकी कुछ समाजवादी योजनाएं राष्ट्र के लिये कल्पना करती हैं—ऐसा शासन जो मानव-प्रशिक्षण, आर्थिक जीवन, सामाजिक अभ्यास, सदाचार, ज्ञान, यहांतक कि धर्म और मानव गतिविधि के प्रत्येक क्षेत्र की सुदृढ़ और एकरूप व्यवस्था के हित में समस्त वैयक्तिक और प्रादेशिक स्वाधीनता को दबा दे। ऐसा विकास असंभव प्रतीत हो सकता है, क्योंकि निकट भविष्य में यह कार्य सचमुच अव्यावहारिक हो जायेगा, इसके कई कारण हैं; इसे विशाल जन-समुदायों को अपने अंतर्गत करना होगा, कई कठिनाइयों को पार करना पड़ेगा, अपने को चरितार्थ करने के लिये कई समस्याओं का समाधान करना पड़ेगा। परंतु असंभवता का यह विचार दो महत्वपूर्ण तथ्यों को ध्यान में नहीं लाता—एक तो विज्ञान का विकास जिसके द्वारा विशाल जनसमूहों पर अधिकाधिक सरलता से कार्य हो सकता है—वर्तमान युद्ध इसका साक्षी है—और साथ ही अत्यंत गुरु समस्याओं का समाधान भी जिसके द्वारा हो सकता है और दूसरा समाजवाद की द्रुत प्रगति।^१ मान लो कि समाजवादी सिद्धांत की या उसके किसी भी क्रियात्मक रूप की सब महाद्वीपों में विजय हो जाये तो यह स्वाभाविक रूप से एक ऐसे अंतर्राष्ट्रीय समाजीकरण को ला सकता है जो विज्ञान और वैज्ञानिक संगठन के विकास द्वारा, स्थान और संख्या की कठिनाइयों को दूर करके, चरितार्थ किया जा सकता है। दूसरी ओर, यह भी संभव है कि शासन-प्रबंध और स्वाधीनता के दो आदर्शों में होनेवाले उग्र संघर्ष के काल के बाद मानवजाति का समाजवादी युग यूरोप के निरंकुश राजतंत्र के काल के समान अपेक्षाकृत अल्प-स्थायी सिद्ध हो और इसके बाद एक ऐसा काल आये जिसे दार्शनिक अराजकतावाद के सिद्धांतों अर्थात् उस एकता के सिद्धांतों से अधिक प्रेरणा मिले जो पूर्णतम वैयक्तिक स्वतंत्रता और साथ ही सहज-स्वाभाविक समुदाय-निर्माण की स्वतंत्रता के ऊपर आधारित होगी। इनमें समझौता होना भी संभव है, एक ऐसी प्रबल शासन-पद्धति स्थापित हो सकती है जिसमें थोड़ी-बहुत सजीव, पर आश्रित स्वतंत्रता रहेगी, परंतु यदि वह कम सजीव भी हो तो भी जब मानवजाति यह अनुभव करने लगेगी कि शासन-पद्धति ही उसकी अंतिम भवितव्यता नहीं है तथा खोज और प्रयोग के एक नये युग का आना उसके भविष्य के लिये अनिवार्य हो गया है, वह शासन-पद्धति की समाप्ति का प्रारंभ-स्थल बन सकेगी।

इस प्रकार की प्रत्यक्ष प्रतिक्रियाएं भी—इटली का सद्यः पराजित फासिस्ट तन्त्र जिसका उदाहरण है—राजनियंत्रण और राज्यसंचालन के सिद्धांत की नयी संभावनाओं को तैयार अथवा व्यक्त करती हैं, यही सिद्धांत समाजवाद का सार है।

भाग दो

हमारे विकास में प्रकृति का नियम —

विभिन्नता में एकता, विधि और स्वाधीनता

पृथ्वी के सब प्राणियों में से अकेले मनुष्य को ही ठीक ढंग से जीवन-यापन करने के लिये ठीक ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता होती है, चाहे वह इस ज्ञान को, जैसा कि बुद्धिवाद का कहना है, अपनी बुद्धि के एकमात्र या प्रधान साधन द्वारा प्राप्त करे अथवा अधिक व्यापक और जटिल रूप में अपनी समस्त शक्तियों द्वारा। उसे सत्ता के सच्चे स्वरूप और जीवन के व्यावहारिक क्षेत्रों में उसकी सतत आत्म-चरितार्थता को, —सरल भाषा में कहें तो, —प्रकृति के नियम, विशेषतया अपनी प्रकृति के नियम, तथा अपने अंदर और अपने चारों ओर की शक्तियों को जानने की आवश्यकता है; साथ ही उसे यह भी जानना है कि उसके अपने महत्तर सुख और उत्कर्ष के लिये अथवा उसके और उसके साथियों के महत्तर सुख और उत्कर्ष के लिये इन शक्तियों का ठीक उपयोग क्या है। पुरानी उक्ति के अनुसार, उसे प्रकृति के अनुकूल जीवन बिताने का ढंग सीखना चाहिये। किंतु प्रकृति का जो रूप पहले स्वीकार किया जाता था वह अब स्वीकार नहीं किया जा सकता; अब प्रकृति वह सनातन सत्य नियम नहीं मानी जाती जिससे मनुष्य विच्छिन्न हो गया है, बल्कि प्रकृति स्वयं एक ऐसी चीज है जो बदल रही है, वर्द्धित और विकसित हो रही है, एक शिखर से अधिक उन्नत शिखर की ओर बढ़ रही है, अपनी संभावनाओं के एक छोर से अधिक व्यापक छोर की ओर विस्तृत हो रही है। तथापि इस समस्त परिवर्तन में सत्ता के कुछ सनातन नियम या सत्य भी हैं जो सदा एक से रहते हैं और इन्हीं के आधार पर एवं इन्हीं प्रारंभिक साधनों से तथा इन्हीं के ढांचे के अंदर हमारी प्रगति और पूर्णता को संपन्न होना है। नहीं तो शक्तियों के संघर्ष में भी व्यवस्थित रहनेवाले संसार का अस्तित्व न होता, वरन् चारों ओर अनंत अस्तव्यस्तता का ही साम्राज्य होता।

पशु और वनस्पति के अवमाननीय जीवन को न तो इस ज्ञान की और न इस ज्ञान के साथ अनिवार्य रूप में रहनेवाली उस सचेतन इच्छा-शक्ति की ही आवश्यकता पड़ती है जो सदैव प्राप्त ज्ञान को कार्य रूप में परिणत करने की प्रेरणा अनुभव करती है। इस छूट के मिल जाने से वह अनगिनत भ्रांतियों, विकृतियों और व्याधियों से बच जाता है, क्योंकि वह सहज-स्वभाववश ही प्रकृति के अनुसार चलता है; उसका ज्ञान और संकल्प दोनों प्रकृति के हैं, सचेतन हों अथवा अवचेतन, वे उसके नियमों और आदेशों को टाल नहीं सकते। इसके विपरीत, मनुष्य के पास एक

ऐसी सामर्थ्य प्रतीत होती है जो प्रकृति के ऊपर अपनी बुद्धि और इच्छाशक्ति का प्रयोग कर सकती है, उसमें उसकी गति-विधियों को संचालित करने, यहांतक कि जो मार्ग वह उसे बताती है उससे भिन्न मार्ग ग्रहण करने की भी क्षमता विद्यमान है। परंतु वास्तव में यह भी भाषा की एक विकृतिपूर्ण चाल है, क्योंकि मनुष्य का मन भी प्रकृति का ही एक अंग है, और यह मन यदि उसकी अपनी प्रकृति का सबसे बड़ा अंग नहीं तो सबसे प्रमुख अंग अवश्य है। हम कह सकते हैं कि यह भी प्रकृति ही है जो कुछ हदतक अपने नियमों और शक्तियों तथा अपने विकाससंबंधी संघर्ष के प्रति सजग हो गयी है और जिसके अंदर अपने जीवन और अस्तित्व की प्रक्रियाओं पर एक अधिकाधिक उच्चतर नियम लागू करने की सचेतन इच्छा जाग उठी है। अवमानवीय जीवन में प्राणिक और भौतिक संघर्ष तो है पर मानसिक संघर्ष नहीं है। मनुष्य इस मानसिक उलझन से ग्रस्त है और इसी कारण वह दूसरों के साथ ही नहीं, अपने साथ भी संघर्ष करता है और क्योंकि उसमें अपने साथ इस प्रकार का संघर्ष करने की सामर्थ्य मौजूद है, उसमें आंतरिक विकास के, उच्च से उच्चतर स्तर की ओर बढ़ने तथा अनवरत आत्म-अतिक्रमण करने के संघर्ष की भी सामर्थ्य विद्यमान है जो पशुओं को प्राप्त नहीं है।

वर्तमान समय में यह विकास जीवन से संबद्ध विचारों के संघर्ष और उनकी प्रगति द्वारा होता है। अपने प्राथमिक रूप में मानव के जीवनविषयक विचार स्वयं जीवन की शक्तियों और प्रवृत्तियों का, जैसी कि वे आवश्यकताओं, इच्छाओं और हितों के रूप में प्रकट होती हैं, मानसिक अनुवादमात्र होते हैं। मनुष्य की बुद्धि व्यावहारिक और थोड़ी-बहुत स्पष्ट एवं यथार्थ होती है। वह इन चीजों को अपनी दृष्टि में रखती है तथा अपने अनुभव, मत और रुचि के अनुसार इनमें से एक या दूसरे को अधिक या कम महत्व देती है। इनमें से कुछ को मनुष्य स्वीकार करता है और अपनी इच्छा-शक्ति और बुद्धि द्वारा उनके विकास में सहायता पहुंचाता है और कुछ को अस्वीकार करके निरुत्साहित कर देता है, यहांतक कि उनका उन्मूलन करने में भी सफल हो जाता है। परंतु इस प्रारंभिक प्रक्रिया से मनुष्य के अंदर जीवन के विषय में एक और प्रकार के तथा उन्नत विचार उत्पन्न होते हैं। वह उनके मानसिक अनुवादमात्र और उनके साथ सहज सक्रिय संबंध से आगे बढ़कर उन शक्तियों और प्रवृत्तियों का नियमित रूप से मूल्यांकन करने लगता है जो उसमें और उसके वातावरण में प्रकट हो चुकी हैं या हो रही हैं। वह उन्हें प्रकृति की स्थिर प्रक्रियाएं और नियम समझकर उनका अध्ययन करता है और उनके विधान और ढंग को जानने का प्रयत्न करता है। वह अपने मन, प्राण और शरीर के नियम तथा अपने चारों ओर के उन तथ्यों और शक्तियों के विधान और नियम निर्धारित करने की चेष्टा करता है जो उसका वातावरण बनाते हैं तथा उसके कार्य का क्षेत्र और ढंग निश्चित करते हैं। क्योंकि हम अपूर्ण और विकसनशील प्राणी हैं, जीवनसंबंधी नियमों का यह अध्ययन अवश्य ही दो पहलुओं को अपने विचार में लायेगा : एक तो उसका नियम जो इस समय में है अर्थात् हमारी

वर्तमान अवस्थाओं का नियम और दूसरा उसका नियम जो हो सकता है या होना चाहिये अर्थात् हमारी संभावित शक्तियों का नियम। यह पिछला नियम ही मानवबुद्धि के निकट, जो सदा ही वस्तुओं के विषय में मनमाना और आग्रहपूर्ण सिद्धांत बनाने की प्रवृत्ति रखती है, एक स्थिर और आदर्श मानदंड या कुछ नियमों का रूप ले लेता है जिनसे हमारा वर्तमान जीवन विचलित और च्युत हो गया है या जिनकी ओर वह प्रगति एवं अभीप्सा कर रहा है।

प्रकृति और जीवन का विकासवादी सिद्धांत हमें एक गभीरतर विचार की ओर ले जाता है। जो है और जो हो सकता है दोनों सत्ता के उन्हीं शाश्वत तथ्यों और हमारी प्रकृति की शक्तियों या सामर्थ्यों की अभिव्यक्तियां हैं जिनसे हम न तो बच सकते हैं और न इनसे बचना अभिप्रेत ही है। कारण, जीवनमात्र वह प्रकृति है जो स्वयं को चरितार्थ कर रही है, वह प्रकृति नहीं जो अपने-आपको नष्ट या अस्वीकार कर रही है। किंतु हम अपनी प्रकृति और सत्ता के इन सतत तथ्यों और शक्तियों के रूपों एवं महत्त्वों तथा इनकी व्यवस्थाओं को उन्नत कर सकते हैं, और उन्हें उन्नत करना, बदलना तथा विस्तृत रूप देना हमारा निर्दिष्ट कार्य भी है। हमारे विकासक्रम में यह परिवर्तन और पूर्णत्व समूल रूपांतर जैसा प्रतीत हो सकता है, यद्यपि मूल वस्तु में कोई परिवर्तन नहीं होता। हमारी वर्तमान क्षमताएं अभिव्यक्ति का वह रूप और महत्व अथवा सामर्थ्य हैं जिसे हमारी प्रकृति और हमारा जीवन प्राप्त कर चुके हैं, उनका मानदंड या नियम विकास के उसी सोपान की एक विशिष्ट और स्थिर व्यवस्था एवं प्रक्रिया है। हमारी संभावित शक्तियां अभिव्यक्ति के उस नये रूप, महत्व और सामर्थ्य की ओर संकेत करती हैं जिनकी अपनी एक नयी और उपयुक्त व्यवस्था तथा प्रक्रिया होती है और वही इनका विशेष नियम और मानदंड है। इस प्रकार वर्तमान और संभवनीय के बीच में स्थित हमारी बुद्धि वर्तमान नियम और रूप को हमारी प्रकृति और हमारे अस्तित्व का सनातन नियम समझने की गलती करने लगती है, और जहां कोई परिवर्तन हुआ उसे वह नियम-भंग या पतन मान लेती है, या, इसके विपरीत, किसी भावी और संभाव्य नियम एवं रूप को हमारे जीवन का आदर्श नियम मानने की भूल कर बैठती है, —उसके अनुकूल यदि कार्य न किया जाये तो उसे वह हमारी प्रकृति का दोष या पाप समझने लगती है। वास्तव में, केवल वही नित्य है जो सब परिवर्तनों के बीच भी स्थिर रहता है और हमारा आदर्श इसकी उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति से अधिक और कुछ नहीं हो सकता। आत्म-अभिव्यक्ति की उच्चता, व्यापकता और परिपूर्णता की जो चरम सीमा मनुष्य के लिये संभव है —यदि ऐसी कोई सीमा हो और उसका हमें ज्ञान हो, किंतु अभी तक हमें अपनी चरम संभावनाओं का ज्ञान नहीं है —केवल उसी को सनातन आदर्श समझा जा सकता है।

जिन विचारों या आदर्शों को मानव-मन जीवन से संगृहीत करता है या उसपर लागू करने की चेष्टा करता है वे स्वयं जीवन की, जब कि वह अपने नियम को

अधिकाधिक प्राप्त करने का तथा उसे ऊँचे से ऊँचा उठाने और साथ ही अपनी संभाव्य शक्तियों को उपलब्ध करने का यत्न कर रहा होता है, अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकते। प्रकृति की जीने की मानवीय प्रणाली के महत्व तथा उसकी संभाव्य शक्तियों की इस क्रमिक चरितार्थता और परिपूर्णता में हमारी मानसिकता उसकी गति के सचेतन भाग की प्रतिनिधि है। यदि यह मन पूर्ण होता तो यह अपने ज्ञान और संकल्प में उस समग्र गुप्त 'ज्ञान' और 'संकल्प' के साथ एक होता जिसे प्रकृति ऊपरी तल पर लाने की कोशिश कर रही है और तब कोई मानसिक संघर्ष भी न होता; क्योंकि तब हम उसकी क्रिया के साथ एक हो सकते, उसके उद्देश्य को जान लेते और उसके मार्ग का बुद्धिमत्तापूर्वक अनुसरण कर सकते। तब हम वह सत्य जान लेते — जिस पर गीता भी बल देती है — कि केवल प्रकृति ही क्रियाशील है और हमारे मन एवं जीवन के कार्य उसके गुणों के ही व्यापार हैं। अवमानवीय जीवन प्राण और सहजबुद्धि के द्वारा और यांत्रिक रूप से यही कार्य करता है, वह अपनी श्रेणी-विशेष की सीमाओं के अंदर प्रकृति के अनुकूल बनकर ही रहता है और इस प्रकार आंतरिक संघर्ष से मुक्त हो जाता है, यद्यपि इतर जीवन के साथ उसका संघर्ष फिर भी चलता है। उधर अतिमानवीय जीवन सचेतन रूप में इस पूर्णता को प्राप्त करेगा, वस्तुओं में निहित गुप्त ज्ञान और संकल्प को अपना बना लेगा और प्रकृति के द्वारा, उसीकी मुक्त, सहज और सामंजस्यपूर्ण गति से अपने-आपको चरितार्थ करेगा; प्रकृति धीरे, अविश्रांत भाव से उस पूर्ण विकास की ओर बढ़ रही है जो उसका सहज-स्वाभाविक और इसलिये पूर्व-निर्धारित लक्ष्य है। सच तो यह है कि चूंकि हमारा मन अपूर्ण है, हमें उसकी प्रवृत्तियों तथा उद्देश्यों का आभासमात्र ही मिलता है और ऐसे प्रत्येक आभास को हम अपने जीवन और व्यवहार का निरपेक्ष नियम या आदर्श सिद्धांत बना लेते हैं; हम उसकी प्रक्रिया का केवल एक पहलू देखते हैं और उसे ही एक समग्र और पूर्ण प्रणाली के रूप में प्रस्तुत करते हैं और फिर वही हमारी जीवन-व्यवस्था का संचालन करती है। अपूर्ण व्यक्ति तथा उससे भी अधिक अपूर्ण सामूहिक मन द्वारा कार्य करते हुए वह हमारी सत्ता के तथ्यों तथा शक्तियों को उन विरोधी नियमों और सामर्थ्यों के रूप में खड़ा कर देती है जिनके साथ हम अपनी बुद्धि और भावावेगों द्वारा अपना संबंध स्थापित कर लेते हैं। कभी वह एक को उत्साहित या निरुत्साहित करती है और कभी दूसरे को; इस प्रकार मनुष्य के मन में वह उन्हें संघर्ष और विरोध के द्वारा उस पारस्परिक ज्ञान और उनकी पारस्परिक आवश्यकता की भावना तथा उनकी संभाव्य शक्तियों के उत्तरोत्तर समुचित संबंध और समन्वय की ओर ले जाती है जो मनुष्य-जीवन की नमनीय संभाव्यता में चरितार्थ शक्तियों के बढ़ते हुए सामंजस्य तथा संगठन में प्रकट होता है।

मानवजाति का सामाजिक विकास आवश्यक रूप से तीन स्थायी तत्त्वों — व्यक्ति, नाना प्रकार के समाज और मनुष्यजाति — के बीच के संबंधों का विकास है। इनमें से

प्रत्येक अपनी परिपूर्णता और तुष्टि चाहता है, पर प्रत्येक ही इन्हें स्वतंत्र रूप में नहीं अपितु दूसरों से संबंध रखते हुए विकसित करने को बाध्य होता है। व्यक्ति का पहला स्वाभाविक उद्देश्य उसकी अपनी आंतरिक उन्नति और पूर्णता और अपने बाह्य जीवन में इनकी अभिव्यक्ति है; पर यह कार्य वह दूसरे व्यक्तियों के साथ, अनेक प्रकार के धार्मिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक, राजनीतिक समुदायों के साथ—जिनका वह अंग है—और सामान्य रूप में मनुष्यजाति की भावना और आवश्यकता के साथ संबंध रखकर ही कर सकता है। समुदाय भी अपनी परिपूर्णता चाहता है, पर उसकी समष्टि-चेतना और उसके सामूहिक संगठन में कितनी भी शक्ति क्यों न हो, वह अपना विकास केवल व्यक्तियों के द्वारा ही कर सकता है। ऐसा वह अपने वातावरण द्वारा प्रस्तुत की गयी परिस्थितियों के दबाव से और उन अवस्थाओं के अधीन होकर करता है जो दूसरे समुदायों और व्यक्तियों तथा समग्र मनुष्यजाति के साथ उसके संबंधों द्वारा उसपर लद दी जाती हैं। वर्तमान समय में समस्त मानवजाति का अपना कोई सचेतन रूप में संगठित सामान्य जीवन नहीं है, उसके पास केवल एक ऐसा प्रारंभिक संगठन है जो मानव-बुद्धि और इच्छा-शक्ति से कहीं अधिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होता है। तथापि हमारे सामान्य मानव-अस्तित्व, स्वभाव और भवितव्यता के विचार और तथ्य ने सदा ही मनुष्य के विचारों और कार्यों पर अपना अत्यधिक प्रभाव डाला है। नीति और धर्म का तो मुख्य कार्य ही मनुष्यजाति के प्रति मनुष्य के कर्तव्यों को बताना रहा है। जाति में होनेवाले बृहत् आंदोलनों और परिवर्तनों के दबाव से उसके पृथक्-पृथक् समुदायों का भविष्य सदा ही प्रभावित हुआ है, साथ ही अपने विस्तार के लिये और यथासंभव समस्त जाति को अपने में मिला लेने के लिये इन पृथक् सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और धार्मिक समुदायों का प्रतिकारात्मक दबाव भी सदा ही रहा है। और यदि अथवा जब भी समस्त मनुष्यजाति एक संगठित सामान्य जीवन प्राप्त कर लेगी और सभी की परिपूर्णता और तुष्टि की इच्छा करने लगेगी, तो ऐसा वह समष्टि के अपने अंगों के साथ संबंध द्वारा और व्यक्तियों और समुदाय के विस्तारशील जीवन की सहायता से ही कर सकेगी। क्योंकि इनकी प्रगति ही मनुष्यजाति के जीवन की अधिक व्यापक अवस्थाओं का निर्माण करती है।

प्रकृति सदैव इन तीन करणों के द्वारा काम करती है, और इनमें से किसी को भी हटाया नहीं जा सकता। वह एक और अनेक की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति तथा समष्टि और उसकी अवयवभूत इकाइयों से आरंभ करती है और फिर इन दोनों के बीच की एकताओं का निर्माण करती है जिनके बिना न तो समष्टि का और न ही इकाइयों का पूर्ण विकास हो सकता है। उद्भिज जीवन में भी वह सदा जाति, उपजाति और व्यष्टि की तीन अवस्थाओं की रचना करती है। किंतु, जब कि पशु-जीवन में वह तीव्र भेद करने और छोटे-छोटे वर्ग बनाने से ही संतुष्ट हो जाती है, इसके विपरीत; मानव जीवन

में वह अपने किये हुए विभाजनों को अतिक्रान्त करने और समस्त जाति को ऐक्य की भावना तथा एकत्व की प्राप्ति की ओर ले जाने का प्रयत्न करती है। मनुष्य के समुदाय एक ही जाति या उपजाति के कुछ व्यक्तियों की सहज प्रेरणावश एकत्र होने के द्वारा उतने नहीं निर्मित होते जितने कि स्थानीय संसर्ग और हितों एवं विचारों की समानता के द्वारा निर्मित होते हैं। जैसे-जैसे जातियों, राष्ट्रों, हितों, विचारों और संस्कृतियों के निकटतर संमिश्रण से मनुष्य के विचार और सद्भाव व्यापक रूप धारण करते जायेंगे वैसे-वैसे ये सीमाएं भी समाप्त होती जायेंगी। फिर भी, अपने पृथक्त्व की दृष्टि से समाप्त होकर भी, तथ्य रूप में ये समाप्त नहीं होतीं; कारण, ये प्रकृति के मूल सिद्धांत—एकता में विभिन्नता—पर आधारित होती हैं। अतएव, यह प्रतीत होता है कि प्रकृति का आदर्श अथवा अंतिम उद्देश्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति तथा सभी व्यक्तियों का उनकी पूरी सामर्थ्यों के अनुसार विकास हो जाये, प्रत्येक समुदाय तथा समस्त समुदाय इस प्रकार विकसित हो जायें कि जिस अनेकांगी अस्तित्व और क्षमता को व्यक्त करने के लिये उनमें विभिन्नताएं पैदा की गयी थीं उसकी पूरी अभिव्यक्ति हो जाये, साथ ही मानवजाति का एकीकृत जीवन भी इस प्रकार विकसित हो जाये कि सभी अपनी पूर्ण योग्यता और संतोष को प्राप्त कर लें। पर ऐसा वह व्यक्ति या छोटे समुदाय के जीवन की समृद्धि को दबाकर नहीं पर जिस विभिन्नता को वे विकसित करते हैं उससे पूरा लाभ उठाते हुए करेगी। मनुष्यजाति के संपूर्ण वैभव को बढ़ाने तथा उसके द्वारा सर्व-सामान्य की सुख-संपत्ति के कोष में वृद्धि करने का यही सर्वोत्तम तरीका प्रतीत होता है।

इस प्रकार मनुष्यजाति का संयुक्त विकास व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और समुदाय के बीच, समुदाय और समुदाय के बीच, छोटे जनसमाज और समस्त मनुष्यजाति के बीच, मनुष्यजाति के सामान्य जीवन और उसकी चेतना के बीच तथा उसके स्वतंत्र रूप में विकसित होते हुए सामाजिक और वैयक्तिक अंगों के बीच आदान-प्रदान एवं आत्मसात्करण के सामान्य सिद्धांत द्वारा साधित किया जायेगा। वस्तुतः यद्यपि अब भी प्रकृति इसी आदान-प्रदान को कुछ हदतक क्रियान्वित करने का प्रयास कर रही है, फिर भी तथ्य यह है कि जीवन का ऐसे स्वतंत्र और समस्वर पारस्परिक सहयोग के सिद्धांत द्वारा परिचालित होना अभी बहुत दूर की बात है। इसमें संघर्ष है, विचारों, आवेगों और हितों का परस्पर-विरोध है, प्रत्येक ही दूसरों के साथ अनेक प्रकार के संघर्ष करके लाभ उठाने का प्रयत्न करता है; ऐसा करने के लिये वह स्वतंत्र और प्रचुर आदान-प्रदान की अपेक्षा कहीं अधिक एक प्रकार की बौद्धिक, प्राणिक और भौतिक चोरी-डकैती का आश्रय लेता है, इतना ही नहीं, वह अपने साथियों के शोषण, उत्पीड़न और भक्षण तक की इच्छा रखता है। अपने सर्वोच्च विचार और अभीप्सा की अवस्था में मनुष्यजाति यह जानती है कि जीवन के इस पक्ष से उसे ऊपर उठना है, पर या तो उसे इसके ठीक साधन का पता ही नहीं

चला या फिर उसमें इसे प्रयोग में लाने की शक्ति नहीं है। इसके स्थान पर वह अब वैयक्तिक जीवन को कठोरतापूर्वक सामाजिक जीवन के अधीन करके अथवा उसका सेवक बनाकर विकास के संघर्ष और उसकी अव्यवस्थाओं से मुक्त होना चाहती है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि सामाजिक जीवन को प्रबल रूप से मानवजाति के संयुक्त और संगठित जीवन के अधीन करके अथवा उसका सेवक बनाकर समाजों के पारस्परिक कलह के निवारण के लिये यत्न करना पड़ेगा। अव्यवस्था, संघर्ष और विनाश से त्राण पाने के लिये स्वतंत्रता का त्याग, पृथक्त्व और विरोधी जटिलताओं से मुक्त होने के लिये विभिन्नता का त्याग व्यवस्था और शासनप्रबंध की एक ऐसी प्रेरणा है जिसके द्वारा बौद्धिक तर्क की स्वच्छंद कठोरता प्रकृति की क्रिया के कठिन और विषम मार्गों के स्थान पर अपना सीधा मार्ग अपनाने का प्रयत्न करती है।

किंतु स्वतंत्रता भी जीवन के लिये उतनी ही आवश्यक है जितने कि विधान और शासन-पद्धति; विभिन्नता का भी हमारी सच्ची पूर्णता में उतना ही स्थान है जितना कि एकता का। सत्ता अपने सार और अपनी समग्रता में केवल एक है, जब कि अपनी क्रीड़ा में वह आवश्यक रूप से बहुरूप है। पूर्ण एकरूपता का अर्थ होगा जीवन का अंत, उधर जीवन-धमनी की शक्ति उन विभिन्नताओं की समृद्धि से नापी जा सकती है जिन्हें जीवन उत्पन्न करता है। साथ ही, यदि विभिन्नता जीवन की शक्ति और विपुलता के लिये आवश्यक है तो एकता भी उसकी व्यवस्था, क्रमबद्धता और सुस्थिरता के लिये जरूरी है। एकता तो हमें उत्पन्न करनी है पर एकरूपता उत्पन्न करना उतना आवश्यक नहीं। यदि मनुष्य एक पूर्ण आध्यात्मिक एकता प्राप्त कर सके तो किसी भी एकरूपता की आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि तब इस आधार पर विभिन्नता की चरम क्रीड़ा सुरक्षित रूप में संभव होगी। साथ ही यदि वह एक सुरक्षित, स्पष्ट और सुदृढ़ एकता सिद्धांत रूप में चरितार्थ कर सके, तो उसे क्रियान्वित करने में एक समृद्ध यहांतक कि एक असीम विभिन्नता भी प्राप्त की जा सकेगी और उसमें किसी संघर्ष, अव्यवस्था या अस्तव्यस्तता का भय भी नहीं होगा। क्योंकि वह इन दोनों बातों में से एक भी नहीं कर सकता, वह सदा सच्ची एकता के स्थान पर एकरूपता लाने के लिये लालायित रहता है। जब कि मनुष्य की जीवन-शक्ति विभिन्नता की मांग करती है, उसकी बुद्धि एकरूपता का पक्ष लेती है। वह एकरूपता को इसलिये अधिक पसंद करती है कि यह सच्ची एकता के स्थान पर—जिसे प्राप्त करना अत्यंत कठिन है—मनुष्य के अंदर सहज ही एकता का एक प्रबल भ्रम पैदा कर देती है। वह एकरूपता के पक्ष में इसलिये भी है कि यह उसके लिये विधान, व्यवस्था और शासन-प्रबंध के कार्य को आसान कर देती है जो वैसे कठिन होता है। उसकी पसंद का एक कारण यह भी है कि मनुष्य के मन की प्रेरणा प्रत्येक अनुभवनीय विभिन्नता को पृथक्त्व और संघर्ष का बहाना बना लेती है और इसलिये एकरूपता ही उसे एकत्व प्राप्त करने की एकमात्र सुरक्षित और सुगम पद्धति प्रतीत

होती है। इसके अतिरिक्त, जीवन की किसी एक दिशा या क्षेत्र में एकरूपता उसे दूसरी दिशाओं में विकास करने के लिये शक्ति-संचय करने में सहायता देती है। यदि वह अपने आर्थिक जीवन को एक नियत रूप देकर उसकी समस्याओं से बच सके तो उसे अपने बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास की ओर ध्यान देने के लिये अधिक अवकाश और अवसर मिल सकता है। या फिर, यदि वह अपने समस्त सामाजिक जीवन को भी एक नियत रूप दे दे और साथ ही भविष्य में प्रकट हो सकनेवाली समस्याओं का निराकरण कर दे तो उसे वह शांति और स्वतंत्र मानसिक अवस्था प्राप्त हो सकती है जिससे वह अपने आध्यात्मिक विकास की ओर अधिक उत्साहपूर्वक ध्यान दे सकेगा। किंतु यहां भी सत्ता की जटिल एकता अपने सत्य का प्रतिपादन करती है, अंत में मनुष्य के समग्र बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास को सामाजिक निष्क्रियता से, उसके आर्थिक जीवन की सीमाओं और हीनता से हानि उठानी पड़ती है। जाति का आध्यात्मिक जीवन यदि अधिक ऊंचा उठ जाये और एक अत्यधिक नियमबद्ध और अनुशासित समाज पर निर्भर रहने लगे तो अंत में उसका वैभव और उसकी जीवन-शक्ति के अखंड स्रोत क्षीण हो जाते हैं; तमस् नीचे से उठकर शिखरों तक को जा छूता है।

अपनी मनोवृत्ति के दोषों के कारण हमें कुछ हदतक एकरूपता को स्वीकार तो करना पड़ता है तथा उसके लिये प्रयत्न भी करना पड़ता है; फिर भी प्रकृति का वास्तविक उद्देश्य समृद्ध विभिन्नता को आश्रय देनेवाली सच्ची एकता ही है। उसका गुप्त भेद इस तथ्य से काफी स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि वह एक ही सामान्य योजना के अनुसार निर्माण करती है तथापि उसका आग्रह सदा असीम विविधता पर होता है। मानवीय आकृति की योजना एक ही है, तथापि कोई भी दो मनुष्य अपने शारीरिक गठन में एक समान नहीं हैं। मानव-प्रकृति अपने उपादानों और अपनी प्रधान दिशाओं में एक है पर किन्हीं भी दो मनुष्यों का स्वभाव, गुण या मनोवैज्ञानिक तत्त्व ठीक एक जैसा नहीं है। समस्त जीवन अपनी मूल योजना और सिद्धांत में एक है, यहांतक कि पौधा भी पशु का सजातीय प्रतीत होता है परंतु जीवन की एकता प्रतिरूपों की असीम विविधता को स्वीकार और उत्साहित करती है। मानव-समुदायों का एक-दूसरे से स्वाभाविक भेद भी उसी योजना के अनुसार होता है जिसके अनुसार व्यक्तियों में परस्पर विभिन्नता पायी जाती है। प्रत्येक ही अपना-अपना गुण, विभिन्न सिद्धांत और स्वाभाविक नियम विकसित करता है। यह विभेद और मूल रूप से अपने ही पृथक् नियम का अनुसरण उसके जीवन के लिये तो आवश्यक है ही साथ ही मानवजाति के स्वस्थ और समग्र जीवन के लिये भी यह उतना ही आवश्यक है। क्योंकि विविधता का सिद्धांत स्वतंत्र आदान-प्रदान को नहीं रोकता और न ही वह एक ही भंडार के द्वारा सबकी और सबके द्वारा उस भंडार की समृद्धि का विरोध करता है और यही, जैसा कि हम देख चुके हैं, जीवन का आदर्श सिद्धांत है। इसके विपरीत, बिना किसी

सुरक्षित विविधता के इस प्रकार का आदान-प्रदान और पारस्परिक आत्मसात्करण संभव ही नहीं होगा। अतएव हम देखते हैं कि हमारी एकता और हमारी विभिन्नता के समन्वय में ही हमारे जीवन का गुप्त भेद निहित है। प्रकृति अपने सब कार्यों में एकता और विभिन्नता पर समान रूप से आग्रह करती है। हम देखेंगे कि सच्ची आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक एकता स्वतंत्र विभिन्नता को तो स्वीकार कर सकती है पर एकरूपता वह केवल उतनी ही रखती है जो स्वभाव और मूल तत्त्व की समानता को मूर्त रूप देने के लिये पर्याप्त होती है। जबतक हम उस पूर्णता को नहीं प्राप्त कर लेते, तबतक हमें एकरूपता की प्रणाली को व्यवहार में लाना पड़ेगा, पर हमें इसके प्रयोग में अति नहीं करनी चाहिये, अन्यथा जीवन की शक्ति, समृद्धि और उसकी स्वस्थ, स्वाभाविक आत्म-अभिव्यक्ति के मूल स्रोतों के मंद पड़ने का भय उपस्थित हो जायेगा।

विधि और स्वाधीनता का झगड़ा भी इसी प्रकार का है और उसका समाधान भी यही होगा। विभिन्नता अथवा विविधता स्वतंत्रतापूर्ण होनी चाहिये। प्रकृति वस्तुएं गढ़ती नहीं, न ही उसका आग्रह किसी बाह्य प्रतिरूप या नियम पर होता है। वह जीवन को अपने अंदर से विकसित होने तथा अपने स्वाभाविक नियम और विकास का प्रतिपादन करने के लिये प्रेरित करती है। जीवन के इस नियम और विकास में परिवर्तन केवल वातावरण के साथ उसके संबंध से होता है। वैयक्तिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, सामाजिक और नैतिक—समस्त प्रकार की स्वाधीनता हमारे जीवन के मूल सिद्धांत पर आधारित होती है। स्वाधीनता से हमारा अभिप्राय है अपनी सत्ता के नियम के अनुसार चलना, अपनी स्वाभाविक आत्म-परिपूर्णता तक विकसित होना और अपने वातावरण के साथ स्वाभाविक और स्वतंत्र रूप में समस्वरता प्राप्त करना। स्वाधीनता का दुरुपयोग करने से अव्यवस्था, संघर्ष, विनाश और अस्तव्यस्तता के रूप में जो संकट आते हैं या हानियां होती हैं वे तो प्रत्यक्ष हैं ही, किंतु ये चीजें इस कारण ऊपर उठती हैं कि व्यक्ति व्यक्ति में, समाज समाज में एकता की भावना का या तो अभाव होता या उसमें कुछ त्रुटि होती है जो उन्हें पारस्परिक सहायता और आदान-प्रदान द्वारा उन्नति करने के स्थान पर दूसरे को हानि पहुंचाकर भी अपने स्वत्व की स्थापना करने के लिये तथा अपने साथियों के स्वतंत्र विकास में बाधा डालते हुए अपनी स्वतंत्रता का समर्थन करने के लिये प्रेरित करती है। यदि एक वास्तविक, आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक एकता प्राप्त कर ली जाये तो स्वाधीनता में न तो कोई संकट रहेगा और न ही उससे कोई हानि होगी, क्योंकि एकताप्रिय स्वतंत्र व्यक्तियों को अपने-आप ही अपनी आवश्यकतावश इस बात के लिये बाधित होना पड़ेगा कि वे अपने और अपने साथियों के विकास में पूर्ण समन्वय स्थापित करें और तबतक अपने-आपको परिपूर्ण न समझें जबतक दूसरों का भी स्वतंत्र विकास नहीं हो जाता। क्योंकि हम अभी अपूर्ण हैं, हमारा मन और संकल्प भी अज्ञानग्रस्त है अतः बाह्य रोक और दबाव के लिये हमें

विधि और शासन की सहायता लेनी पड़ती है। एक सबल विधि और दबाव के सहज लाभ तो प्रत्यक्ष हैं ही, पर हानियाँ भी उतनी ही बड़ी हैं। जिस पूर्णता को लाने में यह सफल होती है वह भी बाद में यांत्रिक हो जाती है, यहांतक कि जो व्यवस्था यह स्थापित करती है वह भी अंत में कृत्रिम सिद्ध होती है और यदि पकड़ ढीली पड़ जाये या नियंत्रण हटा लिया जाये तो वह व्यवस्था टूट भी सकती है। यदि यह बाह्य व्यवस्था अधिक दूर तक ले जायी जाये तो यह स्वाभाविक विकास के उस सिद्धांत को, जो जीवन की यथार्थ प्रणाली है, निरुत्साहित कर देती है, यहांतक कि यह वास्तविक विकास की सामर्थ्य को नष्ट भी कर सकती है। जीवन को दबाने और उसे आवश्यकता से अधिक नियमित करने से हम संकट में पड़ जाते हैं। शासन-प्रबंध की अति करने से हम प्रकृति की प्रेरणा और उसके सहज आत्म-अनुकूलन के स्वभाव को कुचल डालते हैं। नमनीयता से कम या अधिक वंचित, निष्पाण व्यक्तित्व ऊपर से सुंदर और सुडौल प्रतीत होने पर भी अंदर से नष्ट हो जाता है। जो विधि हमारी अपनी नहीं है या जिसे हमारी सच्ची प्रकृति आत्मसात् नहीं कर सकती, उसके लगातार बने रहने से तो अराजकता अच्छी है। दबाने या रोकनेवाली प्रत्येक विधि एक उपाय अथवा सच्ची विधि की स्थानापन्नमात्र या कामचलाऊ चीज होती है; सच्ची विधि तो अंदर से ही विकसित होनी चाहिये, उसे स्वाधीनता का प्रतिबंधक नहीं, बल्कि उसका बाह्य स्वरूप तथा उसकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होना चाहिये। जहांतक विधि स्वतंत्रता का शिशु बनकर रहती है, मानव-समाज वास्तविक और सजीव रूप में उन्नति करता है। वह अपनी पूर्णता तक तभी पहुंचेगा जब मनुष्य अपने साथियों के साथ आध्यात्मिक रूप में एक होना जान लेगा और एक हो जायेगा, एवं जब उसके समाज की सहज विधि केवल उसकी स्व-शासित आंतरिक स्वाधीनता का बाह्य सांचामात्र रह जायेगी।

आदर्श समाधान —

मनुष्यजाति का स्वतंत्र समुदायीकरण

मानव जीवन के विकास में प्रकृति की प्रधान और सतत प्रवृत्तियों पर स्थापित इन सिद्धांतों को स्पष्ट ही मनुष्यजाति के एकीकरण के किसी भी विवेकपूर्ण प्रयत्न में प्रमुख स्थान मिलना चाहिये। यह एकीकरण लाईसर्जन (Lycurgan)-संविधान की प्रणाली के अनुसार अथवा एक सिद्ध राजर्षि, आदर्श मनु की विधि द्वारा चरितार्थ हो जाये तो ऐसा हो भी सकता है। यदि इसके लिये अत्यंत विभिन्न ढंग से बड़े जन-समुदायों की इच्छाओं, लालसाओं और हितों को ध्यान में रखकर प्रयत्न किया गया—जैसा कि किया ही जायेगा—और यह संसार के बुद्धिजीवियों के अर्ध-प्रबुद्ध विवेक तथा संसार के राज्य-विशारदों और राजनीतिज्ञों के व्यावहारिक अवसरवाद से किसी अधिक अच्छे प्रकाश से परिचालित न हुआ तो यह अस्तव्यस्त प्रयोगों, पराजयों और पुनः-प्रयत्नों तथा प्रतिरोधों और दृढ़ प्रयासों के क्रम से ही चरितार्थ होगा। मानवीय अविवेक के होते हुए भी यह विरोधी विचारों और हितों के कोलाहल में विकसित होगा, सिद्धांतों के युद्ध में से जैसे-तैसे गुजरता और उग्र दलों के संघर्ष के द्वारा आगे बढ़ता हुआ कम या अधिक अशोभन समझौतों में समाप्त हो जायेगा। जैसा कि हम कह चुके हैं, यह एकीकरण अत्यंत असुविधाजनक ढंग से तो नहीं, पर अत्यंत आदर्शहीन ढंग से, कुछ हदतक बल-प्रयोग द्वारा भी साधित किया जा सकता है। कुछ बृहत् और शक्तिशाली साम्राज्य अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकते हैं, यहांतक कि एक अकेले प्रबल विश्व-साम्राज्य, अथवा एक ही सम्राट के राज्य का भी उदय हो सकता है जिसे मनुष्यजाति अपना शासक नहीं तो अपना पंच स्वीकार कर ही लेगी या स्वीकार करने को बाध्य होगी। कोई विवेकपूर्ण सिद्धांत नहीं, वरन् आवश्यकता और सुविधा, अनिवार्य प्रकाश नहीं, बल्कि अनिवार्य शक्ति जाति के किसी भी राजनीतिक, प्रशासनीय और आर्थिक एकीकरण में एक प्रभावशाली शक्ति हो सकती है।

यह आदर्श तत्काल चरितार्थ न भी हो सके फिर भी हमें अधिकाधिक इसी दिशा में कार्य करना चाहिये। यदि श्रेष्ठ पद्धति सदा व्यवहार में न भी लायी जा सके फिर भी श्रेष्ठ पद्धति को जान लेना अच्छा है, जिससे सिद्धांतों, शक्तियों और हितों के संघर्ष में इसका कुछ अंश हमारे आपसी व्यवहारों में प्रवेश कर सके और उन भूलों, भ्रांतियों और कष्टों को कम कर सके जिन्हें अपने विकास के मूल्य के रूप में स्वीकार

करने को हमारे अज्ञान और अविवेक हमें बाधित करते हैं। अतएव, सिद्धांत रूप में मानवजाति का आदर्श एकीकरण एक ऐसी प्रणाली होगा जिसमें सर्वसाधारण और सामंजस्यपूर्ण जीवन का प्रथम नियम मनुष्यजाति को यह अवसर प्रदान करेगा कि वह स्थान, जाति, संस्कृति और आर्थिक सुविधा के स्वाभाविक विभाजनों के अनुसार अपने समुदायों का निर्माण करे न कि इतिहास की उग्रतर घटनाओं अथवा उन शक्तिशाली राष्ट्रों की अहंकारपूर्ण इच्छा के अनुसार जिनकी नीति सदा यही होती है कि वे छोटे राष्ट्रों अथवा उन राष्ट्रों को जिनका संगठन समयानुकूल नहीं हुआ है, बाधित करें कि या तो वे अधीन रहकर उनके हितों का पोषण करें या फिर अधीनस्थ प्रजा की तरह उनके आदेशों का पालन करें। विश्व की वर्तमान व्यवस्था आर्थिक शक्तियों, राजनीतिक कूटनीतियों, संधियों और क्रयों तथा सैनिक उग्रता द्वारा क्रियान्वित की गयी है, इसमें मनुष्यजाति के हित के किसी नैतिक सिद्धांत या सामान्य नियम का विचार नहीं किया गया है। इसने जगत्-शक्ति के विकास में उसके कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिये थोड़ा-बहुत प्रयत्न अवश्य किया है, साथ ही रक्तपात, कष्ट, क्रूरता, अत्याचार और विद्रोह के बाद मनुष्यों को एक-दूसरे के अधिक निकट लाने में भी सहायता पहुंचायी है। इसकी भी उन सब चीजों के समान, जो अपने-आपमें आदर्श न होती हुई भी अपना अस्तित्व रख चुकी हैं और बलपूर्वक अपनी स्थापना कर चुकी हैं, प्रकृति की उग्र प्रणालियों की आवश्यकता में, सार्थकता रही है, पर वह सार्थकता जीवशास्त्रीय है, नैतिक नहीं; प्रकृति को इन प्रणालियों का प्रयोग पशु-जगत् की भांति अर्ध-पशु मनुष्यजाति के साथ भी करना पड़ता है। किंतु एकीकरण का विशाल कार्य एक बार आरंभ कर देने के बाद, जो कृत्रिम व्यवस्थाएं उत्पन्न हो चुकी हैं उनके अस्तित्व का फिर और कोई कारण नहीं रह जायेगा, क्योंकि अब हमारा लक्ष्य कुछ विशेष राष्ट्रों के अहंकार, अभिमान और लालसा की तृप्ति नहीं, बल्कि समस्त संसार की सुख-सुविधा होगा। दूसरे, एक राष्ट्र का दूसरे पर कितना भी न्यायसंगत अधिकार—उदाहरणार्थ आर्थिक हित और विस्तार की आवश्यकताएं—क्यों न हो उसकी व्यवस्था एक सुसंगठित विश्व-ऐक्य या विश्व-राज्य में अब संघर्ष और प्रतियोगिता के सिद्धांत के अनुसार नहीं, वरन् सहयोग या अनुकूलीकरण के अथवा कम-से-कम ऐसी प्रतियोगिता के सिद्धांत के अनुसार की जायेगी जो कानून और न्याय तथा उचित आदान-प्रदान द्वारा नियंत्रित होगी। अतएव, अनैच्छिक और कृत्रिम समुदायों का निर्माण करने के लिये ऐतिहासिक परंपरा और चरितार्थ तथ्य को छोड़कर और कोई आधार नहीं रह जायेगा और प्रत्यक्ष रूप से इस आधार का जागतिक स्थितियों के महान् परिवर्तन में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं होगा; यह परिवर्तन तबतक नहीं लाया जा सकता जबतक कि जाति ऐसी सैंकड़ों परंपराओं को तोड़ने और ऐसे अनेकों चरितार्थ तथ्यों को अस्तव्यस्त करने के लिये तैयार नहीं हो जाती।

समुदायों के निर्माण की आवश्यकता को देखते हुए मानव-एकता का पहला

सिद्धांत स्वतंत्र और स्वाभाविक समुदायों की एक ऐसी प्रणाली होना चाहिये जिसमें जाति जाति में अथवा समाज समाज में होनेवाले आंतरिक कलह, विभेद, दमन और विद्रोह के लिये जरा भी अवकाश न रहे। नहीं तो विश्व-राज्य की स्थापना कम-से-कम आंशिक रूप में विधान-संगत अन्याय और दमन की प्रणाली पर अथवा अधिक-से-अधिक बल-प्रयोग और दबाव के सिद्धांत पर—चाहे वह कितना दुर्बल क्यों न हो—आधारित होगी। इस प्रणाली में ऐसे असंतुष्ट तत्त्व निहित होंगे जो परिवर्तन की किसी भी आशा को आक्रांत करने तथा जितनी भी नैतिक शक्ति और भौतिक बल अभी तक उनके पास है उसे उन इच्छाओं की पूर्ति में लगाने के लिये उत्सुक होंगे जो प्रणाली को अस्तव्यस्त करने, उससे पीछे हटने तथा उसे समाप्त करके और शायद पुरानी व्यवस्था को पुनः लाने के लिये जाति में उत्पन्न हो सकती हैं। इस प्रकार विद्रोह के नैतिक केन्द्र सुरक्षित रहेंगे और मानव-मन की अस्थिरता को स्वीकार करते हुए हम कह सकते हैं कि अनुकूल समय पाकर ये संक्रमण और आत्म-प्रसारण की महान् शक्ति प्राप्त करके ही रहेंगे। वास्तव में, कोई भी ऐसी प्रणाली, जो अनियमितता, अन्याय और असमानता को दृढ़ और स्थायी रूप देती प्रतीत होती हो अथवा जो सदा ही दबाव और अनैच्छिक अधीनता के सिद्धांत पर आधारित हो, सुरक्षित नहीं रह सकती; वह अपने स्वभाव से ही अल्पकालिक होगी।

अभी जो विश्व-क्रांति हुई थी उसके बाद की वास्तविक स्थिति पर आधारित विश्व-व्यवस्था की युद्धकालीन प्रवृत्ति की विशेष दुर्बलता यही थी। इस प्रकार की व्यवस्था में उन अवस्थाओं को स्थायी बना देने का दोष अवश्य रहा होगा जो अपने स्वभाव से ही अस्थायी थीं। इसका अर्थ केवल यही नहीं था कि कोई एक राष्ट्र असंतुष्ट विदेशी अल्पसंख्यकों पर शासन करता, पर यह भी कि एशिया के अधिकतर भाग पर और समस्त अफ्रीका पर यूरोपीय प्रभुत्व स्थापित हो जाता। इन अवस्थाओं में राष्ट्रों का एक संघ या उनकी एक प्रारंभिक एकता मनुष्यजाति के अत्यधिक विशाल समुदाय पर कुछ श्वेत जातियों द्वारा किये गये कुलीनतंत्रीय शासन के तुल्य होगी। यह विश्व की चिरस्थायी व्यवस्था का सिद्धांत नहीं बन सकता था, क्योंकि तब दो में से एक-न-एक बात अनिवार्य हो जाती। नयी प्रणाली को कानून और बल-प्रयोग द्वारा तात्कालिक वस्तुस्थिति को प्रश्रय देकर, आमूल परिवर्तन के किसी भी प्रयत्न का विरोध करना पड़ता, परंतु इसका फल यह होता कि महान् प्राकृतिक और नैतिक शक्तियों को अस्वाभाविक रूप से दबा दिया जाता और इसका अंतिम परिणाम भयंकर अव्यवस्था और एक ऐसे विस्फोट की उत्पत्ति होता जो शायद समस्त संसार को नष्ट कर देता। या फिर एक ऐसी सामान्य विधायक सत्ता की स्थापना करनी पड़ती और परिवर्तन के साधन जुटाने पड़ते जिनके द्वारा मानवजाति की भावना और उसका मत साम्राज्यीय अहंभावों पर विजय पाने में समर्थ हो जाते और जो अधीनस्थ यूरोपीय, एशियाई और अफ्रीकी जातियों को विश्व-परिषदों में अपनी बढ़ती हुई आत्म-चेतना की मांगों को

प्रस्तुत करने की सामर्थ्य प्रदान करते, किंतु एक ऐसी सत्ता जो विशाल और शक्तिशाली साम्राज्यों के अहंभावों में हस्तक्षेप कर सके, स्थापित करनी कठिन होगी; इसके कार्य की गति धीमी होगी और किन्हीं भी साधनों द्वारा अपनी शक्ति अथवा नैतिक प्रभाव को यह सुविधापूर्वक कार्यान्वित नहीं कर सकेगी; इसके विचारों में भी सुस्थिरता और सामंजस्य का अभाव हो सकता है। या तो यह महान् शक्तियों के किसी शासक कुलीनवर्ग की भावनाओं और हितों का प्रतिनिधित्व करनेवाली सत्ता तक ही सीमित रह जायेगी या फिर राज्यों के संबंध-विच्छेद और गृहयुद्ध की ऐसी घटनाओं में समाप्त होगी जिन्होंने अमरीका में दासप्रथा की समस्या को सुलझाया था। इसका केवल एक ही और समाधान संभव हो सकता है कि प्रारंभ में यूरोप के अंदर युद्ध के द्वारा जो उदार भाव और सिद्धांत पैदा हुए थे वे कार्य की दृढ़ और स्थिर शक्तियां बन जायें तथा अयूरोपीय अधीनस्थ प्रदेशों के साथ यूरोपीय राष्ट्रों के व्यवहारों में उनका समावेश हो जाये। दूसरे शब्दों में, यूरोपीय राष्ट्रों का यह एक स्थायी राजनीतिक सिद्धांत बन जाना चाहिये कि वे अपने साम्राज्यवाद का तरीका बदल दें और जितनी जल्दी हो सके अपने साम्राज्यों को कृत्रिम एकताओं से सच्ची मनोवैज्ञानिक एकताओं में परिणत कर दें।

परंतु इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि जो सिद्धांत हम प्रस्तुत कर चुके हैं उसे स्वीकार कर लिया जायेगा, संसार की व्यवस्था आज की भांति कुछ अंश में स्वतंत्र और कुछ अंश में अनैच्छिक समुदायों की प्रणाली के अनुसार नहीं, वरन् स्वतंत्र और स्वाभाविक समुदायों की प्रणाली के अनुसार की जायेगी। कारण, मनोवैज्ञानिक एकता केवल इसी प्रकार सुनिश्चित हो सकती है कि आज के अधीनस्थ राष्ट्र साम्राज्यीय समुदाय में सम्मिलित होने के लिये स्वतंत्रतापूर्वक अपनी स्वीकृति दे दें; स्वतंत्र स्वीकृति की शक्ति में स्वतंत्र अस्वीकृति और संबंध-विच्छेद की शक्ति भी निहित होगी। यदि संस्कृति या स्वभाव की अथवा आर्थिक या किन्हीं और हितों की विषमता के कारण मनोवैज्ञानिक एकता स्थापित न की जा सके तो या तो इस प्रकार से अलग होना आवश्यक हो जायेगा, या फिर बल-प्रयोग के पुराने सिद्धांत का आश्रय लेना पड़ेगा, पर विशाल जन-समुदायों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करना कठिन होगा, क्योंकि नयी प्रक्रिया के फलस्वरूप इनमें जागृति पैदा हो गयी होगी और उन्होंने अपनी संयुक्त जीवन-शक्ति और बौद्धिक बल पुनः प्राप्त कर लिये होंगे। मानव-समुदायीकरण में इस प्रकार की साम्राज्यीय एकताओं को एक ऐसा अगला कदम मानना होगा जो अनिवार्य तो नहीं, पर संभव अवश्य है और जिसे वर्तमान अवस्थाओं

* राष्ट्रसंघ (League of Nations) की स्थापना इसी प्रकार के अस्पष्ट आदर्श को लेकर हुई थी। पर साम्राज्यीय अहंभावों के विरोध में किये गये उसके पहले दुविधापूर्ण प्रयत्न भी अंत में असफल रहे, और अपने वचनों से पीछे हटकर ही उसके सदस्य गृहयुद्ध को टाल सके। वास्तव में यह कुछ एक महान् शक्तियों की नीति के अधीन एक यंत्र से अधिक कभी कुछ नहीं रहा।

में चरितार्थ करना मानवजाति को एकीकृत करने की अपेक्षा अधिक सुगम है। किंतु ऐसी एकताओं के केवल दो संगत उद्देश्य हो सकते हैं—एक तो संसार के समस्त राष्ट्रों की एकता का मध्य-पड़ाव और बड़े पैमाने पर प्रशासनीय और आर्थिक राज्य-संघ का प्रयोग हो सकता है, और दूसरा एक ऐसा साधन हो सकता है जिसके द्वारा विभिन्न जाति और वर्ण के तथा विभिन्न परंपरा और सभ्यता रखनेवाले राष्ट्रों में एक ही राजनीतिक कुटुंब के अंदर एक साथ रहने का अभ्यास डाला जायें, क्योंकि समस्त मनुष्यजाति को एकता की किसी-न-किसी ऐसी प्रणाली के अंतर्गत तो रहना ही पड़ेगा जो विविधता के सिद्धांत का मान करते हुए भी पूर्ण एकता के लिये बाध्य न करे। प्रकृति की प्रक्रियाओं में साम्राज्यीय विषम इकाई का महत्व केवल इस बृहत्तर एकता को प्राप्त करने के साधन के रूप में ही है और यदि बाद में यह किसी स्वाभाविक आकर्षण या पूर्ण विलयन के किसी चमत्कार द्वारा स्थिर न रखी जा सकी—जो संभव होते हुए भी व्यवहार्य नहीं है—तो बृहत्तर एकता प्राप्त हो जाने पर इसका अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। विकास की इस दिशा में, और वास्तव में, विकास की किसी भी दिशा में जातियों के स्वतंत्र और स्वाभाविक समुदायीकरण का सिद्धांत ही चरम परिणाम तथा अंतिम और पूर्ण आधार होगा, और ऐसा होना आवश्यक भी है, क्योंकि और किसी आधार पर मनुष्यजाति का एकीकरण सुरक्षित अथवा दृढ़ नहीं रह सकता, और जब एक बार एकीकरण दृढ़तापूर्वक स्थापित हो जायेगा और परस्पर-संबंध और परस्पर-अनुकूलता के श्रेष्ठतर साधन युद्ध और ईर्ष्यापूर्ण राष्ट्रीय प्रतियोगिता का स्थान ले लेंगे तो किसी अन्य अधिक कृत्रिम प्रणाली के बनाये रखने का कोई प्रयोजन नहीं रह जायेगा। अतएव, विवेक और सुविधा दोनों ही परिवर्तन को अनिवार्य कर देंगे। तब समुदायीकरण की स्वाभाविक प्रणाली की प्रथा भी किसी देश की अपने प्राकृतिक प्रदेशों के आधार पर की गयी प्रशासनीय व्यवस्था की तरह ही सामान्य हो जायेगी; विवेक या सुविधा की दृष्टि से इसकी भी इतनी ही आवश्यकता है जितनी उस सम्मान की जो हस्तांतरण या स्वतंत्र संघीकरण की किसी भी प्रणाली में आवश्यक रूप से जाति, राष्ट्रीय भावना या चिर-स्थापित स्थानीय एकताओं को दिया जाता है। अन्य विचार इस सिद्धांत के व्यवहार में कुछ हेर-फेर ला सकते हैं, किंतु इतना प्रबल कोई भी नहीं होगा जो इसका निषेध कर सके।

इस प्रकार के समुदायीकरण में स्वाभाविक इकाई राष्ट्र है, क्योंकि यही वह आधार है जिसकी प्रकृति ने अपने विकासक्रम में दृढ़तापूर्वक रचना की है। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि बृहत्तर एकता को दृष्टि में रखकर ही उसने हमें यह आधार प्रदान किया है। अतएव, यदि एकीकरण को हमारे इतिहास के किसी भविष्यकाल के लिये स्थगित ही नहीं कर दिया जाता और इस बीच समुदायीकरण का राष्ट्रीय सिद्धांत अपनी शक्ति और सजीवता खोकर किसी दूसरे सिद्धांत में अपने-आपको विलीन नहीं कर देता तो स्वतंत्र और स्वाभाविक राष्ट्र-इकाई और शायद राष्ट्र-समुदाय सुदृढ़ और

सामंजस्यपूर्ण विश्व-प्रणाली का उचित और जीवंत आधार बन जायेगा। जाति का महत्त्व फिर भी रहेगा और वह एक तत्त्व, केवल एक गौण तत्त्व के रूप में ही स्वीकार की जायेगी। कुछ समुदायों में वह प्रधान और निर्णायक होगी, और दूसरों में कुछ हदतक तो भाषा और जाति के विभेदों का अतिक्रमण करनेवाली ऐतिहासिक और राष्ट्रीय भावना के कारण और कुछ हदतक स्थानीय संपर्क अथवा भौगोलिक एकता से उत्पन्न आर्थिक और दूसरे संबंधों के कारण उसका महत्त्व नहीं के बराबर रह जायेगा। सांस्कृतिक एकता का भी अपना स्थान होगा, पर सब अवस्थाओं में उसका प्रधान होना आवश्यक नहीं है; यहांतक कि जाति और संस्कृति की संयुक्त शक्ति भी इतनी प्रबल नहीं हो सकती कि वह इस संबंध में निर्णायक बन सके।

इस जटिलता के उदाहरण सर्वत्र मिलते हैं। स्विट्जरलैंड में भाषा, जाति और संस्कृति, यहांतक कि भावनाओं की समानता की दृष्टि से भी कई विभिन्न राष्ट्रीय समुदाय हैं,—दो समुदायों—लैटिन और ट्यूटोनिक—का आधार भावना और संस्कृति है और तीन—जर्मन, फ्रेंच और इटैलियन—जाति और भाषा पर आधारित हैं। इन विभेदों ने राष्ट्रों के संघर्ष में स्विस लोगों की संवेदनाओं को काफी हदतक भटकाया और विभाजित किया है; किंतु अन्य सबसे प्रबल और निर्णायक भाव हैल्वैशियन (Helvetian) राष्ट्रीयता की भावना है जो ऐसा प्रतीत होता है, स्विट्जरलैंड की प्राचीन, प्राकृतिक, स्थानीय और ऐतिहासिक एकता के स्वेच्छाकृत विभाजन या विलयन के किसी भी विचार को आज या कभी भी क्रियान्वित नहीं होने देगी। अलसास, मुख्यतया जाति, भाषा और प्राचीन इतिहास की दृष्टि से, जर्मन-संघ का अंग है, पर जर्मनों ने व्यर्थ ही इन विशेषताओं की दुहाई देकर अलसास-लौरैन (Alsace-Lorraine) को ऐलसास-लोतरींजन (Elsass-Lothringen) में बदलने की चेष्टा की। वहां की जनता की, राष्ट्र, इतिहास और संस्कृतिसंबंधी सजीव भावनाओं और समानताओं ने उसे अभीतक फ्रांस के साथ बांध रखा था। कनाडा और ऑस्ट्रेलिया का ब्रिटिश द्वीप-समूहों के साथ या आपस में एक-दूसरे के साथ कोई भौगोलिक संबंध नहीं है और इनमें से कनाडा तो, पूर्व-नियति के अनुसार, अमरीकी समुदाय-एकता का ही एक भाग प्रतीत होता है, किंतु, निश्चय ही, जबतक भावना का परिवर्तन नहीं हो जाता, जिसके विषय में अभी कुछ कहना कठिन है, दोनों ही ब्रिटिश-संघ के अंग बनना अधिक पसंद करेंगे : न तो कनाडा अधिकाधिक सार्वभौम रूप धारण करनेवाले अमरीकी राष्ट्र में विलीन होना चाहेगा और न ऑस्ट्रेलिया ही आस्ट्रेलेशियन संघ के रूप में अलग रहना पसंद करेगा। उधर ऑस्ट्रो-हंगरी के स्लावनिक और लैटिन अंग, चाहे वे इतिहास, भौगोलिक स्थिति और आर्थिक सुविधा की दृष्टि से उसी साम्राज्य के भाग थे, पृथक्त्व के लिये, और जहां स्थानीय भावनाएं उनके अनुकूल थीं वहां अपनी ही जाति, संस्कृति और भाषावालों से संयुक्त होने के लिये प्रबल रूप में यत्नशील हो उठे। यदि ऑस्ट्रिया ने अपनी स्लाव

प्रजा के साथ भी वैसा ही व्यवहार किया होता जैसा कि उसने मगियारों (Magyars) के साथ किया था अथवा अपने जर्मन, स्लाव, मग्यर और इटैलियन अंगों में से ही अपनी राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण करने में समर्थ हो जाता तो स्थिति कुछ और ही होती और उसकी एकता भी विघटन की समस्त बाह्य शक्तियों से सुरक्षित रहती। जाति, भाषा, स्थानीय संबंध और आर्थिक सुविधा भी शक्तिशाली तत्त्व हैं, किंतु निर्णायक तत्त्व तो वह प्रबल मनोवैज्ञानिक तत्त्व ही है जो एकता लाने में सहायक होता है। इस सूक्ष्मतर शक्ति के आगे और सब शक्तियों को, चाहे वे कितनी भी आतुर क्यों न हों, सिर झुकाना पड़ेगा; एक बृहत्तर एकता में अपनी स्वतंत्र एवं पृथक् अभिव्यक्ति और स्वत्व के लिये ये कितनी भी चेष्टा क्यों न करें, इन्हें अपने को अधिक शक्तिशाली आकर्षण के अधीन करना ही होगा।

इसी कारण से जो आधारभूत सिद्धांत अपनाया जाये वह ऐतिहासिक परंपरा या राष्ट्रों पर लादी गयी वास्तविक स्थिति का कोई काल्पनिक अथवा व्यावहारिक नियम या सिद्धांत नहीं बल्कि स्वतंत्र समुदायीकरण का सिद्धांत होना चाहिये। मन में एक प्रणाली गढ़ लेना और उसे उन आधारों पर, जो प्रथम दृष्टि में युक्तियुक्त और सुविधाजनक प्रतीत होते हैं, खड़ा कर लेने का विचार करना आसान है। पहली दृष्टि में तो ऐसा लगेगा कि मनुष्यजाति की एकता अत्यधिक युक्तियुक्त और सुविधापूर्ण तरीके से यूरोपीय समुदायीकरण, एशियाई समुदायीकरण और अमरीकी समुदायीकरण के आधार पर ही स्थापित हो सकती है, इसके साथ अमरीका में दो या तीन, लैटिन और अंग्रेजी-भाषी उप-समुदाय होंगे; एशिया में भी मंगोलियन, हिन्दुस्तानी और पश्चिमी-एशियाई ये तीन समुदाय होंगे, — शायद इनमें से तीसरे के साथ मुस्लिम उत्तरी अफ्रीका भी स्वभावतया जुड़ा होगा। इसी प्रकार यूरोप में लैटिन, स्लावनिक, ट्यूटैनिक और एंग्लो-कैल्टिक ये चार समुदाय होंगे, इनमें से एंग्लो-कैल्टिक के साथ वे सब उपनिवेश भी होंगे जो अभी उसी के साथ जुड़े रहना चाहते हैं; उधर मध्य और दक्षिणी अफ्रीका को वर्तमान स्थिति में, किंतु उन अधिक सद्भावपूर्ण और प्रगतिशील सिद्धांतों के आधार पर विकास करने के लिये स्वतंत्र छोड़ा जा सकता है जिनपर एकीकृत मानवता की भावना आग्रह करेगी। इस कार्य की जो वास्तविक और प्रत्यक्ष कठिनाइयां हैं उनमें से कुछ एक का एक अधिक श्रेष्ठ प्रणाली में कोई विशेष महत्त्व नहीं रहेगा। उदाहरणार्थ, हम यह जानते हैं कि जो राष्ट्र सभी प्रतीयमान बंधनों द्वारा घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं, वे वास्तव में ऐसे विरोधों द्वारा विभाजित भी हैं जो अधिक काल्पनिक और कम यथार्थ विरोधों से अधिक प्रबल हैं; ये काल्पनिक और कम यथार्थ विरोध उन्हें उन लोगों से अलग कर देते हैं जिनका उनके साथ कोई साम्य नहीं है। मंगोलियन जापान और मंगोलियन चीन अपनी भावना में एक-दूसरे से अत्यंत विभिन्न हैं; अरब, तुर्किस्तान और फारस के निवासी धर्म और संस्कृति की दृष्टि से इस्लामी होते हुए भी, यदि उनकी वर्तमान भावनाएं एक-दूसरे की ओर ऐसी ही

बनी रहीं, तो एक कुटुंब की भांति मिल-जुलकर सुखपूर्वक नहीं रह सकेंगे। स्कैंडेनेविया के नार्वे और स्वीडन की प्रत्येक चीज ऐसी थी जो उन्हें एक-दूसरे के निकट लाने तथा उनके ऐक्य को स्थायी रखनेवाली थी, —फिर भी उनमें एक ऐसी प्रबल अथवा अविवेकपूर्ण भावना काम कर रही थी जिसने उस मेल का स्थायी रहना असंभव कर दिया। किंतु ये विरोध वास्तव में केवल तभीतक रहते हैं जबतक कोई वास्तविक अमित्रतापूर्ण दबाव अथवा अधीनता या अधिकार का भाव रहता है अथवा एक के अस्तित्व के दूसरे के अस्तित्व द्वारा दबाये जाने की आशंका होती है; एक बार इसके दूर हो जाने पर ये विरोध समाप्त भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब से नार्वे और स्वीडन अलग हो गये हैं, स्कैंडेनेविया के तीनों राज्यों में मिलकर काम करने की तथा अपने-आपको यूरोप में एक स्वाभाविक समुदाय समझने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर प्रबल होती गयी है। आयरलैंड और इंगलैंड का बहुत पुराना विरोध भी इन दो पृथक् राष्ट्रों के बीच अपूर्ण पर अधिक न्याययुक्त संबंध के स्थापित हो जाने से वैसे ही दूर होता जा रहा है जैसे ऑस्ट्रिया और मगियार के राज्यों के बीच न्याययुक्त संबंध स्थापित होने पर इनका सब वैर-विरोध समाप्त हो गया था। अतएव यह सहज ही समझ में आ सकता है कि जिस प्रणाली में विरोध के कारण समाप्त हो जायेंगे उसमें स्वाभाविक समानताएं अधिक होंगी और जिस समुदायीकरण की हम कल्पना करते हैं वह अधिक सरलतापूर्वक क्रियान्वित किया जा सकेगा। यह भी कहा जा सकता है कि एकीकरण की प्रवृत्ति के अधिक प्रबल होने पर मानवजाति स्वभावतः ही इस प्रकार के समन्वय को साधित करने की दिशा में अग्रसर होगी। संभव है कि एक महान् जागतिक परिवर्तन और क्रांति प्रबल रूप में शीघ्र ही सब बाधाओं को दूर कर दे, जिस प्रकार फ्रांस में फ्रांसीसी क्रांति ने एकरूप जनतंत्रीय प्रणाली की उन बाधाओं को दूर कर दिया था जो पुरानी शासन-पद्धति द्वारा पैदा की गयी थीं। परंतु इस प्रकार की कोई भी व्यवस्था व्यवहार में नहीं लायी जा सकेगी जबतक लोगों की वास्तविक भावनाएं ही विवेकपूर्ण सुविधा की इन प्रणालियों के अनुकूल न बन जायें; पर आज संसार की स्थिति ऐसी किसी भी आदर्श अनुकूलता से कोसों दूर है।

एक बार ऐसा प्रतीत हुआ था कि राष्ट्रीय भावना के सिद्धांत पर स्थापित एक नये आधार का विचार, एक परिमित क्षेत्र में, व्यावहारिक रूप ग्रहण कर रहा है, किंतु यह केवल यूरोप की पुनर्व्यवस्था तक ही सीमित रहा और वहां भी यह विजित साम्राज्यों पर युद्ध और बल-प्रयोग की युक्ति द्वारा ही लागू किया गया था। दूसरों ने भी इसे एक सीमित रूप में ही अपने लिये स्वीकार करने का विचार किया था, उदाहरणार्थ, रूस ने पोलैंड को स्वायत्त शासन देना स्वीकार कर लिया, उधर इंगलैंड ने भी आयरलैंड को स्वराज्य देकर अपने उपनिवेशों को संघबद्ध कर लिया। पर इस सिद्धांत के विरोधी कई एक सिद्धांत अभी भी बने रहे, यहांतक कि साम्राज्यीय महत्वाकांक्षाओं

और आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये इसके विरोध में नये सिद्धांत भी स्थापित किये गये। नये आधार के इस विचार को एक नाम भी दे दिया गया; कुछ समय के लिये आत्म-निर्णय के इस विचार का शासकीय स्वीकृति भी मिलती रही और इसने एक सत्य सिद्धांत का-सा रूप धारण कर लिया। अपूर्ण रूप से कार्यान्वित किये जाने पर भी, यदि यह व्यवहारतः सफल हो जाता तो एक नया आदर्श मूर्त रूप में जन्म लेकर बढ़ने लगता तथा मनुष्यजाति के लिये यह आशा उत्पन्न कर देता कि अंत में यह अधिक व्यापक क्षेत्र में चरितार्थ किया जायेगा और बाद में तो यह सार्वभौम रूप भी धारण कर लेगा। मित्र-राष्ट्रों की विजय यदि इन बड़ी-बड़ी बातों का अंत भी कर दे, फिर भी अब यह मानने का कोई कारण नहीं है कि स्वतंत्र राष्ट्रीय समुदायों के आधार पर संसार की पुनर्व्यवस्था करने का यह आदर्श एक असंभव स्वप्न है या सर्वथा कपोल-कल्पित आदर्श है।

तथापि इसके विरोध में बहुत-सी शक्तियाँ हैं और यह आशा करना व्यर्थ है कि बिना लंबे और कठिन संघर्षों के इन पर विजय प्राप्त हो जायेगी। इन विरोधी शक्तियों में से सबसे अधिक प्रबल और प्रधान है राष्ट्रीय और साम्राज्यीय अहंभाव। जहां शासन और आधिपत्य पिछले प्रयत्नों का पुरस्कार रह चुका हो वहां आधिपत्य की सहज-प्रवृत्ति का तथा अब भी शासक और सर्वोच्च अधिकारी बने रहने की इच्छा का त्याग करना, अधीनस्थ प्रदेशों तथा उपनिवेशों के व्यापारिक शोषण द्वारा प्राप्त हुए उस लाभ को छोड़ देना जो केवल अधिकार और प्रभुत्व को दृढ़ करने से ही प्राप्त हो सकता है, उन सशक्त और कभी-कभी तो उन विशाल जनसमूहों के अंदर स्वतंत्र राष्ट्रीय कर्मण्यता के उदय को निष्पक्ष भाव से देखना जो कभी आश्रित और उनकी समृद्धि के निष्क्रिय साधनमात्र थे पर अब उनके बलशाली समकक्ष और शायद उनके उग्र प्रतिद्वंद्वी भी बन जायेंगे, —ये सब अहंभावयुक्त मानव प्रकृति के लिये इतनी बड़ी मांगें हैं कि इन्हें आसानी से और सहजभाव से स्वीकार नहीं किया जा सकता जबतक कि किसी ऐसे बड़े तथा प्रत्यक्ष लाभ की वास्तविक आवश्यकता या आशा ही मन को इसे स्वीकार करने को विवश न कर दे जो तात्कालिक और प्रत्यक्ष हानि की पूर्ति कर सकता हो। उधर यूरोप की भी यह मांग है, जिसे वह अभी तक छोड़ नहीं पाया है, कि सभ्यता की खातिर —जिसका मतलब यूरोपीय सभ्यता है —वह शेष जगत् को अपने अधिकार में रखे और इस बात का आग्रह करे कि यदि एशियाई जातियाँ किसी भी तरह की समानता या स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहती हैं तो उन्हें इस सभ्यता को स्वीकार करना पड़ेगा। यह मांग एशिया में तो शीघ्र ही अपनी शक्ति खो देगी पर अफ्रीकी महाद्वीप की वर्तमान स्थिति में यह अभी भी बहुत हदतक उचित प्रतीत होती है। अभी तो हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह इस नवोदित आदर्श की अधिक व्यापक स्वीकृति के विरोध में प्रबल रूप से कार्य कर रही है और किसी भी ऐसे आदर्श सिद्धांत पर आश्रित विश्व-व्यवस्था को तबतक प्रतीक्षा करनी होगी जबतक इस

मांग से उत्पन्न समस्याएं हल नहीं हो जातीं तथा नयी शक्तियों का विकास नहीं हो जाता और एशिया और यूरोप दोनों में वे आध्यात्मिक, बौद्धिक और भौतिक क्रांतियां प्रबल रूप नहीं धारण कर लेतीं जो अभी तक पूरी तरह से घटित नहीं हुई हैं।'

'ये क्रांतियां अब घटित हो चुकी हैं और ये बाधाएं, पूरी तरह से तो नहीं पर कुछ हदतक, समाप्त हो गयी हैं या होती जा रही हैं।

केन्द्रीकरण और एकरूपता की प्रवृत्ति, शासन-प्रबन्ध और वैदेशिक विषयों का नियंत्रण

यदि यह मान लिया जाये कि स्थायी विश्व-ऐक्य का अंतिम आधार राष्ट्रों का वह स्वतंत्र समुदायीकरण होगा जो उनकी स्वाभाविक समानताओं, भावनाओं तथा आर्थिक एवं अन्य सुविधाओं के विचार के अनुसार चरितार्थ किया गया हो तो अगला प्रश्न यह उठेगा कि मनुष्यजाति की बृहत्तर और जटिलतर एकता में इन राष्ट्र-इकाइयों की अपनी यथार्थ स्थिति क्या होगी। क्या ये केवल नाममात्र का पृथक्त्व रखेंगी और एक मशीन के पुर्जे बन जायेंगी या इनका एक वास्तविक और सजीव व्यक्तित्व तथा प्रभावपूर्ण स्वातंत्र्य और सुघटित जीवन भी बना रहेगा? क्रियात्मक रूप में हम इस प्रश्न को इस रूप में भी रख सकते हैं कि क्या मानव-एकता का आदर्श यह है कि मनुष्यजाति एक ही बृहत् राष्ट्र और अनेक प्रांतोंवाले केंद्रीभूत विश्व-राज्य में बलपूर्वक या कम-से-कम सबल रूप में एकीभूत या गठित हो जायेगी अथवा यह कि वह एक अधिक जटिल, मुक्त और नमनीय प्रणाली के आधार पर समवेत होकर स्वतंत्र राष्ट्रों के विश्व-ऐक्य का रूप धारण कर लेगी। यदि इनमें से पहले अधिक कठोर विचार, प्रवृत्ति या आवश्यकता की प्रधानता रही तो निश्चय ही दबाव, सिमटाव और राष्ट्रीय एवं वैयक्तिक स्वाधीनता के निषेध का एक ऐसा युग आयेगा जैसा कि यूरोप में राष्ट्रीय रचना की तीन ऐतिहासिक अवस्थाओं में से दूसरी में आया था। यह प्रक्रिया यदि पूर्णतया सफल हो जाये तो इसकी परिणति विश्व की एक ऐसी केंद्रीभूत सरकार में होगी जो अपना एक ही नियम और कानून, एक ही प्रशासन, वित्त और शिक्षासंबंधी एक ही प्रणाली, एक ही संस्कृति, एक ही सामाजिक नियम, एक ही सभ्यता और शायद एक ही भाषा और धर्म भी समस्त मनुष्यजाति पर लागू कर देगी। केंद्रीभूत होने के कारण यह अपने कुछ अधिकार राष्ट्रीय सत्ताओं और परिषदों को भी सौंपेगी पर केवल उसी प्रकार जिस प्रकार केंद्रीभूत फ्रेंच सरकार—उसकी संसद और नौकरशाही सरकार—अपने कुछ अधिकार विभिन्न विभागों के अधिनायकों तथा परिषदों और उनके अधीनस्थ अधिकारियों एवं जनपदों को सौंपती है।

पर यह अवस्था बहुत दूर का स्वप्न प्रतीत होती है और निश्चित रूप से, किसी कठोर सैद्धांतिक को छोड़कर और किसी के लिये यह कोई अत्यंत सुंदर स्वप्न भी नहीं है। यह भी निश्चित है कि इसे पूर्ण व्यावहारिक रूप देने में अधिक समय लगेगा और इससे पहले शिथिल रचना का एक ऐसा काल आयेगा जैसा कि मध्यकालीन यूरोप में

फ्रांस अथवा जर्मनी की सामंतिक एकता का काल था। फिर भी जिस उत्तरोत्तर द्रुत गति से विश्व का विकास हो रहा है उसे तथा भविष्य में होने वाली अंतर्राष्ट्रीय विचार, दृष्टि और व्यवहार की अतिविशाल क्रांतियों को देखते हुए हमें इसपर एक अंतिम संभावना के रूप में ही नहीं वरन् एक ऐसी संभावना के रूप में भी विचार करना है जो कोई अत्यंत दूर की वस्तु नहीं है। यदि वर्तमान स्थिति किसी एक दिशा में दृढ़ता और सफलतापूर्वक प्रगति करती जाये और विज्ञान इतनी अधिक उन्नति कर ले कि वह दैशिक, भौगोलिक और मानसिक सीमाओं की वर्तमान बाधाओं को नष्ट कर दे तथा विशाल और सूक्ष्म संगठन की अपनी साधन-संपदा को बढ़ा ले तो यह संभावना एक-दो या अधिक-से-अधिक तीन-चार शताब्दियों में कार्यान्वित हो सकती है। ऐसी किसी भी प्रक्रिया का, जिसमें कतिपय बृहत् राष्ट्रों का बल और दबाव या उनकी प्रधानता अथवा एक सम्राट्-राज्य अर्थात् ऐसे साम्राज्य का उदय, जिसका जल-स्थल दोनों पर प्रभुत्व हो, एकीकरण का मुख्य साधन बन जाये, युक्ति-युक्त परिणाम यही होगा। यदि पहले से किसी प्रकार की शिथिल एकता स्थापित हो जाये तो यह संभावना विश्व में राजनीतिक सिद्धांत की विजय द्वारा तथा उन समाजवादी और अंतर्राष्ट्रीयतावादी सैद्धांतिकों के राजनीतिक क्षेत्र में प्रभुत्व प्राप्त करने से, जिनकी मनोवृत्ति फ्रांसीसी क्रांति के एकतावादी जैकोबिन लोगों की मनोवृत्ति से मिलती हो, चरितार्थ हो सकती है। इन सैद्धांतिकों को अतीत की भावनाओं से अथवा समुदाय की विशिष्टता के किसी भी रूप से प्रेम नहीं होगा। ये पूर्ण मानव-एकता तथा समानता के अपने विचार को पूरी तरह से चरितार्थ करने के लिये उनके सभी प्रत्यक्ष आधारों का अस्तित्व मिटा देने की चेष्टा करेंगे।

ऐसी प्रणाली—चाहे वह किसी भी तरह और किन्हीं भी शक्तियों द्वारा स्थापित हो और जो आधुनिक समाजवाद को प्रेरणा देनेवाले जनतंत्रीय राज्य-सिद्धांत द्वारा अथवा केवल एक ऐसे राज्य-सिद्धांत द्वारा परिचालित हो जो शायद समाजवादी होता हुआ भी अजनतंत्रीय या जनतंत्र-विरोधी है—इस सिद्धांत पर खड़ी होगी कि पूर्ण एकता केवल एकरूपता द्वारा ही प्राप्त हो सकेगी। वास्तव में कोई भी ऐसा विचार जो यांत्रिक या बाह्य साधनों द्वारा एकता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है स्वभावतः एकरूपता की ओर आकृष्ट होता है। इतिहास और अतीत के दृष्टांत भी इस बात की पुष्टि करते प्रतीत होते हैं। क्योंकि राष्ट्रीय एकता की रचना में केंद्रीकरण और एकरूपता की प्रवृत्ति ही सदा निर्णायक तत्त्व रही है और एकरूपता की अवस्था अंतिम लक्ष्य। जाति के विभिन्न तथा प्रायः परस्पर-विरोधी अंगों के एक राष्ट्रीय राज्य में परिणत हो जाने का पूर्व दृष्टांत स्वभावतः ही इस बात की निश्चित आशा बंधायेगा कि संसार की समस्त जनता अर्थात् समस्त मनुष्यजाति एक विश्व-राष्ट्र और विश्व-राज्य का रूप धारण कर लेगी। आधुनिक समय में एकरूपता की इस प्रबल प्रवृत्ति के बहुत से महत्वपूर्ण उदाहरण मिलते हैं और सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ यह प्रवृत्ति भी

जोर पकड़ती जाती है। तुर्की आंदोलन का आरंभ तो इस आदर्श के साथ हुआ था कि अस्तव्यस्त तुर्क-साम्राज्य के सभी विषमजातीय तत्वों—जातियों, भाषाओं, धर्मों और संस्कृतियों के प्रति उदारता दिखायी जाये, परंतु स्वभावतः वहां की उद्दाम युवावृत्ति इस प्रेरणा के वशीभूत हो गयी कि चाहे जोर-जबर्दस्ती से ही क्यों न हो, एकरूप उस्मानी संस्कृति और उस्मानी राष्ट्रीयता को स्थापित कर देना चाहिये। ग्रीक अंश के बहिष्कार तथा साम्राज्य के विनाश के बाद यह प्रवृत्ति आज के छोटे विशुद्ध तुर्की राज्य के रूप में फलीभूत हो गयी है, पर यह आश्चर्य की बात है कि राष्ट्रीय एकरूपता के साथ यूरोपीय संस्कृति और सामाजिक आचार-व्यवहारों के मिल जाने तथा उसके अंदर इनके आत्मसात् हो जाने से वह अभिभूत-सी हो गयी है। बेल्जियम में ट्यूटैनिक फ्लैमिंग्स (Teutonic Flemings) और गैलिक वलून (Gallic Walloons) दोनों प्रायः समान रूप से विद्यमान हैं। इसीलिये फ्रैंको-बैल्जियन संस्कृति के सुदृढ़ संरक्षण के नीचे वह एक राष्ट्र में विकसित हो गया, इसकी प्रधान भाषा फ्रेंच थी। उधर फ्लैमिंग आंदोलन का, जिसे वास्तव में दोनों भाषाओं के समान अधिकारों से संतुष्ट हो जाना चाहिये था, लक्ष्य यह हो गया कि यह सारी स्थिति बदल जाये और फ्लैमिश भाषा और देशीय फ्लैमिश संस्कृति को स्वीकृति ही नहीं प्रमुखता भी प्राप्त हो जाये। जर्मनी ने अपने पुराने अंगों को एक कर लिया और अपने वर्तमान राज्यों, उनकी सरकारों और शासन-व्यवस्थाओं को उसी तरह चलने दिया, पर इस प्रकार अत्यधिक विभिन्नताओं की जो संभावना पैदा हो गयी वह बर्लिन में राष्ट्रीय जीवन को केंद्रित कर देने से समाप्त हो गयी। नाममात्र की पृथक्ता अवश्य रही पर वह भी एक ऐसी वास्तविक और प्रबल एकरूपता द्वारा आच्छादित हो गयी जिसने, दक्षिणी राज्यों की अधिक जनतंत्रीय और मानवतावादी प्रवृत्तियों और संस्थाओं के होते हुए भी, जर्मनी को पूर्णतया बृहत्तर प्रशिया (Prussia) का रूप दे दिया। स्विट्जरलैंड, संयुक्त राज्य, ऑस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका एक स्वतंत्र प्रकार के राज्यसंघ के प्रत्यक्ष उदाहरण अवश्य हैं, किंतु वास्तव में वहां भी एकरूपता की भावना प्रबल है अथवा प्रबल होने की प्रवृत्ति रखती है यद्यपि बारीकियों में जायें तो अंगभूत राज्यों को विभिन्नता तथा गौण विषयों में स्वतंत्र व्यवस्था की छूट भी प्राप्त है। सर्वत्र ही एकता कम या अधिक एकरूपता की आवश्यकता अनुभव करती हुई उसे लाने का प्रयत्न करती प्रतीत होती है, — क्योंकि उसे वह अपना सुरक्षित आधार मानती है।

पहली एकरूपता जिससे शेष सब एकरूपताएं आरंभ होती हैं केंद्रीभूत सरकार की एकरूपता है; इसका स्वाभाविक कार्य है एक समान प्रशासन का निर्माण करना तथा उसे दृढ़ बनाना। ऐसे प्रत्येक समुदाय के लिये जो अपने राजनीतिक और आर्थिक जीवन की सुगठित एकता प्राप्त करना चाहता है केंद्रीय सरकार आवश्यक है। यद्यपि प्रारंभ में अथवा केवल नाम के लिये यह केंद्रीय सरकार उन अनेक राज्यों द्वारा निर्मित

एक संगठनमात्र हो सकती है जो अपनी सीमाओं में अब भी सर्वोच्च बने रहने का दावा करते हैं, एक ऐसा यंत्र जिसे वे सुविधा के लिये कुछ समान उद्देश्यों की खातिर अपने कुछ अधिकार दे देते हैं। फिर भी, वास्तव में, इस सरकार की प्रवृत्ति सदा ही बाद में सर्वोच्च संस्था बन जाने की होती है। और इसकी इच्छा सदा यही रहती है कि अधिकाधिक शक्ति इसके हाथों में आ जाये जब कि स्थानीय विधान मंडलों और सत्ताओं के पास केवल कुछ सौंपे हुए अधिकार ही रह जायें। अधिक शिथिल प्रणाली की व्यावहारिक असुविधाएं इस प्रवृत्ति की पुष्टि करती हैं और धीरे-धीरे उन संरक्षणों की शक्ति को निर्बल कर देती हैं जो किसी भी बाह्य हस्तक्षेप से बचने के लिये बनाये जाते हैं; यह हस्तक्षेप, अधिकाधिक, पूर्ण रूप से हितकारी और सामान्य उपयोगिता के विचार से युक्तियुक्त भी प्रतीत होता है। संयुक्त राज्य में भी, यद्यपि उसके अंदर अपने पुराने संविधान के लिये अत्यधिक मोह है और वह स्थानीय दिशाओं को छोड़कर और किसी दिशा में वैधानिक परिवर्तन बड़ी कठिनाई से स्वीकार करता है, यह प्रवृत्ति प्रकट हो रही है और यदि पुराने संविधान में किसी भी वैधानिक हस्तक्षेप का निषेध करने के लिये सर्वोच्च न्यायालय न होता, अथवा यदि वैदेशिक विषयों और उलझनों से बचकर रहने की अमरीकन नीति ने उन आवश्यकताओं के दबाव को न हटा दिया होता जिन्होंने अन्य राष्ट्रों में केंद्रीय सरकार को समस्त वास्तविक शक्ति हथिया लेने और अपने-आपको राष्ट्रीय गतिविधियों का स्रोत, साथ-ही-साथ उनका अध्यक्ष या केंद्र बना लेने में सहायता पहुंचायी है, तो अबतक निश्चित रूप से इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप महान् और मौलिक परिवर्तन हो जाते। संयुक्त राज्य की परंपरागत नीति, उसकी शांतिप्रियता, उसके युद्ध-विरोधी विचार, यूरोपीय उलझनों में फंसने अथवा यूरोप की राजनीति के साथ कोई भी निकट संबंध रखने के प्रति उसकी अरुचि, यूरोपीय शक्तियों के पश्चिमी गोलार्ध में उपनिवेश और हित होते हुए भी उनके द्वारा अमरीका के मामलों में हस्तक्षेप करने के प्रति उसकी असहिष्णुता—इन सबके मूल में मुख्यतया यह सहज-प्रेरणा काम कर रही है कि यह पृथक्त्व ही उसकी संस्थाओं तथा उसके राष्ट्रीय जीवन के विशिष्ट रूप को बनाये रखने का एकमात्र सुरक्षित साधन है। एक बार युद्धवादी बनने पर, एक बार पुरानी दुनिया की राजनीति के चक्कर में पड़ जाने पर, जैसी कि कई बार आशंका होती है—संयुक्त राज्य को कोई भी वस्तु केंद्रित होने तथा संघीय सिद्धांत को निर्बल करने की दिशा में होनेवाले महान् परिवर्तनों की आवश्यकता से अधिक समय तक बचा नहीं सकती।^१ स्विट्जरलैंड भी अपने संघीय संविधान को इसी प्रकार की स्वकेंद्रित तटस्थता के कारण सुरक्षित रख सका है।

^१ रूज़वेल्ट की नीति तथा वे कठिनाइयां जिनका इसे सामना करना पड़ा था संयुक्त राज्य की इन दो विरोधी शक्तियों के बल का सजीव चित्रण करती हैं; संघीय स्थिति को सुदृढ़ बनाने की प्रवृत्ति, चाहे वह कितनी धीमी क्यों न हो, असंदिग्ध रूप में अपना कार्य कर रही है।

राष्ट्रीय केंद्रीकरण का विकास मुख्यतया दो आवश्यकताओं के कारण होता है; इनमें से पहली और साथ-ही-साथ अत्यधिक अनिवार्य है, सुदृढ़ता, एकचित्ता और अन्य राष्ट्रों के संयुक्त और केंद्रीभूत प्रतिकार की आवश्यकता, चाहे यह प्रतिकार बाह्य उत्पीड़न से बचने के लिये किया गया हो या राष्ट्रीय हितों और महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में दूसरों पर दबाव डालने के लिये। युद्ध और सैनिकवाद का केंद्रीकारक प्रभाव, अर्थात् शक्तियों को केंद्रीभूत करने की उसकी मांग बहुत पुराने समय से इतिहास का एक सामान्य तथ्य बन चुकी है। केंद्रीभूत और पूर्ण स्वेच्छाचारी राजतंत्रों के विकास में, संगठित और शक्तिशाली कुलीन तंत्रों की सुरक्षा में, विरोधी अंगों के पारस्परिक मेल तथा केंद्र-विरोधी प्रवृत्तियों के शमन में भी यह एक प्रधान तत्त्व रही है। इस आवश्यकता के सामने जो राष्ट्र शक्तियों के इस केंद्रीकरण का विकास या इसकी रक्षा नहीं कर सके वे जीवन-संग्राम में सदा ही असफल रहे हैं, चाहे उन्होंने विधि का वह विधान न भी सहा हो जिसे यूरोप में इटली और पोर्लैंड ने तथा एशिया में भारतवर्ष ने सहा था। केंद्रित जापान की शक्ति और विकेंद्रित चीन की दुर्बलता इस बात का स्थायी प्रमाण थी कि आधुनिक स्थितियों में भी प्राचीन शासन-प्रणाली ही उचित प्रतीत होती है। अभी कल की बात है, पश्चिमी यूरोप के स्वतंत्र राज्यों को अपनी कठिनाई से उपलब्ध स्वाधीनता का परित्याग कर देने तथा अनुत्तरदायी सीनेट की पुरानी रोमन प्रणाली का, यहांतक कि एक ऐसे राष्ट्र की केंद्रित शक्ति का सामना करने के लिये गुप्त तानाशाही का आश्रय लेने को विवश होना पड़ा था जो सैनिक आक्रमण और रक्षा के लिये प्रबल रूप से केंद्रित तथा सुसंगठित था। यदि इस आवश्यकता की भावना, प्रकट या अप्रकट रूप से, युद्ध के दिनों के बाद भी बनी रह सकती, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि जनतंत्र और स्वाधीनता को एक ऐसा भयंकर और संभवतः घातक आघात पहुंचता जैसा कि वर्तमान समय में उनकी पुनः स्थापना से लेकर अब तक उन्हें कभी नहीं पहुंचा था।^१

जर्मनी के जीवन को पूर्णतया अपने अधिकार में कर लेने की प्रशिया की शक्ति का एकमात्र कारण प्रायः यही था कि वह जानता था कि दो महान् और शत्रु-राष्ट्रों के बीच में जर्मनी की स्थिति अरक्षित अवस्था में है और उसका साम्राज्य यूरोप में अपनी विशेष स्थिति के कारण चारों ओर से घिरा हुआ है, अतः उसका विस्तार करने में संकट की संभावना हो सकती है। इसी प्रवृत्ति का एक और उदाहरण वह शक्ति भी है जो राज्य-संघ के सिद्धांत को इंग्लैंड और उसके उपनिवेशों में युद्ध के फलस्वरूप प्राप्त हुई थी। जबतक ये उपनिवेश इंग्लैंड के युद्धों और विदेशी नीति से अलग रह सके और उससे प्रभावित नहीं हुए इस सिद्धांत को व्यवहार रूप में आने का अवसर नहीं मिला; किंतु, ऐसा प्रतीत होता है, कि युद्ध और उसकी कठिनाइयों के अनुभव

^१ वर्तमान परिस्थिति में भी शक्तियों की प्रवृत्ति प्रत्यक्षतः जनतंत्र से हटकर राज्य के अधिकाधिक कठोर नियंत्रण और शासनप्रबंध की ओर झुकती प्रतीत होती है।

और लगभग पूर्ण विकेंद्रीकरण की प्रणाली के अधीन साम्राज्य की संभाव्य शक्ति को जबर्दस्ती केंद्रित करने की प्रत्यक्ष अयोग्यता ने यह अनिवार्य कर दिया कि ब्रिटिश साम्राज्य की अपूर्ण और शिथिल रचना को दृढ़ कर देना चाहिये; एक बार इस सिद्धांत को स्वीकार करने और उसे प्रारंभिक रूप में व्यवहार में लाने के बाद यह कार्य विस्तृत रूप में हो सकता है।^१ जहां शांति ही राज्य का सिद्धांत है वहां शिथिल संघ का कोई-सा भी रूप चल जाता है, पर जहां कहीं शांति खतरे में है या जीवन-संघर्ष कठिन और दुःखदायी है, शिथिलता हानि का रूप धारण कर लेती है, यहांतक कि एक भयंकर दोष बन जाती है, विधि को संहार का एक अवसर मिल जाता है।

बाह्य संकट का दबाव एवं विस्तार की आवश्यकता केवल एक दृढ़ राजनीतिक और सैनिक केंद्रीकरण की ही प्रवृत्ति पैदा करते हैं; एकरूपता का विकास एक ऐसे दृढ़ आंतरिक संगठन की आवश्यकता से जन्म लेता है जिसका इस प्रकार से उत्पन्न केंद्र एक साधन बन जाता है। इस संगठन का निर्माण कुछ हदतक तो उन्हीं आवश्यकताओं के कारण होता है जो इस केंद्र-रूपी साधन को उत्पन्न करती हैं, पर अधिकतर इसका निर्माण इसलिये किया जाता है कि सुविधा पर आधारित सुव्यवस्थित सामाजिक और आर्थिक जीवन के लिये एकरूपता अनेक प्रकार से उपयोगी है; इस सुविधा को जीवन कुछ अधिक महत्त्व नहीं देता परंतु मनुष्य की बुद्धि सदा इसकी मांग करती है,—यह व्यवस्था का एक स्पष्ट, सहज और जीवन की जटिलता के बीच यथासंभव सरल सिद्धांत है। जब मानवीय बुद्धि जीवन में निहित सुघटित व्यवस्था के अधिक सहज रूप में कोमल और नमनीय सिद्धांत को छोड़कर अपने ढंग से जीवन को अनुशासित करना आरंभ करती है तो उसका उद्देश्य आवश्यक रूप में स्थूल प्रकृति के व्यवस्थासंबंधी एकरूप और मूल सिद्धांतों की स्थिरता का अनुकरण करना होता है, पर साथ ही वह उन्हें यथासंभव समान रूप से प्रयोग में लाने का प्रयत्न भी करती है। वह सभी महत्त्वपूर्ण विभिन्नताओं को दबाने की प्रवृत्ति रखती है। जब वह अपने-आपको व्यापक बनाकर प्रकृति की जटिलताओं को समझने और उनसे निबटने के अधिक योग्य अनुभव करने लगती है, तभी वह उस स्वतंत्र विविधता और समान सिद्धांतों के सूक्ष्म रूप से विभिन्न प्रयोग को कार्यान्वित करने में सुविधा अनुभव करती है जिसका जीवन-सिद्धांत सदा ही मांग करता प्रतीत होता है। राष्ट्रीय समाज की व्यवस्था में सर्वप्रथम तो वह स्वभावतया एकरूपता के

^१ अबतक यह बात समान स्थिति और वैदेशिक विषयों में निकट परामर्श तथा एक अधिक घनिष्ठ आर्थिक सहयोग के प्रयत्नों तक ही पहुंची है, किन्तु महायुद्धों के चलते रहने से या तो अबतक की शिथिल प्रणाली नष्ट हो जायेगी या फिर अत्यधिक ठोस बनने को बाध्य हो जायेगी। फिर भी इस समय औपनिवेशिक स्थिति के आने और वेस्टमिन्स्टर-संविधि के निर्माण से यह संभावना रुक गयी है क्योंकि ये राज्यसंघ को किसी भी क्रियात्मक प्रयोजन के लिये अनावश्यक यहांतक कि शायद व्यावहारिक स्वाधीनता की पोषक भावना के लिये अवांछनीय भी बना देते हैं।

राजनीतिक और सैनिक कार्य-संबंधी पक्ष को प्राप्त करने की चेष्टा करती है, क्योंकि यह पक्ष व्यवस्था के उस केंद्र की, जो बन चुका है, विशेष आवश्यकता से निकटतम संबंध रखता है। पहले तो वह प्रशासन की पर्याप्त एकता और एकरूपता चाहती है, पर बाद में उसका लक्ष्य पूर्ण एकता और एकरूपता हो जाता है।

केंद्रीकरण की आवश्यकता ने जिन राजतंत्रों का निर्माण किया था उनकी पहली प्रवृत्ति एक प्रारंभिक केंद्रीकरण अर्थात् शासन-प्रबंध के सभी प्रमुख सूत्रों को केंद्रीय सत्ता के हाथ में सौंप देने की ओर थी। यह हम सर्वत्र देखते हैं, परंतु इस प्रक्रिया की क्रमिक अवस्थाएं फ्रांस के राजनीतिक इतिहास में अत्यधिक स्पष्टता से दृष्टिगोचर होती हैं, क्योंकि वहां सामंतिक पृथक्त्व और सामंतिक न्यायक्षेत्र की अव्यवस्था ने अत्यंत भयंकर कठिनाइयां उत्पन्न कर दी थीं, फिर भी केंद्रीकरण के सतत आग्रह से तथा अपने अवशिष्ट परिणामों की अंतिम उग्र प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वे वहीं पर अत्यधिक सफलतापूर्वक सुलझा तथा दूर कर दी गयी थीं। केंद्रीकारक राजतंत्र ने, जिसे अंग्रेजों के आक्रमणों, स्पेनिश दबाव तथा गृहयुद्धों से प्राप्त अनेक अनुभवों के द्वारा सर्वोच्च शक्ति प्राप्त हो गयी थी, स्वभावतः उस पूर्ण स्वेच्छाचरिता को विकसित कर लिया था जिसका कि महान् ऐतिहासिक व्यक्ति चौदहवां लुई एक अत्यंत ज्वलंत प्रतीक है। उसका यह प्रसिद्ध वाक्य, "मैं ही राज्य हूँ" वास्तव में देश की एक ऐसी सर्वसम्मत राज्यशक्ति के विकास की आवश्यकता को व्यक्त करता था जो सामंतिक फ्रांस के शिथिल और अस्तव्यस्त-प्राय संगठन के विरोध में समस्त सैनिक, विधायक और प्रशासनीय सत्ता अपने अंदर केंद्रित कर ले। बूरबों लोगों (Bourbons) की प्रणाली का पहला उद्देश्य प्रशासनीय केंद्रीकरण और एकता था; साथ ही, कुछ हदतक प्रशासनीय एकरूपता प्राप्त करना भी उसे अभीष्ट था। वह इस दूसरे उद्देश्य को पूर्ण सफलता के साथ चरितार्थ नहीं कर सकी, क्योंकि वह उस कुलीनतंत्र के अधीन थी जिसका उसने स्थान तो लिया था, परंतु जिसे वह अपने सामंतिक अधिकारों के ध्वंसावशेष सौंपने के लिये विवश थी। बाद में फ्रेंच क्रांति ने इस कुलीनतंत्र को भी शीघ्र ही समाप्त कर दिया, साथ ही पुरानी प्रणाली के अवशेष भी उसके प्रवाह में बह गये। एक कठोर एकरूपता की स्थापना करते हुए इसने राजतंत्र के कार्य में कुछ भी उलट-फेर नहीं किया, बल्कि उसे पूर्णता ही प्रदान की। पूर्ण विधायक, राजकोषीय, आर्थिक, न्याय-संबंधी और सामाजिक एकता और एकरूपता ही वह लक्ष्य था जिसकी ओर स्वेच्छाचारी फ्रांसीसी सत्ता—चाहे वह राजतंत्रीय थी या जनतंत्रीय—सबसे पहले प्रबल रूप में प्रेरित हुई थी। जेकोबिन लोगों तथा नैपोलियन के शासन ने केवल उस कार्य को शीघ्र ही संपन्न कर दिया जो राजतंत्र के अधीन सामंतिक फ्रांस की अस्तव्यस्त सत्ता में से धीरे-धीरे विकसित हो रहा था।

अन्य देशों में यह आंदोलन कम प्रत्यक्ष था और पुरानी संस्थाएं अपने अस्तित्व के मूल कारण के न रहने पर भी दृढ़तापूर्वक जमी रहीं। किंतु यूरोप में सर्वत्र ही,

जर्मनी^१ और रूस में भी, यही प्रवृत्ति रही है और इसका अंतिम परिणाम भी अवश्य सामने आयेगा। इस विकास का अध्ययन भविष्य के लिये अत्यधिक महत्त्व रखता है; कारण जिन कठिनाइयों को पार करना है, वे चाहे अपने रूप और विस्तार में कितनी भी भिन्न क्यों न हों, अपने मूल रूप में उन्हीं कठिनाइयों के समान हैं जो आधुनिक सभ्य जगत् के शिथिल और अब भी अस्तव्यस्त संगठन में से विश्व-राज्य के विकसित होने के मार्ग में आयेंगी।

^१ यह ध्यान देने योग्य है कि जर्मनी में यह प्रवृत्ति एक अभूतपूर्व केंद्रीकरण में और हिटलर के अधीन राष्ट्रीय-समाजवादी शासन के कठोर निर्धारण तथा एकरूपता में अपनी चरम सीमा को प्राप्त हुई थी।

आर्थिक केंद्रीकरण की प्रवृत्ति

राष्ट्रीय एकता का बाह्य संगठन एक अखंड केंद्रीय सत्ता तथा उसके राजनीतिक, सैनिक और कठोर प्रशासनीय व्यापारों की एकता एवं एकरूपता को अधिगत कर लेने पर भी पूर्ण नहीं होता है, उसके सुघटित जीवन का एक और पक्ष—विधान-कार्य और उससे संबद्ध न्यायसंबंधी कार्य—भी है जो उतना ही महत्वपूर्ण है। वस्तुतः विधायिनी शक्ति का प्रयोग अंत में राजा का विशेष लक्षण हो जाता है, यद्यपि सदा वह ऐसा नहीं रहा है। तार्किक दृष्टि से मनुष्य यह सोचेगा कि अपने जीवन के नियमों को सचेतन और संगठित रूप से निर्धारित करना समाज का प्रथम कर्तव्य होना चाहिये। और, चूंकि अन्य सब कर्तव्य इसीके द्वारा निश्चित और इसीपर आश्रित भी होंगे, स्वभावतः इसका विकास सबसे पहले होना चाहिये। परंतु जीवन स्व-चेतन मन के नियमों और युक्तियों के अनुसार नहीं, वरन् अपने नियमों और शक्तियों के दबाव के अनुसार विकसित होता है। उसकी पहली क्रिया अवचेतन के द्वारा निर्धारित होती है, सचेतन स्थिति को तो वह बाद में, विकास के परिणामस्वरूप ही, प्राप्त करती है। मानव-समाज का विकास भी इस नियम का अपवाद नहीं रहा है, अपनी मूल प्रकृति में मनोमय प्राणी होते हुए भी मनुष्य क्रियात्मक रूप में प्रारंभ से ही एक ऐसा सचेतन प्राणी, एवं प्रकृति का मानव-पशु रहा है जिसका मन अधिकतर यांत्रिक है; केवल बाद में ही वह स्व-चेतन प्राणी और अपने-आपको अधिकतर पूर्ण बनानेवाला 'मनु' बन सकता है। यही वह मार्ग है जिसका व्यक्ति को अनुसरण करना होता है। सामुदायिक मनुष्य व्यक्ति के पद-चिह्नों का अनुसरण करता है और वह सर्वोच्च वैयक्तिक विकास से सदा बहुत पीछे रहता है। इसलिये अपनी आवश्यकताओं की सचेतन और पूर्ण रूप में व्यवस्था करनेवाले संगठन के रूप में समाज का विकास, जो तर्क-बुद्धि के अनुसार पहला अनिवार्य पग होना चाहिये, वास्तव में जीवन के तर्क की दृष्टि से अंतिम और चरम पग है। अंत में यह समाज को इस योग्य बना देता है कि वह सचेतन रूप में अपने जीवन के संपूर्ण संगठन—सैनिक, राजनीतिक, प्रशासनीय, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक—को राज्य की सहायता से पूर्ण रूप प्रदान करे। इस प्रक्रिया की पूर्णता उस विकास की पूर्णता पर आश्रित है जिसके राज्य और समाज—जितना भी संभव हो—एक ही वस्तु बन जाते हैं। जनतंत्र की यही विशेषता है; समाजवाद की भी यही विशेषता है। ये इस बात के लक्षण हैं कि समाज पूर्णतः स्व-चेतन और इसके परिणामस्वरूप स्वतंत्र और सचेतन रूप से स्व-नियामक संगठन बनने की तैयारी कर रहा है।^१ परंतु यहां यह कह देना आवश्यक

^१ फासिस्टवाद और राष्ट्रीय समाजवाद ने इस सूत्र में से 'स्वतंत्र' शब्द को निकाल कर उग्र शासन द्वारा एक संगठित और स्व-नियामक चेतना को उत्पन्न करने का कार्य आरंभ कर दिया है।

है कि आधुनिक जनतंत्र और आधुनिक समाजवाद इस पूर्णता को लाने के केवल अधूरे और मूर्खतापूर्ण प्रयत्न हैं, एक स्वतंत्र रूप की विवेकपूर्ण उपलब्धि नहीं, वरन् एक निष्प्रभाव संकेत हैं।

समाज की प्रारंभिक अवस्था में प्रथम तो ऐसी कोई वस्तु नहीं होती जिसे हम विधि अर्थात् रोमन विधि (Roman lex) कहते हैं; केवल कुछ आवश्यक अभ्यासों अर्थात् आचारों का एक समूह होता है जो सामुदायिक मनुष्य की आंतरिक प्रकृति द्वारा तथा उसपर उसके वातावरण की शक्तियों और आवश्यकताओं की क्रिया के अनुसार निर्धारित होता है। ये आचार ही फिर परिपाटियां या ऐसी वस्तुएं बन जाते हैं जो स्थिर और वैधिक रूप ग्रहण करके प्रथाओं का आकार धारण कर लेती हैं और अंत में विधियों में रूपांतरित हो जाती हैं। इतना ही नहीं, ये आचार समाज के समस्त जीवन को अपने अंतर्गत कर लेते हैं। राजनीतिक और प्रशासनीय विधि में तथा सामाजिक और धार्मिक विधि में कोई अंतर नहीं होता। ये एक ही प्रणाली में केवल संयुक्त ही नहीं हो जातीं, वरन् एक-दूसरे के साथ घुल-मिल जाती हैं तथा एक-दूसरे के द्वारा निर्धारित भी होती हैं। प्राचीन यहूदी विधान और हिंदूशास्त्र का यही रूप था। इसने, विशिष्टीकरण और पृथक्करण की उन प्रवृत्तियों के रहते हुए भी जो मनुष्यजाति की विश्लेषणात्मक और व्यावहारिक बुद्धि के सहज विकास के परिणामस्वरूप दूसरे स्थानों पर विजय पा चुकी हैं, समाज के इस प्रारंभिक सिद्धांत को अभी कुछ समय पहले तक सुरक्षित रखा था। इस प्रचलित जटिल विधान का विकास अवश्य ही सामाजिक अभ्यासों के उस स्वाभाविक विकासद्वारा हुआ था जो परिवर्तनशील विचारों और अधिकाधिक जटिल आवश्यकताओं के अनुसार संपन्न हुआ था। ऐसी कोई एक निश्चित विधायक सत्ता नहीं थी जो सचेतन निर्माण और चुनाव द्वारा अथवा सर्वसाधारण की सहमति की आशा में या आवश्यकता और विचार की सामान्य सहमति के ऊपर की गयी प्रत्यक्ष क्रियात्मक क्रिया के द्वारा इन्हें निर्धारित करती। राजा, सिद्ध, ऋषि और ब्राह्मण स्मृतिकार अपने बल और प्रभाव के अनुसार ऐसी क्रिया का प्रयोग चाहे तो कर सकते थे, पर इनमेंसे भी कोई संविहित और विधायक सर्वोच्च सत्ता नहीं था; भारतवर्ष में राजा धर्म का परिचालक तो था, पर विधायक या तो बिल्कुल नहीं था या केवल किसी विशेष अवस्था में और नगण्य रूप में ही होता था।

यह वस्तुतः ध्यान देने योग्य बात है कि इस प्रचलित विधान का संबंध प्रायः एक मूल विधान-निर्माता मनु, मूसा अथवा लाईसर्जस (Lycurgus) के साथ जोड़ा जाता था; पर ऐसी किसी भी परंपरा के ऐतिहासिक सत्य का आधुनिक अन्वेषण ने निराकरण कर दिया है और यदि हम केवल वास्तविक ज्ञेय तथ्यों तथा मानव मन और उसके विकास की साधारण प्रक्रिया पर विचार करें तो शायद यह ठीक भी लगेगा। वस्तुतः यदि हम भारतवर्ष की गहन पौराणिक परंपरा का पर्यालोचन करें तो हमें पता

चलेगा कि मनु के विषय में उसका विचार और किसी चीज की अपेक्षा प्रतीकात्मक अधिक है। उसके नाम का अर्थ मनुष्य अर्थात् मनोमय प्राणी है। वह दैवी विधान-निर्माता है, मनुष्यजाति में मनोमय अर्धदेव है जो उन प्रणालियों को निश्चित करता है जिनके अनुसार जाति या समाज को अपने विकास का संचालन करना है। एक पुराण में कहा गया है कि वह और उसके पुत्र सूक्ष्म लोकों में राज्य करते हैं अथवा, जैसा कि हम कह सकते हैं, वे बृहत्तर मन पर राज्य करते हैं जो हमारे लिये अचेतन है; वहां से वे मनुष्य के सचेतन जीवन के विकास की दिशाएं निर्धारित कर सकते हैं। उसका विधान है मानव-धर्म-शास्त्र, यह मनोमय प्राणी या मनुष्य के आचार-व्यवहार के नियम का शास्त्र है और इस अर्थ में हम यह सोच सकते हैं कि किसी भी मानव-समाज का विधान उस प्रतिरूप का और उन दिशाओं का सचेतन विकास है जिन्हें उसके मनु ने उसके लिये निश्चित किया है। यदि कोई शरीरधारी मनु, जीवित मूसा या मुहम्मद आविर्भूत होता है तो वह केवल अवतार अथवा भगवान् का प्रतिनिधि होता है जो अग्नि और बादल में छिपा हुआ है। वह सिनाई पर्वत पर प्रकट होनेवाला जेहोवा तथा अपने देवदूतों द्वारा संदेश देनेवाला अल्लाह है। यह हम जानते ही हैं कि मुहम्मद ने अरब-निवासियों के उस समय के सामाजिक, धार्मिक और प्रशासनीय रीति-रिवाजों को केवल एक नयी प्रणाली का रूप दिया था जिसका निर्देश उसे बहुधा समाधि-अवस्था में मिलता था जब कि वह अपनी चेतन सत्ता से अतिचेतन सत्ता में चला जाता था; यह निर्देश उसे अपने गुप्त संबोधि-मन में भगवान् से प्राप्त होता था। यह सब अतिबौद्धिक हो सकता है अथवा इसे अबौद्धिक भी कह सकते हैं, पर यह मानव-विकास की समाज के उस प्रकार के शासन से भिन्न अवस्था को सूचित करता है जो उसके बौद्धिक और व्यावहारिक मनद्वारा परिचालित होता है। यह मन जीवन की परिवर्तनशील इच्छाओं और स्थायी आवश्यकताओं के संबंध से एक ऐसे निर्मित और निबद्ध विधान की मांग करता है जो एक निश्चित विधायक सत्ता अर्थात् समाज के सुसंगठित मस्तिष्क अथवा केंद्र द्वारा निर्धारित हुआ हो।

हम देख ही चुके हैं कि इस युक्तिसंगत विकास का अर्थ है एक केंद्रीय सत्ता का निर्माण; प्रारंभ में यह एक पृथक् केंद्रीय शक्ति होती है, पर बाद में यह समाज के साथ अधिकाधिक संबद्ध होती जाती है अथवा उसका प्रत्यक्ष रूप से प्रतिनिधित्व करने लगती है। यह सत्ता फिर धीरे-धीरे सामाजिक कार्यों के विशिष्ट और पृथक्कृत अंगों को अपने हाथ में ले लेती है। शुरू में यह सत्ता राजा की थी, चाहे वह निर्वाचित हो या वंशानुगत; अपने मूल गुण की दृष्टि से वह युद्ध का नायक था और अपने देश में केवल एक मुखिया, बड़े-बूढ़े और शक्तिशाली मनुष्यों का प्रधान और राष्ट्र एवं सेना का संचालक; उनके कार्य का वह केंद्र था, पर निर्धारक नहीं। केवल युद्ध में जहां शक्ति का संपूर्ण केंद्रीकरण ही सफल कार्य की पहली शर्त होती है, वह पूर्णतया सर्वोच्च सत्ता रखता था। गणनायक के साथ-साथ वह आदेश देनेवाला

सर्वाध्यक्ष भी था। जब वह प्रधानता और शासन के इस संयोग को बाहर से अंदर की ओर विस्तृत करता था तब वह कार्यकारिणी शक्ति बन जाता था, सामाजिक प्रशासन का केवल प्रधान साधन ही नहीं, वरन् कार्यकारी शासक हो जाता था।

इस प्रकार आंतरिक राजनीति की अपेक्षा वैदेशिक राजनीति में प्रधान बनना स्वभावतः ही उसके लिये अधिक सुगम था। अब भी वे यूरोपीय सरकारें जिन्हें आंतरिक विषयों में लोकमत का मान करना पड़ता है अथवा राष्ट्र को प्रसन्न एवं संतुष्ट रखना पड़ता है, वैदेशिक राजनीति में पूर्णतया या अधिकांश में अपने विचारों के अनुसार ही कार्य कर सकती हैं; क्योंकि वे अपने कार्यों को एक ऐसी गुप्त कूटनीति द्वारा निर्धारित करने में स्वतंत्र हैं जिसमें सर्वसाधारण की कुछ नहीं चल सकती और राष्ट्र के प्रतिनिधियों के पास भी इसके परिणामों की आलोचना या अनुमोदन करने की सामान्य शक्तिमात्र होती है। वैदेशिक राजनीति में उनका कार्य नाममात्र का होता है, नहीं तो न्यूनतम मात्रातक तो सीमित रहता ही है, क्योंकि वे गुप्त आयोजनाओं और संधियों को नहीं रोक सकतीं। इनमें से जो शीघ्र ही जनता के सामने आ जाती हैं उनके लिये भी वे अपनी स्वीकृति को केवल स्थगित ही रख सकती हैं, किंतु इसमें भी राष्ट्र के बाह्य कार्य की निश्चितता, अविरामता और आवश्यक एकरूपता के नष्ट होने का और इस प्रकार विदेशी सरकारों के विश्वास को खो बैठने का डर रहता है जिसके बिना न तो समझौते की बातचीत चल सकती है और न ही स्थायी मैत्री और संबंध स्थापित हो सकते हैं। संकट के समय में भी जब कि युद्ध या शांति में से एक का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है और अंतिम घड़ी या अंतिम क्षण में जब उनसे वास्तविक रूप में सलाह मांगी जाती है तब भी वे अपनी स्वीकृति को—चाहे वह युद्ध के लिये हो अथवा शांति के लिये—सचमुच रोक नहीं सकतीं। पुराने राजतंत्रों में तो ऐसी स्थिति का होना और भी आवश्यक था जब राजा युद्ध और शांति का निर्णायक होता था तथा देश के बाह्य विषयों का संचालन राष्ट्रीय हित-विषयक अपने वैयक्तिक विचार के अनुसार करता था; इसपर उसके प्रधान आवेगों, पक्षपातों तथा वैयक्तिक और कौटुम्बिक हितों का अत्यधिक प्रभाव पड़ता था। किंतु, इसके साथ कितनी भी हानियां जुड़ी हों, युद्ध एवं शांति तथा वैदेशिक राजनीति का संचालन और साथ ही युद्ध-क्षेत्र में सेना का संचालन कम-से-कम सर्वोच्च सत्ता में ही केंद्रित और एकीभूत था। वैदेशिक नीति के वास्तविक संसदीय नियंत्रण की, यहांतक कि प्रत्यक्ष कूटनीति की मांग—जो हमारे वर्तमान विचारों के लिये कठिन-सी बात प्रतीत होती है यद्यपि पहले वह व्यवहार में लायी भी जा चुकी है और पूर्णतः व्यवहार में लायी भी जा सकती है—रूपांतर की दिशा में एक और कदम अर्थात् राजतंत्रीय और कुलीनतंत्रीय प्रणाली से जनतंत्रीय प्रणाली की प्रगति को सूचित करती है, जिसका अर्थ है समस्त राजकार्यों को एक सर्वोच्च प्रशासक या कुछ प्रधान कार्यवाहक मनुष्यों के हाथों से लेकर उस समूचे समाज को सौंप देना जो जनतंत्रीय राज्य में संगठित हो चुका है,

यद्यपि जनतंत्र की आजकल की लंबी-चौड़ी बातों के होते हुए भी ऐसी प्रगति पूर्णता से अभी कोसों दूर है।

केंद्रीय सत्ता जब आंतरिक व्यापारों को अपने हाथ में लेती है तो उसका कार्य अधिक कठिन हो जाता है; कारण, उन्हें पूर्ण अथवा मुख्य रूप से अपने हाथ में लेने से वह प्रबल प्रतियोगी या परिवर्तनकारी शक्तियों और हितों के तथा पूर्वस्थापित एवं प्रायः पोषित राष्ट्रीय आचारों और वर्तमान स्वत्वों और विशेषाधिकारों की शक्ति के मुकाबिले में आ जाती है। परंतु अंत में वह उन व्यापारों पर एक प्रकार का एकीभूत नियंत्रण अवश्य प्राप्त कर लेगी जो वस्तुतः प्रबंध और प्रशासन से संबंध रखते हैं। राष्ट्रीय संगठन के प्रशासनीय पक्ष के तीन मुख्य अंग हैं—अर्थ, वास्तविक कार्य-व्यवस्था और न्याय। आर्थिक शक्ति राष्ट्रीय कार्यों के लिये समाज द्वारा प्राप्त धन और उसके व्यय पर नियंत्रण रखती है और प्रत्यक्षतः यह नियंत्रण किसी भी ऐसी सत्ता के हाथ में आ जाना चाहिये जो समाज के संयुक्त कार्य को संगठित करने तथा उसे सफल बनाने का बीड़ा उठा लेती है। किंतु शक्तियों को अखंड और अमर्यादित रूप में अपने अधिकार में कर लेने तथा उन्हें पूर्ण रूप से एकीभूत करने की अपनी प्रबल प्रवृत्ति में वह सत्ता स्वभावतः अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार न केवल व्यय का ही निर्धारण करेगी, वरन् इस बात का भी निर्धारण करेगी कि समाज सार्वजनिक कोष में कितना धन देता है और राष्ट्र के अंगभूत व्यक्तियों और वर्गों में उसका किस प्रकार वितरण करता है। राजतंत्र ने भी सदा ही अपने स्वेच्छाकारी केंद्रीयता के आवेग में इस शक्ति को हस्तगत करने की चेष्टा की है, साथ ही इसे बनाये रखने के लिये संघर्ष भी काफी किया है; क्योंकि राष्ट्र-कोष पर नियंत्रण वास्तविक राजसत्ता का अत्यधिक महत्वपूर्ण लक्षण तथा प्रभावक अंग है, यह शायद जीवन और शरीर के नियंत्रण से भी अधिक आवश्यक है। अत्यंत स्वेच्छाचारी शासनों में यह नियंत्रण पूर्ण होता है, यहांतक कि न्याययुक्त कार्रवाई के बिना भी निःस्वीकरण और सर्वस्वहरण करने की शक्ति की सीमातक पहुंच जाता है। इसके विपरीत, जिस शासक को अपनी प्रजा के साथ इस विषय में सौदा करना पड़ता है कि वह उसे कितना धन दे और कर लगाने के क्या नियम हों, उसका प्रभुत्व सीमाबद्ध हो जाता है। वह वास्तव में एकमात्र और पूर्ण अधिकारी नहीं होता, इस प्रकार एक महत्वपूर्ण शक्ति राज्य के एक हीन भाग के हाथ में आ जाती है और वह ऐसे किसी भी संघर्ष में, जो सत्ता के उसके हाथ से दूसरे भाग के हाथ में जाने के लिये किया जाता है, घातक रूप से उसके विरुद्ध प्रयुक्त की जा सकती है। इसी कारण राजतंत्र के साथ संघर्ष में, अंग्रेजों की श्रेष्ठ राजनीतिक बुद्धि का सारा ध्यान कर-निर्धारण के प्रश्न पर ही केंद्रित था। इसे वह कोष-नियंत्रण के संघर्ष में पहला महत्वपूर्ण प्रश्न समझती थी। स्टुअर्ट लोगों की पराजय से जब इसका एक बार संसद में निबटारा हो गया, तो बाकी कार्यों के लिये तो केवल समय की आवश्यकता थी। ये कार्य थे राजतंत्रीय प्रभुत्व का जनतंत्रीय

प्रभुत्व में परिवर्तित हो जाना अथवा अधिक ठीक रूप में कहा जाये तो प्रधान नियंत्रण का राज्यसत्ता के हाथ से कुलीनतंत्र के हाथ में, वहां से मध्यवर्ग के और फिर सर्वसाधारण के हाथ में आ जाना। पिछली दो स्थितियों में गत अस्सी वर्षों का विकास निहित है। फ्रांस में राजतंत्र की शक्ति यही थी कि उसने इस नियंत्रण को सफल और व्यावहारिक रूप में हस्तगत कर लिया था। सार्वजनिक धन की न्याय और मितव्ययता के साथ व्यवस्था करने में उसकी असमर्थता, सर्वसाधारण पर भारी कर, उधर अत्यंत धनी कुलीन और पादरी वर्ग से कर लेने की उसकी अनिच्छा, और इन सबके फलस्वरूप अंत में पुनः राष्ट्र-मत प्राप्त करने की आवश्यकता ने ही फ्रांसीसी क्रांति को उभरने का अवसर दिया था। वर्तमान समय के उन्नत देशों में एक ऐसी नियंत्रक सत्ता होती है जो कम-से-कम समस्त राष्ट्र का थोड़े-बहुत पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है। व्यक्तियों और वर्गों को झुकना पड़ता है, क्योंकि पूरे समाज की इच्छा उनके पक्ष में नहीं होती। फिर भी कर-संबंधी प्रश्न नहीं, बल्कि समाज के आर्थिक जीवन की समुचित व्यवस्था एवं प्रशासनसंबंधी प्रश्न ही भावी क्रांतियों की तैयारी कर रहे हैं।

विधायक और सामाजिक केंद्रीकरण

एवं एकरूपता की प्रवृत्ति

प्रशासन की प्रधान शक्तियों का सर्वोच्च सत्ता के हाथों में आ जाने का कार्य तब पूरा होता है जब न्यायसंबंधी प्रशासन की, विशेषकर उसके आपराधिक पक्ष की एकता और एकरूपता प्राप्त हो जाती है, क्योंकि व्यवस्था और आंतरिक शांति की स्थापना के साथ इसका घनिष्ठ संबंध है। इसके साथ ही शासक के हाथों में आपराधिक न्याय-सत्ता का आना आवश्यक भी है जिससे वह अपने प्रति सब विद्रोह को राजद्रोह मानकर उसे कुचलने और यथासंभव आलोचना और विरोध का गला घोटकर स्वतंत्र विचार और स्वतंत्र भाषण पर भी कानूनी प्रतिबंध लगाने में इसका प्रयोग कर सके। ये सदा एक पूर्णतर सामाजिक नियम को ढूंढने तथा विकास को सूक्ष्म या प्रत्यक्ष रूप में प्रोत्साहन देने के कारण पूर्वस्थापित शक्तियों और संस्थाओं के लिये भयावह हो जाते हैं तथा भविष्य की श्रेष्ठतर वस्तु को पाने की प्रवृत्ति रखने के कारण वर्तमान समय की प्रबल शक्ति को नष्ट कर देते हैं। अधिकार-क्षेत्र (jurisdiction) की एकता अर्थात् न्यायाधिकरणों (tribunals) का निर्माण, न्यायाधीशों को नियुक्त करने, उनके वेतन का निश्चय करने तथा उन्हें पदच्युत करने की शक्ति और अपराध और उनके दंड निश्चित करने का अधिकार, दंड-विभाग की दृष्टि से शासक की समस्त न्याय-शक्ति है। अधिकार-क्षेत्र की भी इसी प्रकार की एकता, अर्थात् उन न्यायाधिकरणों का निर्माण करने की शक्ति जो व्यवहार-विधि (civil law) को कार्यान्वित करते हैं, तथा संपत्ति, विवाह और अन्य सामाजिक विषयों-संबंधी उन कानूनों को संशोधित करने का अधिकार जो समाज की सार्वजनिक व्यवस्था से संबंधित होते हैं, उसका व्यवहार-पक्ष है। किंतु व्यवहार-विधि की एकता और एकरूपता राज्य के लिये जब कि वह एक स्वाभाविक और सुघटित समाज का स्थान ले रहा होता है, कम अनिवार्य तथा कम तात्कालिक महत्त्व रखती है। यह साधन के रूप में उतनी प्रत्यक्षतया आवश्यक भी नहीं है। अतएव, यह आपराधिक अधिकार-क्षेत्र ही पहले कम या अधिक पूर्णता के साथ राज्य के अंतर्भूत हो जाता है।

प्रारंभ में ये सब शक्तियां सुघटित समाज के अधिकार में थीं और प्रमुखतः विभिन्न प्रकार के स्वाभाविक साधनों द्वारा कार्यान्वित की जाती थीं; ये साधन कुछ शिथिल पर पूर्णतया व्यावहारिक ढंग के होते थे, जैसे भारतवर्ष की पंचायत अथवा ग्राम-न्याय-समिति, संघों अथवा अन्य स्वाभाविक समुदायों का अधिकारक्षेत्र, व्यवस्थापक परिषद्

या नागरिकों के समाजों की न्यायशक्ति, जैसी कि रोमन लोगों की अनेक व्यवस्थापक परिषदों में होती थी अथवा वे बड़ी-बड़ी असुविधापूर्ण न्याय-समितियां जो मतदान द्वारा या और किसी तरह से चुनी जाती थीं जिनका उदाहरण रोम और एथेंस में मिलता है; साथ ही कुछ हदतक राजा या सरदारों का, प्रशासक की हैसियत से, न्यायसंबंधी कार्य भी एक प्रकार का साधन होता था। इसलिये अपने प्रारंभिक विकास में मानव-समाजों का रूप बहुत समयतक न्यायिक प्रशासन के क्षेत्र में काफी जटिल बना रहा। उन्हें न्यायसत्ता के मूल स्रोत में अधिकार-क्षेत्र की एकरूपता अथवा किसी केंद्रीभूत एकता की आवश्यकता न तो थी और न ही कभी अनुभव हुई। पर ज्यों-ज्यों राज्य-सिद्धांत विकसित होता जायेगा, यह एकता और एकरूपता भी आती जायेगी। प्रारंभ में यह इन सब विभिन्न न्याय-क्षेत्रों के राजा के हाथ में आ जाने से चरितार्थ होती है; राजा उनकी स्वीकृति का स्रोत तथा अपील के लिये उच्च न्यायालय होने के साथ-साथ मौलिक शक्तियों को भी रखता था जिनका प्रयोग दंड देने, विशेषतया उन अपराधों का दंड देने के लिये होता था जो स्वयं राजा अथवा राज्यसत्ता के विरुद्ध किये जाते थे; ऐसा प्राचीन भारत में भी न्यायिक कार्रवाई द्वारा पर कभी-कभी अधिक निरंकुश राजपद्धति में कठोर राजादेश द्वारा किया जाता था, इनमें से पिछला विशेषकर दंड-विभाग में प्रयुक्त होता था। एकीकरण तथा राज्यसत्ता की इस प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रायः ही समाज में एक धार्मिक भावना काम करती रहती है जो उसके कानूनों और रीति-रिवाजों को धार्मिक बाना पहनाकर राजा अथवा राज्य पर अंकुश रखने की प्रवृत्ति रखती है, जैसा कि पूर्वीय देशों में अधिकतर देखने में आता है। शासक न्याय का परिचालक तो स्वीकार किया जाता है पर वह उस कानून द्वारा कठोरतापूर्वक बंधा हुआ माना जाता है जिसका वह स्रोत नहीं बल्कि साधन है। कभी-कभी तो यह धार्मिक भावना समाज में एक धर्मतंत्रवादी तत्त्व ले आती है—अर्थात् एक ऐसे चर्च को विकसित कर देती है जिसकी अपनी पृथक् धार्मिक सत्ता तथा अधिकार-क्षेत्र होता है अथवा एक ऐसे शास्त्र या कानून का निर्माण करती है जो ब्राह्मण न्यायज्ञों या उलेमाओं के हाथ में होता है। जहां यह धार्मिक भावना प्रबल रहती है वहां इसका हल इस प्रकार होता है कि ब्राह्मण न्यायज्ञ राजा या उसके द्वारा प्रत्येक राज्याधिकरण में नियुक्त न्यायाधीश के साथ मिलकर काम करते हैं तथा न्यायसंबंधी समस्त विवादास्पद प्रश्नों में पंडितों या उलेमाओं की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की जाती है। जहां यूरोप की भांति राजनीतिक प्रेरणा धार्मिक प्रेरणा की अपेक्षा अधिक बलवती होती है, वहां धार्मिक अधिकार-क्षेत्र समय आने पर राज्य के अधिकारक्षेत्र के अधीन होकर अंत में लुप्त हो जाता है।

इस प्रकार अंत में राज्य या राजतंत्र, जो एक सुघटित समाज को बौद्धिक समाज में परिवर्तित करने का महान् साधन है, कानून का अध्यक्ष और सार्वजनिक व्यवस्था एवं कार्यक्षमता का मूर्तरूप बन जाता है। न्यायाधिकारी-वर्ग को पूर्णतया उस

कार्याधिकारी-वर्ग के अधीन करने में, जो चाहे कितनी भी कम स्वच्छंद और अनुसरदायी शक्तियां रखता हो, स्पष्ट रूप से एक खतरा है। केवल इंग्लैंड ही ऐसा देश है जहां स्वाधीनता को भी सदा उतना ही महत्व दिया गया है जितना व्यवस्था को, और जहां स्वाधीनता को किसी भी प्रकार कम आवश्यक या अनावश्यक नहीं समझा गया। यहां प्रारंभ से ही राज्य की न्यायिक शक्ति को एक मर्यादा में रखने के लिये प्रयत्न किया गया था और उसमें सफलता भी प्राप्त हुई थी। यह कार्य कुछ हदतक तो अदालतों की स्वाधीनता की दृढ़ परंपरा द्वारा—इन अदालतों को इस बात से भी प्रश्रय मिलता था कि एक बार नियुक्त हो जाने के बाद न्यायाधीशों का पद और वेतन पूर्ण रूप से सुरक्षित रहते थे—और कुछ हदतक न्याय-समिति की स्थापना के द्वारा संपन्न हुआ था। उत्पीड़न और अन्याय के लिये इसमें काफी अवकाश था, जैसा कि मनुष्य की सब सामाजिक या राजनीतिक संस्थाओं में होता है, परंतु इसका उद्देश्य स्थूल रूप में अवश्य पूरा हो गया था। स्मरण रहे, कुछ अन्य देशों ने भी न्याय-समिति की प्रणाली अपनायी है, पर उनमें व्यवस्था और पद्धति की सहज-प्रेरणा के अधिक प्रबल होने के कारण न्यायाधिकारी-वर्ग कार्याधिकारी-वर्ग के नियंत्रण में आ जाता है। तथापि यह दोष यहां उतना गंभीर नहीं रहता जहां कार्याधिकारी-वर्ग समाज का प्रतिनिधित्व ही नहीं करता बल्कि उसके द्वारा नियुक्त और नियंत्रित भी होता है जितना कि उस जगह जहां वह सार्वजनिक नियंत्रण से स्वतंत्र होता है।

विधि-विधान की एकरूपता न्यायिक प्रशासन की एकता और एकरूपता की अपेक्षा भिन्न ढंग से विकसित होती है। अपने प्रारंभिक काल में विधि सदैव लोक-व्यवहार पर आश्रित होती है और जहां वह स्वतंत्र रूप से व्यावहारिक होती है अर्थात् जहां वह केवल लोगों के सामाजिक आचार-व्यवहार को ही प्रकट करती है वहां, छोटे समाजों को छोड़कर, अन्यत्र उसका परिणाम आचार-व्यवहार की अत्यधिक विभिन्नता होता है अथवा वह ऐसी विभिन्नता के लिये अनुमति देती है। भारतवर्ष में कोई भी संप्रदाय, कुटुंब भी, धार्मिक और नागरिक आचार-व्यवहार में परिवर्तन कर सकता था जिसे समाज की सामान्य विधि कुछ सीमित क्षेत्र में स्वीकार करने के लिये बाध्य होती थी, और यह स्वतंत्रता अब भी हिंदू-विधि के सिद्धांत का एक अंग है, यद्यपि अब व्यावहारिक रूप में कोई नया हेर-फेर स्वीकार कराना बहुत कठिन हो गया है। विविधता की यह सहज स्वतंत्रता समाज के उस प्राचीन स्वाभाविक अथवा सुघटित जीवन का अवशिष्ट चिह्न है जो बौद्धिक रूप से व्यवस्थित, तर्काश्रित या यंत्रीकृत जीवन से सर्वथा विपरीत है। समुदाय के सुघटित जीवन ने तर्क के कठोरतर ढांचे की अपेक्षा कहीं अधिक अपनी सामान्य भावना, सहज-प्रेरणा या स्फुरणा के द्वारा ही अपनी सामान्य दिशाएं और विशेष उपदिशाएं निश्चित की थीं।

युक्तियुक्त विकास का पहला विशेष चिह्न है आचार-व्यवहार को अभिभूत करनेवाली विधि-ग्रंथ (Code) और संविधान की प्रवृत्ति। ये विधि-ग्रंथ भी तो कई

प्रकार के होते हैं। कुछ तो ऐसी प्रणालियाँ हैं जो लिपिबद्ध नहीं हैं अथवा केवल कुछ अंश में ही लिपिबद्ध हैं, ये यथार्थ विधि-ग्रंथ का रूप ग्रहण नहीं करतीं, ये नियमों, विधानों और पूर्वदृष्टांतों का एक तरल संघात होती हैं जिसमें अब भी केवल प्रथात्मक नियमों के लिये बहुत अधिक अवकाश रह जाता है। कुछ ऐसी प्रणालियाँ भी हैं जिन्होंने हिंदू-शास्त्र के समान यथार्थ विधि-ग्रंथ का रूप अवश्य ग्रहण किया है, पर वास्तव में वे केवल प्रथाओं को पक्का कर देती हैं और समाज के जीवन को बौद्धिक नहीं वरन् रूढ़ बनाने में सहायक होती हैं। अंत में कुछ ऐसे विधि-ग्रंथ आते हैं जो विचारपूर्वक व्यवस्थित किये गये हैं; ये विवेकपूर्ण व्यवस्था लाने के प्रयत्न होते हैं। सर्वोच्च सत्ता विधि का स्थायी रूप स्थिर कर देती है और फिर समय-समय पर नयी आवश्यकताओं के अनुसार विवेकपूर्ण परिवर्तनों को भी समाविष्ट कर लेती है, ऐसे परिवर्तन जो प्रणाली की विवेकपूर्ण एकता और उचित स्थिरता को अव्यवस्थित नहीं बल्कि उसे केवल संशोधित और विकसित ही करते हैं। इस पिछली प्रणाली का पूर्णता को प्राप्त होना समाज की विशालतर पर अधिक शिथिल और अधिक निःशक्त जीवन-प्रेरणा पर अधिक संकुचित किंतु अधिक स्व-चेतन, सबल और बौद्धिक जीवन-प्रेरणा की विजय है। जब यह एक ओर एक स्थिर और एकरूप संविधान के द्वारा और दूसरी ओर एकरूप एवं बुद्धिद्वारा गठित नागरिक और आपराधिक कानून के द्वारा अपने जीवन के पूर्ण सचेतन और नियमित एवं बौद्धिक निर्धारण और व्यवस्था की विजय को प्राप्त कर लेती है तो समाज अपने विकास की अगली अवस्था के लिये तैयार हो जाता है। तब वह अपने समस्त जीवन की सचेतन और एकरूप व्यवस्था अपने हाथ में ले सकता है और ऐसा वह बुद्धि की सहायता से करेगा जो आधुनिक समाजवाद का सिद्धांत है और जिसकी ओर सभी आदर्शवादी विचारकों का झुकाव रहा है।

पर इससे पहले कि हम इस अवस्था पर पहुंचें, यह महान् प्रश्न हल हो जाना चाहिये कि 'राज्य' कौन होगा ? क्या समाज की बुद्धि, उसका संकल्प और अंतःकरण ही साकार रूप धारण करके राजा और उसके सलाहकार बनेंगे अथवा शासन एक ऐसे पुरोहित-वर्ग, स्वेच्छाचारी या धनिक वर्ग या किसी ऐसे संगठन के हाथ में आ जायेगा जो कम-से-कम संपूर्ण समाज का पर्याप्त प्रतिनिधित्व करता प्रतीत हो अथवा क्या इन संभावनाओं में से कुछ या सभी का एक समझौता-सा होगा ? संविधानीय इतिहास की संपूर्ण क्रम-परंपरा ही इसी प्रश्न पर केंद्रित रही है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी स्थिति विभिन्न संभावनाओं के बीच कुछ अस्पष्ट और डांवाडोल-सी रही है; किंतु हम देख सकते हैं कि वस्तुतः प्रारंभ से ही एक ऐसी आवश्यकता का दबाव कार्य करता रहा है जिसे राजतंत्रीय, कुलीनतंत्रीय और अन्य अवस्थाओं में से गुजरते हुए अंत में निश्चय ही शासन के जनतंत्रीय रूप में विकसित होना पड़ा। 'राज्य' बनने के अपने प्रयत्न में राजा को—उस प्रयत्न में जो उसके विकास की प्रेरणा द्वारा उसपर

लादा जाता है—वस्तुतः इस बात के लिये प्रयत्न करना चाहिये कि वह विधि का उद्गम बनने के साथ-साथ उसका अध्यक्ष भी बन जाये। उसे समाज के व्यवस्था और प्रशासन-संबंधी कार्य को तथा उसके निपुण विचार के पक्ष को ही नहीं, बल्कि निपुण कर्म के पक्ष को भी अपने अंदर समाविष्ट कर लेना चाहिये। किंतु ऐसा करते हुए भी, वह जनतंत्रीय राज्य के लिये ही रास्ता साफ कर रहा होता है।

राजा, उसकी नागरिक और सैनिक परिषद्, पुरोहित-वर्ग और स्वतंत्र नागरिकों की व्यवस्थापिका सभा, जो युद्ध के समय सेना का रूप धारण कर लेती थी, शायद सभी जगह थे पर, आर्यजातियों में तो निश्चित रूप से ही, ऐसे तत्त्व थे जिनके द्वारा समाज का सचेतन विकास आरंभ हुआ : ये स्वतंत्र राष्ट्र के, उसके प्रारंभिक और मूल रूप में, तीन वर्गों को सूचित करते हैं और राजा इस सब ढांचे का प्रधान स्तंभ होता है। राजा पुरोहित-वर्ग की शक्ति से मुक्त हो सकता है, वह अपनी परिषद् को अपनी इच्छा के यंत्र का रूप दे सकता है और उन सामंतों को, जिनकी वह प्रतिनिधि है, अपने कार्यों का राजनीतिक और सैनिक आधार बना सकता है, पर जबतक वह अपने-आपको व्यवस्थापिका सभा से अथवा उसका अधिवेशन बुलाने की आवश्यकता से मुक्त नहीं कर लेता—जैसा कि फ्रांसीसी राज्यतंत्र में राज्य-संचालकों की सभा कई शताब्दियों में और महान् कठिनाइयों का दबाव पड़ने पर केवल एक या दो बार ही बुलायी गयी—तबतक वह प्रधान नहीं हो सकता, अकेली विधायिनी सत्ता बनना तो दूर की बात है। वह विधान का वास्तविक कार्य फ्रेंच पार्लमेंट जैसी अराजनीतिक या न्यायिक संस्था पर छोड़ भी दे, तो भी वहां उसे विरोध का सामना करना ही पड़ेगा। अतः यदि व्यवस्थापिका सभा ही न रहे या राजा में इतनी शक्ति हो कि सभा को बुलाना या न बुलाना उसकी इच्छा पर निर्भर हो तो यह उसके पूर्ण रूप से स्वतंत्र होने का वास्तविक चिह्न है। किंतु जब वह सामाजिक जीवन के अन्य सब अधिकारों को समाप्त कर देता है या उन्हें अपने अधीन कर लेता है, तो ठीक उसकी सर्वोच्च सफलता के इसी स्थल पर उसकी असफलता आरंभ हो जाती है। राजतंत्रीय प्रणाली सामाजिक विकास में अपना प्रत्यक्ष कार्य पूरा कर चुकी है और उसके लिये जो कार्य बचा है वह इतना ही है कि वह या तो राज्य के संगठन को तबतक सुरक्षित रखे जबतक वह अपने-आपको रूपांतरित ही न कर ले अथवा उत्पीड़न द्वारा उस क्रांति को जन्म दे जो जनता की सत्ता को स्थापित करेगी।

इसका कारण यह है कि विधायिनी शक्ति को हस्तगत करने में राजतंत्र ने अपनी सत्ता के सच्चे नियम तथा अपने धर्म का अतिक्रमण किया है और उसने ऐसे कार्यों को अपने हाथ में लिया है जिन्हें वह स्वस्थ और सफल रूप में पूरा नहीं कर सकता। प्रशासन तो लोगों के बाह्य जीवन की व्यवस्थामात्र है, उनकी विकसित या विकासोन्मुख सत्ता की बाह्य गतिविधियों को व्यवस्थित रूप में बनाये रखने का साधन है; हां, राजा उनका व्यवस्थापक हो सकता है। जो कार्य भारतीय शासन-पद्धति में

उसे सौंपा गया था उसे भी वह कर सकता है, अर्थात् वह 'धर्म' का धारण करनेवाला बन सकता है। किंतु, विधान, सामाजिक उन्नति, संस्कृति और धर्म, यहां तक कि लोगों के आर्थिक जीवन का निर्धारण भी उसके अपने विशेष क्षेत्र से बाहर की वस्तुएं हैं, ये समाज के जीवन, विचार और उसकी आत्मा की अभिव्यक्तियां हैं; यदि राजा का अपना व्यक्तित्व शक्तिशाली हो और वह अपने युग की भावना से परिचित हो तो वह इनपर प्रभाव डालने में सहायक तो हो सकता है, परंतु इन्हें निर्धारित नहीं कर सकता। ये राष्ट्रीय 'धर्म' का निर्माण करते हैं—हमें भारतीय शब्द का ही प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि केवल यही पूरे विचार को व्यक्त करने में समर्थ है। कारण, हमारे धर्म का अर्थ है हमारी प्रकृति का नियम, साथ ही इसका अर्थ उसकी सूत्रबद्ध अभिव्यक्ति भी है। केवल समाज ही अपने धर्म का विकास निर्धारित कर सकता है अथवा अपनी अभिव्यक्ति को एक निश्चित रूप दे सकता है; और यदि इस कार्य को एक स्वभावतः सुघटित और स्वयं-स्फूर्त विकास के पुराने तरीके से नहीं, वरन् व्यवस्थित राष्ट्रीय विवेक और संकल्प के द्वारा एक सचेतन नियम के अनुसार करना हो तो एक ऐसी शासक सत्ता का निर्माण होना ही चाहिये जो संपूर्ण समाज के विवेक और संकल्प को पूरी तरह से व्यक्त न भी करे पर कम या अधिक पर्याप्त रूप में उसका प्रतिनिधित्व अवश्य करेगी। एक शासकवर्ग, चाहे वह कुलीनवर्ग हो या बुद्धिशाली पुरोहितवर्ग, यथार्थ में राष्ट्रीय विवेक और संकल्प के इस भाग का नहीं, वरन् किसी सबल या श्रेष्ठ भाग का प्रतिनिधित्व कर सकता है; किंतु वह भी केवल जनतंत्रीय राज्य के विकास की एक अवस्था ही हो सकती है। निश्चय ही जनतंत्र, जो व्यावहारिक रूप उसका आज है, अंतिम या अंतिम से पहले की अवस्था नहीं है। कारण, यह प्रायः केवल अपने बाह्य रूप में ही जनतंत्रीय है, अधिक-से-अधिक यह बहुसंख्यकों का शासन है और दलशासन की दूषित प्रणाली तथा कुछ त्रुटियों के अधीन कार्य करता है; इन त्रुटियों का अधिकाधिक ज्ञान होने से संसदीय प्रणालियों के प्रति लोगों का असंतोष आजकल बढ़ता जा रहा है। पूर्ण राजतंत्र भी सामाजिक विकास की अंतिम अवस्था नहीं हो सकता, फिर भी यह एक आवश्यक और विस्तृत आधार-भूमि है जिसपर सामाजिक सत्ता की स्व-चेतनता अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त कर सकती है। जनतंत्र और समाजवाद, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, इस बात के चिह्न हैं कि उस स्व-चेतनता ने परिपक्व अवस्था को प्राप्त करना आरंभ कर दिया है।

प्रथम दृष्टि में विधान एक बाह्य वस्तु, प्रशासन का एक रूपमात्र प्रतीत हो सकता है; वह सामाजिक जीवन के आर्थिक रूपों, उसके धर्म तथा उसकी शिक्षा और

इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि वास्तविक जनतंत्र कभी अवश्य स्थापित होगा। मनुष्य के लिये, वैयक्तिक या सामूहिक रूप से, पूर्ण आत्म-चेतनता प्राप्त कर लेना एक अत्यंत कठिन समस्या है। इससे पहले कि सच्चे जनतंत्र की स्थापना हो सके इसकी प्रक्रिया किसी भी अपरिपक्व समाजवादी प्रयत्न से अभिभूत हो सकती है।

संस्कृति के समान उसकी भीतरी रचना का अंग नहीं प्रतीत होता। ऐसा प्रतीत होने का कारण यह है कि यूरोपीय राष्ट्रों की पुरानी राज्य-पद्धति में यह पूर्वी विधान अथवा शास्त्र की भांति सब कुछ को अपने अंदर समा लेनेवाला नहीं रहा है, वरन् अभी कुछ समय पहलेतक यह राजनीति, संविधान-शास्त्र, प्रशासन के नियमों और प्रक्रियाओं तथा सामाजिक और आर्थिक विधान के केवल उतने अंशतक ही सीमित रहा है जितने अंश की संपत्ति-रक्षा और सार्वजनिक व्यवस्था की दृढ़ता के लिये कम-से-कम आवश्यकता पड़ती थी। और, ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यह सब राजा के करने योग्य कार्य समझा जाता था और यह भी माना जाता था कि वह उसे जनतंत्रीय सरकार के समान ही कुशलतापूर्वक पूरा कर सकता है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है, जैसा कि इतिहास भी इसका साक्षी है। राजा एक अयोग्य व्यवस्थापक होता है और विशुद्ध कुलीनतंत्रीय शासन भी कोई इससे अधिक अच्छे नहीं होते; कारण, समाज के नियम और संस्थाएं वे ढांचा होती हैं जिन्हें वह अपने जीवन और धर्म के लिये खड़ा करता है। जब वह अपने विवेक और संकल्प की सचेतन क्रिया के द्वारा किसी भी सीमा में अपने लिये इन्हें निर्धारित करना शुरू करता है तो उसने उस कार्य की ओर अपना पहला कदम बढ़ा लिया होता है जिसकी समाप्ति अनिवार्य रूप से उसके समस्त सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को सचेतन रूप में नियमित करने के प्रयत्न में होगी। जैसे-जैसे इसकी चेतनता की वृद्धि होगी वैसे-वैसे यह विचारक के 'आदर्श समाज' जैसी किसी वस्तु को उपलब्ध करने के प्रयत्न की ओर बढ़ेगा, क्योंकि आदर्शवादी विचारक वह व्यक्ति है जिसकी विचार-धारा पहले से ही उस दिशा में प्रवृत्त हो जाती है जिसे समाज का मन अंत में ग्रहण करेगा।

परंतु जिस प्रकार कोई भी एक विचारक बौद्धिक और स्व-सचेतन समाज के विकास को अपने मनमाने तर्क से विचारतः निर्धारित नहीं कर सकता, उसी प्रकार कोई भी कार्यकारी व्यक्ति या कार्यकारी व्यक्तियों का अनुक्रम भी अपनी मनमानी शक्ति का प्रयोग करके उसे तथ्यतः निर्धारित नहीं कर सकता। यह स्पष्ट है कि वह राष्ट्र के संपूर्ण सामाजिक जीवन का निर्धारण नहीं कर सकता, क्योंकि वह उसके लिये अतीव विशाल है; कोई भी समाज अपने संपूर्ण सामाजिक जीवन पर एक स्वेच्छाचारी व्यक्ति का भारी दबाव नहीं सहन करेगा। वह आर्थिक जीवन को भी निर्धारित नहीं कर सकता, क्योंकि वह भी उसके लिये बहुत बड़ा है। वह केवल उसकी देखभाल कर सकता है और जिस दिशा में सहायता की आवश्यकता हो वहां सहायता पहुंचा सकता है। वह धार्मिक जीवन का भी निर्धारण नहीं कर सकता, यद्यपि ऐसा प्रयत्न किया जा चुका है; वह इसके लिये अत्यधिक गहन है; कारण, धर्म व्यक्ति का आध्यात्मिक और नैतिक जीवन है, यह भगवान् से उसकी आत्मा का संबंध है, दूसरे व्यक्तियों के साथ उसके संकल्प और चरित्र का घनिष्ठ संपर्क है, और वास्तव में कोई राजा या शासकवर्ग यहांतक कि धर्मतंत्र अथवा पुरोहितवर्ग भी व्यक्ति की आत्मा

अथवा राष्ट्र की आत्मा का स्थान नहीं ले सकता। न ही वह राष्ट्रीय संस्कृति को निर्धारित कर सकता है। वह केवल उसके महान् अभ्युदय-काल में अपने संरक्षण द्वारा उसकी उस दिशा को निश्चित करके उसे सहायता पहुंचा सकता है जिसे वह अपनी प्रवृत्ति के बल पर ग्रहण कर रही थी। इससे अधिक के लिये प्रयत्न करना असंगत होगा, क्योंकि वह एक बौद्धिक समाज का विकास चरितार्थ नहीं कर सकता। वह इस प्रयत्न की निरंकुश उत्पीड़न द्वारा केवल सहायता ही कर सकता है जिसके परिणामस्वरूप अंत में समाज निर्बल हो जायेगा तथा उसकी गति अवरुद्ध हो जायेगी। साथ ही वह राजाओं के या एक विशेष प्रकार की दैवी संस्था अर्थात् राजतंत्र के दैवी अधिकार-विषयक रहस्यमय असत्य के द्वारा उसे उचित ठहरा सकता है। शार्लमैग्ने (Charlemagne), अगस्टस, नैपोलियन, चंद्रगुप्त, अशोक अथवा अकबर जैसे असाधारण शासक भी समयानुकूल कुछ नयी संस्थाओं के स्थापित करने तथा विषम समय में समाज की श्रेष्ठतम या फिर प्रबलतम प्रवृत्तियों के उदय में सहायता पहुंचाने से अधिक कुछ नहीं कर सकते। जब वे इससे अधिक करने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें असफलता मिलती है। भारतीय राष्ट्र के लिये अकबर ने जो अपनी प्रदीप्त बुद्धि से एक नया धर्म स्थापित करने की चेष्टा की वह एक ज्वलंत असफलता थी। अशोक की राजाज्ञाएं स्तंभों और शिलाओं पर अभीतक खुदी हुई हैं, पर भारतवर्ष की संस्कृति और धर्म, अपने ढंग से, उन दूसरी प्रकार की तथा काफी अधिक जटिल दिशाओं में विकसित हुए हैं जो एक महान् जाति की आत्मा द्वारा निश्चित की गयी थीं। केवल कोई एक विरला 'मनु', अवतार या पैगंबर ही, जो शायद सहस्रों वर्षों में एक बार पृथ्वी पर आता है, अपने दैवी अधिकार का सच्चा दावा कर सकता है, क्योंकि उसकी शक्ति का रहस्य राजनीतिक नहीं, वरन् आध्यात्मिक होता है। एक साधारण राजनीतिक शासक या राजनीतिक संस्था के लिये ऐसा दावा करना मनुष्य के मन की अनेक मूर्खताओं में से एक अत्यंत आश्चर्यजनक मूर्खता है।

फिर भी यह प्रयत्न, उसके मिथ्या औचित्य और व्यावहारिक असफलता को छोड़ते हुए भी, अपने-आपमें अनिवार्य एवं लाभदायक तथा सामाजिक विकास की ओर एक आवश्यक कदम था। यह अनिवार्य था, क्योंकि इस संक्रांतिकालीन साधन ने मनुष्य की बुद्धि और संकल्प के प्रारंभिक विचार का प्रतिनिधित्व किया था; इसने सामुदायिक जीवन को अपनी इच्छा, सामर्थ्य तथा विवेकपूर्ण अभिरुचि के अनुसार ढालने, गढ़ने तथा व्यवस्थित करने के लिये उसे अपने अधिकार में कर लिया था, क्योंकि यह जनसमूह की प्रकृति पर शासन करना चाहता था जिस तरह वह व्यक्ति की प्रकृति पर शासन करना आंशिक रूप में पहले ही सीख चुका था। और, चूंकि समुदाय इस प्रकार के विवेकपूर्ण प्रयत्न के लिये अभी प्रबुद्ध और समर्थ नहीं है अतः उसके लिये यदि यह काम एक समर्थ व्यक्ति या बुद्धिमान् और समर्थ व्यक्तियों की एक संस्था न करे तो फिर और कौन करेगा? यही निरंकुशतंत्र, कुलीनतंत्र तथा

धर्मतंत्र की समस्त युक्ति है। इसका विचार असत्य या केवल अर्द्ध-सत्य अथवा क्षणिक सत्य है, कारण, किसी भी उन्नत वर्ग या व्यक्ति का वास्तविक कार्य समस्त संस्था को उत्तरोत्तर आलोकित और शिक्षित करना है जिससे वह सचेतन रूप में अपना कार्य स्वयं करने लगे और वह वर्ग या व्यक्ति ही सदा उसके लिये कार्य न करता रहे।^१ पर इस विचार को अपनी प्रक्रिया में से गुजरना था और विचार के संकल्प को—क्योंकि प्रत्येक विचार के अंदर अपने-आपको चरितार्थ करने की एक बलवती इच्छा होती है—अपनी चरम सीमातक पहुंचने का आवश्यक रूप में प्रयत्न करना था। कठिनाई यह थी कि कोई एक शासक या शासकवर्ग समाज के जीवन के अधिक यांत्रिक भाग को ही हस्तगत कर सकता था, पर वह सब जो उसकी अधिक अंतरीय सत्ता का प्रतिनिधित्व करता था उनकी पकड़ में नहीं आता था, फलस्वरूप वे उसकी आत्मा को अधिगत नहीं कर सकते थे। फिर भी, जबतक वे ऐसा नहीं कर सकते, उनका यह उद्देश्य न तो पूरा होगा और न ही वे अपना प्रभुत्व सुरक्षित अनुभव करेंगे, क्योंकि किसी भी समय वे अधिक समर्थ शक्तियां उनका स्थान ले सकती हैं जो उन्हें अभिभूत करने और उनका प्रभुत्व हस्तगत करने के लिये मनुष्यजाति के विशालतर मन से अवश्यमेव ऊपर उठेंगी।

समाज के जीवन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने के ऐसे सभी प्रयत्नों के लिये केवल दो मुख्य उपाय ही उपयुक्त प्रतीत होते थे और उन्हींका प्रयोग भी किया गया है। एक तो मुख्यतः निषेधात्मक था; उसके कार्य करने का तरीका समाज के जीवन और उसकी आत्मा का उत्पीड़न करना तथा उसके विचार, भाषण, संबंध और वैयक्तिक और संयुक्त कार्य की स्वतंत्रता पर कुछ हदतक प्रतिबंध लगाना था—इसके साथ ही प्रायः न्यायालयी अन्वेषण और हस्तक्षेप के तथा वैयक्तिक और सामाजिक प्राणी अर्थात् मनुष्य के अत्यंत पवित्र संबंधों और उसकी स्वाधीनताओं पर दबाव डालने के अत्यंत घृणित तरीके भी बरते जाते थे, केवल ऐसे विचार, संस्कृति और कार्यों को ही प्रोत्साहन और संरक्षण प्राप्त होता था जो स्वेच्छाचारी शासन को स्वीकार करते थे तथा उसकी चापलूसी एवं सहायता करते थे। दूसरा उपाय सकारात्मक था; इसका कार्य समाज के धर्म पर नियंत्रण करना तथा राजा के आध्यात्मिक सहायक के रूप में पुरोहित को आमंत्रित करना था। कारण, स्वाभाविक समाजों में और उनमें भी जो कुछ अंश में बौद्धिक होते हुए भी अभी हमारी सत्ता के प्राकृतिक नियमों के साथ चिपटे हुए हैं, धर्म, यदि यह पूरा जीवन ही नहीं है तो, व्यक्ति और समाज के समस्त जीवन की देखभाल करने के साथ-साथ उसपर अपना प्रबल प्रभाव डालता है तथा उसे गढ़ता भी है, जैसा कि अभी कुछ दिन पहलेतक

^१ इसका यह अर्थ नहीं कि एक पूर्ण समाज में राजतंत्रीय, कुलीनतंत्रीय अथवा धर्मतंत्रीय तत्त्व का कोई स्थान ही नहीं होगा; किंतु वहां वे एक अचेतन राशि को नहीं बनाये रखेंगे और न ही उसका संचालन करेंगे बल्कि एक सचेतन संगठन में अपना स्वाभाविक कार्य पूरा करेंगे।

भारतवर्ष में और बहुत अंशों में सब एशियाई देशों में यह करता रहा है। सभी राज्य-धर्म इसी प्रयत्न के प्रकट रूप हैं, परंतु राज्य-धर्म एक कृत्रिम तथा भयंकर मूर्खता है। यद्यपि एक राष्ट्रीय धर्म एक सजीव वास्तविकता भी हो सकता है, पर यदि यह धार्मिक भावना को लोकाचार का रूप नहीं देना चाहता और अंत में उसे नष्ट ही नहीं कर देना चाहता अथवा आध्यात्मिक विस्तार को नहीं रोकना चाहता तो उसे भी उदार, अनुकूलनशील, नमनीय तथा समाज की गंभीरतर आत्मा का दर्पण बनना चाहिये। ये दोनों उपाय, चाहे कुछ समय के लिये ये कितने भी सफल क्यों न प्रतीत होते हों, एक दिन अवश्य असफल होंगे; इस असफलता का कारण उत्पीड़ित सामाजिक प्राणी का विद्रोह भी हो सकता है अथवा ये इसकी क्षीणता, दुर्बलता और मृत्यु अथवा मृत जीवन के कारण भी असफल हो सकते हैं। जैसी अवरुद्धता और दुर्बलता ने ग्रीस, रोम, मुसलमान राष्ट्रों, चीन तथा भारत को आक्रांत कर लिया था वैसी ही अवरुद्धता तथा दुर्बलता या फिर एक रक्षाकारी आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्रांति ही स्वेच्छाचारिता का एकमात्र परिणाम होती है। तथापि यह मानव-विकास की एक अनिवार्य अवस्था थी, यह एक ऐसा परीक्षण था जिसे करना अत्यावश्यक था। असफल होते हुए भी, यहांतक कि अपनी असफलता के कारण भी यह लाभप्रद था, क्योंकि स्वेच्छाचारी राजतंत्रीय और कुलीनतंत्रीय राज्य उस स्वेच्छाचारी और समाजवादी राज्य के आधुनिक विचार का जन्मदाता था जो अब जन्म ले रहा प्रतीत होता है। सब दोषों के होते हुए भी यह एक आवश्यक कदम था, क्योंकि केवल इसी प्रकार ज्ञानपूर्वक अपना शासन करनेवाले समाज का स्पष्ट विचार दृढ़तापूर्वक विकसित हो सकता था।

जो कार्य राजा या कुलीनतंत्र नहीं कर सकता था उसके लिये जनतंत्रीय राज्य शायद सफलता की अधिक संभावना और अधिक सुरक्षा के साथ प्रयत्न कर सकता है और उसे सिद्धि के अधिक निकट ला सकता है; यह कार्य है एक सचेतन और संगठित एकता, एकरूप और विवेकपूर्ण सिद्धांतों के आधार पर प्राप्त की गयी एक नियमित कार्य-क्षमता, एक विकसित समाज की बौद्धिक व्यवस्था और एक स्वशासित पूर्णता। आधुनिक जीवन का यही विचार है, और कितना भी अपूर्ण हो, यही उसका प्रयत्न भी है; यह प्रयत्न आधुनिक विकास का संपूर्ण आधार रहा है। एकता और एकरूपता इसकी प्रधान प्रवृत्तियां हैं; नहीं तो इस विशाल और गहन वस्तु की, जिसे हम जीवन कहते हैं, अपरिमेय जटिलताओं को एक तार्किक बुद्धि और एकीभूत इच्छा-शक्ति कैसे अधिकृत करेगी, कैसे उनपर प्रभुत्व स्थापित करेगी और कैसे उनका आकलन तथा उनकी व्यवस्था करेगी? समाजवाद इस विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति है। जो सामाजिक और आर्थिक सिद्धांत और प्रक्रियाएं समूह को शासित करती हैं उनकी मौलिक समानता द्वारा प्राप्त एकरूपता और राज्य द्वारा समस्त सामाजिक और आर्थिक जीवन की उसके सब भागों में व्यवस्था, वैज्ञानिक ढंग से संचालित राज्य-

शिक्षा की प्रणाली के द्वारा प्राप्त सांस्कृतिक एकरूपता, इस सबको नियमित रूप में लाने और बनाये रखने के लिये एक ऐसी एकीभूत, एकरूप और पूर्ण रूप से संगठित सरकार और प्रशासन, जो संपूर्ण सामाजिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करेंगे तथा उसके लिये कार्य करेंगे, —यही आधुनिक 'आदर्श समाज' है। ऐसी आशा की जाती है कि यह सब वर्तमान बाधाओं और विरोधी प्रवृत्तियों के होते हुए भी, किसी-न-किसी रूप में एक सजीव वास्तविकता में परिणत हो जायेगा। प्रतीत होता है कि मानव-विज्ञान प्रकृति की विशाल और अस्पष्ट प्रक्रियाओं का स्थान ले लेगा और सामूहिक मानवजीवन में पूर्णता को प्राप्त कर लेगा या कम-से-कम उसके कुछ निकट पहुंच जायेगा।

विश्व-ऐक्य या विश्व-राज्य

तो, यही सिद्धांत-रूप में राज्य के विकास का इतिहास है। यह उस यथार्थ एकीकरण का इतिहास है जो केंद्रीय सत्ता के तथा प्रशासन, विधान, सामाजिक और आर्थिक जीवन एवं संस्कृति और संस्कृति के प्रमुख साधन शिक्षा और भाषा की बढ़ती हुई एकरूपता के विकास द्वारा साधित हुआ है। इन सबमें केंद्रीय सत्ता उत्तरोत्तर निर्धारक और व्यवस्थापक शक्ति बनती जाती है। इस प्रक्रिया की समाप्ति तब होती है जब यह अकेली शासक सत्ता या सर्वोच्च शक्ति केंद्रीय कार्यवाहक व्यक्ति या एक समर्थ वर्ग के हाथ से एक ऐसी संस्था के हाथ में चली जाती है जिसका प्रस्तावित कार्य ही संपूर्ण समाज के विचार और संकल्प का प्रतिनिधित्व करना है। सिद्धांत-रूप में इस परिवर्तन का अर्थ एक ऐसा विकास है जो समाज को अपनी स्वाभाविक और सुघटित अवस्था से एक बौद्धिक तथा यांत्रिक रूप से संगठित अवस्था में ले आता है। एक विवेकपूर्ण केंद्रीभूत एकीकरण, जिसका उद्देश्य एक पूर्ण बौद्धिक दक्षता हो, उस शिथिल और स्वाभाविक एकता का स्थान ले लेता है जिसकी कुशलता इस बात में है कि जीवन आंतरिक आवेग और परिस्थिति की आवश्यकताओं तथा अस्तित्व की मुख्य शर्तों के दबाव में, एक प्रकार के सहज भाव के साथ, अपने अंगों तथा अपनी शक्तियों को विकसित कर लेता है। एक बौद्धिक, सुव्यवस्थित और यथार्थ एकरूपता शिथिल तथा प्राकृतिक जटिलताओं और विविधताओं से परिपूर्ण एकत्व का स्थान ले लेती है। संपूर्ण समाज की विवेकपूर्ण इच्छा-शक्ति जो एक सुविचारित नियम और सुव्यवस्थित विधि में प्रकट हुई है उसकी स्वाभाविक और सुघटित इच्छाशक्ति का स्थान ले लेती है। इस स्वाभाविक और सुघटित इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति उन आचार-व्यवहारों और संस्थाओं के समूह में होती है जो उसकी प्रकृति और उसके स्वभाव के परिणामस्वरूप विकसित हुए हैं। राज्य की पूर्णता की अंतिम अवस्था में एक ऐसा सुयोजित यंत्र, जो अंत में एक विशाल उत्पादक तथा व्यवस्थापक यंत्र बन जाता है, जीवन की शक्ति और उर्वरता का और साथ ही उसकी महान् दिशाओं की स्वाभाविक सरलता और उसकी बारीकियों की अस्पष्ट, भ्रान्त तथा अपरिमित जटिलता का स्थान ले लेता है। राज्य मनुष्य का प्रभुतापूर्ण किंतु स्वच्छंद और अनुदार विज्ञान और तर्क है जो सफलतापूर्वक प्रकृति की सहज स्फुरणाओं और विकाससंबंधी परीक्षणों का स्थान ले लेता है; बुद्धिमत्तापूर्ण संगठन प्राकृतिक संस्थान की जगह ले लेता है।

राजनीतिक और प्रशासनीय साधनों द्वारा प्राप्त की गयी मनुष्यजाति की एकता का अंतिम अर्थ उसकी नवनिर्मित पर अभीतक अस्पष्ट और स्वाभाविक एवं सुघटित एकता में से एक अखंड विश्व-राज्य का निर्माण और संगठन है। कारण, स्वाभाविक

और सुघटित एकता अर्थात् जीवन की एकता, अनैच्छिक संबंध की तथा उस अवयवभूत अंगों की घनिष्ठ रूप में परस्पर-आश्रित सत्ता की एकता तो पहले से ही विद्यमान है जिसमें एक का जीवन और उसकी क्रियाएं दूसरों के जीवन को इस प्रकार प्रभावित करते हैं जैसा करना सौ वर्ष पहले असंभव होता। एक महाद्वीप का जीवन अब दूसरे महाद्वीप के जीवन से अलग नहीं है; कोई भी राष्ट्र अब अपनी मर्जी से अलग नहीं रह सकता, न ही अपना अलग जीवन बिता सकता है। विज्ञान, व्यापार तथा यातायात के द्रुत साधनों ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है कि मनुष्यजाति के विभिन्न समुदाय, जो पहले कभी अपने तक ही सीमित रहते थे, अब एक सूक्ष्म एकीकरण की प्रक्रिया द्वारा एक-दूसरे के निकट आकर एक ऐसा अभिन्न समुदाय बन गये हैं जिसका एक सामान्य प्राणिक अस्तित्व तो पहले से है और जो एक सामान्य मानसिक अस्तित्व का वेगपूर्वक निर्माण कर रहा है। एक ऐसे बड़े द्रुत और परिवर्तनकारी आघात की आवश्यकता थी जो इस सूक्ष्म और सुघटित एकता को व्यक्त करे तथा एक घनिष्ठतर और संगठित ऐक्य की आवश्यकता को प्रकाश में लाकर उसकी इच्छा को जन्म दे; और यह आघात महायुद्ध से प्राप्त हुआ। विश्व-राज्य या विश्व-ऐक्य का सिद्धांत केवल विचारक के चिंतनशील और पूर्वदर्शी मन में ही नहीं उत्पन्न हुआ वरन् इस नवीन सर्व-सामान्य अस्तित्व की आवश्यकता के कारण मानवजाति की चेतना में भी उत्पन्न हुआ है।

विश्व-राज्य अब या तो पारस्परिक समझौते से या फिर परिस्थितियों के दबाव और नये एवं संकटपूर्ण आघातों के क्रम से चरितार्थ होगा, क्योंकि वस्तुओं की पुरानी और अब भी प्रचलित व्यवस्था उन परिस्थितियों और अवस्थाओं पर आधारित थी जिनका अब कोई अस्तित्व नहीं रहा है। नयी अवस्थाएं अब नयी व्यवस्था की मांग करती हैं और जबतक यह नयी व्यवस्था उत्पन्न नहीं हो जाती, तबतक उन अनवरत कष्टों या पुनरावर्ती अव्यवस्थाओं और अवश्यभावी संकटों का संक्रांति-युग बना रहेगा जिसके द्वारा प्रकृति अपने उग्र तरीके से उस आवश्यकता को पूर्ण करने में सफल होगी जिसका उसने विकास किया है। राष्ट्रीय और साम्राज्यीय अहंकारों के संघर्ष से इस प्रक्रिया में अधिक-से-अधिक हानि तथा कष्ट उत्पन्न हो सकते हैं; हां, यदि विवेक और सद्भावना का साम्राज्य रहा तो ये न्यूनतम भी हो सकते हैं। इस प्रयोजन के लिये दो वैकल्पिक संभावनाएं, अतएव दो आदर्श हमारे सामने उपस्थित होते हैं : एक विश्व-राज्य, जो केंद्रीकरण और एकरूपता के सिद्धांत पर आधारित होगा, अर्थात् एक यांत्रिक और बाह्य एकता, या फिर एक विश्व-ऐक्य जो स्वाधीनता के और स्वतंत्र एवं विवेकपूर्ण एकता में विविधता के सिद्धांत पर आश्रित होगा। इन दो विचारों और संभावनाओं पर हमें बारी-बारी से विचार करना है।

शासन के रूप

स्वतंत्र राष्ट्रों और साम्राज्यों के एक ऐसे विश्व-ऐक्य का विचार, जो प्रारंभ में कमजोर होता हुआ भी समय और अनुभव के साथ-साथ अधिकाधिक सुदृढ़ होता जायेगा, पहली दृष्टि में राजनीतिक एकता का अत्यधिक व्यावहारिक रूप प्रतीत होता है। यदि यह मान लिया जाये कि एकता का संकल्प जाति के मन में शीघ्र ही फलीभूत हो जायेगा तो एकता का यही रूप तत्काल ही व्यवहार में लाया जा सकेगा। पर अभी तो राज्य का सिद्धांत ही प्रबल है। राज्य ही एकीकरण का सबसे अधिक सफल और समर्थ साधन रहा है, यही उन अनेक आवश्यकताओं को, जिन्हें समाजों के विकसनशील सामुदायिक जीवन ने अपने लिये उत्पन्न किया है और अब भी उत्पन्न कर रहा है, सर्वोत्तम तरीके से पूरा करने में समर्थ हुआ है। इसके अतिरिक्त यह एक ऐसा उपाय है जिससे आज मानव मन परिचित है, साथ ही अपने तार्किक और व्यावहारिक दोनों कारणों से यह काम चलाने के लिये एक अत्यंत सुलभ साधन भी है, क्योंकि यह उसे संगठन का एक ऐसा कटा-छंटा और निश्चित यंत्र और स्थिर प्रणाली प्रदान करता है जिसे हमारी सीमित बुद्धि सदा ही अपना सर्वश्रेष्ठ साधन समझने के लिये प्रेरित होती है। इसलिये यह किसी तरह भी असंभव नहीं है कि राष्ट्र एक ढीले-ढाले ऐक्य से आरंभ करते हुए भी उन अनेक समस्याओं के दबाव से इसे विश्व-राज्य के एक दृढ़तर रूप में परिणत करने के लिये प्रेरित होंगे जो समस्याएं उनकी आवश्यकताओं और रुचियों की अधिकाधिक घनिष्ठ परस्पर-क्रिया से उत्पन्न होंगी। इसके निर्माण की तात्कालिक अव्यवहार्यता अथवा उन अनेक कठिनाइयों के आधार पर जो इसके मार्ग में आयेंगी हम कोई सुरक्षित मत नहीं बना सकते, क्योंकि पिछला अनुभव हमें दिखाता है कि अव्यवहार्यता के तर्क का कुछ अधिक मूल्य नहीं है। जिसे आज का व्यावहारिक मनुष्य मूर्खतापूर्ण और अव्यवहार्य समझकर त्याग देता है प्रायः उसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये भावी संतति यत्न करती है और अंत में वह उसे चरितार्थ करने में किसी-न-किसी रूप में सफल भी हो जाती है।

किंतु विश्व-राज्य का अर्थ शक्ति का एक ऐसा दृढ़ केंद्रीय संगठन है जो राष्ट्रों के एकीभूत संकल्प का प्रतिनिधित्व करेगा अथवा कम-से-कम उसका समर्थन करेगा। तब इस केंद्रीय और सार्वभौम शासक संस्था के हाथ में सब आवश्यक शक्तियाँ—सैनिक, प्रशासनीय, न्यायिक, आर्थिक, विधायक, सामाजिक और शैक्षणिक—का कम-से-कम उनके मूल स्रोत में, संयुक्त हो जाना अनिवार्य हो जायेगा। और, प्रायः आवश्यक रूप में इसका परिणाम यह होगा कि संसार में सर्वत्र इन सब विभागों में, मानवजीवन अधिकाधिक एकरूप होता जायेगा, यहांतक कि

शायद लोग एक सामान्य और सार्वभौम भाषा भी चुन लेंगे अथवा उसका निर्माण कर लेंगे। यही वस्तुतः एकीकृत विश्व का स्वप्न है जिसे आदर्शवादी विचारक हमारे सामने रखने के लिये अधिकाधिक प्रेरित हुए हैं। इस परिणाम तक पहुंचने के मार्ग में जो कठिनाइयां हैं वे आज स्पष्ट ही हैं, किंतु वे इतनी बड़ी नहीं हैं जितनी वे पहली दृष्टि में प्रतीत होती हैं; इनमें ऐसी तो कोई भी नहीं है जिसका हल न हो सके। यह अब ऐसा आदर्श नहीं है जिसे आदर्श-विचारक का अव्यवहार्य स्वप्न समझकर छोड़ा जा सकता हो।

पहली कठिनाई इस शासक संस्था के स्वरूप और संगठनसंबंधी होगी और यह एक ऐसी समस्या है जो शंकाओं और संकटों से आक्रांत है। प्राचीन समय में तो इसका हल, अपेक्षाकृत छोटे क्षेत्रों में, निरंकुश और राजतंत्रीय प्रणाली के द्वारा इस प्रकार काफी सुगमता से किया गया था कि विजयी जाति राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले लेती थी, जैसा कि पर्शियन और रोमन साम्राज्यों में किया गया था। पुराने समय में शक्तिशाली राष्ट्रों या उनके ज़ारों और कैसरों के मन में जो भी स्वप्न आये हों, पर इस साधन को मानवसमाज की नयी अवस्थाओं में अब उतनी आसानी से प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। स्थायी रहने और पुनर्जीवित होने के अल्पकालिक और भ्रांतिपूर्ण प्रयत्न के बाद अब राज्यतंत्र का सिद्धांत स्वयमेव ही लुप्त होता जा रहा है। यह प्रायः अब अपनी अंतिम वेदना की अवस्था तक पहुंच गया प्रतीत होता है; काल-रात्रि की मुहर इस पर लग चुकी है। शासनसंबंधी वर्तमान रूप प्रायः काफी भ्रांतिपूर्ण हैं, किंतु बहुत से अन्य दृष्टांतों की अपेक्षा इस दृष्टांत में ये शायद कम ही ऐसे हो सकते हैं, क्योंकि वह शक्ति जो अब भी जीवित राजतंत्रों की समाप्ति का कारण बन रही है अत्यंत बलशाली, मूलगामी तथा नित्य वृद्धिशील है। सामाजिक समुदाय अपनी प्रौढ़ स्व-चेतन अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं और, शायद ब्रिटिश साम्राज्य जैसे कुछ एक अपवादभूत दृष्टांतों को छोड़कर, उन्हें अब इस बात की आवश्यकता नहीं रही है कि कोई वंशानुगत राजा उनका शासन-कार्य चलाये या उनकी एकता का प्रतीक बनकर रहे। उस दशा में या तो राजतंत्र केवल नाम को ही जीवित रह सकता है—जैसा कि इंग्लैंड में जहां राजा की शक्ति कम होती है, यहांतक कि, यदि संभव हो तो, फ्रेंच प्रधान से भी कम और अमरीकी गणतंत्रों के प्रधानों से तो बहुत ही कम होती है—अथवा यह अपराध का स्रोत और लोगों की बढ़ती हुई जनतंत्रीय मानवता के लिये प्रतिबंधक तथा प्रतिक्रिया की शक्तियों के किये कम या अधिक मात्रा में एक केंद्र, एक आश्रय-स्थल या कम-से-कम एक अवसर तो बन ही जाता है। अतः उसकी प्रतिष्ठा और लोकप्रियता बढ़ने के स्थान पर घटती जाती है और किसी संकट के समय में जब वह राष्ट्र-भावना के साथ प्रबल रूप से संघर्ष में आ जाता है तो वह इस प्रकार मिट जाता है कि उसमें स्थायी रूप से पुनर्जीवित होने की कम ही संभावना रह जाती है।

इस प्रकार राजतंत्र प्रायः सर्वत्र ही या तो समाप्त ही हो गया है या खतरे में है, और जिन देशों में इसकी परंपरा एक समय सबसे अधिक बलवती थी उन्हीं में यह अत्यंत आकस्मिक रूप में समाप्त हो गया है। वर्तमान समय में भी यह जर्मनी और आस्ट्रिया में तथा चीन, पुर्तगाल और रूस में समाप्त हो गया है। ग्रीस और इटली में यह संकट की अवस्था में है^१ और स्पेन ने तो इसका बहिष्कार ही कर दिया है। कुछ छोटे राज्यों को छोड़कर पश्चिमी महाद्वीप के किसी भी देश में यह वस्तुतः सुरक्षित नहीं है। कुछ देशों में तो इसका अस्तित्व केवल ऐसे कारणों से बचा हुआ है जो भूत की वस्तु बन चुके हैं और जिनकी शक्ति यदि अभी नष्ट नहीं हुई है तो शीघ्र ही नष्ट हो जायेगी। यूरोप के महाद्वीप के भाग्य में यह लिखा प्रतीत होता है कि समय पाकर यह दोनों अमरीकाओं के समान ही व्यापक रूप में गणतंत्रीय बन जायेगा। कारण, राजप्रथा यहां अब केवल संसार के भूतकाल के अवशेष के रूप में ही बची हुई है, वर्तमान समय की मनुष्यजाति की क्रियात्मक आवश्यकताओं में या उसके आदर्शों अथवा उसके स्वभाव में इसकी जड़ें गहरी नहीं हैं। जब वह पूर्णतया समाप्त हो जायेगी तब इसके विषय में यह कहने की अपेक्षा कि इसका जीवन समाप्त हो गया है यह कहना अधिक ठीक होगा कि इसका अवशेष समाप्त हो गया है।

वास्तव में गणतंत्रीय प्रवृत्ति अपने मूल में पश्चिमीय है। ज्यों-ज्यों हम पश्चिम की ओर बढ़ते हैं यह अधिकाधिक प्रबल होती जाती है, विशेषकर पश्चिमीय यूरोप में यह ऐतिहासिक रूप में शक्तिशाली तथा अमरीका के नवीन समाजों में भी काफी प्रबल रही है। यह सोचा जा सकता है कि संसार के सक्रिय और संयुक्त जीवन में एशिया के प्रवेश से, जब कि पूर्वीय महाद्वीप संक्रांति-युग के वर्तमान कठिन कष्टों को पार कर लेगा, राजतंत्रीय सिद्धांत अपने बल को पुनः अधिगत करके एक नया जीवन-स्रोत प्राप्त कर सकता है, क्योंकि एशिया में राज्य-प्रथा केवल राजनीतिक आवश्यकताओं और अवस्थाओं पर आधारित एक स्थूल तथ्य ही नहीं, वरन् एक आध्यात्मिक प्रतीक रही है, साथ ही उसमें धार्मिक तत्त्व भी सदा विद्यमान रहा है। किंतु एशिया में भी यूरोप की ही भांति राजतंत्र का विकास ऐतिहासिक रूप में अर्थात् परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हुआ है। जब वे परिस्थितियां नहीं रहेंगी तो वह समाप्त भी हो सकता है। एशिया की यथार्थ मनोवृत्ति वस्तुतः राजनीतिक नहीं, वरन् सदा सामाजिक रही है, ऊपरी तल पर राजतंत्रीय और कुलीनतंत्रीय होते हुए भी उसका झुकाव मूल रूप में जनतंत्रीय प्रवृत्ति और धर्मतंत्रीय भावना की ओर रहा है। अपनी दृढ़ राजतंत्रीय भावना के साथ जापान ही इस सामान्य नियम का एकमात्र प्रधान अपवाद है। पर परिवर्तन की महान् प्रवृत्ति प्रकट हो चुकी है। चीन अपनी जनतंत्रीय प्रणाली में बुद्धिमान्, कुलीन अधिकारी वर्ग तथा प्रतिनिधि रूप में सम्राट् को स्थान

^१ और अब तो इटली से भी यह मिट गया है और इसके पुनर्जीवित होने की वहां कोई वास्तविक आशा नहीं है।

देता हुआ भी अंदर से सदा जनतंत्रीय देश रहा है और अब तो वह निश्चित रूप से गणतंत्रीय है। राजतंत्र को पुनः जीवित करने के अथवा उसे स्थायी अधिनायकवाद द्वारा स्थानापन्न करने के प्रयत्न में जो कठिनाई है उसका कारण एक ऐसी अंतर्जात जनतंत्रीय भावना है जो जनतंत्रीय शासन को ही सर्वोच्च शासन स्वीकार कर लिये जाने से सशक्त हो गयी है। यह पश्चिमी अनुभव के द्वारा उस समस्या का एक अमूल्य समाधान है जिसपर पूर्व के पुराने विशुद्ध सामाजिक जनतंत्र नहीं पहुंच सके थे। राजवंशों की लंबी परंपरा में से अंतिम को त्याग करके चीन ने अपने भूतकाल के एक ऐसे तत्त्व से संबंध-विच्छेद कर लिया था जो उसकी केंद्रीय सामाजिक प्रकृति और उसके अभ्यासों का अंग होने की अपेक्षा बाह्य अधिक था। भारतवर्ष में राजतंत्रीय भावना, जो धर्मतंत्रीय और सामाजिक भावना के साथ विद्यमान तो थी, परंतु मुगलों के अपेक्षाकृत अल्पकालिक शासन को छोड़कर और किसी भी समय उसे अभिभूत नहीं कर सकी थी, ब्रिटिश नौकरशाही के शासन तथा जाति के सक्रिय मन के राजनीतिक यूरोपीयकरण के कारण बुरी तरह से निर्बल पड़ गयी थी, यद्यपि वह बिलकुल ही नष्ट नहीं हो गयी थी।^१ पश्चिमी एशिया में तुर्की में भी राजतंत्र समाप्त हो चुका है, वहां वह केवल उन राज्यों में ही विद्यमान है जिन्हें केंद्रीकारक या केंद्रीय तत्त्व के रूप में राजा की आवश्यकता है।

एशियाई जगत् के दो सिरों पर जापान और तुर्की में युद्ध-समाप्ति के बाद भी राजतंत्र ने अपने धार्मिक स्वरूप का ही कुछ अंश सुरक्षित रखा, साथ ही जाति की भावना पर उसका प्रभाव भी बना रहा। जापान में, जो कि अभी अधूरे रूप से ही जनतंत्रीय हुआ है, मिकाडो से संबंधित भावना प्रत्यक्ष रूप में अशक्त हो गयी है; उसकी प्रतिष्ठा अभी बाकी है, पर उसकी वास्तविक शक्ति बहुत परिमित हो गयी है और जनतंत्र और समाजवाद का विकास निर्बल और सीमित करनेवाली प्रक्रिया को अवश्य सहायता पहुंचायेगा और वहां भी वह संभवतः वही परिणाम उत्पन्न करेगा जैसे कि उसने यूरोप में किये थे। मुस्लिम खलीफा जो प्रारंभ में धर्मतंत्रीय जनतंत्र का प्रधान होता था बाद में मुस्लिम साम्राज्य के द्रुत विकास से—यह साम्राज्य अब छिन्न-भिन्न हो चुका है—एक राजनीतिक अधिकारी के रूप में परिणत हो गया था। खलीफाओं का शासन जो अब समाप्त हो गया है केवल विशुद्ध धार्मिक प्रधानता के रूप में ही जीवित रह सकता था और उस रूप में भी पर्शिया, अरब और मिस्र में नये आध्यात्मिक और राष्ट्रीय आंदोलनों के उदय से उसकी एकता संकट में पड़ गयी थी। किंतु आज के एशिया में एक वास्तविक और महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि उसके भविष्य

^१ अब जब कि देश स्वाधीन हो गया है और एक गणतंत्रीय और जनतंत्रीय संविधान स्थापित हो गया है, शासक राजा या तो लुप्त हो गये हैं या फिर अपने छोटे-छोटे राज्यों के अधीनस्थ अध्यक्ष रह गये हैं। ये छोटे राज्य अब आंशिक अथवा पूर्ण रूप में जनतंत्रीय बन रहे हैं, अथवा भविष्य में वे संयुक्त भारत में विलीन हो जायेंगे।

की संपूर्ण सक्रिय शक्ति पुरोहित या कुलीनवर्ग में नहीं, वरन् जैसी कि वह पुराने समय में क्रांति से पहले रूस में थी, नवनिर्मित बुद्धिजीवी वर्ग में केंद्रित हो गयी है; प्रारंभ में इन बुद्धिजीवियों की संख्या कम थी परंतु अब इनका बल और लक्ष्य-सिद्धि का स्थिर संकल्प बढ़ रहा है और ये आध्यात्मिकता की परंपरागत शक्ति के कारण एक दिन अवश्य ही अत्यधिक क्रियाशील हो जायेंगे। एशिया अपनी प्राचीन आध्यात्मिकता को सुरक्षित भी रख सकता है; अपनी सबसे बड़ी दुर्बलता के समय में भी वह यूरोप के प्रत्यक्षवादी मन में अपनी प्रतिष्ठा को अधिकाधिक स्थापित कर सकता है। पर यह आध्यात्मिकता जो भी दिशा ग्रहण करे, इसका निर्धारण इसी नये बुद्धिजीवी वर्ग की मनोवृत्ति के द्वारा ही होगा और यह पुराने विचारों और प्रतीकों की अपेक्षा निश्चित ही किन्हीं अन्य माध्यमों द्वारा प्रकट होगी। अतएव, ऐसा प्रतीत होता है कि एशियाई राजतंत्र और धर्मतंत्र के पुराने रूप अवश्यमेव नष्ट हो जायेंगे, वर्तमान समय में नये रूपों में उनके पुनर्जीवित होने की कोई संभावना नहीं है, यद्यपि भविष्य में ऐसा हो सकता है।

अंततः राजतंत्र के सिद्धांत के लिये प्रत्यक्ष सुयोग केवल यही है कि उसका रूप उन विषमजातीय साम्राज्यों की एकता के लिये एक सुविधापूर्ण प्रतीक के रूप में रखा जा सकता है, जो संसार के वर्तमान राजनीतिक समूहीकरण पर आधारित किसी भी एकीकरण के सबसे बड़े अंग होंगे। पर इन साम्राज्यों के लिये भी यह प्रतीक कोई अनिवार्य सिद्ध नहीं हुआ है। फ्रांस ने इसके बिना काम चला लिया है और रूस ने अभी हाल ही में इसका त्याग कर दिया है। आस्ट्रिया में तो कुछ अंगभूत जातियाँ इसे अधीनता का चिह्न समझकर इससे घृणा करने लगी हैं। महायुद्ध में आस्ट्रिया की पराजय के बिना भी इसे नष्ट होना ही था, केवल इंग्लैंड और कुछ छोटे देशों में ही यह निर्दोष और लाभकारी सिद्ध हो रहा है और इसीलिये वहां इसे लोकमत का समर्थन भी प्राप्त हुआ है। यह सोचा जा सकता है कि यदि ब्रिटिश साम्राज्य को^१, जो अब भी संसार की प्रमुख और अत्यंत प्रभावशाली एवं प्रबल शक्ति है, भविष्य के एकीकरण का प्रधान केंद्र अथवा दृष्टांत बनना हो तो एक बाह्य रूप में राजतंत्रीय तत्त्व के जीवित रहने का कुछ अवकाश हो सकता है—और कभी-कभी कोरा बाह्य रूप भी भविष्य की संभावनाओं से विकसित होने तथा जीवंत बनने के लिये आधार और केंद्र के रूप में उपयोगी होता है। किंतु सारे अमरीका की स्थिर गणतंत्रीय भावना तथा उसके गणतंत्रीय रूप का उत्तरोत्तर विस्तार इसके विरोध में है। इसमें इस बात के लिये कम ही अवकाश है कि केवल नाममात्र का राजा भी, जो अति विषमजातीय समुदाय के एक अंग का प्रतिनिधित्व करता है सामान्य एकीकरण की किसी भी पद्धति में शेष अंगों के द्वारा स्वीकार कर लिया जायेगा। कम-से-कम प्राचीन काल में ऐसा केवल विजय के दबाव के कारण ही हुआ था। विश्व-राज्य को अनुभव के आधार पर अपने

^१ अब वह साम्राज्य नहीं वरन् राष्ट्रमंडल है।

संविधान के अंदर राजतंत्रीय तत्त्व को स्थान देना या पुनः स्थान देना सुविधाजनक भी लगे तो भी वह केवल जनतंत्रीय राजप्रथा का कोई बिलकुल नया रूप ही होगा। किंतु आधुनिक जगत् को राजतंत्र के निष्क्रिय रूप के विरोध में एक जनतंत्रीय राजप्रथा को विकसित करने में सफलता प्राप्त नहीं हुई है।

वर्तमान अवस्थाओं में दो निर्धारक तथ्य जो संपूर्ण समस्या को पलट देते हैं, ये हैं कि इस प्रकार के एकीकरण में राष्ट्र व्यक्तियों का स्थान ले लेते हैं और ये राष्ट्र परिपक्व स्व-चेतन समाज होते हैं; अतएव, भविष्य में इन्हें सामाजिक जनतंत्र के घोषित रूपों अथवा समाजवाद के किसी अन्य रूप में से गुजरना आवश्यक हो जाता है। यह मानना युक्तिसंगत है कि विश्व-राज्य का झुकाव रचना के उसी सिद्धांत के अनुसार कार्य करने की ओर होगा जो उसका निर्माण करनेवाले पृथक् समाजों में प्रचलित है। यदि हम यह मान सकें कि परस्पर-विरोधी राष्ट्रीय स्वभावों, रुचियों और संस्कृतियों द्वारा उत्पन्न कठिनाइयां भेदमूलक राष्ट्रीयतावादी भावना के हास के और एक सार्वभौम अंतर्राष्ट्रीयता के विकास के द्वारा या तो दूर हो जायेंगी या फिर उन्हें दबाने और कम करने में सफलता प्राप्त हो जायेगी तो यह समस्या और भी सरल हो जायेगी। अंतर्राष्ट्रीयता के मार्ग में गंभीर प्रतिरोध तथा विश्व-युद्ध द्वारा विकसित हुई राष्ट्रीयतावादी भावना के सुदृढ़ विकास के होते हुए भी यह समाधान नितांत असंभव नहीं है। युद्धजनित भावों का दबाव हट जाने के बाद अंतर्राष्ट्रीयता दुगुने बल से पुनः जीवित भी हो सकती है। उस दिशा में एकीकरण की प्रवृत्ति एक ऐसे विश्वव्यापी गणतंत्र के आदर्श की ओर आशाभरी दृष्टि से देख सकती है जिसमें राष्ट्र प्रांत बनकर रहेंगे यद्यपि प्रारंभ में वे अत्यंत विभिन्न प्रांतों के रूप में होंगे; यह गणतंत्र एक ऐसी परिषद् या संसद् के द्वारा संचालित होगा जो विश्व के संयुक्त जनतंत्रों के प्रति उत्तरदायी होगी। अथवा यह एक ऐसी अंतर्राष्ट्रीय परिषद् के प्रच्छन्न कुलीनतंत्र जैसी कोई वस्तु भी हो सकती है जिसका शासन चुनाव द्वारा या किसी अन्य ढंग से प्रकाशित मत पर आधारित होगा; यह मत उसके प्रथम प्रतीक के रूप में अर्ध-निष्क्रिय जनतंत्र का होगा। वास्तव में आधुनिक जनतंत्र का यही स्वरूप है; जनमत, नियत समय पर होनेवाले चुनाव और जनता की उन लोगों के पुनर्निर्वाचन को अस्वीकार कर देने की शक्ति ही, जिनसे वह संतुष्ट नहीं है, जनतंत्र के तत्त्व हैं। इसका शासन वास्तव में मध्यवर्ग, व्यवसायी और व्यापारी लोगों तथा जमींदारों—जहां यह वर्ग अब भी विद्यमान है—के हाथ में होता है; हाल में ही श्रमजीवी वर्ग में से भी कुछ लोगों के आने से इसे बल प्राप्त हुआ है, ये लोग अपने-आपको शीघ्र ही शासक वर्गों के राजनीतिक स्वभाव और विचारों के अनुकूल बना लेते हैं। यदि विश्वराज्य की स्थापना मानव-समाज के वर्तमान आधार पर की जानी पड़े तो वह

‘अब यह स्थिति बदल गयी है; व्यापार-संघों तथा इस प्रकार की अन्य संस्थाओं ने भी दूसरे वर्गों के समान ही अधिकार प्राप्त कर लिये हैं।

अपनी केंद्रीय सरकार को इस सिद्धांत के अनुसार विकसित करने का यत्न कर सकता है।

पर यह समय संक्रांति का समय है और मध्यवर्गीय विश्व-राज्य ही अंतिम प्राप्ति इस समय नहीं हो सकता। अधिक उन्नतिशील प्रत्येक राष्ट्र में मध्यवर्ग की प्रधानता दो ओर से संकटापन्न है। एक ओर तो उन बुद्धिजीवियों का असंतोष है जो उसकी कल्पनारहित व्यापारिक बुद्धि और हठीले व्यवसायवाद को अपने आदर्शों की सिद्धि में बाधक पाते हैं और दूसरी ओर श्रमिकवर्ग का असंतोष है जिनकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है, जो यह देखते हैं कि जनतंत्रीय आदर्शों और परिवर्तनों से मध्यवर्ग निरंतर अनुचित लाभ उठा रहा है यद्यपि अभीतक इन्हें उस संसद्-प्रणाली को, जिसके द्वारा यह वर्ग अपना शासन सुरक्षित रखता है, स्थानापन्न करने के लिये कोई प्रणाली नहीं मिली है।^१ इन दो असंतुष्ट दलों की मैत्री क्या परिवर्तन लायेगी यह पहले से नहीं कहा जा सकता। हम देख चुके हैं कि रूस में जहां इनकी मैत्री अत्यधिक सुदृढ़ थी वहां इन्होंने क्रांति का नेतृत्व किया तथा मध्यवर्ग को अपने नियंत्रण में रहने को बाधित कर दिया, यद्यपि इस प्रकार का किया गया समझौता युद्ध की आवश्यकताओं के बाद अधिक देर तक नहीं ठहर सका। तब से वहां की पुरानी व्यवस्था समाप्त हो गयी है और नयी प्रवृत्तियों की पूर्ण विजय हो गयी है। यह विजय दो दिशाओं में संशोधित कुलीनतंत्र के एक ऐसे नये रूप को जन्म देगी जिसका आधार जनतंत्रात्मक होगा। आधुनिक समाज का शासन अब बड़ी जटिल वस्तु बनता जा रहा है, इसके प्रत्येक भाग में विशेष ज्ञान, विशेष योग्यता और विशेष क्षमताओं की आवश्यकता है और राज्य-समाजवाद की ओर उठाया गया प्रत्येक नया पग इस प्रवृत्ति को प्रबल ही करेगा। पारिषद् और प्रशासक की इस प्रकार की विशेष प्रशिक्षा या उनकी योग्यता की आवश्यकता और साथ ही इस युग की जनतंत्रीय प्रवृत्तियां शासन के पुराने चीनी सिद्धांत के किसी आधुनिक रूप को भी जन्म दे सकती हैं, अर्थात् नीचे की ओर जीवन का एक जनतांत्रिक संगठन होगा और ऊपर एक प्रकार की बौद्धिक नौकरशाही अर्थात् विशेष ज्ञान और योग्यता-प्राप्त उस कुलीनतंत्रीय अधिकारीवर्ग का शासन होगा जो बिना किसी वर्ग-भेद के सामान्य जनता में से चुना गया है। यह आवश्यक है कि सबको समान अवसर मिले, किंतु ये सर्वश्रेष्ठ अधिकारीजन समाज के संविधान में फिर भी अपने-आपमें एक पृथक् वर्ग बन जायेंगे। दूसरी ओर, यदि आधुनिक राष्ट्रों के उद्योगवाद में कुछ परिवर्तन हो जाये—जैसा कि कुछ लोग सोचते हैं हो जायेगा—और वह एक प्रकार के श्रेणिसमाजवाद का रूप धारण कर ले तो श्रम का श्रेणि-कुलीनतंत्र भी समाज में

^१ यह रूस में सोवियत राज्य के तथा फासिस्ट राज्यों के उदय से पूर्व लिखा गया था। फासिस्ट राज्यों में तो स्वयं मध्य-वर्ग ही जनतंत्र के विरुद्ध खड़ा हो गया था तथा कुछ समय के लिये इसने शासन और समाज का एक नया रूप स्थापित कर लिया था।

शासक संस्था बन सकता है।^१ यदि इनमें से कोई भी बात पूर्ण हो गयी, तो विश्व-राज्य के लिये किया गया कोई भी प्रयत्न यही दिशा ग्रहण करेगा और इसी आदर्श के अनुसार एक शासक संस्था को विकसित कर लेगा।

किंतु इन दो संभावनाओं पर विचार करते समय हमने राष्ट्रीयता के महान् तथ्य और उससे उत्पन्न होनेवाले परस्पर-विरोधी हितों और प्रवृत्तियों को छोड़ दिया है। यह सभी मानते हैं कि इन विरोधी हितों को समाप्त करने का सबसे बढ़िया तरीका एक ऐसी विश्व-संसद् को विकसित करना है जिसमें संभवतः बहुसंख्यकों की स्वतंत्रतापूर्वक निर्मित और व्यक्त सम्मति ही प्रबल होगी। संसद्-प्रणाली, जो अंग्रेजों की राजनीतिक बुद्धि का आविष्कार है, जनतंत्र के विकास में एक आवश्यक अवस्था है, क्योंकि इसके बिना इतने बड़े मानव-समुदायों की महान् राजनीतिक, प्रशासनीय, आर्थिक तथा विधायक समस्याओं को कम-से-कम संघर्ष के साथ विचारने तथा उनकी व्यवस्था करने की व्यापक सामर्थ्य सहज ही विकसित नहीं हो सकती। राज्य की कार्यवाहक समिति को व्यक्ति और राष्ट्र की स्वाधीनता को कुचलने से रोकने का अभीतक यही एक सफल तरीका आविष्कृत हुआ है। इसलिये ऐसे राष्ट्र जो समाज के आधुनिक रूप में विकसित हो रहे हैं स्वभावतः और उचित रूप में शासन के इस यंत्र के प्रति आकृष्ट हो रहे हैं। पर अभीतक संसद्-प्रणाली और जनतंत्रीय जनतंत्र की आधुनिक प्रवृत्ति को मिलाना संभव नहीं हो पाया है। यह सदा ही एक संशोधित कुलीनतंत्र अथवा मध्य-वर्ग के शासन का साधन रही है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में समय और शक्ति का अत्यधिक अपव्यय होता है और इसका कार्य भी अस्तव्यस्त, अस्थिर तथा अनिश्चित होता है यद्यपि इन सबमें से अंत में जैसे-तैसे कोई कामचलाऊ परिणाम निकल ही आता है। यह प्रणाली एक निपुण शासन तथा प्रशासन के उन अधिक कठोर विचारों के अनुकूल नहीं बैठती जिनकी शक्ति और आवश्यकताएं अब बढ़ रही हैं; विश्वसंबंधी कार्यों की व्यवस्था-जैसी किसी भी जटिल वस्तु में निपुणता प्राप्त करने के लिये यह अत्यंत हानिकर सिद्ध हो सकती है। व्यावहारिक रूप में संसद्-प्रणाली का अर्थ बहुमत, यहांतक कि अत्यंत छोटे बहुमत का शासन और प्रायः उसका अत्याचार भी होता है, जब कि आधुनिक व्यक्ति अल्पमतों के अधिकारों को अधिकाधिक महत्त्व दे रहा है। ये अधिकार एक ऐसे विश्व-राज्य में और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जायेंगे जहां इन्हें अभिभूत करने के किसी भी प्रयत्न के सहज परिणामस्वरूप बहुत अधिक असंतोष, कुप्रबंध, यहांतक कि विप्लव भी पैदा हो सकते हैं जो सारे ढांचे के लिये घातक सिद्ध होंगे। सबसे पहले राष्ट्रों की संसद्

^१ कुछ समय के लिये सोवियत रूस में इस प्रकार का प्रयत्न किया गया था, पर उस समय की अवस्थाएं अनुकूल नहीं थीं और इसी कारण आज शासन का एक ऐसा निश्चित रूप, जो क्रांतिकारी और अस्थायी न हो, कहीं भी दिखायी नहीं देता है। फासिस्ट इटली में भी एक सहकारी राज्य की घोषणा की गयी थी, पर उसका भी कोई सफल अथवा पूर्ण रूप सामने नहीं आया।

आवश्यक रूप में स्वतंत्र राष्ट्रों की एक संयुक्त संसद् होनी चाहिये और यह आज संसार में शक्ति के अप्राकृतिक और अस्तव्यस्त विभाजन की उपस्थिति में सफलतापूर्वक जन्म नहीं ले सकती। एशियाई समस्या अकेली ही, यदि अभी भी न सुलझायी गयी तो एक घातक बाधा सिद्ध होगी और यह अकेली ही नहीं है, असमानताएं और विषमताएं भी अनेकों हैं और सर्वत्र फैली हुई हैं।

शासन का अधिक व्यवहार्य रूप तो वर्तमान विश्व-प्रणाली के स्वतंत्र और साम्राज्यीय राष्ट्रों की एक सर्वोच्च परिषद् ही होगा, पर इसकी भी अपनी कठिनाइयां हैं। यह कार्य तभी कर सकेगा यदि यह प्रथम तो वस्तुतः कुछ ऐसे सबल साम्राज्यीय राष्ट्रों के कुलीनतंत्र जैसा होगा जिनकी आवाज तथा शक्ति प्रत्येक विषय में संख्या में अधिक, पर अपेक्षाकृत छोटे असाम्राज्यीय समानतंत्रों की आवाज और शक्ति से प्रबल होगी। और, यह तभी स्थायी हो सकता है यदि यह इस प्रकार के वास्तविक शक्तिसंपन्न कुलीनतंत्र से एक ऐसी अधिक न्याययुक्त और आदर्श प्रणाली में उत्तरोत्तर और यथासंभव शांतिपूर्वक विकसित हो जाये जिसमें साम्राज्यवादी विचार समाप्त हो जायेगा और बड़े साम्राज्य अपना पृथक् अस्तित्व एकीकृत मनुष्य जाति के अस्तित्व में खो देंगे। एक ऐसी ऊपरी उदारता के होते हुए भी, जो सर्वत्र घोषित की जा रही है, राष्ट्रीय अहंकार बिना उग्र संघर्षों और संकटपूर्ण क्रांतियों के इसे विकसित होने की कहांतक अनुमति देगा, यह एक ऐसा प्रश्न है जो अभीतक गंभीर और अशुभ शंकाओं से आक्रांत है।

अतएव, जिस ओर से भी हम देखें यही कहा जा सकता है कि विश्व-राज्य के स्वरूप का यह प्रश्न ऐसी शंकाओं और कठिनाइयों से घिरा हुआ है जो इस समय तो हल नहीं हो सकतीं। कुछ का स्रोत भूतकाल की अवशिष्ट भावनाओं और हितों में है और कुछ भविष्य की द्रुत वेग से विकसित होती हुई क्रांतिकारी शक्तियों से उत्पन्न हो सकती हैं। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि इनका समाधान हो नहीं सकता या कभी होगा नहीं। जिस तरीके और दिशा को ऐसा कोई भी समाधान ग्रहण करेगा उसके विषय में कोई अनुमान लगाना कठिन है; ये वास्तव में केवल क्रियात्मक अनुभव और परीक्षण द्वारा तथा आधुनिक जगत् की शक्तियों और आवश्यकताओं के दबाव से ही निर्धारित किये जा सकते हैं। बाकी के लिये शासन का स्वरूप कोई अत्यधिक महत्वपूर्ण वस्तु नहीं। वास्तविक समस्या तो शक्तियों के एकीकरण और एकरूपता की है जिसे विश्व-राज्य की कोई भी संभवनीय प्रणाली अनिवार्य बना देगी।

सैनिक एकीकरण की आवश्यकता

केंद्रीकरण की प्रक्रिया में जिसके द्वारा एक संगठित जनसमाज की समस्त शक्तियां एक प्रभुतापूर्ण शासक-संस्था में केंद्रित हो जाती हैं—यह प्रक्रिया राष्ट्रीय संघटनों की एक प्रधान विशेषता रही है—सैनिक बल की अनिवार्यता शुरू-शुरू में अत्यंत प्रत्यक्ष रूप में प्रभावशाली रही है। यह अनिवार्यता बाह्य और आंतरिक दोनों प्रकार की थी, बाह्य इस कारण कि राष्ट्र की बाहर के आक्रमण और आधिपत्य से रक्षा की जाये और आंतरिक का प्रयोजन यह था कि वह गृह-कलह और दुर्व्यवस्था से बच जाये। यदि किसी राष्ट्र के निर्माण-काल में उसके अवयवभूत अंगों को आपस में मिलाये रखने के लिये एक ही प्रशासक सत्ता का होना आवश्यक है तो उस केंद्रीय सत्ता की पहली आवश्यकता और मांग यह होगी कि उसके हाथ में उस सुघटित समुदाय को निर्बल अथवा नष्ट कर देनेवाले घातक विरोध और प्रबल संघर्ष को रोकने के साधन होने चाहियें। राजतंत्र या और किसी भी केंद्रीय संस्था को यह कार्य आंशिक रूप में नैतिक बल तथा मनोवैज्ञानिक प्रेरणा द्वारा संपन्न करना चाहिये। कारण, यह ऐक्य का प्रतीक है और अपने अवयवभूत अंगों को उनकी प्रत्यक्ष और पवित्र एकता का आदर करने के लिये विवश करता है, चाहे पृथक्ता की उनकी स्थानीय, जातीय, कौटुंबिक अथवा वर्गीय सहज-प्रवृत्तियां कितनी भी प्रबल क्यों न हों। राजतंत्र राष्ट्र की एकीभूत सत्ता का मूर्त रूप होता है। इसकी शक्ति पृथक् अंगों के नैतिक अधिकार की अपेक्षा, चाहे ये अंग उपराष्ट्रों के समान ही क्यों न हों, अधिक महान् है। यह उसका बलपूर्वक प्रयोग कर सकती है और उन अंगों से अपने आदेश का पालन भी करवा सकती है पर जब विद्रोही हित अथवा भावनाएं प्रबल होती हैं और आवेग अपने पूरे जोर पर होते हैं, ये प्रेरक भाव किसी भी समय विफल हो सकते हैं। ऐसी अवस्था में अंतिम साधन के रूप में शासक संस्था के पास सदा अत्यधिक सैनिक शक्ति होनी चाहिये जिससे वह अपने अवयवभूत अंगों को भयभीत करके कलहकारी गृह-युद्ध को उभरने से रोक सके। अथवा यदि गृह-युद्ध या विद्रोह फूट ही पड़े, जैसा कि उस अवस्था में सदा ही हो सकता है जब कि राजतंत्र या सरकार कलह में किसी एक दल के साथ घनिष्ठ रूप में संबंधित होती है अथवा वह स्वयं ही असंतोषजनक और आक्रमण का विषय बन जाती है, तब उसके पीछे इतनी प्रबल शक्ति अवश्य होनी चाहिये कि उसे नैतिक रूप में इस बात का निश्चय हो जाये कि वह संघर्ष में विजय प्राप्त कर लेगी। ऐसा अधिकतम पूर्णता के साथ केवल तभी हो सकता है—पूर्ण रूप से तो यह वास्तविक निरस्त्रीकरण के बिना हो ही नहीं सकता—जब समस्त सैनिक सत्ता केंद्रीय संस्था में केंद्रित हो जाये और समाज की समस्त वास्तविक अथवा संभावित सैनिक शक्ति उसके अविभाजित नियंत्रण में आ जाये।

विश्व-राज्य के निर्माण की प्रवृत्ति में, चाहे वह कितनी भी अचेतन, अस्पष्ट और आकारहीन क्यों न हो, सैनिक बल की अनिवार्यता ने उतना ही बढ़ा और प्रत्यक्ष भाग लेना आरंभ कर दिया है। संसार की जातियों में जीवन की एक ऐसी शिथिल और अस्तव्यस्त एकता पहले से ही है जिसमें कोई भी अब पृथक्, स्वाधीन और स्व-आश्रित जीवन नहीं बिता सकता। प्रत्येक अपनी संस्कृति और राजनीतिक प्रवृत्तियों एवं आर्थिक जीवन पर संसार के दूसरे भागों में होनेवाली घटनाओं और आंदोलनों का प्रभाव तथा प्रतिक्रिया अनुभव करता है। प्रत्येक, सूक्ष्म अथवा प्रत्यक्ष रूप में, अपने पृथक् जीवन को समष्टि के जीवन से अभिभूत अनुभव करता है। विज्ञान, अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य तथा एशिया और अफ्रीका में प्रबल पश्चिमी देशों का राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभाव इस महान् परिवर्तन के अभिकर्ता हैं। इस शिथिल, अस्वीकृत और मूलभूत एकता में महान् युद्धों का होना अथवा उनके होने की संभावना संपूर्ण ढांचे को अस्तव्यस्त करने की प्रबल सामर्थ्य रखती है और यह अस्तव्यस्तता एक दिन जाति के लिये घातक हो सकती है। यूरोपीय युद्ध से पहले भी एक या दो राष्ट्रों के बीच के संघर्ष को, जो सबके लिये विनाशकारी सिद्ध हो सकता था, टालने या कम करने की तीव्र आवश्यकता अनुभव हुई थी और इस उद्देश्य को सामने रखकर अनेकों सदिच्छित किंतु निर्बल और त्रुटिपूर्ण उपाय परीक्षण के रूप में प्रयुक्त किये गये थे। इन कामचलाऊ साधनों में से यदि कोई भी साधारण रूप से ही सफल हो जाता तो संसार अपनी वर्तमान अतिसाधारण अवस्थाओं से अधिक समय तक संतुष्ट रह सकता था और तब एक घनिष्ठतर अंतर्राष्ट्रीय संगठन की अनिवार्य आवश्यकता जाति के सामान्य मन पर अपना अधिकार न जमा सकती। पर यूरोपीय युद्ध ने पुरानी अस्तव्यस्त शासन-पद्धति का अनिश्चित काल के लिये बना रहना असंभव कर दिया है। एक समय तो इस विपत्ति के किसी भी पुनरावर्तन को टालने की आवश्यकता सर्वत्र ही स्वीकार की जाती थी। अंतर्राष्ट्रीय शांति को बनाये रखने तथा एक ऐसी सत्ता को उत्पन्न करने के साधन को किसी-न-किसी प्रकार ढूंढना या उत्पन्न करना आवश्यक था जिसके पास संकटपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नों को हल करने की तथा जातियों के परस्पर-युद्ध को, जिसे हम मानव-एकता के नये दृष्टिकोण से गृह-युद्ध कह सकते हैं, रोकने की शक्ति हो।

अंतर्राष्ट्रीय शांति की आवश्यक शर्तों के रूप में कम या अधिक प्रामाणिक कई एक विचार उपस्थित किये गये। इनमें से सबसे अधिक स्थूल एकपक्षीय प्रचार द्वारा उत्पन्न हुआ वह मूर्खतापूर्ण विचार था जो यह मानता था कि जर्मन सैनिकवाद का विनाश ही एकमात्र उपाय है और संसार की भावी शांति को प्राप्त करने के लिये वह अकेला ही पर्याप्त है। जर्मनी की सैनिक शक्ति, उसकी राजनीतिक और व्यापारिक महत्वाकांक्षाएं और यह तीव्र भान कि उसकी भौगोलिक स्थिति परिसीमित है तथा वह द्वेषपूर्ण गुट द्वारा घिरा हुआ है इस विशेष युद्ध के तात्कालिक नैतिक कारण थे; किंतु

इसका असली कारण अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के मूल स्वरूप में तथा राष्ट्रीय जीवन के मनोविज्ञान में निहित था। इस मनोविज्ञान की मुख्य विशेषता देशभक्ति के पवित्र नाम पर राष्ट्रीय अहंभाव की प्रधानता और पूजा है। सभी राष्ट्रीय अहंभाव, सभी सुघटित जीवनो की भांति, एक दोहरी, अर्थात् घनीभूत और व्यापक या विस्तृत परिपूर्णता की आकांक्षा करते हैं। उनकी सीमाओं के अंदर ही उनकी संस्कृति, उनके राजनीतिक बल तथा आर्थिक हित को उन्नत और समृद्ध करना तबतक पर्याप्त नहीं समझा जाता जबतक बाहर भी उनकी संस्कृति का विस्तार अथवा प्रसार और उनकी राजनीतिक सीमा, प्रभुता, बल अथवा प्रभाव की वृद्धि न हो जाये और वह विश्व का कुशलतापूर्वक अधिकाधिक व्यापारिक शोषण न कर ले। यह स्वाभाविक और सहजप्रेरित इच्छा कोई असामान्य नैतिक भ्रष्टता नहीं है, वरन् यह अहंकारपूर्ण जीवन की मूल प्रेरणा है; और फिर कौन-सा जीवन आज अहंकारपूर्ण नहीं है? किंतु शांतिपूर्ण और उग्रतारहित उपायों द्वारा यह केवल एक बहुत ही सीमित अंशतक ही संतुष्ट हो सकता है। और जहां यह ऐसी बाधाओं द्वारा आक्रांत अनुभव करता है जिन्हें यह समझता है कि वह पार कर सकता है, अथवा जहां यह विघ्नों द्वारा प्रतिहत तथा अन्यो से घिरा हुआ और अधिकार और आधिपत्य के उस भाग से असंतुष्ट अनुभव करता है जिसे यह अपनी आवश्यकताओं और शक्ति के अनुपात से कम समझता है या जहां विस्तार की कुछ ऐसी नयी संभावनाएं उसके सामने प्रकट हो जाती हैं जिनमें केवल यह अपनी शक्ति के बल पर ही अपने लिये वांछित भाग प्राप्त कर सकता है, वहां यह तत्काल ही किसी प्रकार की शक्ति का प्रयोग करने के लिये प्रेरित हो जाता है; तब यह केवल उस प्रतिरोध द्वारा ही रुक सकता है जिसका उसे सामना करना पड़ेगा। यदि उसे असंगठित अथवा कम संगठित राष्ट्रों के दुर्बल प्रतिरोध का सामना करना पड़े तो वह पीछे नहीं हटेगा; पर यदि उसे शक्तिशाली शत्रुओं के विरोध का भय हो तो वह रुक जायेगा, मैत्री-संबंध स्थापित करने की चेष्टा करेगा अथवा अवसर की प्रतीक्ष करेगा। विस्तार की इस सहज-प्रवृत्ति और अहंभावना पर जर्मनी का एकाधिकार तो नहीं था, किंतु उसकी अहंभावना अधिकतम संगठित तथा न्यूनतम संतुष्ट थी, वह अत्यधिक युवा, स्थूल, क्षुधित, आत्मविश्वासी तथा दुःसाहसी थी; वह अपनी इच्छाओं की क्रूरता से जो उसके विचार में उचित थी अत्यंत संतुष्ट थी। जर्मन सैनिकवाद का नाश बहुपक्षीय व्यापारिक तनातनी की तीव्रता को कुछ समय के लिये शांत तो कर सकता है पर वह भयंकर और व्यग्र प्रतियोगी को हटाकर उसे समाप्त नहीं कर सकता। जबतक किसी प्रकार का भी सैनिकवाद बचा रहता है, जबतक राजनीतिक अथवा व्यापारिक उन्नति के क्षेत्र विद्यमान हैं और जबतक राष्ट्रीय अहंभाव जीवित हैं और वे पवित्र माने जाते हैं तथा राज्य-विस्तार की उनकी अंतर्निहित सहज-प्रेरणा पर कोई अंतिम प्रतिबंध नहीं लगाया जाता, तबतक युद्ध की संभावना हमेशा बनी रहेगी और यह प्रायः ही मानवजातियों के जीवन की आवश्यकता मानी जायेगी।

एक और विचार जो उच्च अधिकारपूर्ण संपोषणों के साथ उपस्थित किया गया था स्वतंत्र और जनतंत्रीय राष्ट्रों के संघ का विचार था, यह दबाव द्वारा अथवा आवश्यकता पड़ने पर बलप्रयोग द्वारा भी शांति स्थापित कर सकता था। यह हल कम स्थूल होते हुए भी इसी कारण से दूसरे की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद हो ऐसी बात नहीं है। यह एक पुराना विचार है। नैपोलियन की पराजय के बाद मैटरनिच ने इसे व्यावहारिक रूप दिया था। शांति और राजतंत्रीय व्यवस्था सुरक्षित रखने तथा जनतंत्र का दमन करने के लिये राजाओं की 'पवित्र' मैत्री के स्थान पर स्वतंत्र—और साम्राज्यीय—जातियों का एक संघ बनाने का प्रस्ताव रखा गया था जिसका उद्देश्य जनतंत्रीय शासन को लागू करना तथा शांति स्थापित करना था। एक बात पूर्ण रूप से निश्चित है कि नया संघ भी पुराने संघ के रास्ते पर ही चलता। ज्यों ही उसकी निर्माणकारी 'शक्तियों' की महत्वाकांक्षाएं तथा उनके हित पर्याप्त रूप से असंगठित हो जाते अथवा एक ऐसी नयी स्थिति उत्पन्न हो जाती, जैसी कि सन् १८४८ में पीड़ित जनतंत्र के दुबारा प्रबल रूप में उदय होने से उत्पन्न हो गयी थी अथवा जैसी कि युवा-दानव, समाजवाद तथा मध्यवर्गीय-जनतंत्रीय जगत् के प्राचीन ओलिंपियन देवताओं के बीच के अनिवार्य भावी द्वंद्व-युद्ध के द्वारा उत्पन्न हो जाती, यह संघ समाप्त हो जाता। क्रांतिकारी रूस में यह संघर्ष अपनी भयानक छाया पहले से ही डाल रहा था पर अब इसने एक निश्चित रूप धारण कर लिया है; अतएव, समस्त यूरोप में भी इसे फैलते अब अधिक देर नहीं लगेगी। कारण, चाहे युद्ध और उसके बाद के परिणाम कुछ समय के लिये रुक जायें पर उसका वास्तविक और अंतिम परिणाम यह हो सकता है कि युद्ध शीघ्र ही छिड़ जाये और साथ ही उसकी शक्ति भी बढ़ जाये। एक या दूसरा कारण या दोनों मिलकर एक प्रकार का विघटन ले आवेंगे। कोई भी ऐच्छिक संघ अपने स्वरूप में स्थायी नहीं हो सकता। जिन विचारों ने उसे प्रश्रय दिया था, वे बदल जाते हैं, जो हित उसे संभव तथा शक्तिशाली बनाते थे बुरी तरह से परिवर्तित हो जाते हैं या पुराने पड़ जाते हैं।

यह माना जाता है कि राजतंत्रों की अपेक्षा जनतंत्र युद्ध में भाग लेने के लिये कम सहमत होंगे। पर यह केवल एक सीमित अंश में ही सत्य है। जो जनतंत्र कहलाते हैं वे वस्तुतः मध्यवर्तीय राज्य हैं, इनका रूप या तो संविधानीय राजतंत्र है या मध्यवर्ग का गणतंत्र। किंतु सर्वत्र ही मध्यवर्ग ने कुछ परिवर्तनों के साथ पूर्ववर्ती राजतंत्रीय अथवा कुलीनतंत्रीय सरकारों की कूटनीतिक आदतें, उनकी विदेशी नीतियां और अंतर्राष्ट्रीय विचार ग्रहण कर लिये हैं।^१ ऐसा प्रतीत होता है कि यह निरवच्छिन्नता शासकवर्ग की मनोवृत्ति का एक स्वाभाविक नियम बन गयी है। जर्मनी में तो कुलीनतंत्रीय और पूंजीवादी दल ने ही मिलकर सर्व-जर्मन दल का निर्माण किया था

^१ इसी प्रकार समाजवादी रूस ने भी बहुत कम परिवर्तन के साथ अथवा बिना किसी परिवर्तन के ज़ारों से ये विचार और ढंग ले लिये हैं।

जिसकी महत्वाकांक्षा विकृत-प्राय और बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। नये रूस में मध्यवित्तीय वर्ग ने अपने अल्प शासनकाल में ज़ारों के अंतर्देशीय विषयसंबंधी विचार स्वीकार नहीं किये। उन्होंने निरंकुशता का उन्मूलन करने में सहायता पहुंचायी थी किंतु विदेशी विषयों में उनके विचार वही रहे; हां, उसमें जर्मन प्रभाव को स्थान नहीं मिला, साथ ही रूस के विस्तार तथा कौस्टैंटीनोपल (कुस्तुनतुनिया) की विजय के पक्ष में भी वे थे। निश्चित रूप से इसमें एक महत्त्वपूर्ण भेद है। राजतंत्रीय अथवा कुलीनतंत्रीय राज्य की मनोवृत्ति राजनीतिक होती है, सर्वप्रथम वह प्रदेश-विस्तार और राष्ट्रों में राजनीतिक प्रभुत्व अथवा नेतृत्व चाहती है; व्यापारिक उद्देश्यों को दूसरे उद्देश्यों के सहायक के रूप में केवल गौण स्थान ही दिया जाता है। उधर मध्यवित्तीय राज्य में इससे उलटा क्रम है, क्योंकि उनकी दृष्टि मुख्यतया बाजार तथा धन के नये क्षेत्रों की प्राप्ति पर और ऐसे उपनिवेशों अथवा अधीन राज्यों के निर्माण या विजय पर रहती है जिनसे व्यापारिक या औद्योगिक रूप में अनुचित लाभ उठाया जा सकता है; राजनीतिक उन्नति की ओर तो वे इस अधिक प्रिय उद्देश्य की प्राप्ति के साधन के रूप में ही ध्यान देते हैं। इसके अतिरिक्त, राजतंत्रीय अथवा कुलीनतंत्रीय राजनीति-विशारद ने युद्ध को प्रायः अपने पहले उपाय के रूप में ही अपनाया है। अपनी कूटनीति की प्रतिक्रिया से वह ज्यों ही असंतुष्ट होता है, त्यों ही वह तलवार या बन्दूक का आश्रय ले लेता है; उधर मध्यवित्तीय राजनीति-विशारद थोड़ा हिचकता है, हिसाब लगाता है, कूटनीति को लंबा अवसर देता है, अपनी उद्देश्यप्राप्ति के लिये सौदा करता है, किसी समझौते, शांतिपूर्ण दबाव या शक्ति-प्रदर्शन का सहारा लेता है। अंत में वह युद्ध का आश्रय लेने के लिये भी तैयार रहता है पर केवल तभी जब ये युक्तियां असफल हो जाती हैं और उसे यह आशा हो जाती है कि अंत में प्राप्ति साधनों के अनुपात में अधिक होगी और युद्ध की यह गुरु कल्पना सफलता और ठोस लाभ का बहुत बड़ा आश्वासन देगी। इसके विपरीत मध्यवर्ग के जनतंत्रीय राज्य ने एक ऐसा विशाल सैनिक संगठन बना लिया है जिसके विषय में अत्यंत शक्तिशाली राजतंत्र और कुलीनतंत्र कल्पना भी नहीं कर सकते। और यदि यह महायुद्धों को स्थगित करने की प्रवृत्ति रखता है तो साथ ही यह अंत में उनके आगमन को निश्चित भी कर देता है, तथा उनके परिणाम और विस्तार अत्यधिक बढ़ा देता है जो आजकल अकल्पनीय और अपरिमेय हो गये हैं।

उस समय एक प्रबल सुझाव भी सामने आया था कि उदार राष्ट्रों की विजय द्वारा शांति स्थापित हो जाने के बाद एक अधिक यथार्थ जनतंत्रीय और इसलिये अधिक शांतिप्रद भावना एवं अधिक पूर्ण रूप से जनतंत्रीय संस्थाएं शासन करने लगेंगी। नयी अंतर्राष्ट्रीय स्थिति का एक नियम यह बननेवाला था कि राष्ट्रों को अपने भाग्य का फैसला अपने-आप करने का तथा केवल अपनी स्वतंत्र स्वीकृति से ही शासित होने का अधिकार होना चाहिये। पिछली शर्त का तत्काल ही पूर्ण होना यूरोप के अतिरिक्त

और कहीं भी संभव नहीं है। और यूरोप के लिये भी यह सिद्धांत वस्तुतः अपने पूरे अर्थ में स्वीकार नहीं किया गया है, और न इसे पूरी तरह कार्यान्वित ही किया गया है। यदि यह व्यापक रूप में कार्यान्वित किया जा सकता, यदि जातियों के वर्तमान संबंध और राष्ट्रों का मनोविज्ञान इस प्रकार बदले जा सकते कि यह एक कार्यकारी सिद्धांत बन जाता, तो युद्ध और क्रांति का एक अत्यधिक उर्वर कारण अवश्य दूर हो जाता, पर सब कारण तब भी दूर न होते। यूरोपीय जातियों का विशालतर जनतंत्रीकरण ऐसा कोई भरोसा नहीं दिलाता। यह ठीक है कि एक प्रकार का जनतंत्र, ऐसा जनतंत्र जो अपने स्वाभाविक संगठन के लिये वैयक्तिक स्वाधीनता पर निर्भर है, महान् और विश्वव्यापी उत्तेजना के क्षणों को छोड़कर बाकी समय युद्ध के प्रति अनिच्छुक हो सकता है। युद्ध समस्त शक्तियों के प्रबल केंद्रीकरण की, अधीनता की भावना की तथा स्वतंत्र इच्छा, स्वतंत्र कर्म और आलोचना के उस अधिकार की रोकथाम की मांग करता है जो सच्ची जनतंत्रीय सहजप्रेरणा के विरुद्ध है। पर यह संभव है कि भविष्य के जनतंत्र प्रबल रूप से ऐसी केंद्रित सरकारें बन जायें जिनमें स्वाधीनता का सिद्धांत राज्य-समाजवाद के किसी रूप द्वारा समाज के निपुण जीवन के अधीन कर दिया जाये। इस प्रकार का जनतंत्रीय राज्य युद्ध के लिये और भी अधिक शक्ति रख सकता है, वह विरोध के समय मध्यवर्तीय जनतंत्रों से भी अधिक प्रबल रूप में केंद्रित संगठन निर्मित कर सकता है और यह किसी तरह से भी निश्चित नहीं है कि वह अपने साधनों तथा शक्ति का प्रयोग करने के लिये कम लालायित होगा। समाजवाद अपनी प्रवृत्तियों में अंतर्राष्ट्रीय तथा शांतिप्रिय रहा है, क्योंकि युद्ध की तैयारी की आवश्यकता उच्च वर्गों के शासन के अनुकूल होती है और युद्ध का उपयोग भी सरकारों और पूंजीवादियों के हितों के लिये ही किया जाता है। जिन विचारों और वर्गों का यह प्रतिनिधित्व करता है वे आजकल दब गये हैं, युद्ध के उपयोगों के द्वारा न तो उनकी वृद्धि होती है और न उसके लाभों का वे कोई प्रत्यक्ष भाग ही प्राप्त करते हैं। जब वे शासन को तथा उसके प्रलोभनों और अवसरों को अधिकार में कर लेंगे तब क्या होगा, यह अभी हमें देखना है, पर इसके विषय में आसानी से भविष्यवाणी की जा सकती है। अधिकार की प्राप्ति समस्त आदर्शवादों की महान् कसौटी है और अभीतक ऐसे कोई भी आदर्शवाद नहीं हैं—न ही धार्मिक और न ही लौकिक—जो इसके सामने ठहर सकें हों अथवा अवनति और भ्रष्टता से बच सकें हों।

राष्ट्रों में शांति बनाये रखने के लिये विरोधी राष्ट्रीय अहंभावों की सामान्य स्वीकृति पर निर्भर करना एक तार्किक विरोध पर निर्भर करना है। एक ऐसी व्यावहारिक असंभावना जो तर्क और अनुभव से जांचने पर असंभव-सी जान पड़ती है, भविष्य-निर्माण का दृढ़ आधार नहीं बन सकती। शांति-संघ कुछ समय के लिये केवल सशस्त्र युद्ध रोक सकता है। बलपूर्वक लागू की हुई पंच-प्रणाली, चाहे उसमें अपराधी को एक बड़े सशस्त्र संगठन का डर ही क्यों न हो, युद्ध के अवसर कम

अवश्य कर सकती है और छोटे या निर्बल राष्ट्रों के लिये तो इसे पूर्ण रूप से बंद भी कर सकती है। किंतु एक बड़ा राष्ट्र, जिसे सुव्यवस्थित स्थिति को अपने लाभ की खातिर उलटने में रुचि रखनेवाली जातियों के शक्तिशाली संगठन का केंद्र बनने का सुअवसर प्राप्त होता है, इस दुःसाहसपूर्ण कार्य का खतरा उठाना सदा ही पसंद करेगा, इसमें उसे यह आशा होती है कि उसे कई ऐसे लाभ प्राप्त होंगे जो उसके विचार में उन खतरों से कहीं अधिक बढ़े-चढ़े हैं।^१ इसके अतिरिक्त, महान् क्रांति और हलचलों के समय में, जब कि बड़े-बड़े विचार, विशाल हित और प्रज्वलित आवेग संसार की जातियों को विभाजित कर देते हैं, यह सारी प्रणाली छिन्न-भिन्न हो सकती है और साथ ही उसकी सफलता के तत्त्व भी नष्ट हो सकते हैं। कोई भी परीक्षणात्मक एवं अपूर्ण उपाय शीघ्र ही अपनी अयोग्यता को प्रकट कर देगा और तब अंतर्राष्ट्रीय जीवन के सुविचारित संगठन के लिये प्रयत्न करना छोड़ देना पड़ेगा और कार्य को घटनाओं के बल पर अस्तव्यस्त रूप में संपन्न होने के लिये छोड़ दिया जायेगा। केवल एक ऐसी वास्तविक, कुशल और शक्तिशाली सत्ता का निर्माण ही, जो मानवजाति के सामुदायिक जीवन और भावना में उसकी सामान्य बुद्धि तथा सामान्य शक्ति का प्रतीक होगी तथा जो एक टूट सकनेवाले नैतिक समझौते के निर्बल बंधन से बंधे हुए तीव्र रूप से पृथक् राज्यों के समूह से कोई अधिक बड़ी वस्तु होगी, इस मार्ग पर सफल पग हो सकता है। इस प्रकार की सत्ता क्या वास्तव में समझौते द्वारा पैदा की जा सकती है अथवा क्या इसे आंशिक रूप में विचारों की प्रगति के द्वारा किंतु इससे भी अधिक शक्तियों के आघात के द्वारा अपना निर्माण अपने-आप करना होगा, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर केवल भविष्य ही दे सकता है।

इस प्रकार की सत्ता को मनुष्यजाति की मनोवैज्ञानिक सहमति प्राप्त करनी होगी; इसे राष्ट्रों पर उनकी अपनी राष्ट्रीय सत्ता से अधिक बड़ी नैतिक शक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा तथा सभी सामान्य परिस्थितियों में उन्हें अपने आदेश का अधिक तत्परता से पालन करने के लिये बाधित करना होगा। इसे जाति की एकता का केवल एक चिह्न और केंद्र ही नहीं बल्कि संसार के लिये स्थिर रूप में उपयोगी बनना होगा; ऐसा वह उन विशाल और सार्वभौम हितों और लाभों को सफलतापूर्वक सुरक्षित रखकर तथा उनकी वृद्धि करके ही कर सकती है जो सब पृथक् राष्ट्रीय हितों को अतिक्रान्त कर जायेंगे तथा आवश्यकता की जिस भावना ने इसे जन्म दिया था उसे भी वह पूर्णतया संतुष्ट कर देंगे। इस सत्ता को सर्वसामान्य मानवता के तथा एक ऐसे सर्वसामान्य जीवन के प्रगतिशील भाव को सुदृढ़ करने में अधिकाधिक सहायता देनी चाहिये जिसमें वे तीव्र भेद, जो देश को देश से, जाति को जाति से, वर्ण को वर्ण से, महाद्वीप को महाद्वीप से अलग कर देते हैं, धीरे-धीरे अपनी शक्ति खो देंगे और फिर उत्तरोत्तर

यह लिखते समय राष्ट्र-संघ 'League of Nations' का निर्माण नहीं हुआ था, इसके बाद इतिहास ने इन युक्तियों की असमर्थता भलीभांति सिद्ध कर दी है।

मिटते चले जायेंगे। ऐसी अवस्थाएं यदि पैदा हो जायें तो यह एक ऐसी नैतिक सत्ता विकसित कर लेगी जो इसे कम-से-कम विरोध और संघर्ष के साथ मनुष्यजाति का एकीकरण साधित करने के योग्य बना देगी। जो मनोवैज्ञानिक सहमति इसे शुरू से ही प्राप्त होगी वह कैसी है यह अधिकतर इसकी रचना और स्वभाव पर निर्भर करेगा और वह फिर यथासमय उस नैतिक सत्ता के स्वरूप और शक्ति का निर्धारण करेगी जिसका यह विश्व की जातियों पर प्रयोग कर सकेगी। यदि इसकी रचना और स्वरूप इस प्रकार के हों कि वह मनुष्यजाति के सभी अथवा अधिक-से-अधिक विभिन्न विभागों या कम-से-कम उन विभागों की भावना को जिनकी भावना और सहायता का अत्यधिक महत्व हो, संतुष्ट कर सके और इसकी सुरक्षा में सक्रिय सहायता देने के लिये उनमें रुचि पैदा कर सके और उस समय के प्रमुख राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विचारों और हितों का प्रतिनिधित्व कर सके, तो इसे अधिकतम मनोवैज्ञानिक सहमति और नैतिक बल प्राप्त हो जायेंगे और इसका मार्ग अपेक्षाकृत अधिक सुगम हो जायेगा। यदि इन बातों में इसकी कुछ त्रुटि रह गयी तो इसे उस त्रुटि को पूरा करने के लिये अपने पीछे सैनिक शक्ति का संचय और प्रदर्शन करना पड़ेगा, साथ ही मनुष्यजाति के सामान्य जीवन, उसकी संस्कृति और उन्नति के लिये इसे विशेष प्रकार की ऐसी महत्वपूर्ण सेवाएं करनी पड़ेंगी जैसी सेवाओं के द्वारा भूमध्य तथा पश्चिमी प्रदेशों की जातियों ने रोम की साम्राज्यीय सत्ता को अपने राष्ट्रीय जीवन के अधीन रखने तथा मिटा देने की चिरकाल के लिये एक सामान्य स्वीकृति दे दी थी।

किंतु दोनों अवस्थाओं में सैनिक शक्ति का आधिपत्य एवं केंद्रीकरण अभी बहुत समय तक उसकी सुरक्षा की पहली शर्त रहेगा; इस सत्ता का यथासंभव शीघ्र ही अपने नियंत्रण की प्रभावशालिता और इस आधिपत्य पर एकमात्र अधिकार हो जाना चाहिये। वर्तमान समय में यह पहले से कह सकना कठिन है कि संसार के राष्ट्र पूर्ण रूप से अपने निरस्त्रीकरण के लिये सहमत हो जायेंगे। कारण, जबतक किसी भी तरह के शक्तिशाली राष्ट्रीय अहंभाव बने रहेंगे और साथ ही पारस्परिक अविश्वास भी रहेगा, राष्ट्र सशस्त्र सेना के आधिपत्य का त्याग नहीं करेंगे, क्योंकि अब उनके हितों को, कम-से-कम उन हितों को, जिन्हें वे अपनी समृद्धि और अपने अस्तित्व के लिये आवश्यक समझते हैं, खतरा होगा, और वे इसी सशस्त्र सेना पर स्व-रक्षा के लिये निर्भर रह सकते हैं। अंतर्राष्ट्रीय शासन की निश्चित निष्पक्षता पर किसी प्रकार का भी अविश्वास इसी दिशा में कार्य करेगा। तथापि किसी महान् तथा मूलगत मनोवैज्ञानिक और नैतिक परिवर्तन के अभाव में इस प्रकार का निरस्त्रीकरण युद्ध को निश्चित रूप से बंद करने के लिये आवश्यक होगा। यदि राष्ट्रीय सेनाएं रहेंगी तो उनके साथ-साथ युद्ध का होना संभव ही नहीं, वरन् अनिवार्य भी होगा। शांतिकाल में ये कितनी भी कम क्यों न कर दी जायें, अंतर्राष्ट्रीय सत्ता अपने पीछे सैनिक शक्ति को रखते हुए उस

सामंतिक राजा के समान ही रहेगी जो अपने सामंतों पर सफल नियंत्रण कभी भी नहीं रख सकता। संसारभर की प्रशिक्षित सैनिक शक्ति एकमात्र अंतर्राष्ट्रीय सत्ता के हाथ में होनी चाहिये जिससे वह राष्ट्रों की रक्षा का प्रबंध कर सके, नहीं तो उसके एकाधिकार में कुछ बल नहीं रहेगा। साथ ही अकेले उसी के पास शस्त्रास्त्र तथा अन्य युद्ध-सामग्री बनाने के साधन होने चाहियें। युद्ध-सामग्री तथा शस्त्र बनाने के राष्ट्रीय और निजी कारखाने बंद हो जाने चाहियें। राष्ट्रीय सेनाओं को पुराने सरदारों की सेनाओं की भांति अतीत और विगत युगों की स्मृतिमात्र रह जाना चाहिये।

ऐसा हो जाने के बाद वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय अवस्थाओं के स्थान पर एक विश्व-राज्य के निर्माण के निश्चित लक्षण प्रकट हो सकते हैं। वास्तव में इसका सफल निर्माण तभी हो सकता है यदि अंतर्राष्ट्रीय सत्ता केवल झगड़े सुलझाने के लिये पंच ही न बने, वरन् कानून का स्रोत तथा उसे कार्य-रूप में परिणत करने के लिये अंतिम शक्ति भी बन जाये। प्रतिरोधी देशों और वर्गों के विरुद्ध अपने आदेशों को कार्यान्वित करने के लिये, राजनीतिक ही नहीं, बल्कि व्यापारिक, औद्योगिक और अन्य सभी प्रकार के झगड़ों को रोकने के लिये अथवा कम-से-कम कानून और पंच-निर्णय के शांतिपूर्ण साधन को छोड़कर किन्हीं अन्य साधनों से उनका फैसला रोकने के लिये तथा उग्र परिवर्तन और क्रांति के किसी भी प्रयत्न को दबाने के लिये विश्व-राज्य को, चाहे वह अत्यधिक शक्तिशाली ही क्यों न हो, समस्त शक्ति अपने हाथों में केंद्रित करने की आवश्यकता पड़ सकती है। जबतक मनुष्य जैसा वह है वैसा ही रहता है, तबतक शक्ति को ही, समस्त आदर्शवादों और शांति की उदार आशाओं के होते हुए भी, उसके जीवन का अंतिम निर्णायक तथा परिचालक रहना चाहिये और तबतक इसके अधिपति को ही वास्तविक शासक भी रहना चाहिये। साधारण समय में शक्ति अपनी स्थूल उपस्थिति छिपा सकती है और केवल हल्के, सभ्य रूप धारण कर सकती है, हल्के ये केवल तुलनात्मक दृष्टि से होंगे, क्योंकि कारागृह और अधिक क्या अबतक भी सामाजिक व्यवस्था के दो विशाल स्तंभ नहीं हैं ? किंतु यह मौन भाव में हमारी सभ्यता के प्रत्यक्षतः ठीक आकारों को बनाये रखती है और सामाजिक जगत् के अधिक न्यायकारी, पर अब भी अधिक दुर्बल देवताओं के कार्यों में जब बुलाओ हस्तक्षेप करने के लिये तैयार रहती है। विकेंद्रित शक्ति प्रकृति के स्वतंत्र कार्यों को पूरा करती है तथा जीवन की ही नहीं, वरन् वैर-विरोध और संघर्ष की भी सेविका होती है और केंद्रित होने पर यह संगठन का सुनिश्चित आधार तथा व्यवस्था की दृढ़ ग्रंथि बन जाती है।

युद्ध और आर्थिक एकता की आवश्यकता

सैनिक अनिवार्यता अर्थात् राष्ट्रों के बीच में युद्ध का आतंक और किसी अंतर्राष्ट्रीय संस्था, विश्व-राज्य, संघ अथवा शांति-संगठन के शक्ति और सत्ता को अपने हाथों में लेकर इस आतंक को दूर करने की आवश्यकता ही वे कारण हैं जो अंत में मनुष्यजाति को सीधे एक प्रकार के अंतर्राष्ट्रीय ऐक्य की ओर ले जायेंगे। किंतु इसके पीछे एक और आवश्यकता भी है जो आधुनिक मन पर अत्यधिक प्रबल रूप में कार्य करती है। यह व्यापारिक और औद्योगिक आवश्यकता है, इसकी उत्पत्ति आर्थिक अन्योन्याश्रितता से हुई है। व्यवसायवाद समाज-विज्ञान का आधुनिक तथ्य है; यह भी कहा जा सकता है कि यह आधुनिक समाज का संपूर्ण तथ्य है। एक संगठित जनसमाज के लिये जीवन का आर्थिक पक्ष सदा ही महत्वपूर्ण यहांतक कि अनिवार्य होता है; किंतु प्राचीन काल में आर्थिक आवश्यकता केवल प्राथमिक आवश्यकता ही थी, यह मनुष्यों के विचारों को न तो व्यस्त रखती थी और न ही सामाजिक जीवन को पूरी शक्ति प्रदान करती थी; यह सबसे प्रमुख भी नहीं थी और न ही स्पष्ट रूप से सामाजिक सिद्धांतों के मूल तत्त्व के रूप में स्वीकार ही की जाती थी। जबसे प्राचीन मनुष्य ने मुख्यतः धार्मिक प्राणी रहना छोड़ दिया, तभी से, अरस्तू के विचार के अनुसार, वह समूह में मुख्यतः एक राजनीतिक प्राणी ही रहा। और, जहां कहीं उसे पर्याप्त सुविधा प्राप्त हो सकी, उसने इस कार्य के साथ विचार, कला और संस्कृति के कार्य भी जोड़ दिये। समुदाय की आर्थिक प्रवृत्तियां मन के प्रमुख विचार की अपेक्षा कहीं अधिक यांत्रिक आवश्यकता तथा प्राण की बलवती इच्छा के रूप में कार्यान्वित की गयी थीं। अत्यंत ऊपरी पहलू को छोड़कर समाज तब आर्थिक संगठन नहीं माना जाता था और न उसे इस रूप में समझने का प्रयत्न ही किया जाता था। आर्थिक मनुष्य को समाज में एक माननीय, पर अपेक्षाकृत निम्न कोटि का पद प्राप्त था; वह तीसरे वर्ण का अर्थात् वैश्य का था। नेतृत्व बौद्धिक और राजनीतिक वर्गों अर्थात् ब्राह्मण, विचारक, पंडित, दार्शनिक और पुरोहित तथा क्षत्रिय, शासक एवं योद्धा के हाथ में था। इन्हीं के विचार और कार्य समाज को बल देते थे, उसकी सचेतन प्रवृत्ति और कार्य का निर्धारण करते थे तथा उसके उद्देश्यों को अत्यधिक बलशाली रूप प्रदान करते थे। व्यापारिक हितों का राज्यों के संबंधों में तथा युद्ध एवं शांति के उद्देश्यों में प्रवेश तो था, पर यह था मैत्री और शत्रुता के निम्न और गौण निर्धारक कारणों के रूप में ही; बहुत ही कम और वह भी अचानक ही ये हित शांति, मैत्री और युद्ध के प्रत्यक्ष और चेतन कारणों में गिने जाते थे। राजनीतिक चेतना और राजनीतिक उद्देश्य ही प्रधान थे; धन-संपत्ति की वृद्धि मुख्यतः राजनीतिक शक्ति और

महानता तथा राज्य के प्रयोज्य विभवों की समृद्धि का साधन मात्र मानी जाती थी, यह अपने-आपमें लक्ष्य अथवा पहली आवश्यकता नहीं थी।

अब सब कुछ बदल गया है। आधुनिक सामाजिक विकास का तथ्य अब यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, चर्च, सैनिक कुलीनतंत्र और विद्वानों और सुसंस्कृत लोगों के कुलीनतंत्र का हास हो गया है और व्यापारिक और औद्योगिक वर्गों अर्थात् वैश्य और शूद्र, पूंजीपति और श्रमजीवी की शक्ति और प्रधानता बढ़ रही है। इन सबने मिलकर अपने प्रतिद्वंद्वियों को या तो ग्रस लिया है या फिर उनका बहिष्कार कर दिया है और अब ये एकाधिपत्य प्राप्त करने के लिये अपने भाइयों का नाश करने में लगे हुए हैं; विधि का यह स्पष्ट विधान प्रतीत होता है कि समाज को नीचे की ओर ले जानेवाली शक्ति अपनी पूर्णता प्राप्त कर लेगी, श्रमिक वर्ग की अंत में जीत होगी और सभी सामाजिक संस्थाएं और विचार नये सिरे से गढ़े जायेंगे जिनमें 'श्रमिक' नाम को सबसे प्रधान और सबसे अधिक माननीय पद प्राप्त होगा और यह अपने अनुरूप ही अन्य सबको महत्त्व प्रदान करेगा। पर अभीतक तो वैश्य वर्ग की ही प्रधानता है और संसार पर इसका प्रभाव व्यापारवाद और आर्थिक मानव की प्रधानता में तथा व्यापारिक महत्त्व की व्यापकता अथवा मनुष्य-जीवन में सभी वस्तुओं को उपयोगितावादी और स्थूल रूप में कुशल और उत्पादक दृष्टि से मूल्य प्रदान करने में दृष्टिगोचर होता है। यहांतक कि ज्ञान, विचार, विज्ञान, कला, कविता और धर्मविषयक दृष्टि में भी जीवन की आर्थिक भावना अन्य सब भावनाओं को आक्रांत कर लेती है।'

जीवन के आधुनिक आर्थिक दृष्टिकोण के लिये संस्कृति और उसके परिणाम मुख्यतः आलंकारिक महत्त्व ही रखते हैं। ये आमोद-प्रमोद के मूल्यवान् और वांछनीय साधन तो हैं, पर अनिवार्य आवश्यकताएं कदापि नहीं हैं। इस दृष्टि से धर्म मानव-मन की एक गौण उपज है; वह यदि व्यर्थ की और बाधक वस्तु न भी हो, फिर भी उसकी उपयोगिता कुछ अधिक नहीं है। शिक्षा का महत्त्व सब स्वीकार करते हैं, किंतु इसके उद्देश्य और रूप अब उतने सांस्कृतिक नहीं रहे हैं जितने वे वैज्ञानिक, उपयोगितावादी और आर्थिक बन गये हैं, शिक्षा का महत्त्व अब इसमें है कि यह कुशल व्यष्टि को आर्थिक संगठन के ढांचे में स्थान लेने को तैयार करे। विज्ञान का भी अत्यधिक महत्त्व है, पर इसलिये नहीं कि वह ज्ञान की वृद्धि के लिये प्रकृति के रहस्यों को खोज निकालता है, बल्कि इसलिये कि वह उनका यंत्र-निर्माण के लिये उपयोग करता है और समाज के आर्थिक साधनों को विकसित तथा व्यवस्थित करता है। समाज की

यह बात ध्यान देने योग्य है कि व्यापारवाद की प्रधानता के मध्यवर्तीय स्वभाव को नये समाजवादी जनसमाजों ने अपना लिया है तथा उसे और भी अधिक परिमाण में सुरक्षित रखा है, यद्यपि इसके लिये उन्होंने मध्यवर्गीय अर्थनीति के स्थान पर श्रम को और साथ ही लाभों को नये ढंग से वितरण करने के या फिर विशेष रूप से उन सबको राज्य के हाथों में केन्द्रित करने के प्रयत्न को अपना आधार बनाया है।

विचारशक्ति, जो उसकी प्रायः आत्मशक्ति है—यदि समाज में अभीतक आत्मा जैसी कोई साररहित और अनुत्पादक वस्तु बाकी है तो—उसके धर्म या उसके साहित्य में निहित नहीं है। धर्म जैसे-तैसे अपना निर्बल अस्तित्व चलाये जाता है जब कि साहित्य बढ़ और फैल रहा है, परंतु साहित्य के रूप में संस्कृति के प्रत्यक्ष साधन की तरह नहीं, बल्कि दैनिक समाचारपत्रों में व्यापारवाद के एक ऐसे साधन के रूप में, जो राजनीतिक और व्यापारिक भावना से निर्धारित है। राजनीति और शासन स्वयं भी उत्तरोत्तर औद्योगिक समाज की उन्नति के साधन बनते जा रहे हैं तथा इनकी शक्ति मध्यवर्तीय पूंजीवाद की सेवा और आर्थिक समाजवाद के उदय के लिये एक अर्ध-अनैच्छिक प्रणाली के कार्य में विभाजित हो रही है। स्वतंत्र विचार और संस्कृति व्यापारवाद के इस विशाल वृद्धिशील संघात के ऊपरी तल पर रहते हैं और उसे प्रभावित तथा संशोधित करते हैं, किंतु वे स्वयं मानव-जीवन के आर्थिक, व्यापारिक और औद्योगिक दृष्टिकोण से अधिकाधिक ओतप्रोत और प्रभावित हो जाते हैं, उन पर उसी का रंग चढ़ जाता है तथा उसी के द्वारा वे अभिभूत भी हो जाते हैं।

इस महान् परिवर्तन ने अतीत में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के स्वरूप पर बहुत गभीर प्रभाव डाला है और भविष्य में यह संभवतया उन्हें और भी अधिक प्रत्यक्ष और प्रबल रूप में प्रभावित करेगा। कारण, निकट भविष्य में यह कोई नयी दिशा ग्रहण करेगा इसकी कोई प्रत्यक्ष संभावना नहीं है। कुछ भविष्यवाणियां ऐसा अवश्य घोषित करती हैं कि व्यापारवाद के युग का शीघ्र ही अंत हो जायेगा, किंतु यह देखना आसान नहीं है कि यह कैसे होगा; निश्चय ही यह कार्य भूतकाल की मुख्यतः राजनीतिक भावना या पुराने कुलीनतंत्रीय सामाजिक तरीके के स्वभाव और रूपों को दुबारा अपनाने से संपन्न नहीं होगा। अतीत के उस स्वर्णयुग के लिये, जो उतना स्वर्णिम नहीं था जितना कि वह दूर से कल्पनाशील दृष्टि को प्रतीत होता है, अत्यधिक अनुदार मन का आतुर निःश्वास व्यर्थ का निःश्वास है जो काल-पुरुष के वाहन की प्रचंड गति में उसके वेग के द्वारा हवा में उड़ जाता है। व्यापारवाद का अंत या तो स्वयं व्यापारवाद की आशातीत उन्नति के द्वारा या फिर जाति में आध्यात्मिकता की पुनर्जागृति द्वारा हो सकता है। जीवन के राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों को आध्यात्मिक उद्देश्य के अधीन कर देने से यह अपनी ठीक स्थिति को प्राप्त करके भी समाप्त हो सकता है।

कुछ चिह्न इस दिशा की ओर इंगित कर रहे प्रतीत होते हैं। धार्मिक भावना पुनः जीवित हो रही है, यहांतक कि पुराने निरुत्साहित धार्मिक मत और रूप भी एक प्रकार का नया बल प्राप्त कर रहे हैं। मनुष्यजाति के ऐहलौकिक विचार में एक ऐसे आदर्शवाद के लक्षण विद्यमान हैं जो अपने उद्देश्यों में आध्यात्मिक भावना का प्रवेश अधिकाधिक स्वीकार कर रहा है। पर यह सब अभीतक बहुत कम मात्रा में तथा ऊपरी है; विचार और व्यवहार का स्वरूप, प्रभावशाली उद्देश्य और प्रेरक प्रवृत्ति अभीतक सब वैसे ही हैं, उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यह प्रवृत्ति अभीतक

मनुष्यजाति के औद्योगीकरण और एक आर्थिक और फलप्रद संगठन के रूप में समाज के जीवन की पूर्णता की ओर बढ़ रही है। और न ही इस भावना के थककर नष्ट होने की कोई आशा है, क्योंकि अभी तक इसने अपने-आपको चरितार्थ नहीं किया है; इसकी शक्ति अब बढ़ ही रही है, कम नहीं हो रही। इसके अतिरिक्त इसे आधुनिक 'समाजवाद' से भी सहायता मिल रही है जो भविष्य का स्वामी बननेवाला है। कारण, समाजवाद कार्ल मार्क्स के इस सिद्धांत पर चलता है कि उसके अपने शासनकाल से पहले मध्यवर्तीय पूंजीवाद का एक ऐसा काल आयेगा जिसका वह उत्तराधिकारी होगा; वह उसके कार्य तथा संगठन को इस प्रकार अपना लेगा कि वह उसे अपने उपयोग में ला सके तथा उसे अपने सिद्धांतों और प्रणालियों के द्वारा परिवर्तित कर सके। इसका असली उद्देश्य ही है पूंजीपति के स्थान पर श्रमिक को स्वामी बना देना; किंतु इसका अर्थ केवल यह होगा कि सब कार्यों का मूल्य संपत्ति के अनुदान और उत्पादन से नहीं, वरन् कितने श्रमिकों ने काम किया है और कितना कार्य संपन्न हुआ है उसके अनुसार निर्धारित होगा। परिवर्तन अर्थवाद के एक पहलू से दूसरे पहलू में होगा, पर यह अर्थवाद से मनुष्य-जीवन के किसी अन्य और उच्चतर उद्देश्य के प्रभुत्व में नहीं होगा। परिवर्तन स्वयं भी संभवतः एक ऐसा प्रमुख तत्व होगा जिसके साथ अंतर्राष्ट्रीय एकीकरण को निबटना होगा, यह या तो उसके लिये सबसे बड़ा सहायक हो सकता है या सबसे बड़ा बाधक।

भूतकाल में व्यापारवाद का परिणाम मनुष्यजाति को उसके प्रत्यक्ष राजनीतिक पृथक्त्व के पीछे एक वास्तविक आर्थिक एकता में बांधता रहा है। किंतु यह एकता अविभाजनीय पारस्परिक संबंधों तथा घनिष्ठ पारस्परिक निर्भरता की अवचेतन एकता थी, यह आत्मा अथवा एक सचेतन संगठित जीवन की एकता नहीं थी। इसलिये इन पारस्परिक संबंधों ने एक साथ ही शांति की आवश्यकता और युद्ध की अनिवार्यता पैदा कर दी। शांति उनके सामान्य कार्य के लिये आवश्यक थी और युद्ध उनके अस्तित्व की संपूर्ण प्रणाली को बुरी तरह अस्तव्यस्त कर देता था। पर, क्योंकि संगठित इकाइयां राजनीतिक रूप से पृथक् और विरोधी राष्ट्र थीं, इनके पारस्परिक व्यापारिक संबंध प्रतिद्वंद्विता और संघर्ष के संबंध बन गये थे अथवा उन्होंने पारस्परिक लेन-देन, अन्योन्याश्रितता और शत्रुतापूर्ण पृथक्त्व की एक अस्तव्यस्त उलझन का रूप धारण कर लिया था। आयात-निर्यात-कर की दीवार के द्वारा एक-दूसरे से अपनी रक्षा, बंद बाजारों और शोषण के क्षेत्रों के लिये दौड़-धूप, उन बाजारों और क्षेत्रों में

समाजवाद और जनतंत्रीय या समानतावादी सिद्धांत अथवा श्रमिक के विद्रोह का संबंध तो उसके इतिहास की सांयोगिक घटना है, उसका तत्व नहीं। इटली के फासिस्टवाद में एक ऐसा समाजवाद उत्पन्न हो गया था जो अपने रूप, सिद्धांत और स्वभाव में जनतंत्रीय तथा असमानतावादी था। फासिस्टवाद अब चला गया है, किंतु समाजवाद और श्रमिक-प्रभुत्व में अब भी कोई अनिवार्य संबंध नहीं स्थापित हुआ है।

स्थान या प्रभुत्व प्राप्त करने के लिये संघर्ष जिन पर एकाधिकार नहीं किया जा सकता था और आयात-निर्यात-कर की दीवारों के होते हुए भी पारस्परिक अंतःप्रवेश के लिये प्रयत्न इस शत्रुता और इस पृथक्त्व के मुख्य अंग थे। इन अवस्थाओं में युद्ध का छिड़ना केवल समय की बात होती थी; ज्यों ही एक राष्ट्र अथवा राष्ट्रों का एक समूह शांतिपूर्ण साधनों के द्वारा या तो आगे बढ़ने में असमर्थ अनुभव करता या फिर उसे इस बात का डर रहता कि उसके विरोधी-गुट के बढ़ने से उसके विस्तार की सीमा निश्चित रूप से बढ़ हो जायेगी, युद्ध का आना अवश्यंभावी हो जाता था। फ्रेंच-जर्मन युद्ध वह अंतिम युद्ध था जो राजनीतिक उद्देश्यों से किया गया था। तबसे राजनीतिक उद्देश्य मुख्यतः व्यापारिक उद्देश्य की सिद्धि का बहाना मात्र रहा है। सर्बिया की राजनीतिक अधीनता नहीं; जो आस्ट्रियन साम्राज्य के लिये एक नया सिर-दर्द हो सकती थी, किंतु सालोनिका (Salonica) में से होकर जानेवाले निकास-मार्ग का व्यापारिक आधिपत्य आस्ट्रियन नीति का उद्देश्य था। सर्व-जर्मनवाद ने जर्मन उद्योग की उन तीव्र इच्छाओं को दबा दिया था जो बड़े-बड़े साधनों तथा उत्तर-सागर के विशाल निकास-मार्ग के आधिपत्य के लिये की गयी थीं; ये साधन उसे राइन नदी के प्रदेशों द्वारा प्राप्त हो रहे थे। फ्रेंच राज्य पर शासन करना नहीं, वरन् अफ्रीकी शोषण-क्षेत्रों और शायद फ्रांस के कोयले के क्षेत्रों पर अधिकार जमाना ही इसका वास्तविक उद्देश्य था। अफ्रीका, चीन, पर्शिया तथा मैसोपोटेमिया में व्यापारिक उद्देश्य ही राजनीतिक और सैनिक कार्यों का निर्धारण करते थे। युद्ध अब महत्वाकांक्षा और भूमि-तृष्णा की वैध संतान नहीं रहा है, वरन् धन-तृष्णा अथवा व्यापारवाद की वर्णसंकर संतान बन गया है और राजनीतिक महत्वाकांक्षा उसका तथाकथित पिता है।

दूसरी ओर, युद्ध का प्रभाव और उसका आघात मनुष्य-जीवन के औद्योगिक संगठन और राष्ट्रों की व्यापारिक अन्योन्याश्रितता के कारण असह्य बन चुका है। यह कहना तो बहुत अधिक होगा कि इसने उस संगठन को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है, पर इसने उसे उलट-पलट अवश्य दिया है, उसकी संपूर्ण प्रणाली को अस्तव्यस्त कर दिया है तथा उसकी वृत्ति अस्वाभाविक उद्देश्यों की ओर मोड़ दी है। साथ ही इसने योद्धा वर्ग में एक ऐसा व्यापक कष्ट और अभाव पैदा कर दिया है तथा निष्पक्ष देशों के जीवन में यह एक ऐसी असुविधा एवं अस्तव्यस्तता ले आया है जिसका संसार के इतिहास में और कोई भी दृष्टान्त नहीं मिलता। यह क्रुद्ध आवाज कि ऐसा दुबारा नहीं होना चाहिये तथा संसार की आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था अर्थात् तथाकथित सभ्यता को संकट में डालनेवालों तथा उसे उद्धेलित करनेवालों को उचित दंड मिलना चाहिये तथा कुछ समय के लिये उन पर प्रतिबंध लगाकर उन्हें अंतर्राष्ट्रीय रूप से बहिष्कृत कर देना चाहिये इस बात का उदाहरण थी कि इस शिक्षा ने कितना गहरा प्रभाव डाला है। किंतु इसने यह भी दिखा दिया है, जैसा कि युद्धोत्तर मनोवृत्ति ने दिखाया है, कि इस सबका वास्तविक और आंतरिक सत्य अभी समझा नहीं गया है और न ही

इसका मूल ही अभी पकड़ में आया है। निश्चय ही, इस दृष्टिकोण से भी, युद्ध की रोक-थाम अंतर्राष्ट्रीय जीवन की नयी व्यवस्था का पहला कार्य होनी चाहिये। पर युद्ध को पूर्णतया रोका भी कैसे जा सकता है यदि राजनीतिक रूप में पृथक् राष्ट्रों की व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता की पुरानी अवस्था को जीवित रखा जाये ? यदि शांति को अब भी एक गुप्त युद्ध, संघर्ष और प्रतिद्वंद्विता का संगठन रहना है तो उसके भौतिक आघात को कैसे रोका जा सकता है ? यह कहा जा सकता है कि अवश्यंभावी संघर्ष और प्रतिद्वंद्विता को किसी कानून-व्यवस्था द्वारा नियम में बांधने से ऐसा किया जा सकता है जैसा कि समाजवाद के उदय से पहले राष्ट्र के प्रतियोगितावादी व्यापारिक जीवन में किया गया था। किंतु यह संभव इसलिये था कि प्रतियोगी व्यक्ति अथवा संघ एक अकेले सामाजिक संगठन के अंग थे तथा एक ही शासक सत्ता के अधीन थे, वे इसके विरुद्ध अपना अस्तित्व बनाये रखने की वैयक्तिक इच्छा को आग्रहपूर्वक प्रदर्शित नहीं कर सकते थे। अतएव, राष्ट्रों के बीच के ऐसे नियमन का केवल एक ही तर्कसंगत अथवा क्रियात्मक परिणाम निकल सकता है—एक केंद्रित विश्व-राज्य का निर्माण।

हम यह मान लेते हैं कि युद्ध के भौतिक आघात को कानून से नहीं, वरन् युद्ध को जन्म देनेवाली चरम अवस्थाओं में पंचनिर्णय के सिद्धांत को बलपूर्वक लागू करने से, किसी अंतर्राष्ट्रीय सत्ता के निर्माण से नहीं, वरन् अंतर्राष्ट्रीय दबाव के आसन्न भय से, रोका जा सकता है। पर गुप्त युद्ध की अवस्था फिर भी बनी रहेगी, वह नये और भयंकर रूप भी धारण कर सकता है। दूसरे शस्त्रों से वंचित होकर राष्ट्र व्यापारिक दबाव के शस्त्र का निश्चय ही अधिकाधिक सहारा लेंगे, जैसा कि पूंजीपति और श्रमिक ने राष्ट्रीय जीवन की सीमाओं के भीतर 'शांतिपूर्ण' संघर्ष की अपनी पुरानी अवस्था में किया था। साधन भिन्न होंगे, किंतु वे हड़ताल और तालाबंदी के उसी सिद्धांत का अनुसरण करेंगे; इनका अर्थ एक ओर तो यह होता है कि दुर्बल दल सामूहिक और निष्क्रिय रूप में अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिये प्रतिरोध करता है और दूसरी ओर यह कि सबल दल अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये निष्क्रिय दबाव डालता है। राष्ट्रों के बीच हड़ताल से मिलता-जुलता शस्त्र व्यापारिक बहिष्कार होगा; यह एशिया और यूरोप दोनों में अव्यवस्थित ढंग से अनेक बार प्रयोग में लाया भी जा चुका है और यदि यह राजनीतिक और व्यापारिक दृष्टि से किसी दुर्बल राष्ट्र द्वारा भी आयोजित किया गया फिर भी यह निश्चित रूप से अत्यधिक प्रभावशाली और सफल होगा। क्योंकि सबल राष्ट्र को दुर्बल राष्ट्र की आवश्यकता होती ही है, किसी और रूप में यदि न भी हो तो बाजार के रूप में या व्यापारिक और औद्योगिक शोषण-क्षेत्र के रूप में तो होती ही है। उधर तालाबंदी के मुकाबले के अस्त्र होंगे पूंजी और यंत्र देने से इंकार, अपराधी और शोषित देश में सभी या किन्हीं आवश्यक आयातों का निषेध, यहांतक कि समुद्री नाकेबंदी भी एक अस्त्र हो सकती है जिसका

फल, यदि वह अधिक समय तक रखी गयी तो उद्योग का नाश अथवा राष्ट्रव्यापी भुखमरी भी हो सकता है। नाकेबंदी एक ऐसा अस्त्र है जो प्रारंभ में केवल युद्ध की अवस्था में ही प्रयुक्त किया गया था, किंतु ग्रीस के विरुद्ध यह युद्ध के स्थानापन्न के रूप में भी बरता गया था और इस प्रकार का प्रयोग भविष्य में भी सरलता से किया जा सकता है। साथ ही निषेधात्मक आयात-निर्यात-कर भी हमेशा ही एक अस्त्र होता है।

यह स्पष्ट है कि इन शस्त्रों का प्रयोग व्यापारिक प्रयोजनों अथवा उद्देश्यों से नहीं करना चाहिये, इनका आश्रय किसी राष्ट्रीय हित की रक्षा अथवा उस पर आक्रमण के लिये या राष्ट्र-राष्ट्र के बीच में न्याय या अन्याय के अधिकार की स्थापना के लिये ही लेना चाहिये। यह देखा जा चुका है कि व्यापारिक दबाव जब युद्ध के सहायक के रूप में प्रयुक्त होता है तो वह कितना प्रचंड अस्त्र हो उठता है। यदि जर्मनी अंत में कुचल दिया गया था तो उसको जीतने के वास्तविक कारण थे नाकेबंदी, धन, साधन-सामग्री और रसद का रोक दिया जाना तथा उसके उद्योग एवं व्यापार का नाश। सैनिक ह्रास का प्रत्यक्ष कारण सैनिक दुर्बलता नहीं था, इसके मुख्य कारण थे साधनों की कमी और उनका अभाव, शक्ति का क्षय, आंशिक भुखमरी और ऐसी असह्य अवस्था की नैतिक हीनता जिसके सुधार और उपाय की कोई आशा नहीं रही थी। भविष्य में 'शांति' के समय भी इस अनुभव का काफी लाभ उठाया जा सकता है। कुछ स्थानों पर एक समय तो यह प्रस्ताव भी रखा गया था कि राजनीतिक युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी व्यापारिक युद्ध जारी रखा जाये, जिससे जर्मनी का नाम विशाल साम्राज्यीय राष्ट्रों की सूची में से कट ही न जाये, वरन् व्यापारिक और औद्योगिक प्रतिद्वंद्वी के रूप में उसपर स्थायी प्रबंध लगा दिये जायें, उसे असमर्थ बनाकर उसका नाश तक कर दिया जाये। पूंजी और व्यापारिक संबंधों के निषेध की नीति का तथा यातायात को रोकने अथवा शत्रुतापूर्ण नाकेबंदी का खुले रूप में समर्थन किया गया है, कुछ समय के लिये तो बोलशेविस्ट रूस के विरोध में इसका काफी प्रयोग भी हुआ था। यह सुझाव भी दिया गया है कि 'शांतिसंघ' व्यापारिक दबाव के इस अस्त्र का किसी भी विरोधी राष्ट्र के विरुद्ध सैनिक शक्ति के स्थान पर प्रयोग कर सकता है।

किंतु जबतक कोई सबल अंतर्राष्ट्रीय सत्ता स्थापित नहीं हो जाती, तबतक यह संभव नहीं दीखता कि इस अस्त्र का प्रयोग केवल ऐसे अवसरों तक ही सीमित रहेगा और यह केवल न्याययुक्त और उचित उद्देश्यों के लिये ही प्रयुक्त किया जायेगा। इसका प्रयोग एक ऐसे सबल राष्ट्र के द्वारा जो जनमत की उदासीनता से सुरक्षित रह सकता है किसी निर्बल राष्ट्र को कुचलने और दबाने के लिये भी किया जा सकता है। यह कुछ सबल साम्राज्यीय शक्तियों के गुट द्वारा संसार पर अपनी स्वार्थपूर्ण और अशुभ इच्छा लादने के लिये भी प्रयुक्त हो सकता है। किसी प्रकार की शक्ति और

‘बाद में जो राष्ट्रसंघ (League of Nations) के रूप में चरितार्थ हुआ था।

दबाव, यदि ये एक न्यायी और निष्पक्ष सत्ता के हाथों में केंद्रित न हों, तो सदा ही हानिकारक हो सकते हैं, साथ ही इनका दुरुपयोग भी हो सकता है। अतएव, मनुष्यजाति की वृद्धिशील एकता में इस प्रकार की सत्ता में विकास को शीघ्र ही एक अनिवार्य आवश्यकता बन जाना चाहिये। अपने प्रारंभिक और अपूर्ण संगठन में भी विश्व-राज्य को अपने कार्य का आरंभ सैनिक शक्ति को अपने हाथों में केंद्रित करने से ही नहीं करना चाहिये, किंतु प्रारंभ में ही सचेतन रूप में जाति के व्यापारिक, औद्योगिक और आर्थिक जीवन की उस व्यवस्था से आरंभ करना चाहिये जिस तक राष्ट्रीय राज्य मंद और सहज विकास के द्वारा ही पहुंच पाया था; निःसंदेह उसे शुरू में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार^१ के मुख्य संबंधों पर नियंत्रण करना चाहिये पर अंत में उसका अनिवार्य रूप से उसकी संपूर्ण प्रणाली तथा सिद्धांतों पर भी अधिकार हो जाना चाहिये। क्योंकि अब उद्योग और व्यापार सामाजिक जीवन के पांच बड़ा छः भाग हैं और आर्थिक सिद्धांत समाज का संचालक सिद्धांत है। एक ऐसा विश्व-राज्य जो मनुष्य जीवन को उसके मुख्य सिद्धांत तथा उसके बृहत्तम कार्य में नियंत्रित नहीं करता केवल नाम के लिये ही अस्तित्व रखेगा।

^१ इस प्रकार की प्रवृत्ति के प्रथम चिह्न राष्ट्रसंघ (League of Nations) के कार्यों में दृष्टिगोचर होने की कोशिश कर रहे थे जो बहुत हद तक अब मृत्यु के निकट पहुंच चुका है। ये प्रवृत्तियां अब भी केवल सिद्धांतमात्र तथा परामर्शरूप ही थीं, जैसा कि निरस्त्रीकरणसंबंधी निरर्थक वादविवादों से तथा पूंजी और श्रम के कुछ संबंधों की व्यवस्था करने के इसके कुछ निष्फल प्रयत्नों से प्रकट था। किंतु इससे यह प्रकट हो गया कि इस बात की आवश्यकता अनुभव हो गयी थी तथा ये प्रयत्न भविष्य का मार्ग दिखानेवाले स्तम्भ थे।

प्रशासनीय एकता की आवश्यकता

अंतर्राष्ट्रीय संगठन की ओर उठाये जानेवाले पहले कदम के संबंध में जो विचार आजकल प्रचलित हैं, प्रायः उन सबमें यह स्वीकार किया जाता है कि राष्ट्र अपने पृथक् अस्तित्व और अपनी स्वतंत्रता का उपभोग पहले की भांति ही करते रहेंगे और अंतर्राष्ट्रीय कार्य पर युद्ध के रोकने तथा संकटपूर्ण झगड़ों की व्यवस्था करने का ही दायित्व होगा तथा उसे उन महान् अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नों के सुलझाने का अधिकार होगा जिन्हें राष्ट्र साधारण उपायों से नहीं सुलझा सकते। विकास यहीं रुक जाये यह असंभव है। यह पहला कदम आवश्यक रूप से उन अगले कदमों की ओर ले जायेगा जो केवल एक ही दिशा में बढ़ सकते हैं। जो कोई भी सत्ता स्थापित हो, यदि उसे एक कोरा प्रशंसावाची संगठन नहीं बल्कि किसी भी अंश में सच्ची सत्ता बनना है तो उससे अधिकाधिक कार्य करने की मांग की जायेगी तथा उसे सदा अधिकाधिक अधिकार अपने हाथ में लेने पड़ेंगे। रुक सकने योग्य उपद्रव और संघर्ष को टालना, उन विपत्तियों और संकटों को भविष्य में दुबारा प्रकट होने से रोकना जिन्हें शुरू में नयी सत्ता अपने अधिकारों की सीमाओं के कारण समय पर हस्तक्षेप करके उनके उभरने से पहले ही रोक सकने में असमर्थ थी, सार्वजनिक उद्देश्यों के लिये कार्यों में सह-व्यवस्था स्थापित करना वे प्रमुख उद्देश्य होंगे जो मनुष्यजाति को शिथिलतर एकता से घनिष्ठतर एकता की ओर तथा महान् और असाधारण विषयों में ऐच्छिक अधीनता से अधिकतर विषयों में अनिवार्य अधीनता की ओर बढ़ने के लिये प्रेरित करेंगे। शक्तिशाली राष्ट्रों की अपने उद्देश्यों के लिये इसका प्रयोग करने की इच्छा, निर्बल राष्ट्रों की अपने हितों की रक्षार्थ इससे सहायता मांगने के लिये इसकी उपयोगिता, वास्तविक अथवा आसन्न आंतरिक उपद्रवों और क्रांतियों का आघात, ये सब अंतर्राष्ट्रीय सत्ता को अधिक बड़ी शक्ति प्रदान करने में सहायक होंगे तथा उसके सामान्य कार्य को व्यापक रूप देने के अवसर प्रदान करेंगे। विज्ञान, विचार और धर्म ऐसी तीन महान् शक्तियां हैं जो आधुनिक समय में राष्ट्रीय विभेदों को अधिकाधिक अतिक्रांत करने की प्रवृत्ति रखती हैं तथा जाति को जीवन और आत्मा की एकता की ओर मार्ग दिखाती हैं; इनके लिये राष्ट्रीय प्रतिरोध, शत्रुता और विभाजन अधिकाधिक असह्य हो जायेंगे, साथ ही ये परिवर्तन के लिये अपने शक्तिशाली प्रभाव द्वारा सहायता भी प्रदान करेंगे। 'पूँजी' और 'श्रम' के बीच का महान् संघर्ष शीघ्र ही विश्वव्यापक हो सकता है, वह एक ऐसे अंतर्राष्ट्रीय संगठन को जन्म दे सकता है जो अनिवार्य कदम को उठाने के लिये शीघ्र ही अवसर देगा, यहांतक कि वह परिवर्तन

को लानेवाले वास्तविक संकटकाल को भी उपस्थित कर सकता है।'

इस समय तो हमारा विचार यह है कि एक सुसंगठित विश्व-राज्य, जिसके प्रांत राष्ट्र होंगे, अंतिम परिणाम होगा। प्रारंभ में अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों तथा आर्थिक संधियों और संबंधों की व्यवस्था को हाथ में लेते हुए, अंतर्राष्ट्रीय सत्ता मध्यस्थ के रूप में तथा समय-समय पर कार्यकारी शक्ति के रूप में भी अपना काम आरंभ करेगी। व्यवस्थापक संस्था और स्थायी कार्यकारिणी शक्ति में तो वह धीरे-धीरे ही परिवर्तित होगी। यदि नयी क्रांतियों से बचना हो तो अंतर्राष्ट्रीय विषयों में उसका व्यवस्थापन नितांत आवश्यक होगा, क्योंकि यह मानना व्यर्थ है कि कोई भी अंतर्राष्ट्रीय प्रबंध, कोई भी विश्व-व्यवस्था, जो किसी महान् युद्ध की समाप्ति एवं किसी हलचल के बाद की जायेगी, स्थायी और निश्चित हो सकती है। अन्याय, विषमताएं, असामान्यताएं और कलह एवं असंतोष के कारण तो राष्ट्र राष्ट्र और महाद्वीप महाद्वीप के आपसी संबंधों में रहेंगे ही जो नये विरोधों और विस्फोटों को जन्म देंगे। जिस प्रकार ये सब वस्तुएं राष्ट्र-राज्य में व्यवस्थापक सत्ता के द्वारा, जो नये विचारों, हितों तथा नयी शक्तियों और आवश्यकताओं के अनुसार वर्तमान व्यवस्था को निरंतर संशोधित करती रहती है, रोकी जाती हैं, उसी प्रकार ये विकासोन्मुख विश्व-राज्य में भी रोकी जायेंगी। यह व्यवस्थापक शक्ति ज्यों-ज्यों विकसित और विस्तृत होती जायेगी तथा अपने कार्यों, शक्तियों और प्रक्रियाओं को नियमित कर लेगी, यह अधिक जटिल हो जायेगी और निश्चित रूप से कई बातों में हस्तक्षेप करने लगेगी तथा पृथक् राष्ट्रीय कार्यवाही को अतिक्रान्त कर देगी अथवा उसके स्थान पर अपनी कार्यवाही आरंभ कर देगी। इसका अर्थ यह होगा कि उसकी अपनी व्यापारिक शक्ति भी बढ़ जायेगी और साथ ही अंतर्राष्ट्रीय कार्यवाहक संगठन भी विकसित हो जायेगा। प्रारंभ में वह अपने-आपको उन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों और विषयों तक सीमित रख सकती है जो प्रत्यक्षतः उसके नियंत्रण की मांग करते हैं, किंतु वह उन सब अथवा अधिकतर विषयों में भी अधिकाधिक हस्तक्षेप करने लगेगी जिनके बारे में यह समझा जायेगा कि वे अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव और महत्त्व रखते हैं। शीघ्र ही यह उन क्षेत्रों को भी आक्रान्त और अधिकृत कर लेगी जिनमें राष्ट्र अब अपने अधिकारों और अपने प्रभुत्व के लिये स्पर्धा करते हैं। और अंत में तो यह राष्ट्रीय जीवन की संपूर्ण प्रणाली में ही व्याप्त हो जायेगी और एकीभूत जीवन, संस्कृति, विज्ञान, संगठन, शिक्षा, मानवजाति की कार्यक्षमता के श्रेष्ठतर समन्वय के लिये उसे अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण के अधीन कर देगी। यह वर्तमान स्वतंत्र और पृथक् राष्ट्रों को पहले तो अमरीकन संघ अथवा जर्मन साम्राज्य के राज्यों का रूप दे देगी और अंत में शायद यह उन्हें मनुष्यजाति के एक ही राष्ट्र के भौगोलिक प्रांत या विभाग बना देगी।

' ऐसा लग सकता है कि वर्ग-संघर्ष का उन्मूलन करके फासिज्म का व्यापक प्रसार इस विकास को रोक दे, लेकिन इसमें अभी तक संदेह है कि फासिस्ट देशों में भी यह उन्मूलन निश्चित समाधान न होकर मात्र एक विराम, एक अनिश्चय हो।

इस प्रकार की चरम और अंतिम प्राप्ति की वर्तमान बाधा है राष्ट्रीयतावाद का वह शक्तिशाली सिद्धांत जो अब भी प्रभावशाली है अर्थात् समुदायों की पृथक्ता की भावना, सामूहिक स्वाधीनता की सहजप्रेरणा, उसका अभिमान, उसकी स्व-तुष्टि, उसके अहंभावनायुक्त निजी संतोष के विभिन्न साधन तथा मानव-विचार को राष्ट्रीय विचार के अधीन कर देने का उसका हठ। किंतु हम यह मान रहे हैं कि अंतर्राष्ट्रीयता का नवोदित सिद्धांत द्रुत गति से विकसित होगा, राष्ट्रीयता के पिछले विचार और स्वभाव को अपने अधीन कर लेगा तथा शक्ति प्राप्त करके मानव-मन को अधिकृत कर लेगा। जिस प्रकार बृहत्तर राष्ट्र-समुदाय ने सभी छोटे वंश, जाति और प्रदेशसंबंधी समुदायों को अपने अधीन कर लिया है और उसकी प्रवृत्ति इन्हें अपने अंदर समाविष्ट कर लेने की रही है, जिस प्रकार बृहत्तर साम्राज्य-समुदाय अब छोटे राष्ट्र-समुदायों को अपने अधीन करना चाहता है और यदि उसे विकसित होने दिया जाये तो अंत में इन्हें अपने अंदर समाविष्ट भी कर सकता है, हम समझते हैं कि उसी प्रकार एकीकृत मनुष्यजाति का संपूर्ण मानवसमुदाय भी पृथक्भूत मानवजाति के सभी छोटे समुदायों को अपने अधीन कर लेगा तथा अंत में उन्हें अपने अंदर समाविष्ट भी कर लेगा। केवल अंतर्राष्ट्रीय विचार अर्थात् एक अखंड मानवजाति के विचार के विकास के द्वारा ही राष्ट्रीयतावाद समाप्त हो सकता है; पर ऐसा तभी हो सकता है, यदि विजय अथवा किसी अन्य प्रबल शक्ति के द्वारा बाह्य एकीकरण को प्राप्त करने की पुरानी स्वाभाविक युक्ति का प्रयोग अब और अधिक संभव न रहे। कारण, युद्ध की प्रणालियां अब अत्यधिक भयंकर हो गयी हैं; अब एक अकेले साम्राज्य के पास शेष जगत् को अधिकार में कर लेने के, चाहे वह ऐसा शीघ्रता से करे और चाहे रोमन तरीके से धीरे-धीरे, —साधन और बल नहीं रहे हैं। निःसंदेह, और आगे के एकीकरण के मार्ग में राष्ट्रीयतावाद, विकसित राष्ट्र-राज्य के पूर्ववर्ती पुराने, छोटे और कम सबल रूप में स्व-चेतन समुदायों की पृथक्ता की अपेक्षा अधिक प्रबल बाधा है। यह अब भी सामूहिक मानव-मन में एक अत्यधिक शक्तिशाली भावना है, अब भी यह राष्ट्र को एक अक्षय जीवन-बल प्रदान करता है और जहां से यह हटाया जा चुका प्रतीत होता है वहां भी यह दुबारा प्रकट हो सकता है। किंतु प्रवृत्तियों के वर्तमान संतुलन के आधार पर हम परिवर्तनों के महान् युग के शुरू में ही सुरक्षित रूप में तर्क नहीं कर सकते। अब भी विचार ही नहीं बल्कि शक्तियां भी काम कर रही हैं। ये वर्तमान की सुदृढ़ शक्तियां नहीं बल्कि भविष्य की शक्तियां हैं और ये और भी प्रबल हो रही हैं। ये राष्ट्रीयतावाद को इतने शीघ्र अपने अधीन करने में सफल हो सकती हैं जिसकी वर्तमान समय में हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

यदि विश्व-राज्य का सिद्धांत अपने युक्तियुक्त निष्कर्ष तथा चरम परिणामों तक ले जाया जाये, तो उसका फल एक ऐसी प्रक्रिया होगा जो सिद्धांत रूप में —कार्य करने के ढंग, रूप और विस्तार में आवश्यक भेद रखते हुए भी —उस प्रक्रिया से मिलती-

जुलती होगी जिसके द्वारा राष्ट्र-राज्य के निर्माण में केंद्रीय सरकार पहले राजतंत्र के और बाद में जनतंत्रीय संसद् और कार्यकारिणी सभा के रूप में राष्ट्रीय जीवन के संपूर्ण प्रशासन को संगठित कर लेगी। सेना और पुलिस के प्रशासनीय, न्यायिक, व्यवस्थापक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सभी प्रकार के नियंत्रण एक अंतर्राष्ट्रीय सत्ता में केंद्रीभूत हो जायेंगे। इस केंद्रीकरण का वास्तविक अर्थ होगा एक प्रबल एकात्मक विचार और एकरूपता का सिद्धांत जो अधिकतम क्रियात्मक सुविधा के लिये लागू किया जायेगा और इसका परिणाम संसारभर में मनुष्य के जीवन और उसकी क्रियाओं की एक बौद्धिक प्रणाली होगा जिसके मुख्य उद्देश्य होंगे, न्याय, सार्वभौम हित, श्रम का मितव्यय और वैज्ञानिक निपुणता। राष्ट्र-समूह के वैयक्तिक कार्यों के स्थान पर, जिसमें प्रत्येक अधिक-से-अधिक संघर्ष, अपव्यय और विरोध के साथ अपने लिये ही कार्य करता है, सहयोग के लिये प्रयत्न किया जायेगा जैसा कि हम आजकल एक सुसंगठित आधुनिक राज्य में देखते हैं; इसका पूर्ण विचार एक ऐसा सर्वांगपूर्ण राज्य-समाजवाद होगा, जो अभी तक कहीं भी चरितार्थ नहीं हुआ है पर शीघ्र ही अस्तित्व में आ रहा है।^१ यदि हम सामुदायिक कार्य के प्रत्येक विभाग की ओर जरा भी दृष्टिपात करें तो हम देखेंगे कि यह प्रगति अवश्यंभावी है।

हम देख ही चुके हैं कि समस्त सैनिक शक्ति को—विश्व-राज्य में इसका अर्थ होगा अंतर्राष्ट्रीय सशस्त्र पुलिस—एक ही सर्वसामान्य सत्ता के हाथ में केंद्रित हो जाना चाहिये, अन्यथा राज्य टिक नहीं सकता। आर्थिक विषयों में निर्णय की अंतिम शक्ति का एक प्रकार का केंद्रीकरण भी अपने समय पर अनिवार्य हो जायेगा। और अंत में यह प्रधानता एक पूर्ण नियंत्रण की अवस्था तक पहुंचे बिना नहीं रहेगी। कारण, संसार का आर्थिक जीवन अधिकाधिक एक और अविभाज्य बनता जा रहा है; किंतु अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की वर्तमान स्थिति उन विरोधी सिद्धांतों की अप्राकृतिक अवस्था है जो कुछ हदतक संघर्षपूर्ण हैं और कुछ हदतक एक-दूसरे के साथ यथासंभव उत्तम रूप में अनुकूल बने हुए हैं, किंतु यह उत्तम रूप सामान्य हित के लिये बुरा और हानिकारक है। एक ओर तो एक ऐसी आधारभूत एकता है जो प्रत्येक राष्ट्र को व्यापारिक दृष्टि से बाकी सभी राष्ट्रों के अधीन कर देती है। दूसरी ओर, राष्ट्रीय ईर्ष्या, अहंकार और पृथक् अस्तित्व की भावना है जो प्रत्येक राष्ट्र को अपनी औद्योगिक स्वतंत्रता का समर्थन करने और साथ ही विदेशी बाजारों पर अपनी बहिर्गामी व्यापारिक प्रवृत्तियों द्वारा अधिकार प्राप्त करने के यत्न के लिये प्रेरित करती है। इन दो सिद्धांतों का पारस्परिक कार्य आजकल कुछ हदतक प्राकृतिक शक्तियों की अनुमोदित क्रिया द्वारा, कुछ हदतक गुप्त व्यवहार और समझ द्वारा और कुछ हदतक

^१ जब यह लिखा गया था, उसके बाद से तीन बड़े राष्ट्रों में तो इसने अधिक शीघ्रता और सर्वांगपूर्णता के साथ प्रकट होना आरंभ कर दिया है; छोटे-छोटे देशों में भी इसका कुछ रुक-रुक कर और कम स्पष्ट रूप से सचेतन अनुकरण दृष्टिगोचर हो रहा है।

आयात-निर्यात-कर द्वारा, संरक्षण, उदारता और किसी-न-किसी प्रकार की सरकारी सहायता की प्रणालियों द्वारा और साथ ही व्यापारिक संधियों और समझौतों के द्वारा व्यवस्थित होता है। जैसे ही विश्व-राज्य विकसित हुआ नहीं कि यह अनिवार्य रूप से एक असंगत, व्यर्थ और अपव्ययपूर्ण कार्य अनुभव होने लगेगा। एक निपुण अंतर्राष्ट्रीय सत्ता को राष्ट्र के आपसी स्वतंत्र समझौतों में हस्तक्षेप करने तथा उन्हें संशोधित करने के लिये अधिकाधिक विवश होना पड़ेगा। समस्त मानवजाति के व्यापारिक हितों को पहला स्थान दिया जायेगा; स्वाधीन रुचियों एवं व्यापारिक महत्वाकांक्षाओं अथवा किसी भी राष्ट्र की ईर्ष्याओं को मानव-हित के अधीन होने के लिये बाधित होना पड़ेगा। जाति के संयुक्त आर्थिक जीवन में उचित और योग्य भाग लेने का आदर्श पारस्परिक शोषण के आदर्श का स्थान ले लेगा। विशेषतया, जैसे-जैसे समाजवाद उन्नति करेगा और पृथक् देशों के संपूर्ण आर्थिक जीवन की व्यवस्था करने लगेगा, अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी यही सिद्धांत प्रबल हो जायेगा और अंत में तो विश्व-राज्य से यह अनुरोध किया जायेगा कि वह संसार के औद्योगिक उत्पादन और वितरण की उचित व्यवस्था अपने हाथ में ले ले। प्रत्येक देश को कुछ समय के लिये अपनी अत्यंत आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने की स्वतंत्रता दी जा सकती है किंतु अंत में संभवतया यह अनुभव होने लगेगा कि जैसे वेल्स या स्कॉटलैंड के लिये अन्य ब्रिटिश द्वीपों से अलग होकर अपनी समस्त आवश्यक वस्तुओं को स्वयं उत्पन्न करना या भारत के किसी एक प्रांत के लिये शेष देश से स्वतंत्र होकर अपने-आपमें एक आर्थिक इकाई बन जाना आवश्यक नहीं है, वैसे ही इसकी भी अब कोई आवश्यकता नहीं रही है। प्रत्येक केवल उसी का उत्पादन और वितरण करेगा जिसका वह अधिकतम लाभ के साथ अत्यंत स्वाभाविक, अत्यंत निपुण और अत्यंत मितव्ययी ढंग से मानवजाति की सामान्य आवश्यकता और मांग की पूर्ति के लिये कर सकता है; इस सामान्य आवश्यकता और मांग में उसकी अपनी आवश्यकता और मांग भी अविभाज्य रूप में सम्मिलित होगी। यह कार्य वह एक ऐसी प्रणाली के अनुसार करेगा जिसे मनुष्यजाति की सर्वसामान्य इच्छा अपनी राज्य-सरकार के द्वारा तथा एक ऐसी पद्धति के द्वारा जो अपने सिद्धांतों में एकरूप है, चाहे अपनी स्थानीय बातों में वह कितनी भी परिवर्तनशील हो, निर्धारित करेगी। इसका उद्देश्य यह होगा कि एक आवश्यक रूप में जटिल यंत्र-विन्यास अधिकतम सरल, सुगम और युक्तियुक्त तरीके से अपना कार्य करने लगे।

समाज की सामान्य व्यवस्था का प्रशासन आज उतना आवश्यक और चिंताजनक नहीं है जितना कि वह राष्ट्र-राज्यों के लिये उनके निर्माण-काल में था। क्योंकि वह ऐसा समय था जब व्यवस्था के तत्त्व का प्रायः निर्माण करना था और जोर-जबर्दस्ती, अपराध और विद्रोह होना तब अधिक सुगम था और साथ ही मनुष्यजाति की स्वाभाविक और सामान्य प्रवृत्ति भी अधिकतर इसी ओर थी। आज समाज इस बात

में साधारणतया सुसंगठित और देश-देश के बीच पूर्ण रूप से आवश्यक समझौतों से सुसज्जित ही नहीं हैं, वरन् राष्ट्रीय, प्रादेशिक और पौर शासनों की विस्तृत प्रणाली तथा संवाहन की अधिकाधिक द्रुत शक्ति के द्वारा आपस में जुड़े हुए भी हैं। राज्य अब जीवन-क्रम के उन भागों की व्यवस्था कर सकता है जिनकी सफलतापूर्वक व्यवस्था करने में पुरानी अविकसित सरकारें बिलकुल असमर्थ थीं। हम यह सोच सकते हैं कि विश्व-राज्य में प्रत्येक देश को अपनी आंतरिक व्यवस्था-संबंधी, वस्तुतः अपने संपूर्ण पृथक् राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन-संबंधी विषय में स्वतंत्रतापूर्वक अपना कार्य करने की छूट दी जा सकती है। किंतु यहां भी यह संभव है कि विश्व-राज्य उससे अधिक बड़े केंद्रीकरण और एकरूपता की मांग करे जिसकी हम आज आसानी से कल्पना कर सकते हैं।

उदाहरणार्थ, अपराध के एक ऐसे तत्त्व के साथ समाज के अनवरत संघर्ष में, जिसे वह अपने अंदर पैदा करता है तथा जिसका अभीतक नाश नहीं हो सका है, वर्तमान प्रणाली की स्थूलता अवश्य ही दृष्टिगोचर हो जायेगी और इसका जड़-मूल से प्रतिकार करने के लिये गंभीर प्रयत्न भी करना ही पड़ेगा। पहली आवश्यकता तब निरंतर पुनः-पुनः उत्पन्न होनेवाले भ्रष्ट मानव-पदार्थ की एक ऐसी बड़ी राशि का निकट पर्यवेक्षण तथा निरीक्षण होगी जिसमें अपराध के कीटाणु स्वभावतः ही पनपते रहते हैं। यह कार्य आजकल बड़े स्थूल और अपूर्ण रूप में तथा अधिकतर अपराध के किये जाने के बाद, प्रत्येक राष्ट्र की अपनी पृथक् पुलिस के द्वारा, किया जाता है। अपराधी के स्थान-परिवर्तन के प्रतिकार में एक युक्ति यह निकाली गयी है कि राष्ट्र अपराधी-प्रत्यर्पण-संधियां कर लेते हैं तथा एक-दूसरे की अन्य प्रकार से अवैध सहायता भी करते हैं। विश्व-राज्य अंतर्राष्ट्रीय तथा साथ ही स्थानीय निरीक्षण पर आग्रह करेगा, और ऐसा वह अंतर्राष्ट्रीय अपराध और अव्यवस्था के तथ्य के साथ निबटने के लिये ही नहीं, जो भावी परिस्थितियों में बहुत अधिक बढ़ भी सकते हैं, बल्कि अपराध को रोकने के अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य के लिये भी करेगा।

दूसरी आवश्यकता, जिसे यह अनुभव करेगा, अपराध के मूल और आरंभिक कारणों पर विचार करने की होगी। पहले तो यह इस कार्य को शिक्षा तथा नैतिक और चरित्रसंबंधी प्रशिक्षा की एक ऐसी अधिक प्रबुद्ध पद्धति द्वारा करने का प्रयत्न कर सकता है जो आपराधिक प्रवृत्तियों की वृद्धि को अधिक कठिन बना देगी; दूसरे, यह इसे भ्रष्ट मानव द्रव्य के निरीक्षण, उपचार-व्यवहार, उसके पृथक्करण और शायद उसके निष्फलीकरण की वैज्ञानिक या जनन-शास्त्र की पद्धतियों द्वारा भी कर सकता है। इस कार्य को करने की तीसरी विधि एक दयापूर्ण और प्रबुद्ध प्रणाली तथा दंडविधि भी हो सकती है जिसका उद्देश्य प्रारंभिक और पक्के अपराधी का सुधार होगा, दंड नहीं। इसका आग्रह सिद्धांत की एक विशेष एकरूपता पर होगा जिससे ऐसा देश कोई भी न रहे जो पिछड़ी हुई, पुरानी, हीन अथवा भ्रांतिपूर्ण प्रणालियों पर ही चलता रहे

और इस प्रकार सामान्य उद्देश्य को विफल कर दे। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये नियंत्रण का केंद्रीकरण आवश्यक हो जायेगा अथवा कम-से-कम अत्यधिक वांछनीय होगा। यही बात न्यायसंबंधी प्रणाली के साथ भी होगी। वर्तमान प्रणाली अब भी विवेकपूर्ण और सभ्य मानी जाती है और मध्य युग की प्रणालियों की तुलना में यह ऐसी है भी; पर एक ऐसा समय अवश्य आयेगा जब यह बेढंगी, अयोग्य, अयुक्तियुक्त और अपने कई प्रमुख अंगों में अर्ध-बर्बर समझी जायेगी। अधिक-से-अधिक यह सामाजिक विचार, भावना तथा जीवन की प्रारंभिक अवस्था की अधिक अस्तव्यस्त और स्वच्छंद पद्धतियों का अर्ध-परिवर्तित रूप होगी। जब एक अधिक बौद्धिक प्रणाली विकसित हो जायेगी तो संसार के किसी भी भाग में पुराने न्याय-विधान और न्यायसंबंधी सिद्धांतों और विधियों को बनाये रखना असहनीय प्रतीत होने लगेगा और इसके परिणामस्वरूप विश्व-राज्य को एक सामान्य विधान-निर्माण और शायद एक सामान्य संकेंद्रित नियंत्रण द्वारा नये सिद्धांतों तथा नयी पद्धतियों को एक नियत रूप देना पड़ेगा।

यह माना जा सकता है कि इन सब बातों में एकरूपता और केंद्रीकरण लाभकारी होंगे और कुछ हदतक अनिवार्य भी होंगे; ऐसी अवस्थाओं में राष्ट्रीय पृथक्ता और स्वाधीनता के किसी भी स्पष्टपूर्ण विचार को मनुष्यजाति के सार्वभौम हित में हस्तक्षेप करने की अनुमति नहीं दी जा सकेगी। किंतु, कम-से-कम अपनी राजनीतिक प्रणाली के चुनाव तथा अपने सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में, राष्ट्रों को अपने आदर्श और अपनी प्रवृत्तियों का अनुसरण करने तथा स्वस्थ और स्वाभाविक तरीके से स्वतंत्र रहने की छूट दी जा सकती है। यह भी कहा जा सकता है कि इन विषयों में किसी भी गंभीर हस्तक्षेप को राष्ट्र कभी सहन न करेंगे और इस प्रयोजन के लिये विश्व-राज्य की सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न उसके अस्तित्व के लिये घातक होगा। किंतु तथ्य यह है कि राजनीतिक निर्हस्तक्षेप का सिद्धांत भविष्य में उतना भी नहीं स्वीकार किया जायेगा जितना कि वह पहले स्वीकार किया जाता था या अब स्वीकार किया जा रहा है। परस्पर-विरोधी राजनीतिक विचारों अर्थात् प्राचीन ग्रीस के कुलीनतंत्र और जनतंत्र के बीच के और पुराने शासन और आधुनिक यूरोप की फ्रेंच क्रांति के विचारों के बीच के महान् और प्रचंड संघर्ष के समय में राजनीतिक निर्हस्तक्षेप के सिद्धांतों को सदा ही धक्का पहुंचा है। पर अब हमारे सामने एक और तथ्य है, हस्तक्षेप का विरोधी सिद्धांत धीरे-धीरे अंतर्राष्ट्रीय जीवन का सचेतन नियम बनता जा रहा है। क्यूबा में अमरीका के हस्तक्षेप जैसी चीज अब अधिकाधिक संभव हो रही है, इसका सुनिश्चित आधार राष्ट्रीय हित नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष रूप से स्वाधीनता, संविधानप्रियता और जनतंत्र अथवा कोई विरोधी सामाजिक और राजनीतिक सिद्धांत है, अतएव, इसका आधार अंतर्राष्ट्रीय है; व्यावहारिक रूप में इसे यह विचार भी बल दे रहा है कि किसी देश की आंतरिक व्यवस्था—अस्तव्यस्तता और अपर्याप्तता की किन्हीं अवस्थाओं में—केवल

अपने साथ ही संबंध नहीं रखती बल्कि अपने पड़ोसियों तथा समस्त मानवजाति से भी संबंध रखती है। इसी प्रकार का सिद्धांत मित्र-राष्ट्रों ने युद्ध के समय में ग्रीस के संबंध में उपस्थित किया था। यह संसार के एक अत्यधिक शक्तिशाली राष्ट्र पर लागू किया गया था; इसके अनुसार मित्र-राष्ट्रों ने जर्मनी के साथ संबंध रखने या व्यावहारिक रूप में उसे राष्ट्रसंघ के अंदर पुनः वापिस ले लेने से इनकार कर दिया था, जबतक कि वह अपनी तात्कालिक राजनीतिक प्रणाली और सिद्धांतों को एक ओर ही न रख दे तथा स्वच्छंद शासन के सब अवशेषों का त्याग करके जनतंत्र के आधुनिक रूपों को ही न अपना ले।^१

ज्यों-ज्यों मानवजाति का जीवन अधिकाधिक एकीकृत होता जायेगा त्यों-त्यों राष्ट्र के आंतरिक विषयों में जाति के सामान्य हित का यह विचार भी उन्नत होता चला जायेगा। भविष्य का महान् राजनीतिक प्रश्न समाजवाद की चुनौती का, अर्थात् सर्वसमर्थ राज्य के पूर्ण विकास का होगा। और, यदि समाजवाद संसार के प्रमुख राष्ट्रों में विजय प्राप्त कर ले तो वह, निश्चित रूप से, अपना राज्य सभी जगह केवल अप्रत्यक्ष दबाव द्वारा ही नहीं, बल्कि ऐसे देशों में तो प्रत्यक्ष हस्तक्षेप द्वारा भी स्थापित करना चाहेगा जो उसके विचार में पिछड़े हुए हैं। एक अंतर्राष्ट्रीय सत्ता, चाहे वह संसदीय हो या कोई और, जिसमें उसे बहुमत या विशेष सामर्थ्य प्राप्त हो एक ऐसा प्रस्तुत साधन होगा जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकेगी। इसके अतिरिक्त एक ऐसे विश्व-राज्य के लिये, जो अधिकांश में स्वयं समाजवादी हो, कुछ राष्ट्रों का पूंजीवादी समाज बने रहना शायद उससे अधिक सह्य नहीं होगा जितना कि एक समाजवादी या पूंजीवादी स्कॉटलैंड अथवा वेल्स पूंजीवादी या समाजवादी ग्रेट-ब्रिटेन को सह्य होगा। दूसरी ओर, यदि सब राष्ट्र अपने रूप में समाजवादी बन जायें तो विश्व-राज्य के लिये इन सब पृथक् समाजवादों को मनुष्य-जीवन की एक विशाल प्रणाली में संगठित करना काफी स्वाभाविक होगा। किंतु समाजवाद के अपने पूर्ण विकास तक पहुंचने का अर्थ होगा राजनीतिक और सामाजिक कार्यों के बीच भेदों का विनाश तथा सर्व-सामान्य जीवन का सामाजीकरण और उसके अपने संगठित शासन और प्रशासन के प्रति सर्वांग रूप में अधीनता। कोई भी छोटी या बड़ी वस्तु उसके क्षेत्र से बाहर नहीं है। जन्म और विवाह, श्रम, मनोविनोद और विश्राम, शिक्षा, संस्कृति, शरीर और चरित्र का प्रशिक्षण किसी भी वस्तु को समाजवादी भावना अपने क्षेत्र तथा व्यस्त और अनुदार नियंत्रण से बाहर नहीं रहने देती। इसलिये, अंतर्राष्ट्रीय समाजवाद को स्वीकार

^१ स्पेन में फासिस्ट शक्तियों का हस्तक्षेप, जो प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर हो रहा है और जिसका उद्देश्य उस देश के जनतंत्रीय शासन से युद्ध करना तथा उसे नीचा दिखाना है, एक ऐसी प्रवृत्ति का विशेष दृष्टान्त है जो भविष्य में और भी बढ़ सकती है। तबसे वहां फ्रेंको शासन में भी एक विपरीत ढंग से हस्तक्षेप हो रहा है और उसके ऊपर अपनी पद्धति और सिद्धांत को बदलने के लिये दबाव डाला जा रहा है, चाहे यह दबाव कितना भी अपूर्ण और अनिश्चित क्यों न हो।

करते हुए पृथक् जातियों की न तो राजनीति और न ही उसका सामाजिक जीवन विश्व-राज्य के केंद्रीभूत नियंत्रण से बच सकता है।^१

यह सत्य है कि ऐसी विश्वप्रणाली हमारे वर्तमान विचारों और जीवन के दृढ़ अभ्यासों से बहुत दूर है, पर ये विचार और अभ्यास अपने मूल में पहले से ही परिवर्तन की प्रबल शक्तियों के अधीन हैं। एकरूपता उत्तरोत्तर संसार का नियम बनती जा रही है; रक्षा और पुनरुज्जीवन की भावना और उसके सचेतन प्रयत्नों के होते हुए भी प्रादेशिक राष्ट्र-सत्ताओं के लिये जीवित रहना अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है। किंतु एकरूपता की विजय स्वभावतः ही केंद्रीकरण का समर्थन करेगी और तब पृथक्त्व की मूल प्रवृत्ति लुप्त हो जायेगी। एक बार केंद्रीकरण संपन्न हो जाये तो यह बाद में एक अधिक पूर्ण एकरूपता को लाने में सहायक होगा। जो विकेंद्रीकरण एकरूप मानवजाति में अनिवार्य हो सकता है उसकी आवश्यकता किन्हीं वास्तविक पृथक्कारी विभेदों के कारण नहीं, बल्कि प्रशासन की सुविधा के लिये होगी। एक बार यदि प्रबल अंतर्राष्ट्रीयतावाद के आगे राष्ट्रीय भावना दब गयी तो संस्कृति और जाति के महान् प्रश्न ही एक ऐसा आधार रह जायेंगे जो विश्व-राज्य में पृथक्त्व के प्रबल किंतु गौण सिद्धांत की सुरक्षा का कारण बनेंगे। पर संस्कृति का भेद भी आजकल उतना ही संकट में है जितना कि सामुदायिक विभेद का कोई अन्य बाह्यतर सिद्धांत है। यूरोपीय राष्ट्रों के विभेद केवल एक सर्व-सामान्य पश्चिमी संस्कृति के गौण विभेद हैं। और, अब जब कि विज्ञान विचार, जीवन और प्रणाली की एकरूपता की महान् शक्ति बन गया है तथा उत्तरोत्तर संस्कृति और जीवन का एक अधिक बड़ा भाग बनता जा रहा है, यहांतक कि इसके संपूर्ण संस्कृति और जीवन बन जाने की भी आशंका है, इन विभेदों का महत्त्व और भी कम हो सकता है। केवल एक मूल भेद जो अब भी विद्यमान है वह पश्चिम और पूर्व की मानसिकताओं का है। किंतु यहां भी एशिया यूरोपीयता का आघात सहन कर रहा है और यूरोप ने भी एशियाई भाव की प्रतिक्रिया को, चाहे वह कितनी भी कम क्यों न हो, अनुभव करना शुरू कर दिया है। इसका अधिकतम संभावित परिणाम एक सार्वभौम विश्व-संस्कृति होगा। केंद्रीकरण पर जो युक्तियुक्त आक्षेप किया जाता है वह यदि बिलकुल ही दूर नहीं हुआ तो शक्ति में वह अत्यंत कम अवश्य हो जायेगा। जाति-भावना शायद एक अधिक प्रबल बाधा है, क्योंकि यह अधिक अयुक्तियुक्त है; किंतु यह भी एक ऐसे बौद्धिक, सांस्कृतिक और भौतिक

^१ कार्यकारी समाजवाद के इस पक्ष को जर्मनी और इटली की पूर्ण शासनसंबंधी नियंत्रण की प्रवृत्ति से विशेष पुष्टि मिली है। यह लिखते समय राष्ट्रीय (फासिस्ट) 'समाजवाद' और शुद्ध मार्क्सवादीय 'समाजवाद' के आपसी संघर्ष की कल्पना नहीं की जा सकती थी, किंतु जिस रूप की भी प्रधानता हो, सिद्धांत वही होगा।

निकटतर संबंध द्वारा दूर की जा सकती है और यह संबंध अदूर भविष्य में अवश्यमेव चरितार्थ हो जायेगा।'

अतएव, विश्वहितैषी समाजवादी विचारक का स्वप्न अंत में पूरा हो सकता है। और विश्वशक्तियों की वर्तमान प्रवृत्ति यदि प्रबल रूप में बनी रही, तो ऐसा होना एक प्रकार से अनिवार्य हो जायेगा। यहांतक कि एक सार्वभौम भाषा, जो अब एक कोरी कल्पना प्रतीत होती है, वास्तविक रूप धारण कर सकती है। कारण, राज्य स्वभावतः एक ही भाषा को अपने सभी सार्वजनिक कार्यों तथा चिंतन और साहित्य के साधन के रूप में स्थापित करने की प्रवृत्ति रखता है, बाकी तो स्थानीय बोल-चाल की भाषाएं या प्रांतिक बोलियां मात्र रह जाती हैं, जैसे ग्रेट-ब्रिटेन में वेल्स अथवा फ्रांस में ब्रेटन और प्रोवेंसाल। स्विट्ज़रलैंड जैसे अपवाद बहुत कम हैं, दो-एक से अधिक शायद ही हों और वे भी असाधारण रूप से अनुकूल परिस्थितियों के कारण बचे हुए हैं। यह सोचना वस्तुतः कठिन है कि ऐसी भाषाएं जिनके साहित्य शक्तिशाली हैं तथा जो सहस्रों सुसंस्कृत लोगों द्वारा बोली जाती हैं एक अत्यंत गौण स्थिति में रहना स्वीकार कर लेंगी। मनुष्य की किसी प्रणाली या नयी भाषा द्वारा अपना तिरस्कार तो वे कभी भी नहीं होने देंगी। किंतु यह बिल्कुल निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि जाति के मन को अधिकृत करती हुई तथा पृथक्वादी भावना को बर्बर और असामयिक वस्तु समझकर उसे एक ओर हटाती हुई वैज्ञानिक बुद्धि एक दिन इस मनोवैज्ञानिक चमत्कार को सिद्ध नहीं कर सकेगी। जो भी हो, भाषा की विविधता संस्कृति, शिक्षा, जीवन और संगठन की एकरूपता के तथा एक ऐसे व्यवस्थाकारी वैज्ञानिक यंत्र के मार्ग में, जो जीवन के सब विभागों में प्रयुक्त होगा और जो मनुष्यजाति की संयुक्त इच्छाशक्ति तथा बुद्धि द्वारा सर्वहित के लिये स्थापित होगा, कोई दुर्गम बाधा नहीं हो सकती। कारण, इसीका विश्व-राज्य—जैसा कि हमने उसे कल्पित किया है—प्रतिनिधित्व करेगा, यही उसका अर्थ, उसका औचित्य तथा उसका मानव ध्येय होगा। वस्तुतः यह भी संभव है कि केवल इसीको—इससे कम कुछ नहीं—अंत में इसके अस्तित्व की पूरी सार्थकता भी समझी जाये।

'फासिस्ट और नाजी जातिवाद इस संभावना को रद्द कर देता है और यदि इस दूर न किया जा सका तो एकीकरण असंभव हो जायेगा; तब कुछ प्रबल राष्ट्रों द्वारा संसार की विजय ही एकीकरण का एकमात्र साधन रह जायेगी। फिर भी यह संभव है कि यह केवल एक अस्थायी अवस्था ही हो।

विश्व-राज्य का खतरा

यही तब विश्व-राज्य का अंतिम संभवनीय रूप है; इसी रूप के बारे में समाजवादी, विज्ञानवादी और मानव-हितवादी विचारकों ने—जो आधुनिक मन का उसकी स्व-चेतना के सर्वोच्च शिखरतक प्रतिनिधित्व करते हैं और इसलिये उसकी प्रवृत्तियों की दिशा का पता लगाने की सामर्थ्य रखते हैं—स्वप्न लिये हैं, यद्यपि सामान्य मनुष्य के अर्ध-बौद्धिक मन को, जिसकी दृष्टि प्रस्तुत दिन और उसके ठीक अगले दिन के आगे नहीं जाती, उनके विचार काल्पनिक और आदर्शवादी प्रतीत हो सकते हैं। वस्तुतः ये इस प्रकार के बिल्कुल भी नहीं हैं; अपने सार में—यह आवश्यक नहीं है कि अपने रूप में भी ऐसे ही हों—ये, जैसा कि हम देख चुके हैं, मानव-एकता की प्रारंभिक प्रवृत्ति का केवल तार्किक परिणाम ही नहीं हैं बल्कि उसकी अनिवार्य, क्रियात्मक तथा अंतिम परिणति भी हैं, पर केवल तभी जब इस एकता के लिये यांत्रिक एकीकरण के सिद्धांत, अर्थात् राज्य के सिद्धांत द्वारा प्रयत्न किया जाये। इसी कारण से हमें उन क्रियाकारी सिद्धांतों और आवश्यकताओं का प्रतिपादन करने की आवश्यकता अनुभव हुई है जो एकीकृत और अंततः समाजवादी राष्ट्र-राज्य के विकास के मूल में रहे हैं; इसका उद्देश्य यह देखना है कि किस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय एकीकरण की वही क्रिया, विकास की समान आवश्यकता के कारण, उन्हीं परिणामों को उत्पन्न करती है। राज्य-सिद्धांत आवश्यक रूप से एकरूपता, नियमन तथा यांत्रिकरण की ओर ले जाता है; इसका अनिवार्य परिणाम समाजवाद होता है। इसमें 'आकस्मिक' कुछ नहीं है, राजनीतिक और सामाजिक विकास में संयोग के लिये स्थान नहीं होता; समाजवाद का उदय कोई ऐसी आकस्मिक घटना या बात नहीं थी जो हो भी सकती थी या नहीं भी हो सकती थी, यह तो एक अनिवार्य परिणाम के रूप में राज्य-सिद्धांत के बीज में ही निहित था। यह उसी समय से अनिवार्य बन गया था जब से यह सिद्धांत कार्यरूप में लाया जाने लगा। अलफ्रेड, शार्लमाइन और दूसरे अपरिपक्व राष्ट्रीय अथवा साम्राज्यीय एकता-प्रवर्तकों के कार्य में यह एक निश्चित परिणाम के रूप में विद्यमान था, क्योंकि मनुष्य प्रायः सदा ही यह न जानते हुए कि वे किस प्रयोजन से कार्य कर रहे हैं, कार्य करते हैं। किंतु आधुनिक समय में चिह्न इतने स्पष्ट हैं कि जब हम विश्व-एकीकरण के लिये एक यांत्रिक आधार बनाना आरंभ करते हैं तो हमें इस बात का धोखा नहीं होना चाहिये और न ही ऐसा अनुमान लगाना चाहिये कि प्रयत्न में निहित परिणाम विकास के लिये आग्रह नहीं करेगा, चाहे वह वर्तमान समय में किन्हीं तात्कालिक, यहांतक कि सुदूर संभावनाओं से भी कितना ही परे क्यों न प्रतीत होता हो। एक कठोर एकीकरण, एक विशाल एकरूपता, एकीभूत मानवजाति का एक व्यवस्थित सामाजीकरण हमारे परिश्रम का पूर्वनिश्चित फल होगा।

यह परिणाम केवल तभी टाला जा सकता है यदि कोई प्रतिकूल शक्ति बीच में आकर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करे जैसा कि एशिया में हुआ था जहां राज्य-सिद्धांत अपनी सीमाओं के भीतर सबल समर्थन प्राप्त करता हुआ भी एक हद से आगे कार्यान्वित नहीं हो सका, क्योंकि राष्ट्रीय जीवन का मूल सिद्धांत ही इसके पूर्ण एकांगी विकास के विरोध में था। एशिया की जातियां, अत्यधिक संगठित जातियां भी, आधुनिक दृष्टि से राष्ट्र नहीं बल्कि जातियां ही रही हैं। अथवा वे केवल इसी अर्थ में राष्ट्र थीं कि उनका एक ही आत्म-जीवन, एक ही संस्कृति, एक ही सामाजिक संगठन तथा एक ही राजनीतिक अध्यक्ष था, किंतु वे राष्ट्र-राज्य नहीं थीं। राज्यरूपी यंत्र का अस्तित्व केवल एक सीमित और बाह्य कार्य के लिये था; लोगों का वास्तविक जीवन उन दूसरी शक्तियों द्वारा निर्धारित होता था जिनमें वह हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। उसका मुख्य कार्य राष्ट्रीय संस्कृति को स्थिर और सुरक्षित रखना तथा पर्याप्त राजनीतिक, सामाजिक और प्रशासनीय व्यवस्था—यथासंभव एक स्थिर व्यवस्था—को बनाये रखना था, जिससे कि लोगों का वास्तविक जीवन अपने ढंग से तथा अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसार शांतिपूर्वक चलता रहे। यदि मनुष्यजाति के राष्ट्र राष्ट्रीयता की अपनी विकसित सहज-प्रवृत्ति को बनाये रखने में सफल हो जायें तथा राज्य-सिद्धांत की प्रबलता का सामना करने के लिये काफी सशक्त हो जायें तो एक संगठित विश्व-राज्य के स्थान पर मनुष्यजाति के लिये इस प्रकार की कोई एकता लानी संभव हो सकती है। तब परिणाम मानवजाति का एक अखंड राष्ट्र अथवा एक विश्व-राज्य नहीं वरन् एक ऐसी अखंड मानवजाति होगा जिसकी राष्ट्र-इकाइयों में परस्पर मुक्त संबंध होगा या यह भी हो सकता है कि जिसे हम आजकल राष्ट्र कहते हैं वह लुप्त हो जाये, किंतु तब कुछ अन्य नये प्रकार की समुदाय-इकाइयां होंगी जिन्हें इस बात का आश्वासन प्राप्त रहेगा कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का कोई समर्थ यंत्र उनके सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संबंधों को शांतिपूर्वक और स्वाभाविक ढंग से कार्य करने में सहायता पहुंचायेगा।

इन दो प्रमुख संभावनाओं में से तब कौन-सी संभावना अधिक वांछनीय होगी ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमें अपने-आपसे यह पूछना होगा कि एक एकीकृत विश्व-राज्य के निर्माण के फलस्वरूप मनुष्यजाति के जीवन को क्या लाभ और क्या हानि होगी। तब और अब में जो महान् अंतर है उसके लिये पूरी छूट देते हुए भी, संभवतः, परिणाम अपने सार-रूप में उन्हींके समान होंगे जिन्हें हम प्राचीन रोमन साम्राज्य में देखते हैं। लाभ की दृष्टि से देखा जाये तो सर्वप्रथम एक बड़ा लाभ यह होगा कि विश्व की शांति सुनिश्चित हो जायेगी। आंतरिक विघ्नों और उपद्रवों से यह पूर्ण रूप से सुरक्षित न भी हो सके, किंतु यदि कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न एक हदतक स्थायी रूप में सुलझा लिये गये तो यह गृह-युद्ध की कभी-कभी होनेवाली ऐसी उग्रताओं को तो दूर कर ही देगी जिन्होंने पुरानी रोमन साम्राज्यीय अर्थ-व्यवस्था को उद्ध्वलित कर

दिया था; और फिर अब भी यदि कुछ उपद्रव हुए तो ये सभ्यता के व्यवस्थित ढांचे को इस प्रकार अस्तव्यस्त नहीं कर देंगे कि फिर से सभी चीजों को एक महान् आमूल और उग्र परिवर्तन की यंत्रणामें से गुजरना पड़े। और शांति सुनिश्चित हो गयी तो सुख और सुविधा की अतुलनीय वृद्धि हो जायेगी। मनुष्यजाति की संयुक्त बुद्धि, जो अब खंडित होकर नहीं बल्कि एक होकर काम कर रही होगी, अनेक विशिष्ट समस्याओं को सुलझा देगी। जाति का प्राणिक जीवन एक ऐसी सुनिश्चित और बुद्धिसंगत व्यवस्था में बंध जायेगा जो सुविधापूर्ण, सुनियंत्रित तथा ज्ञानसंपन्न होगी, इसके साथ एक ऐसा संतोषजनक यंत्र-विन्यास होगा जो यथासंभव कम संघर्ष, उपद्रव और भय-जोखिम की आशंका के साथ समस्त कठिनाइयों, आवश्यकताओं और समस्याओं का समाधान कर देगा। आरंभ में एक महान् सांस्कृतिक और बौद्धिक विकास दृष्टिगोचर होगा। विज्ञान मनुष्यजाति की उन्नति, ज्ञान-वृद्धि और यांत्रिक निपुणता के लिये अपने-आपको संगठित करेगा। संसार की विभिन्न संस्कृतियाँ—जो अब भी पृथक् सत्ताओं के रूप में अपना अस्तित्व रखती हैं—अधिक घनिष्ठ रूप में विचारों का आदान-प्रदान ही नहीं करेंगी बल्कि अपने संचित लाभों को एक ही कोष में जमा कर देंगी और कुछ समय के लिये विचार, साहित्य एवं कला के क्षेत्र में नये उद्देश्य और रूप प्रकट हो जायेंगे। मनुष्य एक-दूसरे के साथ पहले की अपेक्षा अधिक निकट और पूर्ण संपर्क में आयेंगे, एक ऐसा महत्तर पारस्परिक सद्भाव विकसित कर लेंगे जो झगड़े, घृणा और द्वेष के अनेक वर्तमान आकस्मिक कारणों से मुक्त होगा और यदि वे एक ऐसे भ्रातृभाव तक न भी पहुंचें, जो केवल राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मेल से नहीं प्राप्त हो सकता, तो उससे मिलती-जुलती किसी चीज अर्थात् पर्याप्त रूप से एक दयापूर्ण संबंध और आदान-प्रदान तक तो पहुंच ही जायेंगे। मनुष्यजाति के इस विकास में एक अभूतपूर्व वैभव, सुख-सुविधा और मृदुलता होगी और इसमें कोई संदेह नहीं कि उस समय का कोई महान् कवि जनसाधारण की या राज्य की भाषा में—क्या हम यूँ कहें कि एस्पेरंतो (Esperanto) में?—विश्वासपूर्वक स्वर्णयुग के आगमन के विषय में गा उठे अथवा यही घोषणा कर दे कि यह युग सचमुच ही आ गया है और सदा स्थायी रहेगा। पर कुछ समय के बाद शक्ति का हास हो जायेगा जो मानव मन और मानव जीवन की एक गतिहीन अवस्था होगी और उसके बाद आयेंगे गतिरोध, क्षय और विघटन। अपनी सफलताओं के बीच में मनुष्य की आत्मा मुरझाने लगेगी।

यह परिणाम भी उन्हीं आवश्यक कारणों से उत्पन्न होगा जिनसे यह रोम में उत्पन्न हुआ था। सबल जीवन की अवस्थाएं अर्थात् स्वाधीनता, गतिशील विविधता और स्वतंत्र रूप से विकासोन्मुख विभिन्न जीवनों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया समाप्त हो जायेंगी। यह कहा जा सकता है कि ऐसा नहीं होगा, क्योंकि विश्व-राज्य एक स्वतंत्र जनतंत्रीय राज्य होगा, स्वाधीनता का गला घोटनेवाला साम्राज्य या निरंकुश राज्य नहीं;

और क्योंकि स्वाधीनता और उन्नति आधुनिक जीवन का सिद्धांत है, कोई भी ऐसा विकास जो इस सिद्धांत के विरुद्ध जायेगा, सहन नहीं किया जायेगा। किंतु इस सबमें हमें जो कुछ भी प्राप्त हुआ प्रतीत होता है वह वस्तुतः सुरक्षा नहीं है। कारण, जो कुछ अब है वह बिल्कुल भिन्न परिस्थितियों में भी टिकेगा यह आवश्यक नहीं है और यह विचार कि वह टिकेगा ही, एक ऐसी विचित्र मृगमरीचिका है जो वर्तमान की वास्तविक स्थितियों से भविष्य की संभवतः सर्वथा भिन्न स्थितियों पर प्रक्षिप्त की गयी है। जनतंत्र किसी प्रकार से भी स्वाधीनता का निश्चित परिरक्षक नहीं है, बल्कि हम आज देखते हैं कि जनतंत्रीय शासन-प्रणाली वैयक्तिक स्वाधीनता के एक ऐसे संगठित विनाश की ओर स्थिर भाव में बढ़ रही है जिसका पुरानी कुलीन और राजतंत्रीय प्रणालियों को स्वप्न में भी विचार नहीं आ सकता था। यह हो सकता है कि स्वेच्छाचारी उत्पीड़न के जो उग्रतर और क्रूरतर रूप उन प्रणालियों के साथ जुड़े हुए थे उनसे जनतंत्र ने उन भाग्यशाली राष्ट्रों को मुक्त अवश्य कर दिया है जिन्होंने शासन के उदार रूप प्राप्त कर लिये हैं, और यह निःसंदेह एक बड़ी प्राप्ति है। अब यह क्रांति और उत्तेजना के समयों में ही जीवित होता है, अधिकतर तो यह अब सामूहिक अत्याचार या हिंसक क्रांतिकारी अथवा प्रतिक्रियात्मक दमन के रूपों में प्रकट होता है। पर इसमें स्वाधीनता की हानि है जो देखने में अधिक सम्मानयोग्य है तथा अधिक सूक्ष्म और व्यवस्थित तथा अपनी प्रणाली में अधिक नरम है, क्योंकि उसके पीछे एक अधिक बड़ी शक्ति है, किंतु इसी कारण वह अधिक प्रभावशाली और व्यापक भी है। बहुसंख्यकों का अत्याचार एक परिचित सूक्ति बन गया है और इसके विनाशकारी परिणामों का कतिपय आधुनिक बुद्धिजीवियों ने अत्यधिक रोष के साथ चित्रण किया है; पर जिसकी हमें भविष्य आशा दिलाता है वह इससे भी कहीं अधिक भयानक वस्तु है। वह समष्टि का, आत्म-सम्मोहित जनता का अपने अवयवभूत समुदायों तथा इकाइयों पर अत्याचार है।

यह एक अत्यंत विलक्षण विकास है और ऐसा अधिकतर इसलिये भी है कि जनतंत्रीय आंदोलन के प्रारंभिक रूपों में वैयक्तिक स्वतंत्रता एक ऐसा आदर्श थी जिसे इसने पुराने और आधुनिक कालों में प्रथम स्थान दिया था। ग्रीक लोग जनतंत्र के संबंध में दो मुख्य विचार रखते थे, पहला, कि प्रत्येक नागरिक समाज के वास्तविक शासन, व्यवस्थापन और प्रशासन में कार्य करे और व्यक्तिगत रूप में भाग ले और

'इब्सन ने अपने "An Enemy of the People" नामक नाटक में ऐसा ही चित्रण किया है।

इस तथ्य का कठोर आरंभ सबसे पहले फासिस्ट इटली तथा सोवियत रूस में दृष्टिगोचर हुआ था। यह लिखते समय इस विकास के विषय में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता था। एक बुद्धिशील तथ्य का रूप धारण करने की शक्ति तो इसे बाद में प्राप्त हुई और अब तो हम इसका पूर्ण और बलशाली स्वरूप देख सकते हैं।

दूसरा, कि वैयक्तिक स्वभाव और कर्म की अत्यधिक स्वतंत्रता प्राप्त हो। किंतु जनतंत्र के आधुनिक रूप में इन दोनों विशिष्ट चिह्नों में से कोई भी उन्नत नहीं हो सकता, यद्यपि अमरीका के संयुक्त राज्यों में एक समय कुछ हदतक इस प्रकार की प्रवृत्ति विद्यमान थी। बृहद् राज्यों में प्रत्येक नागरिक शासन में, व्यक्तिगत रूप में, प्रभावपूर्ण भाग नहीं ले सकता; वह केवल अपने व्यवस्थापकों और प्रशासकों के नियतकालिक चुनाव में ही समान भाग ले सकता है—यह व्यक्ति के लिये तो भ्रांतिपूर्ण होता है, यद्यपि जनता पर इसका काफी प्रभाव पड़ सकता है, यहांतक कि यदि ये व्यवस्थापक और प्रशासक कार्यतः एक ऐसे वर्ग से न भी चुने जायें—जो पूरा समाज नहीं है, न ही उसका एक बड़ा भाग है और जो आजकल प्रायः सर्वत्र मध्यवर्ग है—तब भी ये यथार्थ अर्थों में अपने निर्वाचकों का प्रतिनिधित्व नहीं करते। जिस शक्ति का ये प्रतिनिधित्व करते हैं वह एक अन्य शक्ति है, वह एक ऐसी आकार और देहविहीन सत्ता है जिसने राजा और कुलीन वर्ग अर्थात् एक ऐसी निर्वैयक्तिक समूह-सत्ता का स्थान ले लिया है जो आधुनिक राज्य के विशाल यंत्र-विन्यास में एक प्रकार के बाह्य रूप एवं देह और सचेतन कर्म को स्वीकार करता है। इस शक्ति के विरुद्ध व्यक्ति, जितना कि वह पुराने समय के उत्पीड़नों के विरुद्ध निःसहाय था उससे भी अधिक निःसहाय है। जब वह यह अनुभव करता है कि इसका दबाव उसे एकरूप सांचों में पीस रहा है, उसे अशक्त विद्रोह अथवा अपनी आत्मा या बुद्धि की स्वतंत्रता में पलायन के अतिरिक्त—जो अब भी कुछ हदतक संभव होता है—और कोई उपाय नहीं सूझता।

कारण, आधुनिक जनतंत्र का यह एक ऐसा लाभ है जिसे पुरानी स्वाधीनता ने इस हदतक अनुभव नहीं किया था और जिसका अभीतक किसी ने भी त्याग नहीं किया है, अर्थात् भाषण और विचार की पूर्ण स्वतंत्रता। जबतक यह स्वतंत्रता रहती है, मानवजाति की गतिहीन अवस्था तथा इसके फलस्वरूप उसकी निश्चेष्टता का भय निर्मूल प्रतीत हो सकता है, विशेषकर जब कि इसके साथ एक ऐसी सार्वभौम शिक्षा भी जुड़ी हुई हो जो एक कार्य-साधक शक्ति को लाने के लिये यथासंभव बृहत्तम मानव क्षेत्र प्रदान करती हो। विचार और भाषण की स्वतंत्रता—ये दोनों अवश्य ही साथ-साथ रहती हैं, क्योंकि यदि भाषण की स्वतंत्रता पर ताला लगा हो तो विचार की वास्तविक स्वतंत्रता का अस्तित्व हो ही नहीं सकता—संगठन की स्वतंत्रता के बिना वस्तुतः पूर्ण नहीं होती; कारण, स्वतंत्र भाषण का अर्थ है स्वतंत्र प्रचार और प्रचार तभी प्रभावपूर्ण होता है यदि उसके उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये संगठन किया जाये। यह तीसरी स्वाधीनता है और इसकी भी सभी जनतंत्रीय राज्यों में कुछ विशेष, कम या अधिक, सीमाएं हैं अथवा सुरक्षा के कुछ बुद्धिमत्तापूर्ण साधन हैं। परंतु प्रश्न यह उठता है कि इन महान् आधारभूत स्वाधीनताओं को क्या जाति ने पूर्ण सुरक्षा के साथ अधिगत कर लिया है, उन समयों को छोड़कर जब कि वे स्वतंत्र राष्ट्रों में भी रोक दी

जाती हैं और अधीन देशों में बड़े-बड़े प्रतिबंधों द्वारा अवरुद्ध कर दी जाती हैं। यह संभव है कि भविष्य इस दिशा में हमारे लिये कुछ आश्चर्यजनक घटनाएं उपस्थित करें।^१ विचार की स्वतंत्रता वह अंतिम मानव स्वाधीनता होगी जो सर्व-नियामक राज्य द्वारा सीधी आक्रांत होगी और जो सर्वप्रथम व्यक्ति के संपूर्ण जीवन को सामूहिक मन अथवा उसके शासकों द्वारा अनुमोदित नमूने के अनुसार नियमित करना चाहेगी। पर जब वह यह देखेगी कि जीवन-निर्माण में विचार कितना अधिक महत्त्व रखता है तो वह इसे भी अपने हाथ में ले लेने के लिये प्रेरित होगी। ऐसा वह राज्य-शिक्षा के द्वारा व्यक्ति के विचार को स्वरूप देकर तथा उसे अनुमोदित सामुदायिक, नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक विचारों को स्वीकार करने की शिक्षा देकर करेगी, जैसा कि कई पुरानी शिक्षा-पद्धतियों में किया गया था। केवल तभी, जब कि उसे यह शख् निष्प्रभाव प्रतीत हो, वह सीधे इस तर्क के आधार पर कि राज्य और सभ्यता संकट में हैं, विचार की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगा सकती है। अब भी हम देख रहे हैं कि कई स्थानों पर वैयक्तिक विचार में राज्य का हस्तक्षेप करने का अधिकार अत्यंत भयंकर तरीके से घोषित किया जा रहा है। कुछ लोग यह भी सोचते होंगे कि कम-से-कम धार्मिक स्वतंत्रता तो मनुष्यजाति के लिये सुरक्षित है पर अभी हाल में ही "नये विचार" का एक समर्थक देखने में आया है जो निश्चित रूप से इस सिद्धांत का प्रतिपादन करता है कि राज्य के लिये यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि वह व्यक्ति की धार्मिक स्वतंत्रता को स्वीकार करे, और यदि वह विचार की स्वतंत्रता प्रदान करे भी तो वह अधिकार के रूप में नहीं, बल्कि एक आवश्यकता के रूप में ही प्रदान की जा सकती है। यह भी कहा गया है कि धर्म की स्वतंत्रता को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है, और यह वस्तुतः तर्कसंगत भी प्रतीत होता है, क्योंकि यदि राज्य व्यक्ति के संपूर्ण जीवन को नियमित करने का अधिकार रखता है तो उसे उसके धर्म को नियमित रखने का अधिकार भी निश्चित रूप में होना ही चाहिये, कारण, धर्म उसके जीवन और विचार का, जो उसके जीवन को अत्यंत प्रबल रूप से प्रभावित करता है, एक महत्त्वपूर्ण अंग है।^१

मान लो कि एक सर्व-नियामक समाजवादी विश्व-राज्य स्थापित हो जाये, तब ऐसे शासन में विचार की स्वतंत्रता का अर्थ आवश्यक रूप में वर्तमान वस्तुस्थिति की

^१ अब यह आश्चर्य का विषय नहीं रहा है, वरन् यह एक अधिकाधिक चरितार्थ रूप धारण करता जा रहा है। इस समय रूस में भाषण और विचार की स्वतंत्रता नहीं है; जर्मनी और दक्षिण यूरोप में भी इस पर कुछ समय के लिये प्रतिबंध लगा दिया गया था।

^२ यह मान लेना कि राज्य कुछ समय के लिये विचार की स्वतंत्रता को पूर्ण रूप से दबा देने में हिचकिचायेगा अनुमान की भूल थी। बोलशेविस्ट रूस तथा सर्वाधिकारवादी राज्यों के द्वारा ऐसा एकबारगी ही, निश्चयात्मक रूप से किया जा चुका है। धार्मिक स्वतंत्रता अब भी पूरी तरह से नष्ट नहीं की गयी है, पर रूस में राज्य के दबाव द्वारा यह कठोरतापूर्वक कुचली जा रही है, जैसा कि जर्मनी में भी हो चुका है।

छोटी-छोटी बातों की ही नहीं बल्कि उसके सिद्धांतों तक की भी आलोचना होगा। यह आलोचना—यदि इसे विगत भूतकाल की ओर नहीं बल्कि भविष्य की ओर देखना है तो—केवल एक दिशा अर्थात् अराजकतावाद की दिशा ही ग्रहण कर सकती है, चाहे यह टाल्स्टाय का आध्यात्मिक ढंग का अराजकतावाद हो अथवा बौद्धिक प्रकार का जो आजकल अल्पसंख्यकों का सिद्धांत होते हुए भी यूरोप के बहुत से देशों में शक्तिशाली होता जा रहा है। यह व्यक्ति के स्वतंत्र विकास को अपना सिद्धांत घोषित करेगी, सरकार को एक बुराई कहकर—आवश्यक बुराई कहकर नहीं—उसकी निंदा करेगी। यह इस बात का प्रतिपादन करेगी कि व्यक्ति का पूर्ण और स्वतंत्र धार्मिक, नैतिक, बौद्धिक और चारित्रिक विकास मानवजीवन के सच्चे आदर्श के रूप में उसके अपने अंदर से होना चाहिये और बाकी की सब चीजें इस आदर्श के त्याग के मूल्य पर प्राप्त करने योग्य नहीं हैं, इसके शब्दों में यह त्याग उसकी आत्मा का खोना होगा। इसकी शिक्षा के अनुसार समाज का आदर्श व्यक्तियों का एक ऐसा स्वतंत्र संबंध या भ्रातृभाव होगा जिसमें न तो कोई शासन होगा और न ही किसी प्रकार का दबाव।

इस प्रकार के स्वतंत्र विचार के विषय में विश्व-राज्य का आखिर क्या दृष्टिकोण होगा? वह इसे तबतक सहन कर सकता है जबतक कि यह वैयक्तिक और सामूहिक कर्म में अपने-आपको प्रकट न करे, किंतु जैसे ही यह फैलने लगे अथवा जीवन में क्रियात्मक रूप में अपना समर्थन करने लगे वैसे ही राज्य और उसके अस्तित्व का समस्त सिद्धांत आक्रांत हो जायेगा, यहांतक कि उसका आधार भी खोखला और दुर्बल होकर नये संकट में पड़ जायेगा। उस स्थापित शक्ति के सामने तब केवल दो बातें रह जायेंगी, या तो वह नाश को उसके मूल में ही रोक दे या फिर वह अपने को स्वयं ही नष्ट हो जाने दे। किंतु इस प्रकार की आवश्यकता पड़ने से पहले ही राज्य द्वारा सब कार्यों की व्यवस्था का सिद्धांत यहांतक पहुंच जायेगा कि सामुदायिक मन मनुष्य के मानसिक और साथ ही भौतिक जीवन की व्यवस्था करने लगे जो कि पहली सभ्यताओं का आदर्श था। इसका अवश्यंभावी परिणाम होगा एक स्थिर समाज-व्यवस्था, क्योंकि व्यक्ति की स्वतंत्रता के बिना समाज प्रगति नहीं कर सकता। वह एक व्यवस्थित पूर्णता अथवा एक ऐसी चीज की लीक पर स्थिर हो जायेगा जिसे वह प्रणाली की युक्तियुक्तता और व्यवस्था के एकरूप विचार के कारण—जिसका वह मूर्त रूप है—पूर्णता का नाम देता है। समाज अपनी चेतना में सदा अनुदार और गतिहीन होता है, वह केवल अवचेतन प्रकृति की मंद प्रक्रिया के द्वारा ही धीरे-धीरे आगे बढ़ता है। उधर स्वतंत्र व्यक्ति सचेतन रूप में प्रगतिशील होता है। जब वह जनसमूह में अपनी सृजनशील और गतिमान् चेतना का संचार करने में समर्थ होता है, केवल तभी एक प्रगतिशील समाज संभव हो सकता है।

एकता में विभिन्नता

यदि हम तार्किक बुद्धि के निरंकुश शासन और उसकी कठोर और सीमाकारी प्रवृत्ति की आसक्ति से भ्रांत होकर ऐसे परीक्षणों में नहीं पड़ना चाहते जो व्यवहार-रूप में कितने ही सुविधाजनक तथा एकात्मक और एकरूप विचार के लिये आकर्षक होते हुए भी जीवन की शक्ति को नष्ट करके उसकी जड़ों को निःसत्त्व कर सकते हैं, तो यह आवश्यक है कि हम जीवन की आधारभूत शक्तियों और वास्तविकताओं को सदा ध्यान में रखें। कारण, तार्किक बुद्धि की प्रणाली के लिये जो पूर्ण और संतोषजनक है वह भी जीवन के सत्य और जाति की वास्तविक आवश्यकताओं की उपेक्षा कर सकता है। एकता का विचार एक ऐसा विचार है जो स्वच्छंद या अवास्तविक बिल्कुल नहीं है, क्योंकि एकता सत्ता का आधार है। प्रकृति में विकसनशील आत्मा उस एकत्व को, जो गुप्त रूप से समस्त वस्तुओं के मूल में विद्यमान है, सचेतन रूप में ऊपर के स्तर पर चरितार्थ करने के लिये प्रेरित होती है। विकास विभिन्नता के द्वारा एक सरल एकता से जटिल एकता की ओर बढ़ता है। जाति एकता की ही ओर बढ़ती है और एक दिन यह इसे अवश्य प्राप्त कर लेगी।

किंतु एकरूपता जीवन का नियम नहीं है। जीवन विभिन्नता के सहारे ही स्थित है; यह इस बात पर आग्रह करता है कि प्रत्येक समूह अथवा प्रत्येक प्राणी अपनी सार्वभौमता में बाकी सबके साथ एक होते हुए भी विविधता के किसी सिद्धांत अथवा व्यवस्थित सूक्ष्म नियम के कारण विशिष्ट होता है। अतिकेंद्रीकरण, जो व्यवहारगत एकरूपता की शर्त है, जीवन की स्वस्थ प्रणाली नहीं है। व्यवस्था जीवन का नियम अवश्य है पर कृत्रिम व्यवस्था नहीं। सच्ची व्यवस्था वह है जो अंदर से प्रकट होती है, उस स्वभाव के परिणामस्वरूप, जिसने अपने-आपको पा लिया है और साथ ही जिसने अपने नियम एवं दूसरों के साथ अपने संबंधों के नियम को भी प्राप्त कर लिया है। अतएव, सबसे सच्ची व्यवस्था वह है जो अधिकतम संभवनीय स्वाधीनता पर आधारित हो, क्योंकि स्वाधीनता ही सशक्त विविधता की और साथ ही स्व-प्राप्ति की शर्त है। प्रकृति, समूहों में विभाजन के द्वारा विविधता प्राप्त करती है और समूह के सदस्यों में व्यष्टि-भाव की शक्ति के द्वारा स्वाधीनता पर आग्रह करती है। इसीलिये मनुष्यजाति की एकता को पूर्णतः सच्चा होने तथा जीवन के गभीरतम नियमों के अनुकूल बने रहने के लिये स्वतंत्र समूहों पर आधारित होना चाहिये, और साथ ही समूहों को भी स्वतंत्र व्यक्तियों का स्वाभाविक संगठन होना चाहिये। यह एक ऐसा आदर्श है जो निश्चय ही वर्तमान अवस्थाओं में अथवा संभवतः मनुष्यजाति के किसी भी निकट भविष्य में चरितार्थ नहीं हो सकता। किंतु यह एक ऐसा आदर्श है जिसे हमें

दृष्टि में अवश्य रखना चाहिये, क्योंकि जितना हम इसके अधिक निकट पहुंचेंगे उतना ही हमें इस बात का निश्चय होगा कि हम ठीक मार्ग पर हैं। मनुष्यजीवन के अधिकांश भाग की कृत्रिमता ही उसकी अनेक बद्धमूल व्याधियों का कारण है, वह न तो अपने प्रति सच्चा है न ही प्रकृति के प्रति। इसी कारण वह ठोकरें खाता और कष्ट पाता है।

यदि हम प्रकृति में विभाजन के एक महान् तत्त्व के अर्थात् भाषा की विभिन्नता पर उसके आग्रह के उद्देश्य और क्रिया को ध्यान में रखें तो स्वाभाविक समूहों की उपयोगिता और आवश्यकता समझ में आ सकती है। पिछली शताब्दी के अंत में तथा वर्तमान शताब्दी के आरंभ में समस्त मनुष्यजाति के लिये एक ही भाषा के निर्माण पर बहुत जोर था; इसने कई प्रयोगों को जन्म दिया, पर इनमें से कोई भी सबल रूप में स्थायी नहीं हो सका। मनुष्यजाति के लिये संवाहन के एक सार्वभौम माध्यम की जो भी आवश्यकता हो, और वह आवश्यकता किसी कृत्रिम और प्रचलित भाषा अथवा किसी स्वाभाविक भाषा के सामान्य प्रयोग से कितनी भी पूरी हो सकती हो—जैसे कि लैटिन और बाद में एक हदतक फ्रेंच कुछ समय के लिये यूरोपीय राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार की सामान्य सांस्कृतिक भाषा रही थी अथवा जैसे कि संस्कृत भारतवासियों के लिये थी—फिर भी कोई भी ऐसा एकीकरण जो मनुष्यजाति के विभिन्न स्वाभाविक भाषाओं के विस्तृत और स्वतंत्र व्यवहार को नष्ट अथवा अभिभूत कर दे, उसे पंगु एवं निरुत्साहित कर दे, मनुष्य के जीवन और विकास के लिये अवश्य ही हानिकारक होगा। 'बाबेल के बुर्ज' (Tower of Babel) की कहानी बताती है कि बोलियों की विभिन्नता जाति के लिये एक अभिशाप थी, किंतु इसकी हानियां जो भी हों—पर ये हानियां सभ्यता और बढ़ते हुए संबंध के विकास से नित्यप्रति कम होती जा रही हैं,—यह अभिशाप नहीं, वरन् एक वरदान रही है। यह मनुष्यजाति के लिये एक देन थी न कि ऐसी अयोग्यता जो उसपर लादी गयी हो। किसी भी वस्तु के बारे में उद्देश्यहीन अत्युक्ति करना सदा ही बुरा होता है, और विभिन्न भाषाओं की अत्यधिक प्रवृद्धि, जिसका भावना और संस्कृति की सच्ची विभिन्नता की अभिव्यक्ति में कोई उपयोग नहीं होता, निश्चय ही एक बाधा होती है, सहायता नहीं; यद्यपि यह अति भूतकाल में विद्यमान थी,^१ भविष्य में इसकी संभावना कम ही है, बल्कि आज की प्रवृत्ति विरोधी दिशा में है। प्राचीन समय में भाषा की विभिन्नता ज्ञान और सहानुभूति के रास्ते में बाधा पहुंचाती थी और प्रायः वास्तविक विरोध का बहाना बन जाती थी; इसकी प्रवृत्ति अत्यधिक कठोर विभाजन की ओर होती थी। काफी पारस्परिक संबंध के अभाव में लोग यूं भी एक-दूसरे को

^१ भारतवर्ष में पंडित सैंकड़ों भाषाएं गिनाते हैं, पर यह है एक मूर्खतापूर्ण अशुद्ध कथन। एक दर्जन के लगभग मुख्य भाषाएं अवश्य हैं, बाकी या तो बोलचाल की भाषाएं हैं या फिर जातीय बोलियों के पुराने समय के अवशेष जो अंत में अवश्य ही नष्ट हो जायेंगे।

समझ नहीं पाते थे, बल्कि अधिकतर तो ऐसा होता था कि वे कितनी ही भ्रांतियों के शिकार हो जाते थे। किंतु यह विकास की एक विशेष अवस्था की अनिवार्य बुराई थी, यह उस आवश्यकता की अतिरंजना थी जो मनुष्यजाति की दृढ़ रूप में व्यक्तिभावापन्न समुदाय-आत्माओं के सबल विकास के लिये उस समय अनुभव की जाती थी। ये बुराइयां अभी दूर नहीं की गयी हैं, परंतु निकटतर संबंध तथा एक-दूसरे के विचार, भाव एवं व्यक्तित्व को जानने के लिये मनुष्यों और राष्ट्रों की बढ़ती हुई इच्छा के कारण ये बुराइयां अब कम हो गयी हैं और कोई कारण नहीं कि ये अंत में निष्क्रिय नहीं हो जायेंगी।

भाषा की विभिन्नता मनुष्य की भावना के दो महत्वपूर्ण उद्देश्यों—एकीकरण के उपयोग तथा विविधता के उपयोग—को पूर्ण करती है। भाषा उन लोगों को, जो उसे बोलते हैं, वृद्धिशील विचार, गठित स्वभाव और परिपक्व होती हुई भावना की बृहत् एकता में लाने में सहायक होती है। यह एक ऐसा बौद्धिक, सौंदर्यात्मक तथा अभिव्यंजक बंधन है जो जहां विभाजन होता है वहां उसकी शक्ति बढ़ाता है और जहां एकता प्राप्त हो चुकी है वहां उसे बल प्रदान करता है। विशेषकर यह राष्ट्रीय अथवा जातीय एकता को स्व-चेतना प्रदान करता है तथा एक सामान्य आत्म-अभिव्यक्ति एवं उपलब्धि के एक सामान्य इतिहास के बंधन को उत्पन्न करता है। इसके विपरीत, यह राष्ट्रीय विभेदन का एक साधन है, शायद सबसे अधिक शक्तिशाली साधन है। यह केवल विभाजन का एक निःसत्त्व सिद्धांत ही नहीं है, बल्कि एक उर्वर और उपयोगी विभेदन है। कारण, प्रत्येक भाषा उस जाति की आत्मा का चिह्न और बल है जो स्वभाव से ही उसे बोलती है, अतएव, प्रत्येक अपनी विशेष भावना, अपने विचारगत स्वभाव, जीवन-व्यवहार के तरीके, ज्ञान तथा अनुभव का विकास करती है। यदि वह अन्य राष्ट्रों के विचार, जीवन के अनुभव तथा आध्यात्मिक संपर्क को ग्रहण करती है और उनका स्वागत करती है तो साथ ही वह अपनी ही एक नयी वस्तु में उनका रूपांतर भी कर देती है, और वह इन उधार ली हुई उपयोगी वस्तुओं से रूपांतर की शक्ति के द्वारा मनुष्यजाति के जीवन को समृद्ध बना देती है, जो कुछ अन्यत्र प्राप्त किया जा चुका है उसे वह केवल दोहराती ही नहीं। इसलिये, किसी राष्ट्र अथवा मानव समुदाय-आत्मा के लिये यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि वह अपनी भाषा की रक्षा करे और उसे एक सशक्त और सजीव सांस्कृतिक यंत्र बना ले। जो राष्ट्र, जाति अथवा जनसमुदाय अपनी भाषा खो देता है वह अपना संपूर्ण अथवा सच्चा जीवन नहीं बिता सकता। और, राष्ट्रीय जीवन का यह लाभ मनुष्यजाति के सामान्य जीवन का भी लाभ होता है।

एक विशिष्ट मानवसमुदाय, यदि उसकी अपनी अलग भाषा नहीं है अथवा उसने अपनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति के बदले में विदेशी भाषा स्वीकार कर ली है, वह अपनी कितनी हानि कर लेता है, यह ब्रिटिश उपनिवेशों, संयुक्त राष्ट्र अमरीका और आयरलैंड

के उदाहरणों से देखा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपनिवेश वस्तुतः पृथक् जातियां होते हैं, यद्यपि वे अभीतक पृथक् राष्ट्र नहीं बने हैं। अंग्रेज अत्यधिक अंश में अथवा कम-से-कम एक बड़े अंश में, अपने मूल एवं अपनी राजनीतिक एवं सामाजिक अनुभूति में अभीतक इंग्लैंड के प्रतीक नहीं हैं, बल्कि इनका स्वभाव भिन्न है, इनकी अपनी अलग प्रवृत्ति है, तथा एक विशिष्ट और विकसनशील चरित्र है। किंतु यह नया व्यक्तित्व केवल उनके जीवन के बाह्यतर और अधिक यांत्रिक भागों में ही दृष्टिगोचर हो सकता है, पर वहां भी किसी महान् प्रभावशाली और फलप्रद रूप में नहीं। ब्रिटिश उपनिवेशों का संसार की संस्कृति में कोई स्थान नहीं, क्योंकि उनकी अपनी कोई निजी संस्कृति नहीं है, अपनी भाषा के कारण ही वे इंग्लैंड के प्रांतमात्र हैं और होने चाहियें। जो भी विशेषताएं वे अपने मानसिक जीवन में विकसित कर लें, वे एक प्रकार की प्रांतीयता ही उत्पन्न करेंगी, एक ऐसा केंद्रीय बौद्धिक, सौंदर्यात्मक और आध्यात्मिक जीवन नहीं जो उनका अपना हो तथा जो मनुष्यजाति के लिये विशेष महत्त्व रखता हो। इसी कारण से, एक सबल रूप से स्वतंत्र राजनीतिक और आर्थिक सत्ता के होते हुए भी, समस्त अमरीका की प्रवृत्ति सांस्कृतिक रूप में यूरोप का एक प्रांत बनने की ही रही है, दक्षिण और मध्य अमरीका स्पेनिश भाषा पर और उत्तरीय अमरीका इंग्लिश भाषा पर अवलंबित होने से यूरोप के प्रांत रहे हैं। केवल संयुक्त राज्य का जीवन ही एक महान् और पृथक् सांस्कृतिक सत्ता बनने की ओर प्रवृत्त और यत्नशील है, पर उसकी सफलता उसकी शक्ति के अनुपात में नहीं है। सांस्कृतिक रूप में वह अब भी बहुत हदतक इंग्लैंड का प्रांत है। न उसका साहित्य—दो या तीन बड़े साहित्यिकों के होते हुए भी—न उसकी कला, न उसका चिंतन और न ही मन के उच्चतर स्तरों की कोई और चीज किसी ऐसी ओजस्वी परिपक्वता तक पहुंच सकी है जो अपने आत्म-रूप में विशिष्ट हो। और इसका कारण यह है कि आत्म-अभिव्यक्ति का साधन अर्थात् भाषा, जिसका रूप राष्ट्रीय मन को गढ़ना चाहिये और जिसके द्वारा उसका अपना रूप भी गढ़ा जाना चाहिये, भिन्न मनोवृत्तिवाले देश के द्वारा बनायी गयी थी और उसीके द्वारा बनती रहेगी, इस कारण अपना केंद्र और अपने विकास का नियम ढूंढ़ लेना उसके लिये आवश्यक है। पुराने समय में अमरीका अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अंग्रेजी भाषा को यहांतक विकसित और परिवर्तित कर सकता था कि वह एक नयी भाषा ही बन जाती जैसा कि मध्यकालीन राष्ट्रों ने लैटिन को किया था और इस प्रकार उन्होंने आत्म-अभिव्यक्ति का एक विशिष्ट साधन प्राप्त कर लिया था, किंतु आधुनिक अवस्थाओं में यह सरलता से संभव नहीं है।^१

^१ यह कहा जाता है कि आजकल अमरीका में इस प्रकार का स्वतंत्र विकास संपन्न हो रहा है। अब देखना यह है कि यह विकास किस हदतक सच्चे अर्थों में एक सबल लक्ष्य का रूप धारण करता है। अभी तो यह केवल प्रांतीय ढंग की एक प्रकार की राष्ट्रीय बोल-चाल की भाषा अथवा एक विचित्र से अपभ्रंश की ओर प्रवृत्ति रखता है। अपने अधिकतम विकास में भी यह भाषा एक प्रकार की बोल-चाल की भाषा ही रहेगी, राष्ट्रीय भाषा नहीं।

आयरलैंड की जब अपनी स्वतंत्र राष्ट्रीयता और संस्कृति थी तब उसकी अपनी भाषा भी थी और उसकी भाषा की क्षति मानवजाति और साथ ही आइरिश राष्ट्र की भी क्षति थी। क्योंकि अपनी सूक्ष्म आंतरात्मिक प्रवृत्ति, तीक्ष्ण बुद्धि और सुभग कल्पना के साथ यह कैल्टिक जाति, जिसने यूरोपीय संस्कृति और धर्म के लिये शुरू-शुरू में बहुत कुछ किया था, इन शताब्दियों में स्वाभाविक अवस्थाओं के रहते संसार को क्या नहीं दे सकती थी ? किंतु विदेशी भाषा के जबर्दस्ती लादे जाने तथा राष्ट्र को प्रांत में बदल दिये जाने से आयरलैंड कितनी ही सदियों तक मूक और सांस्कृतिक रूप में गतिहीन बना रहा तथा यूरोपीय जीवन में उसकी शक्ति मृतप्राय हो गयी। अंग्रेजी संस्कृति पर इस जाति का जो थोड़ा-सा अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा या कुछ ऐसे विद्वान् आइरिश लोगों ने जो प्रत्यक्ष अंशदान किया, जिन्हें अपनी स्वाभाविक प्रतिभा को विदेशी विचार के सांचे में ढालना पड़ा था, उसे भी हम पर्याप्त क्षति-पूर्ति नहीं मान सकते। यहाँतक कि जब आयरलैंड अपने स्वातंत्र्य-युद्ध में अपनी स्वतंत्र आत्मा को पुनः प्राप्त करने तथा उसे वाणी प्रदान करने के लिये यत्न कर रहा था, उसके सामने यह बाधा उपस्थित हुई कि उसे एक ऐसी भाषा का प्रयोग करना पड़ा जो उसकी भावना और विशिष्ट प्रवृत्ति को स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्त नहीं कर सकती। समय आने पर वह इस बाधा पर विजय प्राप्त कर सकता है, इस भाषा को अपना सकता है तथा इसे अपने-आपको व्यक्त करने के लिये बाधित भी कर सकता है, पर, यदि ऐसा हो सका तो, इससे पहले कि वह अपने-आपको वैसी प्रचुरता, शक्ति और स्वतंत्र व्यक्तित्व के साथ व्यक्त कर सके जैसा कि वह अपनी गैलिक भाषा में कर सकता, उसे बहुत समय लगेगा। इस भाषा को पुनः प्राप्त करने का उसने प्रयत्न किया था, पर स्वाभाविक बाधाएं इतनी भारी और सुदृढ़ रही हैं तथा भविष्य में भी संभवतः सदा ही रहेंगी कि इस प्रयत्न में किसी प्रकार की भी पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

आधुनिक भारतवर्ष एक और विशेष दृष्टांत है। भारत के द्रुत विकास के कार्य में और किसी चीज ने इतनी बाधा खड़ी नहीं की है और आधुनिक अवस्थाओं में उसकी ख-उपलब्धि और उन्नति को इतनी अधिक सफलतापूर्वक किसी चीज ने नहीं रोका है जितना कि सांस्कृतिक साधनों के रूप में अंग्रेजी भाषा के द्वारा भारतीय भाषाओं को चिरकालतक अभिभूत रखने के कार्य ने किया है। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि भारत में एक ऐसा उप-राष्ट्र रहा है जिसने शुरू से ही इस बंधन को अस्वीकार कर दिया; उसने अपनी भाषा के विकास के लिये पूरा प्रयत्न किया, बहुत समय तक उसे अपना एक प्रमुख कार्य बनाये रखा, उसे अत्यधिक मौलिक मस्तिष्क और अत्यधिक सजीव शक्तियाँ प्रदान की, अन्य सब कार्यों की ओर लापरवाही दिखायी, व्यापार की भी उपेक्षा की, राजनीतिक कार्यों को बौद्धिक और वाचिक मनोविनोद के रूप में किया, —यह बंगाल था, इसने ही पहले अपनी आत्मा को पुनः उपलब्ध किया, अपने-आपको फिर से आध्यात्मिक बनाया, समस्त संसार को अपनी महान्

आध्यात्मिक विभूतियों को जानने के लिये बाधित किया, उसे प्रथम आधुनिक भारतीय कवि और जगत्-प्रसिद्ध और सफल भारतीय वैज्ञानिक प्रदान किया, भारत की मृतप्राय कला को पुनः जीवन और बल दिया, पहले उसीने भारत को संसार की संस्कृति में पुनः स्थान दिलाया, बाह्य जीवन में पुरस्कारस्वरूप पहले उसीने एक जीवंत राजनीतिक चेतना तथा एक ऐसी सजीव राजनीतिक गति प्राप्त की जो अपनी भावना तथा केंद्रीय आदर्श में अनुकरणात्मक और विदेशी नहीं थी।^१ कारण भाषा का राष्ट्र के जीवन में इतना अधिक महत्त्व है तथा सामान्य रूप से मनुष्यजाति के लिये यह इतने अधिक लाभ की वस्तु है कि इसकी समुदाय आत्माओं को अभिव्यक्ति के अपने स्वाभाविक साधन की एक शक्तिशाली सामूहिक व्यक्तित्व के द्वारा रक्षा करनी चाहिये तथा उसका विकास और प्रयोग करना चाहिये।

सार्वभौम भाषा एकता लाती है; अतएव यह कहा जा सकता है कि मानवजाति की एकता भाषा की एकता की मांग करती है; इस महत्तर लाभ के लिये विभिन्नता के लाभ छोड़ देने होंगे, चाहे यह अस्थायी त्याग कितना भी गंभीर क्यों न हो। किंतु यह एक सच्ची, फलप्रद और सजीव एकता लाने में केवल तभी सहायक होती है जब यह जाति की स्वाभाविक अभिव्यक्ति होती है अथवा यह एक लंबे अनुकूलीकरण और अपने अंदर के विकास द्वारा स्वाभाविक बना ली जाती है। उन सार्वभौम भाषाओं का इतिहास, जो उन लोगों के द्वारा बोली जाती थीं जिनके लिये वे स्वाभाविक नहीं थीं, कोई उत्साहजनक नहीं है। वे सदा ही मृत भाषाएं बनती चली गयीं, जबतक उनका जोर रहा वे अनुर्वर रहीं; फलप्रद वे तभी हुईं, जब कि वे विघटन को प्राप्त होकर नयी अन्य व्युत्पन्न भाषाओं में खंडित हो गयीं या पुरानी भाषा को, जहां वह अभीतक विद्यमान थी, पीछे छोड़ गयीं जिससे कि वह इस नयी मुहर और प्रभाव के साथ, पुनर्जीवन प्राप्त कर सके। पश्चिम में एक शताब्दी तक तो लैटिन का व्यापक प्रभुत्व रहा, पर बाद में वह मृत भाषा बन गयी। सर्जन के लिये बलहीन हो गयी तथा उन राष्ट्रों में जो उसे बोलते थे उसने कोई नयी अथवा सजीव और विकसनशील संस्कृति उत्पन्न नहीं की। ईसाई धर्म जैसी बड़ी शक्ति भी उसे नया जीवन प्रदान नहीं कर सकी। जिस समय वह यूरोपीय विचारधारा का साधन थी वह ठीक वह समय था जिसमें यूरोपीय विचार अत्यधिक सबल और परंपराबद्ध एवं न्यूनतम फलप्रद था। एक द्रुत और शक्तिशाली नया जीवन तभी विकसित हुआ जब विनाशोन्मुख लैटिन के अथवा उन पुरानी भाषाओं के, जो अभी लुप्त नहीं हुई थीं, ध्वंसावशेष से प्रकट हुई भाषाओं ने राष्ट्रीय संस्कृति के पूर्ण साधनों के रूप में उसका स्थान ले लिया। कारण, इतना ही पर्याप्त नहीं है कि एक स्वाभाविक भाषा जाति के द्वारा केवल बोली ही जाये, उसे उसके उच्चतर जीवन और विचार की अभिव्यक्ति भी होना चाहिये। ऐसी भाषा

^१ निःसंदेह यह अब सब कुछ बदल गया है और भारत की वर्तमान वस्तुस्थिति में ये बातें लागू नहीं होतीं।

जो अंगरेजों की विजय के बाद वेल्श के समान या फ्रांस में ब्रेटन और प्रोवेंसाल की भांति अथवा आस्ट्रिया में एक बार जीवन को प्राप्त हुई चैक (Czech) की भांति या साम्राज्यीय रूस में रूथिनियन (Ruthenian) और लिथुएनियन (Lithuanian) की भांति गंवारू या प्रांतीय भाषा के रूप में जीवित रहती है, वह कमजोर पड़ जाती है, बंजर हो जाती है तथा जीवित रहने के समस्त सच्चे उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाती।

भाषा जाति के सांस्कृतिक जीवन का चिह्न है,—उसकी उस विचारगत और मनोगत आत्मा का संकेत है जो उसके पीछे होती है तथा उसकी कर्मगत आत्मा को समृद्ध बनाती है। अतएव, विभिन्नता की उपयोगिताएं तथा उसके तथ्य यहीं अत्यधिक सरलता के साथ जाने जा सकते हैं, जितने बाह्य वस्तुओं में जाने जा सकते हैं उनसे कहीं अधिक सरलता से। किंतु ये सत्य महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये उस वस्तु पर समान रूप से लागू होते हैं जिसे विभिन्नता व्यक्त करती है तथा जिसका वह प्रतीक और साधन होती है। भाषा की विभिन्नता सुरक्षित रखने योग्य है, क्योंकि संस्कृतियों की विभिन्नता और आत्मा-मूलक समुदायों का विभेद भी सुरक्षित रखने योग्य है, क्योंकि इस विभिन्नता के बिना जीवन मुक्त भाव में क्रीड़ा नहीं कर सकता। इसके न होने से संकट उपस्थित हो जाता है, हास और गतिरोध लगभग अनिवार्य हो जाते हैं। एक अखंड और एकरूप मानव-एकता में राष्ट्रीय विविधता का विलयन, जिसे प्रणालीप्रिय विचारक आदर्श मानता है और जिसके बारे में हमने यह जान लिया है कि वह एक सारभूत संभावना, एक संभाव्यता है और यदि एक विशेष प्रवृत्ति प्रबल हो गयी तो वह एक भावी तथ्य भी बन सकता है, राजनीतिक शांति, आर्थिक हित, पूर्ण प्रशासन तथा सैकड़ों मूर्त समस्याओं के समाधान की ओर ले जा सकता है, जैसा कि पुराने समय में रोमन एकता ने कुछ कम परिमाण में किया था। पर इससे अंत में क्या लाभ हुआ यदि यह जाति के मन की अनुत्पादक पंगुता और आत्मा की गतिहीनता का कारण बन जाये? संस्कृति पर तथा मन और आत्मा की चीजों पर बल देते हुए भी हमारा अभिप्राय जीवन के बाह्य और भौतिक पक्ष के महत्त्व को कम करना नहीं है। जिस चीज को प्रकृति हमेशा इतना अधिक महत्त्व देती है उसे हीन दिखाना मेरा उद्देश्य कदापि नहीं है। इसके विपरीत, 'बाह्य' और 'आन्तर' दोनों एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। कारण, हम देखते हैं कि किसी राष्ट्र के जीवन में राष्ट्रीय संस्कृति और शक्तिशाली मानसिक और आत्मिक जीवन का महान् युग सदा ही एक ऐसी व्यापक गति और आंदोलन का भाग होता है जिसका राष्ट्र के बाह्य राजनीतिक, आर्थिक और व्यावहारिक जीवन में अपना एक प्रतिपक्ष होता है। सांस्कृतिक विकास भौतिक विकास को लाता है अथवा उसकी वृद्धि का कारण होता है, किंतु साथ ही इसे उसकी इसलिये भी आवश्यकता होती है कि यह स्वयं पूर्ण समृद्ध और स्वस्थ शक्ति के साथ फले-फूले। मानव जगत् की शांति, समृद्धि और स्थिर व्यवस्था एक ऐसी

महान् विश्व-संस्कृति के, जिसमें समस्त मनुष्यजाति अवश्यमेव एक हो जायेगी, आधार के रूप में अत्यंत वांछनीय वस्तु है। किंतु इन बाह्य या आंतरिक एकताओं में से किसी को भी शांति, व्यवस्था और भलाई से भी अधिक महत्वपूर्ण तत्त्व अर्थात् जीवन की स्वतंत्रता और शक्ति से विहीन नहीं होना चाहिये जो केवल विविधता और समुदाय एवं व्यक्ति की स्वतंत्रता द्वारा प्राप्त हो सकता है। तब एकता नहीं, तार्किक रूप से सरल, वैज्ञानिक रूप से कठोर तथा सुन्दर रूप से सुघड़ और यांत्रिक एकरूपता नहीं, वरन् एक स्वस्थ स्वतंत्रता और विविधता से ओतप्रोत सजीव एकता ही एक ऐसा आदर्श है जिसे हमें अपने सामने रखना चाहिये तथा जिसे मनुष्य के भावी जीवन में प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये।

पर यह कठिन लक्ष्य प्राप्त कैसे किया जाये ? यदि आत्यंतिक एकरूपता और केंद्रीकरण आवश्यक विविधताओं और अनिवार्य स्वाधीनताओं को नष्ट करने की प्रवृत्ति रखते हैं तो एक शक्तिशाली विभिन्नता और सबल समुदायव्यष्टिवाद उस पुराने पृथक्त्व की असाध्य दृढ़ता अथवा अनवरत पुनरावृत्ति को भी ला सकता है जो मानव-एकता को पूर्णता तक नहीं पहुंचने देगा, यहांतक कि उसकी जड़ भी नहीं जमने देगा। कारण, अवयवभूत समुदायों अथवा विभागों के लिये एक प्रकार की वैधिक प्रशासनीय और वैधानिक पृथक्ता, जैसी कि अमरीकन संघ के राज्यों में है, पर्याप्त नहीं होगी, यदि, जैसी कि वहां है, स्वाधीनता केवल यांत्रिक विविधता में ही हो और यदि सामान्य नियम के ऐसे सब प्रत्यक्ष व्यतिक्रमों को, जिनका उद्गम एक गहनतर आंतरिक विविधता में है, निरुत्साहित किया जाता हो अथवा उन्हें रोका जाता हो। एक ऐसी एकता भी, जिसके साथ जर्मन तरीके की स्थानीय स्वाधीनता जुड़ी हो, स्थापित करना पर्याप्त नहीं होगा, क्योंकि वहां अभिभूत कर देनेवाली वास्तविक शक्ति एक एकीकारक और अनुशासित प्रशियनवाद थी, स्वाधीनता वहां केवल बाह्य रूप में ही जीवित थी। अंग्रेजों की औपनिवेशिक प्रणाली भी हमें कोई लाभकारी सुझाव नहीं देगी, क्योंकि वहां उनकी स्थानीय स्वाधीनता और जीवन की एक पृथक् सबलता तो है, किंतु मस्तिष्क, हृदय और केंद्रीय आत्मा प्रधान देश में है, बाकी तो अधिक-से-अधिक एंग्लो-सैक्सन विचार के बाहरी दूरस्थित स्तंभमात्र हैं।^१ स्विट्जरलैंड का प्रांतीय जीवन भी कोई सफल दृष्टान्त नहीं उपस्थित करता; कारण, उसके विस्तार और क्षेत्र के छोटे होने के अतिरिक्त वहां एक अभिन्न स्विस जीवन और क्रियात्मक भावना का तथ्य और जाति को तीव्र रूप में विभक्त करनेवाली तीन विदेशी संस्कृतियों के प्रति मानसिक अधीनता भी विद्यमान है। एक सामान्य स्विस संस्कृति वहां नहीं है। समस्या वहां भी वही है, यद्यपि वह अधिक बड़ी और कठिन तथा अत्यंत जटिल है, जो कुछ समय के लिये ब्रिटिश साम्राज्य के सामने आयी थी अर्थात् किस प्रकार—यदि यह संभव भी है तो—ग्रेट-ब्रिटेन, आयर्लैण्ड, उपनिवेशों, मिस्त्र तथा भारतवर्ष को एक

^१ ऐसी स्थिति आज पहले से कम भी हो सकती है, परंतु इसमें कोई अधिक सुधार नहीं हुआ है।

वास्तविक एकता में बांधा जाये, उनके लाभों को एक ही कोष में जमा किया जाय, उनकी शक्तियों को एक ही उद्देश्य की पूर्ति में लगाया जाये, उन्हें अपने राष्ट्रीय व्यक्तित्व के महत्त्व को अति-राष्ट्रीय जीवन के अंदर उपलब्ध करने में सहायता दी जाये, साथ ही उनके व्यक्तित्व को सुरक्षित रखा जाये जिसका अर्थ है कि आयरलैंड आइरिश आत्मा, जीवन और सांस्कृतिक तत्त्व को तथा भारतवर्ष भारतीय आत्मा, जीवन और सांस्कृतिक तत्त्व को सुरक्षित रखे और अन्य देश अपनी आत्मा, संस्कृति और जीवन को विकसित करें; वे आंग्लीकरण की एक सामान्य प्रक्रिया से संयुक्त न हों, जो कि पुराना साम्राज्य-स्थापक आदर्श था, बल्कि स्वतंत्र मेल के एक महत्तर और अभीतक अचरितार्थ सिद्धांत द्वारा एकता में बद्ध हों। समाधान रूप में किसी समय भी कोई सुझाव नहीं रखा गया था, सिवाय इसके कि एक प्रकार की 'गुच्छ' या 'गुलदस्ता' बनाने की प्रणाली उपस्थित की गयी थी जिसमें गुच्छों को एक सामान्य उद्गम अथवा संयुक्त भूतकाल की सजीव डंडी से एकत्र नहीं किया जाता था—क्योंकि वह डंडी थी ही नहीं—बल्कि प्रशासनीय एकता के एक ऐसे कृत्रिम धागे से जोड़ा जाता था जो केंद्र-विरोधी शक्तियों द्वारा किसी भी समय तोड़ा जा सकता था और फिर जोड़ा नहीं जा सकता था।

किंतु फिर भी यह कहा जा सकता है कि एकता हमारी पहली आवश्यकता है और कितना भी मूल्य चुकाकर इसे प्राप्त करना ही चाहिये, जिस प्रकार स्थानीय इकाइयों के पृथक् अस्तित्व को मिटाकर राष्ट्रीय एकता प्राप्त की गयी थी; बाद में राष्ट्र-इकाई से भिन्न सामुदायिक विविधता का एक नया सिद्धांत भी ढूंढा जा सकता है। पर यह साम्य यहां भ्रामक हो जाता है, क्योंकि एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का यहां अभाव है। कारण, राष्ट्र के जन्म का इतिहास छोटे समुदायों के बहुत-सी समान और बड़ी इकाइयों के बीच में एक बृहत्तर इकाई में संयुक्त हो जाने का इतिहास है। उन छोटी इकाइयों का पुराना वैभव, जिन्होंने ग्रीस, इटली और भारतवर्ष में इतने सुंदर सांस्कृतिक पर इतने असंतोषजनक राजनीतिक परिणाम उत्पन्न किये थे, नष्ट हो चुका था, किंतु जीवन का सिद्धांत, जो विविधताशील विभिन्नता द्वारा सजीव बना दिया गया था, सुरक्षित रखा गया; इसमें राष्ट्र विभिन्न इकाइयों के रूप में थे और महाद्वीप का सांस्कृतिक जीवन इसकी सामान्य पृष्ठभूमि था। यहां ऐसी कोई भी चीज संभव नहीं है। यहां एकमात्र एकता अर्थात् एक विश्वराष्ट्र होगा, विभिन्नता का समस्त बाह्य स्रोत लुप्त हो जायेगा। इसलिये आभ्यंतरिक स्रोत को निश्चय ही बदलना पड़ेगा, कुछ हदतक इसे अधीन भी रखना होगा, पर इसे सुरक्षित अवश्य रखना पड़ेगा और जीवित रहने के लिये उत्साहित भी करना होगा। यह संभव है कि ऐसा न हो, एकात्मक विचार प्रबल रूप में व्यापक हो जाये और वह वर्तमान राष्ट्रों को केवल भौगोलिक प्रांतों अथवा एक ही सुयांत्रीकृत राज्य के प्रशासनीय विभागों में बदल दे, परंतु उस दशा में जीवन की प्रचंड मांग गतिरोध और विनाश के तथा नयी पृथक्ताओं

को जन्म देनेवाले ध्वंस के द्वारा अथवा भीतरी विद्रोह के किसी सिद्धांत के द्वारा अपना बदला चुकायेगी। उदाहरणार्थ, अराजकता का सिद्धांत भी प्रबल हो सकता है, वह नयी व्यवस्था के निर्माण के लिये वर्तमान विश्व-व्यवस्था को नष्ट कर सकता है। प्रश्न अब यह है कि क्या कहीं विभिन्नता में एकता का कोई ऐसा सिद्धांत नहीं है जिसके द्वारा क्रिया और प्रतिक्रिया की, उत्पत्ति और नाश की, पाने और हरने की यह प्रणाली यदि पूरी तरह टाली न भी जा सके तो उसकी क्रिया ही निर्बल पड़ जाये तथा वह एक अधिक स्थिर और समस्वर कार्य करने में प्रवृत्त हो जाये।

राष्ट्रसंघ का विचार

केवल एक ही साधन प्रत्यक्ष रूप में हमारे सामने आता है जिसके द्वारा आवश्यक समुदाय-स्वतंत्रता सुरक्षित रखी जा सकती है और साथ ही मनुष्यजाति का एकीकरण भी साधित किया जा सकता है; वह यह है कि एक पूर्णतया व्यवस्थित विश्व-राज्य के लिये प्रयत्न न करके एक स्वतंत्र, नमनीय और विकसनशील विश्व-ऐक्य को प्राप्त करने की चेष्टा की जाये। यदि ऐसा करना हो तो हमें उस अनिवार्यप्राय प्रवृत्ति को निरुत्साहित करना होगा जो राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासनीय साधनों द्वारा, संक्षेप में, यंत्र-शक्ति के द्वारा, प्राप्त किये जानेवाले किसी भी एकीकरण को राष्ट्र-राज्य के विकास के दृष्टांत का अनुसरण करने की ओर प्रेरित करे। हमें आदर्शवादी राष्ट्रीयता की उस शक्ति को उत्साहित तथा पुनर्जीवित करना होगा जो युद्ध से पहले एक ओर तो इंग्लैंड, रूस, जर्मनी और फ्रांस के वृद्धिशील विश्व-साम्राज्यों के दबाव के कारण और दूसरी ओर अंतर्राष्ट्रीयता के उस विरोधी आदर्श की उन्नति के कारण, जिसके साथ देश और राष्ट्र के संकुचित विचारों के लिये एक व्यापक और विनाशकारी घृणा तथा राष्ट्रीयतावादी देशभक्ति की बुराइयों की निंदा भी जुड़ी हुई थी, नष्ट होती दिखायी देती थी। किंतु इसके साथ ही हमें पृथक्ता की उन भावनाओं का इलाज ढूंढना होगा जिनका अभी तक इलाज नहीं हो सका है और जो उस विचार के लिये स्वाभाविक हैं जिसे हमें एक नयी शक्ति प्रदान करनी होगी। यह सब कैसे किया जाये ?

अपनी ओर से हम इस प्रयत्न में क्षतिपूरक प्रतिक्रियाओं का स्वाभाविक सिद्धांत लागू करते हैं। भौतिक विज्ञान में भी यथार्थ समझा जानेवाला क्रिया और प्रतिक्रिया का नियम मानव कर्म में, जो सदा ही अधिकांश रूप में मनोवैज्ञानिक शक्तियों पर आश्रित होता है, एक अधिक स्थिर और व्यापक सत्य है। यह एक सुस्थापित तथ्य माना जा सकता है कि जीवन में क्रियाशील शक्तियों के प्रत्येक दबाव के साथ प्रतिकूल अथवा विविधताशील शक्तियों की प्रतिक्रिया की एक ऐसी प्रवृत्ति होती है जो तत्काल क्रियाशील न भी हो फिर भी अंत में कार्यक्षेत्र में अवश्य आयेगी या फिर जो एक समान और पूर्णतः क्षतिपूरक शक्ति के साथ कार्य न भी करे, फिर भी क्षतिपूर्ति की किसी शक्ति के साथ कार्य अवश्य करेगी। यह एक दार्शनिक आवश्यकता तथा अनुभव का एक सुस्थिर तथ्य है। कारण, प्रकृति विरोधी शक्तियों की परस्पर-क्रीड़ा की एक संतुलनकारी प्रणाली के द्वारा कार्य करती है। जब वह अन्य सभी प्रवृत्तियों के विरुद्ध एक प्रवृत्ति की प्रबल शक्ति पर कुछ समय के लिये आग्रह कर चुकी होती है तो वह ठीक उसकी विपरीत प्रवृत्ति को, यदि वह मर चुकी हो तो पुनः जिलाकर अथवा केवल सोयी पड़ी हो तो उसे नये सिरे से जगाकर अथवा उसे

एक नये और संशोधित रूप में क्षेत्र में लाकर, उसकी अतिशयोक्तियों को ठीक करने की चेष्टा करती है। केंद्रीकरण पर लंबे समयतक आग्रह कर चुकने के बाद वह उसे कम-से-कम एक गौण विकेंद्रीकरण के द्वारा परिवर्तित करना चाहती है। अधिकाधिक एकरूपता पर आग्रह कर चुकने के बाद वह बहुरूप विविधता की भावना को पुनः कार्यक्षेत्र में लाती है। परिणाम आवश्यक रूप से, इन दो प्रवृत्तियों का समान बल ही नहीं, वरन् किसी प्रकार का समझौता हो सकता है, अथवा समझौते के स्थान पर वह क्रिया में एकीकरण और परिणाम में एक ऐसी नयी रचना भी हो सकता है जो दोनों सिद्धांतों का मिश्रण होगी। हम यह आशा कर सकते हैं कि वह मनुष्यजाति की बृहत् और विशाल इकाई के संबंध में एकीकरण और सामुदायिक विविधता की प्रवृत्तियों पर वही प्रणाली लागू करेगी। वर्तमान समय में राष्ट्र एक ऐसा अवलंबन है जिसका प्रयोग पिछली प्रवृत्ति, एकीकारक आत्मसात्करण की साम्राज्यीय प्रवृत्ति के विरुद्ध, अपने कार्य में करती रही है। अब मनुष्यजाति में प्रवृत्ति की कार्यधारा राष्ट्र-इकाई को नष्ट कर सकती है, जैसा कि उसने जाति और कुल को किया था, वह समुदायीकरण के एक बिल्कुल ही नये सिद्धांत को भी विकसित कर सकती है, किंतु साथ ही एकीकरण की अत्यधिक प्रबल शक्ति की प्रवृत्ति को हितकारी रूप में संतुलित करने के लिये वह उसे सुरक्षित भी रख सकती है तथा उसे बल और स्थायिता की पर्याप्त शक्ति भी प्रदान कर सकती है। इस पिछली आवश्यकता पर ही अब हमें विचार करना है।

युद्ध से पहले दो शक्तियां कार्य कर रही थीं, एक साम्राज्यवाद, जो कई प्रकार का था,—जर्मनी का अधिक कठोर साम्राज्यवाद तथा इंग्लैंड का अधिक उदार साम्राज्यवाद—और दूसरा राष्ट्रवाद। ये एक ही तथ्य के दो पक्ष थे, एक तो राष्ट्रीय अहंभाव का आक्रामक और विस्तारप्रिय पक्ष और दूसरा उसका प्रतिरक्षात्मक पक्ष। किंतु साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति में यह अहंभाव अत्यधिक स्व-विस्तार के कारण अंत में विलीन हो सकता था। जिस प्रकार वह उग्र जाति, उदाहरणार्थ ईरानी जाति, पहले साम्राज्य में विलीन हुई और बाद में ईरानी लोगों की राष्ट्रीयता में, या जिस प्रकार नगर-राज्य पहले रोमन साम्राज्य में विलीन हुआ और बाद में जाति और नगर-राज्य दोनों ही बिना पुनर्जीवन की आशा के उन राष्ट्रों में विलीन हो गये जो जर्मन जातियों के बलपूर्वक प्रवेश के द्वारा विनाशोन्मुख लैटिन एकता में उनके मिल जाने से उत्पन्न हुए थे। इसी या इस प्रकार से उग्र राष्ट्रीय साम्राज्यवाद संसार को आच्छादित करता हुआ अंत में राष्ट्र-इकाई को बिल्कुल ही नष्ट कर सकता है, जिस प्रकार नगर-राज्य और जाति कुछ प्रबल नगर-राज्यों और जातियों के उग्र विस्तार से नष्ट हो गये थे। प्रतिरक्षात्मक राष्ट्रवाद की शक्ति ने इस प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया की है, इसपर प्रतिबंध लगाया है तथा सदा ही इसके विकासवादी उद्देश्य का विरोध किया है। किंतु युद्ध से पहले ऐसा प्रतीत होता था कि राष्ट्रवाद की पृथक्कारी शक्ति के भाग्य में उस

भयंकर शक्ति के सामने निःशक्त हो जाना और अंत में दब जाना लिखा है जिसके साथ विज्ञान, व्यवस्था और निपुणता ने बृहत् साम्राज्यीय समुदायों के शासक राज्यों को लैस कर दिया था।

ये सब तथ्य एक ही दिशा की ओर इंगित कर रहे थे। एशिया के महाद्वीप में कोरिया नवोदित जापानी साम्राज्य में विलीन हो गया था। ईरान की राष्ट्रीयता अवसन्न हो गयी थी तथा ऐसे प्रभाव-क्षेत्रों की प्रणाली के नीचे दबी पड़ी थी जो वस्तुतः प्रच्छन्न रक्षित राज्य थे; समस्त अनुभव हमें बताता है कि रक्षित राज्य का आरंभ रक्षित राष्ट्र के अंत का भी आरंभ होता है; यह तो निगलने से पहले चबाने की पहली प्रक्रिया का एक शोभन नाम है। तिब्बत और स्याम इतने दुर्बल हो गये थे तथा उनका हास इतना प्रत्यक्ष था कि उनकी स्थायी मुक्ति की आशा नहीं की जा सकती थी। चीन की रक्षा केवल संसार की शक्तियों की स्पर्द्धाओं तथा अपने बड़े परिमाण के कारण हो गयी थी; इस परिमाण ने उसे एक ऐसा बेढंगा ग्रास बना दिया था जिसे निगलना ही मुश्किल था, पचाना तो अलग रहा। समस्त एशिया का चार या पांच या अधिक-से-अधिक छः बड़े साम्राज्यों में विभाजन एक ऐसा पूर्वनिश्चित परिणाम था जिसे एक अभूतपूर्व अंतर्राष्ट्रीय क्रांति के सिवाय और कोई चीज नहीं रोक सकती थी। उत्तरी अफ्रीका की यूरोपीय विजय मोरक्को के विलयन, मिस्र पर अंग्रेजों के दृढ़ नियंत्रण तथा त्रिपोली पर इटली के अधिकार द्वारा प्रायः पूरी हो चुकी थी। सोमालीलैंड धीरे-धीरे निगले जाने की प्रारंभिक क्रिया में से गुजर रहा था। अबिसीनिया, जिसकी एक बार मैनलिक (Menelik) द्वारा रक्षा हुई थी, किंतु जो अब आंतरिक कलह के कारण छिन्न-भिन्न हो गया था, इटली के औपनिवेशिक साम्राज्य के पुनर्जीवित स्वप्न का लक्ष्य बन गया था। बोअर गणतंत्र साम्राज्यीय दमन की बढ़ती हुई तरंगों के तले दब गया था। लगभग शेष समस्त अफ्रीका तीन बड़ी और दो छोटी शक्तियों की निजी संपत्ति बन गया था। यूरोप में निःसंदेह अब भी कुछ छोटे स्वाधीन राष्ट्र बाल्कन और ट्यूटैनिक विद्यमान थे, साथ ही दो सर्वथा गौण तटस्थ देश भी थे। किंतु बाल्कन प्रदेश निरंतर अनिश्चितता और उपद्रव की रंगभूमि बने हुए थे और प्रतिद्वंद्वी राष्ट्रीय अहंभाव केवल तभी समाप्त हो सकते थे यदि तुर्की को यूरोप में से निकाल दिया जाता; ऐसा चाहे सर्बिया और बल्गेरिया की अधीनता में एक युवा, बुभुक्षित और महत्वाकांक्षी स्लाव साम्राज्य के निर्माण द्वारा अथवा बाल्कन प्रदेशों को आस्ट्रिया और रूस के प्रभाव में विलीन करने के द्वारा किया जाता। विस्तारशील जर्मनी ट्यूटैनिक राज्यों के लिये लालायित था और यदि इस शक्ति को एक नये बिस्मार्क की व्यवहारकुशल और साहसपूर्ण कूटनीति का पथप्रदर्शन प्राप्त हुआ होता, —और यह कोई असंभवनीय घटना नहीं होती, यदि विलियम द्वितीय युद्ध के शिकारी कुत्तों को खुला छोड़ने से पहले ही मृत्यु के मुख में चला जाता, —तो

इनका विलयन भी पूर्ण रूप से संपन्न हो सकता था। अब अमरीका बाकी बचा था जहां साम्राज्यवाद का अभी उदय तो न हुआ था, पर रूजवेल्ट के गणतंत्रवाद के रूप में वह प्रकट होना आरंभ हो गया था; मैक्सिको में अमरीका का हस्तक्षेप, चाहे वह कुछ हिचकिचाते-से भाव में किया गया था, रक्षित राज्य की अनिवार्यता तथा मध्य अमरीका के अव्यवस्थित गणतंत्र के अंतिम विलयन की ओर इंगित कर रहा था; उस अवस्था में दक्षिणी अमरीका का सम्मिलन एक प्रतिरक्षात्मक आवश्यकता बन जाता। यह तो विश्वयुद्ध का भारी तूफान था जिसने संसार को एक दर्जन से कम बृहत् साम्राज्यों में उत्तरोत्तर विभक्त होने से रोक दिया।

युद्ध ने आश्चर्यजनक तेजी से स्वतंत्र राष्ट्रीयता के विचार को पुनः जीवित कर दिया; इस विचार को उसने तीन रूपों में प्रकट किया, प्रत्येक की अपनी विशेषता थी। सर्वप्रथम, यूरोप में जर्मनी की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा के विरोध में मित्र-राष्ट्रों को, यद्यपि वे साम्राज्य थे, स्वतंत्र राष्ट्रीयता के विशिष्ट आदर्श का आश्रय लेना पड़ा और इसके नायक और रक्षक का रूप धारण करना पड़ा। अमरीका, जो राजनीति की दृष्टि से यूरोप से अधिक आदर्शवादी था, 'स्वतंत्र राष्ट्रों के संघ' की घोषणा के साथ युद्ध में प्रविष्ट हुआ। अंत में रूसी क्रांति का मौलिक आदर्शवाद इस नयी सृजनशील अस्तव्यस्तता में बिल्कुल ही नया तत्त्व ले आया, उसने कूटनीति और स्वार्थ के समस्त दुराव-छिपाव को छोड़कर मनुष्यों के ऐसे प्रत्येक समुदाय का, जो प्राकृतिक रूप में दूसरे समुदायों से अलग था, यह अधिकार स्पष्ट, प्रत्यक्ष और सच्चे रूप में स्वीकार कर लिया कि वह अपनी राजनीतिक स्थिति और भवितव्यता का स्वयं निश्चय करे। ये तीन अवस्थाएं वस्तुतः एक-दूसरे से भिन्न थीं, पर क्रियात्मक रूप में प्रत्येक ही मानवजाति के वस्तुतः संभवनीय भविष्य के साथ कुछ संबंध रखती है। पहली का आधार वर्तमान अवस्थाएं थीं और उसका उद्देश्य एक प्रकार की क्रियात्मक पुनर्व्यवस्था था। दूसरी ने भविष्य की एक ऐसी संभावना को, जो अत्यंत दूर की नहीं थी, तत्काल ही क्रियान्वित करने की चेष्टा की। तीसरी का लक्ष्य था क्रांति की कीमियागिरी से—जिसे हम अनुपयुक्त रूप में क्रांति कहते हैं, वह केवल विकास की एक द्रुत एवं घनीभूत क्रिया है—शीघ्रातिशीघ्र एक ऐसे उद्देश्य को पूरा करना जो अभी बहुत दूर था और जो साधारण घटनाक्रम में, यदि कभी पूरा हो सकता तो, केवल सुदूर भविष्य में ही हो सकता था। इन सभी पर हमें विचार करना है, क्योंकि ऐसी संभावना जो केवल वर्तमान समय की चरितार्थ शक्तियों अथवा प्रत्यक्षतः चरितार्थ हो सकनेवाली संभावनाओं को ही दृष्टि में रखती है अवश्य ही भ्रांतिपूर्ण सिद्ध होगी। इसके अतिरिक्त रूसी विचार ने अपने-आपको चरितार्थ करने का प्रयत्न करके, उस समय चाहे वह कितना भी निष्प्रभाव क्यों न रहा हो, अपने-आपको एक ऐसी वास्तविक शक्ति प्रदान की जिसकी जाति के भविष्य पर प्रभाव डाल सकनेवाली शक्तियों में गिनती होनी चाहिये। एक महान् विचार जो व्यवहार-क्षेत्र में अपने-आपको क्रियान्वित

करने की चेष्टा करता है एक ऐसी शक्ति है जिसकी न तो अवगणना की जा सकती है और न ही वर्तमान समय में उसकी तात्कालिक चरितार्थता की प्रत्यक्ष संभावनाओं के अनुसार उसका मूल्य आंका जाता है।

मित्रराष्ट्रों के पश्चिमी यूरोपीय विभाग अर्थात् इंग्लैंड, फ्रांस और इटली ने जो स्थिति ग्रहण की थी उसमें संसार की राजनीतिक पुनर्व्यवस्था के लिये तो स्थान था, किंतु उसकी वर्तमान व्यवस्था में कोई आमूल परिवर्तन किया जाये इसकी ओर उसका ध्यान नहीं था। यह सत्य है कि उसने स्वतंत्र राष्ट्रीयताओं के सिद्धांत की घोषणा की थी, पर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में, जो अब भी स्वाभाविक शक्तियों और स्वार्थों की क्रीड़ा-भूमि है तथा जिसमें आदर्श केवल मानवीय मन की अपेक्षाकृत हाल की उपज हैं, सिद्धांत केवल तभी प्रबल हो सकते हैं जहां और जिस हदतक वे हितों के साथ मेल खाते हैं या जहां और जिस हदतक हितों के विरुद्ध रहने के कारण वे अब भी उन स्वाभाविक शक्तियों द्वारा प्रोत्साहित किये जाते हैं जो इन विरोधी हितों को अभिभूत करने के लिये काफी सशक्त हैं। राजनीति पर आदर्शों का शुद्ध प्रयोग अभी तक एक ऐसी क्रांतिकारी कार्यप्रणाली है जिसके प्रयोग की आशा केवल विशेष संकट के समय ही की जा सकती है। जिस दिन यह जीवन का नियम बन जायेगा, उस दिन स्वयं मानव-प्रकृति और जीवन एक नयी वस्तु, एक अतिपार्थिव और दिव्यप्राय वस्तु बन जायेंगे। पर वह दिन अभी नहीं आया है। यूरोप की मित्रशक्तियां स्वयं ऐसे राष्ट्र थीं जिनका भूत और भविष्य दोनों साम्राज्यीय थे। वे निरे विचार की शक्ति से, वे चाहते तो भी, उस भूत तथा भविष्य से अपने-आपको अलग नहीं कर सकते थे। उनके राजनीतिज्ञों का प्रथम हित और अतएव उनका प्रथम कर्तव्य यह था कि उनमें से प्रत्येक अपने साम्राज्य की रक्षा करे, यहां तक कि जहां उनके विचार में वैध रूप से ऐसा किया जा सकता हो उसका विस्तार भी करे। स्वतंत्र राष्ट्रीयता का सिद्धांत अपने विशुद्ध रूप में केवल वहाँ लागू किया जा सकता था जहां उनके अपने साम्राज्यीय हितों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था, उदाहरणार्थ तुर्की और मध्यवर्ती राष्ट्रों (जर्मनी-आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य) में ऐसा किया गया था, क्योंकि वहां यह सिद्धांत उनके अपने हितों के साथ मेल खाता था तथा, जर्मन, आस्ट्रियन या तुर्क-हितों के विरोध में, इसे एक ऐसे सफल युद्ध की स्वाभाविक शक्तियों से सहायता मिल सकती थी जो अपने परिणाम में नैतिक रूप में उचित था अथवा उचित दिखलाया जा सकता था, क्योंकि उसे उन्हीं शक्तियों ने निमंत्रित किया था जिन्हें उससे कष्ट उठाना पड़ा। यह सिद्धांत अपने शुद्ध रूप में वहां व्यवहार में नहीं लाया जा सकता था जहां उनके अपने साम्राज्यीय हित इससे प्रभावित होते थे, क्योंकि वहां यह उस समय की शक्तियों के विरुद्ध खड़ा था और कोई ऐसी पर्याप्त तुल्यबल शक्ति नहीं थी जिसके द्वारा उस विरोध का प्रतिकार हो सके। अतएव, यहां इसका प्रयोग एक विशेष सीमित अर्थ में करना चाहिये अर्थात् इसे एक ऐसी शक्ति के रूप में प्रयुक्त करना चाहिये जो विशुद्ध साम्राज्यवाद की शक्ति को मद्धिम कर

देगी। इस प्रकार से प्रयोग करने पर वास्तव में, अधिक-से-अधिक इसका यह अर्थ होगा कि आंतरिक स्व-शासन अथवा गृह-शासन को—जिस समय या जिन अवस्थाओं में यह संभव होगा—उस हदतक छूट मिल जायेगी जिस हदतक वह साम्राज्य और अधीनस्थ राष्ट्र के हितों के लिये, जहांतक ये एक-दूसरे के साथ संगत बनकर रह सकते हैं, व्यवहार्य और उचित होगी। दूसरे शब्दों में इसका वही अर्थ लेना चाहिये जो एक साधारण मनुष्य की सामान्य बुद्धि लेगी। रूसी ढंग का विशुद्ध आदर्शवादी, जो अपने सिद्धांत की नग्न विशुद्धता के सिवाय और किसी की परवाह नहीं करता, इस सिद्धांत का जो अर्थ लेता है वह न तो कहीं लिया जा सकता है और न कहीं लिया ही गया है।

स्वतंत्र राष्ट्रीयता के इस विशेष सिद्धांत के व्यावहारिक परिणाम तब क्या होते जब इसके प्रतिनिधियों अर्थात् मित्रराष्ट्रों की पूर्ण विजय के बाद इसका प्रयोग करना संभव होता? अमरीका में इसके तात्कालिक प्रयोग के लिये क्षेत्र ही न मिलता। अफ्रीका में न केवल स्वतंत्र राष्ट्र ही नहीं हैं, बल्कि सच पूछो तो वहां मिस्र और अबिसीनिया को छोड़कर कोई भी राष्ट्र नहीं है। कारण, अफ्रीका ही संसार का एक ऐसा भाग है जहां पुरानी उपजातीय अवस्थाएं अब भी अपना अस्तित्व रखती हैं तथा जहां केवल पुरानी उपजातियां ही रहती हैं, शब्द के राजनीतिक अर्थों में राष्ट्र नहीं। वहां मित्र-राष्ट्रों की पूर्ण विजय का अर्थ इस महाद्वीप का तीन औपनिवेशिक साम्राज्यों इटली, फ्रांस और इंग्लैंड में विभाजन होता; साथ में विदेशी राज्य से घिरे हुए बेल्जियन, स्पैनिश और पुर्तगाली राज्य भी थे, अबिसीनिया का राज्य भी कुछ समय के लिये अनिश्चित-सी अवस्था में चल रहा था। उधर एशिया में इसका अर्थ यह होता कि तुर्की साम्राज्य के खंडहरों से तीन या चार नये राष्ट्र प्रकट हो जाते, किंतु ये अपनी अपरिपक्व अवस्था के कारण कुछ समय के लिये तो अवश्य ही इन महान् शक्तियों में से किसी एक के प्रभाव या संरक्षण में रहते। यूरोप में इसका मतलब यह होता कि अलसास और पोलैंड के छिन जाने से जर्मनी अशक्त हो जाता, आस्ट्रियन साम्राज्य का विघटन हो जाता, एड्रियाटिक तट सर्बिया और इटली को वापिस मिल जाता, चैक और पोलिश राष्ट्र मुक्त हो जाते तथा बाल्कन प्रायद्वीप और निकटवर्ती देशों में कोई पुनर्व्यवस्था हो जाती। यह स्पष्ट है कि इस सबका अर्थ संसार के मानचित्र में एक महान् परिवर्तन होता, पर यह कोई आमूल परिवर्तन न होता। कुछ नये स्वाधीन राष्ट्रों के पैदा हो जाने से राष्ट्रीयता की तात्कालिक प्रवृत्ति कुछ अधिक व्यापक हो जाती। साथ ही अधिकृत प्रदेश के विस्तार से तथा विश्वव्यापी प्रभाव और सफल साम्राज्यों के अंतर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों से साम्राज्यीय समुदाय-निर्माण की तात्कालिक प्रवृत्ति को इससे कहीं अधिक व्यापकता मिल जाती।

तब भी, कुछ ऐसे अत्यंत महत्वपूर्ण परिणाम अवश्य ही उत्पन्न हो सकते थे जो अंत में एक स्वतंत्र विश्व-ऐक्य को लाने में सहायता पहुंचाते। इनमें से सबसे अधिक

महत्त्वपूर्ण परिणाम, अर्थात् रूस की क्रांति का परिणाम, जो युद्ध तथा उसके 'स्वतंत्र राष्ट्रीयता' के नारे से उत्पन्न हुआ था, पर जो क्रांतिकारी सिद्धांत की सफलता और सुरक्षा पर निर्भर था, यह है कि रूस एक उग्र साम्राज्य नहीं रहा है और वह एक साम्राज्यीय समुदाय के स्थान पर स्वतंत्र गणतंत्रों का संगठन या संघ बन गया है। दूसरा परिणाम है जर्मन ढंग के साम्राज्यवाद का विनाश तथा कुछ ऐसे स्वाधीन राष्ट्रों की मुक्ति जो उसके आतंक के नीचे दबे हुए हैं।^१ तीसरा यह है कि ऐसे विशेष राष्ट्रों की संख्या बढ़ गयी है जो यह मांग करने लगे हैं कि उनका पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया जाये तथा विश्व के कार्यों में वे अपनी न्यायोचित आवाज उठा सकें; यह बात इस विचार को बल देती है कि स्वतंत्र विश्व-ऐक्य अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं का अंतिम समाधान है। चौथा परिणाम यह है कि ब्रिटिश राष्ट्र ने साम्राज्य की अनिवार्य पुनर्व्यवस्था में स्वतंत्र राष्ट्रीयता के विशिष्ट सिद्धांत को निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया है।

इस विकास ने दो रूप धारण किये, आयर्लैण्ड और भारतवर्ष में गृह-शासन के सिद्धांत की स्वीकृति, तथा प्रत्येक अवयवभूत राष्ट्र की इस मांग की स्वीकृति कि वह साम्राज्य की परिषदों में अपनी आवाज उठा सकता है जो गृह-शासनों की दशा में निश्चित ही स्वतंत्र और समान आवाज होगी। सब मिलाकर इन दो चीजों का अर्थ होगा राष्ट्रीयतावादी साम्राज्यवाद के पुराने सिद्धांत पर निर्मित साम्राज्य का—जिसकी प्रतिनिधि प्रमुख राष्ट्र इंग्लैंड की सर्वोच्च सरकार थी—राष्ट्रों के एक ऐसे स्वतंत्र और समान राष्ट्र-मंडल में परिवर्तन, जो अपने सामान्य कार्यों की व्यवस्था एक नमनीय सहयोग के द्वारा तथा पारस्परिक सद्भावना और समझौते के साथ करता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार के विकास का अर्थ अंत में कुछ सीमाओं के भीतर ठीक उस सिद्धांत का

^१ 'बोलशेविक शासन में ये गणतंत्र व्यावहारिक रूप में उतने स्वतंत्र नहीं हैं जितने कि सिद्धांत रूप में। फिर भी सिद्धांत तो है ही और यह अधिक स्वतंत्र भविष्य में विकसित हो सकता है।

^२ दुर्भाग्यवश, प्युहरर के अधीन सैनिक जर्मनी के भयानक रूप में बचे रहने से इस परिणाम का विलीन होना अवश्यंभावी था।

^३ अब यह अधिराज्य पद कहलाता है। दुर्भाग्य से यह स्वीकृति आयर्लैंड में एक अत्युग्र संघर्ष के बिना कार्यरूप में परिणत नहीं की जा सकी, साथ ही देश के विभाजन से भी इस स्वीकृति में बाधा पड़ी। भारतवर्ष में अधिराज्य पद एक प्रबल निष्क्रिय प्रतिरोध के बाद ही स्वीकार किया गया था पर एक ऐसे क्षत-विक्षत रूप में जिसने पूरी स्वीकृति को सुदूर भविष्य की वस्तु बना दिया। मिस्र देश में भी संघर्ष के बाद ही स्वतंत्रता मिली थी जो कि एक नियंत्रणकारी ब्रिटिश संधि के अधीन थी; फिर भी राष्ट्रीयतावादी सिद्धांत स्वतंत्र ईराक के तथा अरब राज्यों और सीरियन गणतंत्रों के निर्माण में, ईरान से साम्राज्यीय प्रभाव के निवर्तन में तथा सबसे अधिक अधिराज्य पद की उस योजना में कार्य कर रहा था जिसने प्रभुतापूर्ण साम्राज्य के स्थान पर लोगों को राष्ट्र-मंडल में आंतरिक रूप में स्वतंत्र और समान स्थिति प्रदान की थी। इन सब परिणामों ने, चाहे ये कितने भी अपूर्ण क्यों न हों, उन महत्तर प्राप्तियों के लिये मार्ग तैयार किया जिन्हें अब हम स्वतंत्र जातियों के एक नये संसार के अङ्ग के रूप में चरितार्थ हुई देख रहे हैं।

प्रयोग भी हो सकता है जो अधिक बड़े परिमाण में एक स्वतंत्र विश्व-ऐक्य के संविधान के मूल में होगा। इससे पहले कि यह राष्ट्र-मंडल एक चरितार्थ तथ्य बन सके बहुत कुछ करना पड़ेगा, कई कार्य करने पड़ेंगे, अनेक विरोधी शक्तियों पर विजय प्राप्त करनी होगी, किंतु इसने सिद्धांत और बीजरूप में जन्म ले लिया है; यह बात विश्व-इतिहास की एक उल्लेखनीय घटना है। भविष्य के लिये अब दो प्रश्न रह गये। इस प्रयोग का उन दूसरे साम्राज्यों पर क्या प्रभाव पड़ेगा जो प्रबल केंद्रीकरण के पुराने सिद्धांत के साथ चिपके हुए हैं? संभवतः इसका यह प्रभाव होगा—यदि इसे सफलता मिली तो—कि जैसे ही इन्हें सबल राष्ट्रीयतावादी आंदोलनों के विकास का सामना करना पड़ेगा ये उसी या उससे मिलते-जुलते समाधान को अपनाने के लिये प्रेरित होंगे, जिस प्रकार इन्होंने इंग्लैंड से, कुछ संशोधन के साथ, उसकी सफल संसद्-शासन-पद्धति को अपनाया था जो उसके राष्ट्र के कार्यों में प्रयुक्त होती थी। दूसरा प्रश्न यह है कि इन साम्राज्यों तथा उन अनेक स्वाधीन असााम्राज्यीय राष्ट्रों या गणतंत्रों के बीच, जो विश्व की नयी व्यवस्था में उपस्थित होंगे, क्या संबंध होगा? साम्राज्यीय विचार को व्यापक बनाने के लिये नये प्रयत्नों से इनकी कैसे रक्षा की जायेगी अथवा अंतर्राष्ट्रीय समिति में इनके अस्तित्व को साम्राज्यों की विशाल और अभिभूतकारी शक्ति के साथ कैसे समन्वित किया जायेगा। यहीं स्वतंत्र राष्ट्रों के संघ (League of Free Nations) के अमरीकन विचार ने हस्तक्षेप किया तथा सैद्धांतिक रूप में समर्थन भी प्राप्त किया।

दुर्भाग्यवश, यह जानना सदा ही कठिन रहा कि व्यवहार में इस विचार का ठीक अर्थ क्या होगा। इसके प्रथम प्रतिनिधि राष्ट्रपति विलसन के उद्गारपूर्ण शब्द एक ऐसे आकर्षक पर अस्पष्ट आदर्शवाद को प्रकट करते थे जो स्फूर्तिजनक विचारों और शब्दों से पूर्ण तो था, पर उसका कोई स्पष्ट और विशेष प्रयोग नहीं हो सकता था। राष्ट्रपति विलसन के मस्तिष्क के पीछे जो विचार था उसे समझने के लिये हमें अमरीकन जाति के पूर्व इतिहास तथा उसके परंपरागत स्वभाव पर दृष्टि डालनी चाहिये। संयुक्त राज्य अपनी भावना और सिद्धांत में सदा से ही शांतिप्रिय और असााम्राज्यवादी था, तथापि उसमें राष्ट्रीयतावादी अनुभवशीलता की एक ऐसी मंद प्रवृत्ति थी जिससे कुछ समय पूर्व यह भय उत्पन्न हो गया था कि वह साम्राज्यवादी दिशा ग्रहण कर लेगी। इसने राष्ट्र को दो-तीन युद्ध करने के लिये प्रेरित किया, जिनकी समाप्ति विजय में हुई और फिर इन विजयों के परिणामों का इसे अपने असााम्राज्यीय शांतिवाद से मेल बिठाना पड़ा। इसने मैक्सिकन टेक्सास (Mexican Texas) को युद्ध द्वारा अपने साथ मिलाया और इसके बाद उसे संघ के एक अवयवभूत राज्य में बदल दिया, साथ ही वहां एक बड़ी संख्या में अमरीकन उपनिवेशवादियों को बसा दिया। इसने क्यूबा को स्पेन से और फिलिपाइन्स को पहले स्पेन से और बाद में प्रबल फिलीपीनोस (Filipinos) से जीत लिया, और क्योंकि

यह उन्हें उपनिवेशवादियों से नहीं भर सका, इसने क्यूबा को तो अमरीकन प्रभाव के अधीन स्वाधीनता दे दी और फिलीपीनोस को पूर्ण स्वाधीनता देने का वायदा किया। अमरीकन आदर्शवाद सदा ही अमरीकन हितों के चतुरतापूर्ण विचार से संचालित होता रहा है और इन हितों में से सर्वोच्च हित अमरीकन राजनीतिक विचार और उसके संविधान की सुरक्षा माना जाता है जिसके लिये समस्त साम्राज्यवाद को, चाहे वह विदेशी हो, अथवा अमरीकन, एक घातक खतरा समझना होगा।

इसके फलस्वरूप तथा मित्र-शक्तियों के इस अत्यधिक सुनिश्चित लक्ष्य के साथ इसके अनिवार्य संयोग के फलस्वरूप राष्ट्र-संघ में अवसरवादी और आदर्शवादी दोनों तत्त्वों का होना आवश्यक था। अवसरवादी तत्त्व का कार्य आवश्यक रूप से मानचित्र का वैधानीकरण और संसार की राजनीतिक रचना को, जैसे ही वह युद्ध के विक्षोभ से प्रकट हुई, उसके प्रथम रूप में स्वीकार करना था। यदि उसके आदर्शवादी पक्ष को संघ में अमरीकन प्रभाव के प्रयोग से सहायता मिलती तो वह इस बात का समर्थन करता कि उसके कार्यों में गणतंत्रीय सिद्धांत अधिकाधिक लागू हो; इसके परिणामस्वरूप विश्व के एक ऐसे संयुक्त राज्य का अंतिम रूप से उदय हो सकता था जिसमें राष्ट्रों की जनतंत्रीय कांग्रेस शासन करनेवाली एजेंसी के रूप में होती। यदि एक सच्चा राष्ट्र-संघ व्यवहार्य सिद्ध होता या उसे सफलता मिलती तो वैधानीकरण का एक अच्छा फल यह हो सकता था कि युद्ध के अवसर बहुत कम हो जाते, सर्वश्रेष्ठ अवस्थाओं में भी यह एक पूर्वनिश्चित परिणाम नहीं होता।' किंतु इसका एक यह बुरा परिणाम होता कि जिस वस्तु-स्थिति को कुछ हदतक कृत्रिम, अनियमित, नियमविरुद्ध और केवल अस्थायी रूप में उपयोगी होना चाहिये था वह रूढ़ हो जाती। कानून व्यवस्था और सुस्थिरता के लिये आवश्यक है, किंतु, यदि यह परिस्थितियों और नयी आवश्यकताओं की मांग के अनुसार कानूनों को बदलने के लिये एक कार्यकारी यंत्र तैयार न कर ले तो यह एक अनुदार और बाधक शक्ति बन जाता है। यह तभी हो सकता है यदि एक सच्ची संसद, महासभा अथवा राष्ट्रों की एक स्वतंत्र परिषद् चरितार्थ तथ्य बन जाये। इस बीच, पुराने सिद्धांतों की रक्षा के लिये जो शक्ति संचित है उसका प्रतिकार कैसे किया जाये तथा एक ऐसे विकास को निश्चित रूप से कैसे लाया जाये जो गणतंत्रीय अमरीकन आदर्श के अभीष्ट लक्ष्य की ओर ले जायेगा? ऐसे संघ में अमरीका की उपस्थिति तथा प्रभाव इस उद्देश्य के लिये पर्याप्त नहीं होंगे, क्योंकि उसके साथ कुछ अन्य प्रभाव भी होंगे जिनमें से कुछ उस समय की अवस्था को रखना चाहेंगे तथा कुछ की रुचि साम्राज्यीय समाधान का विकास करने में होगी। एक अन्य शक्ति, एक अन्य प्रभाव की आवश्यकता पड़ेगी। यहां रूसी आदर्श—यदि वह यथार्थ रूप में लागू किया गया और उसे एक शक्ति बना दिया

अंत में जिस राष्ट्र-संघ का निर्माण हुआ था उसमें अमरीका सम्मिलित नहीं था, उसकी रचना यूरोपीय कूटनीति के साधन के रूप में हुई थी जो उसके भविष्य के लिये एक अपशकुन था।

गया —हस्तक्षेप कर सकता है और साथ ही उसका औचित्य भी सिद्ध हो सकता है। हमारे उद्देश्य के लिये यही उन तीनों साम्राज्य-विरोधी प्रभावों में से सबसे अधिक मनोरंजक और महत्वपूर्ण प्रभाव होगा जिन्हें प्रकृति अपनी महान् भट्टी में तत्त्वों के रूप में डाल सकती है, जिससे कि वह मानव पार्थिव पिंड को उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये, जो अभीतक अज्ञात है, नये सिरे से ढाल सके।

स्वतंत्र राज्यसंघ का सिद्धांत

स्वतंत्र एवं स्व-निर्णायक राष्ट्रों के संघ के बारे में मूल रूसी विचार के मुद्दे क्रांति के अस्थायी तथ्य के कारण बहुत जटिल हो गये थे, क्योंकि वह क्रांति, जैसा कि फ्रेंच क्रांति ने उससे पहले किया था, तत्क्षण ही और बिना किन्हीं सरल मध्यवर्ती अवस्थाओं के केवल सरकार के ही संपूर्ण आधार को नहीं, वरन् समाज के भी संपूर्ण आधार को बदलना चाहती थी, इसके अतिरिक्त वह एक भीषण युद्ध के दबाव के नीचे कार्य कर रही थी। इस दोहरी स्थिति का अनिवार्य रूप से यह परिणाम हुआ कि एक अभूतपूर्व अराजकता स्थापित हो गयी तथा गौण रूप से यह कि एक ऐसा उग्र दल बलपूर्वक अधिपति बन बैठा जो क्रांति के विचारों के अत्यधिक दुराग्रही और हिंसक रूप का प्रतिनिधित्व करता था। इस बात में बोलशेविक निरंकुशता फ्रांस के आतंक-राज्य (Reign of Terror) की जेकोबिन निरंकुशता से मिलती है। यह पिछली निरंकुशता इतने काफी समयतक रही कि यह अपना कार्य पूरा कर सकी; यह समाज की उत्तर-सामंतिक प्रणाली के स्थान पर जनतंत्रीय विकास के पहले मध्यवर्गीय आधार को बलपूर्वक और स्थायी रूप से ले आयी। रूस में श्रमिकदलीय निरंकुशता अर्थात् सोवियत-शासन ने अपना प्रभुत्व भली-भांति जमा लिया था तथा वह अधिक समयतक ठहरा भी, इस प्रकार वह समाज को उसी विकास के दूसरे तथा अधिक उन्नत आधार की ओर अथवा और भी आगे के विकास की ओर ले जा सका, किंतु हमारा संबंध यहां केवल स्वतंत्र राष्ट्रीयता के आदर्श पर इसके प्रभाव से है। इस विषय पर समस्त रूस, उस छोटे प्रतिक्रियात्मक दल को छोड़कर, शुरू से ही एकमत था; पर बल पर आधारित शासन के सिद्धांत का आश्रय लेने से एक ऐसा विरोधी तत्व उत्पन्न हो गया जिसने स्वयं रूस में ही इसे पूरी तरह से कार्यान्वित किये जाने में कठिनाई उपस्थित कर दी तथा उस शक्ति को कम कर दिया जिसे यह विश्व-विकास के निकट भविष्य में प्राप्त कर सकता था।^१ कारण यह एक ऐसे नैतिक सिद्धांत पर आधारित है जो भविष्य की वस्तु है जब कि दूसरे राष्ट्रों का बल पर आधारित शासन भूत और वर्तमान काल की वस्तु है और स्वतंत्र चुनाव और स्वतंत्र स्थिति के आधार पर नयी विश्व-व्यवस्था की स्थापना के साथ मूलतः असंगत है। अतएव, इसपर हमें, उस सब प्रयोग से स्वतंत्र रहकर, जो अभी किया गया है और जो निश्चय ही कुंठित और अपूर्ण है, पृथक् विचार करना चाहिये।

^१ समाजवादी रूस के अवयवभूत राज्यों को सांस्कृतिक, भाषासंबंधी तथा अन्य प्रकार की स्वायत्तता प्राप्त है, किंतु शेष सब भ्रममूलक है, क्योंकि ये राज्य वस्तुतः मास्को में एक अत्यधिक केंद्रित निरंकुश सरकार द्वारा शासित होते हैं।

अबतक विश्व की राजनीतिक व्यवस्था एक ऐसे आधार पर टिकी रही है जो प्रायः पूर्ण रूप से भौतिक एवं प्राणिक अर्थात् भौगोलिक, व्यापारिक, राजनीतिक और सैनिक ढंग का था। राष्ट्र-सिद्धांत और राज्य-सिद्धांत दोनों की रचना इसी आधार पर की गयी है और दोनों ने इसी आधार पर कार्य भी किया है। सर्वप्रथम जिस एकता को प्राप्त करने का यत्न किया गया, वह एक भौगोलिक, व्यापारिक, राजनीतिक और सैनिक एकता थी और इस एकता को स्थापित करते हुए जाति का प्रारंभिक सबल तत्त्व, जिसपर कुल और उपजाति आधारित थे, सर्वत्र ही अभिभूत कर दिया गया। यह सत्य है कि राष्ट्र-भाव अभीतक अधिकतर जाति की भावना पर आधारित है, किंतु यह एक काल्पनिक-सी बात है। राष्ट्र-भाव अनेक जातियों के सम्मिलन के ऐतिहासिक तथ्य को आच्छादित कर देता है और प्राकृतिक हेतु को ऐतिहासिक और भौगोलिक संबंध का मूल प्रेरक मानता है। यह कुछ अंश में इस संबंध पर और कुछ अंश में उन दूसरे संबंधों पर आधारित है जो इसे बल प्रदान करते हैं अर्थात् समान हित, समान भाषा और समान संस्कृति पर; इन सबने मिलकर एक ऐसा मनोवैज्ञानिक विचार, एक ऐसी मनोवैज्ञानिक एकता विकसित कर ली है जो राष्ट्रवाद के सिद्धांत के रूप में प्रकट होती है। किंतु राष्ट्र-सिद्धांत और राज्य-सिद्धांत सर्वत्र एकमत नहीं होते, राष्ट्र-सिद्धांत प्रायः ही राज्य-सिद्धांत के द्वारा अभिभूत हो गया है, इसके कारण सदा वही भौतिक और प्राणिक अर्थात् भौगोलिक, राजनीतिक और सैनिक आवश्यकता अथवा सुख-सुविधा रहे हैं। दोनों के संघर्ष में, जैसा कि सब प्राणिक और भौतिक संघर्षों में होता है, शक्ति सदा अंतिम निर्णायक होती है। एक नया सिद्धांत प्रस्तावित किया गया है अर्थात् ऐसा प्रत्येक स्वाभाविक समुदाय, जो अपना अलग पृथक्त्व अनुभव करता है, अपना पद और भाग चुनने का अधिकार रखता है; यह सिद्धांत इन प्राणिक और भौतिक कारणों को सर्वथा अमान्य कर देता है और इनके स्थान पर, राजनीतिक और आर्थिक मांग के विरोध में, स्वतंत्र इच्छा और स्वतंत्र चुनाव का एक शुद्ध मनोवैज्ञानिक सिद्धांत ले आता है। अथवा यूँ कहें कि समुदायीकरण के प्राणिक और भौतिक कारण केवल तभी ठीक माने जायेंगे जब उन्हें यह मनोवैज्ञानिक स्वीकृति मिल जायेगी और वे इसे ही अपना आधार बना लेंगे।

ये दो प्रतिद्वंद्वी सिद्धांत कैसे कार्य करते हैं यह स्वयं रूस के दृष्टांत से देखा जा सकता है जो आज प्रत्यक्ष रूप से हमारे सामने है। फ्रांस, स्पेन, इटली, ग्रेट-ब्रिटेन अथवा आधुनिक जर्मनी की भांति रूस, शब्द के सही अर्थ में, कभी भी राष्ट्र-राज्य नहीं रहा है। वह कई राष्ट्रों का—बृहत् रूस, रुथेनियन युकरेन, श्वेत रूस, लिथुआनिया, पोलैंड, साइबेरिया, जो सभी स्लाविक हैं तथा जिनमें तातारी और जर्मन

‘मित्रराष्ट्रों ने इस प्रस्ताव को “स्व-निर्धारण” के नाम से सिद्धांत-रूप में स्वीकार कर लिया था, पर कहना व्यर्थ है कि ज्यों ही इस घोषणा का प्रयोजन पूरा हो गया त्यों ही इसका त्याग कर दिया गया।

रक्त का मिश्रण है, करलैंड, जो अधिकतर स्लाव पर आंशिक रूप में जर्मन है, फिनलैंड, जिसकी शेष रूस से किसी भी प्रकार की समानता नहीं है और अभी हाल में तुर्किस्तान के एशियाई राष्ट्रों का—समूह रहा है, ये सब एक ही बंधन अर्थात् ज़ार के शासन से बंधे हुए थे। इस प्रकार का ऐक्य मनोवैज्ञानिक दृष्टि से केवल इसलिये उचित ठहराया जाता था कि भविष्य में इन सबके एक ही राष्ट्र में संयुक्त हो जाने की संभावना है तथा रूसी भाषा इस राष्ट्र की संस्कृति, विचार और शासन का साधन होगी; यही उद्देश्य पुरानी रूसी सरकार के सामने था। ऐसा केवल सरकारी बल-प्रयोग के द्वारा ही किया जा सकता था, यह ढंग आयलैंड में इंग्लैंड के द्वारा एक लंबे समयतक व्यवहार में लाया गया था, जर्मनी ने भी जर्मन पोलैंड और लॉरेन में इसे प्रयोग में लाने का यत्न किया था। एक ऐसी संघप्रणाली भी काम में लायी जा सकती थी जो आस्ट्रिया ने हंगरी के साथ अपने दूसरे भागीदार के रूप में अपनायी थी अथवा एक ऐसे दबाव की विधि भी प्रयोग में लायी जा सकती थी जो उदारता, सुविधाओं तथा प्रशासनीय ढंग की अर्ध-स्वायत्तता के तरीकों से नरम कर दी गयी हो, किंतु आस्ट्रिया में इन्हें कम ही सफलता प्राप्त हुई। संघीकरण अभीतक एक सफल सिद्धांत सिद्ध नहीं हुआ है, सिवाय उन राज्यों, राष्ट्रों और उपराष्ट्रों के बीच में, जो एक ही संस्कृति, एक ही अतीत के अथवा पूर्ण विकसित या विकासोन्मुख समान राष्ट्र-भाव के बंधनों से संयुक्त होने की प्रवृत्ति रखते थे; ऐसी अवस्थाएं अमरीका के राज्यों में और जर्मनी में विद्यमान थीं, और चीन और भारतवर्ष में भी हैं, पर ये आस्ट्रिया अथवा रूस में विद्यमान नहीं थीं। या फिर, यदि स्थितियां और विचार परिपक्व अवस्था तक पहुंच जाते तो इस प्रयत्न के स्थान पर राष्ट्रों के एक ऐसे स्वतंत्र एकत्व को लाने के लिये भी यत्न किया जा सकता था जिसमें ज़ार एक अति-राष्ट्रीय विचार का प्रतीक और एकता का सूत्र होता, किंतु इसके लिये संसार की स्थिति अभी तैयार नहीं थी। एक हठपूर्ण मनोवैज्ञानिक बाधा के विरुद्ध एकता का प्राणिक और भौतिक उद्देश्य केवल सैनिक, प्रशासनीय और राजनीतिक शक्ति का ही आश्रय ले सकता था, जिसे पहले कई बार सफलता भी मिल चुकी है। रूस में, जहांतक साम्राज्य के स्लाविक भागों का संबंध है, यह संभवतया धीरे-धीरे सफल हो रही थी; फिनलैंड में और शायद पोलैंड में भी, यह संभवतः उससे कहीं अधिक असाध्य सीमातक असफल हो गयी होती जिस सीमा तक आयलैंड के अंदर बल-प्रयोग का लंबा शासन असफल हुआ था; इसका एक कारण यह है कि रूसी अथवा जर्मन निरंकुश शासन भी क्रोमवेल और एलिजाबेथ के विस्तृत, पूर्ण और अत्यंत क्रूर तथा

‘नाज़ी जर्मनी में मध्यकालीन बर्बर क्रूरता की पुनरावृत्ति होने के बाद, जो ‘आधुनिक’ मानवजाति की सबसे अधिक अनोखी वर्तमान घटना है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किंतु यह शायद एक अस्थायी ढंग की विच्युति मानी जा सकती है, यद्यपि यह मानव-स्वभाव की उन अधिक अंधेरी संभावनाओं पर धुंधला-सा प्रकाश डालती है जो अभी तक अपना अस्तित्व रखती हैं।

लूट-खसोट मचानेवाले तरीकों का पूर्ण सहज रूप से प्रयोग नहीं कर सकता था, साथ ही एक कारण यह भी है कि राष्ट्रवाद का प्रतिरोधी मनोवैज्ञानिक तत्त्व अत्यधिक स्वचेतन तथा संगठित और निष्क्रिय प्रतिरोध करने अथवा जीवित रहने की निष्क्रिय शक्ति प्राप्त करने के योग्य हो गया था।

किंतु, यदि मनोवैज्ञानिक औचित्य में कुछ कमी थी या वह केवल निर्माण की प्रक्रिया में से गुजर रहा था, तो पूर्णतः एकीकृत रूस—जिसमें फिनलैंड भी शामिल था—का प्राणिक और भौतिक पहलू भी अत्यंत प्रबल था। पीटर और कैथेरिन शासकों का कार्य एक सबल राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक आवश्यकता पर आधारित था। राजनीतिक और सैनिक दृष्टि से देखा जाये तो ये सब स्लाविक राष्ट्र बिना एकता के सब कुछ खो देते क्योंकि एकता न होने से ये किसी भी सबल पड़ोसी, स्वीडन, तुर्की, पोलैंड—जब कि पोलैंड एक शक्तिशाली शत्रु-राज्य था—या जर्मनी और आस्ट्रिया के आतंककारी संपर्क के प्रति खुले हुए थे या एक-दूसरे को खोल देते थे। युक्रेन कौसेक्स (Ukraine Cossacks) का रूस के साथ मेल, वस्तुतः, पारस्परिक समझौते के द्वारा तथा पोलैंड के विरुद्ध रक्षात्मक उपाय के रूप में हुआ था। स्वयं पोलैंड का भी, जब एक बार उसकी शक्ति क्षीण हो गयी थी, इस बात में अधिक लाभ था कि वह रूस के साथ मिल जाये इसकी अपेक्षा कि वह तीन बड़े और सबल पड़ोसियों के बीच में अकेला और निःसहाय अवस्था में पड़ा रहे; रूस में उसका पूर्ण रूप से समावेश निश्चित ही तीन बुभुक्षित शक्तियों में उसके घातक विभाजन से अधिक अच्छा समाधान होता। उधर, ऐक्य के द्वारा एक ऐसे राज्य का निर्माण हुआ जो कि भौगोलिक दृष्टि से बहुत संयुक्त था, फिर भी विस्तार में बहुत बड़ा, जनसंख्या में विपुल, प्राकृतिक परिस्थितियों से भली-भांति सुरक्षित तथा संभावित साधनों से इतना भरा-पूरा था कि यदि उसकी उचित व्यवस्था की जाती तो वह अपने-आपको केवल सुरक्षित ही नहीं रख सकता, वरन् आधे एशिया पर, जैसा कि वह कर ही रहा है, और आधे यूरोप पर, जैसा कि वह एक बार बिना उचित व्यवस्था और विकास के करने ही वाला था, अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता, जब कि उसने आस्ट्रो-हंगरी और बाल्कन में एक सशस्त्र मध्यस्थ के रूप में अथवा कहीं उद्धारक और कहीं आतंक के नेता के रूप में हस्तक्षेप किया था। इस दृष्टि से फिनलैंड का आत्मसात्करण भी उचित था, क्योंकि फिनलैंड के स्वतंत्र रहने से रूस भौगोलिक और आर्थिक दृष्टि से अपूर्ण रह जाता तथा अपने तंग बाल्टिक निकास में धिरकर अपना विस्तार न कर सकता। और, उधर सबल स्वीडन या शक्तिशाली जर्मनी के अधीनस्थ फिनलैंड रूसी राजधानी और रूसी साम्राज्य के लिये एक स्थायी सैनिक खतरा हो जाता। इसके विपरीत, फिनलैंड के रूस में विलयन से रूस इस महत्वपूर्ण स्थल पर सुरक्षित, निर्भय और सबल हो गया। यह भी कहा जा सकता है कि स्वयं फिनलैंड को भी कोई वास्तविक हानि नहीं पहुंची, क्योंकि यदि वह स्वाधीन

रहता तो वह इतना छोटा और दुर्बल होता कि वह अपने आसपास की साम्राज्यीय उग्रता का सामना न कर पाता और उसे तब भी रूस की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता। ये सब लाभ उन केंद्रविरोधी शक्तियों द्वारा, कम-से-कम अस्थायी रूप में तो नष्ट कर ही दिये गये हैं जो क्रांति और राष्ट्रों के स्वतंत्र चुनावसंबंधी उसके सिद्धांत के द्वारा खुली छोड़ दी गयी थीं।

यह स्पष्ट है कि ये तर्क, क्योंकि ये प्राणिक और भौतिक आवश्यकता पर आधारित हैं तथा नैतिक और मनोवैज्ञानिक औचित्य की ओर से उदासीन हैं, बहुत दूरतक ले जाये जा सकते थे। ये आस्ट्रिया के ट्रीएस्ट (Trieste) और उसके स्लाविक राज्यों पर स्थापित विगत प्रभुत्व को ही उचित नहीं ठहराते, जैसा कि उन्होंने इंग्लैंड द्वारा आयर्लैंड की विजय और आइरिश लोगों के सतत विरोध के होते हुए भी उसे अधीन रखने के कार्य को उचित ठहराया था, बल्कि कुछ और आगे बढ़कर जर्मनी की सर्वजर्मनवाद की योजना का, यहांतक कि विलीनीकरण और राज्य-विस्तार के उसके बड़े विचारों का भी समर्थन करते। इससे भी आगे बढ़कर यूरोप के राष्ट्रों के उस समस्त साम्राज्यीय विस्तार को भी सत्य सिद्ध किया जा सकता था जिसे अब नैतिक रूप में कोई उचित नहीं मानता और जो केवल बाद में अति-राष्ट्रीय मनोवैज्ञानिक एकताओं की उत्पत्ति के कारण नैतिक रूप में उचित ठहराया जा सकता, क्योंकि प्राणिक और भौतिक कारण तो सदा ही रहते हैं। यहांतक कि एकीकृत रूस की संस्कृति और उसके जीवन के उनके निर्माण-काल में नैतिक अथवा कम-से-कम मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक औचित्य को विस्तारित किया जा सकता था; अनुयोजन (Annexation) और सरकारी शक्ति के द्वारा यूरोपीय सभ्यता को फैलाने और उसे व्यापक बनाने की यूरोप की मांग एक अधिक बड़े पैमाने पर एक प्रकार का नैतिक सादृश्य उपस्थित करती है। इसे ही यदि आगे बढ़ाया जाता तो यह संसार के एक ऐसे एकीकरण के युद्ध-पूर्व जर्मन आदर्श को उचित ठहरा सकती जो जर्मन शक्ति और जर्मन संस्कृति की अजेय ढाल के बल पर किया जाता। प्राणिक आवश्यकता के विस्तार का चाहे कितना भी दुरुपयोग हो सकता हो, इसे संसार में कुछ अधिकार तो प्राप्त होना ही चाहिये। कारण, संसार अभी भी अपने मूल में बल के नियम से, —चाहे यह बल अपने प्रयोग में कितना भी हल्का क्यों न हो—और प्राणिक एवं भौतिक आवश्यकता द्वारा शासित होता है। कम-से-कम रूस, संयुक्त राज्य,^१ यहांतक कि अपनी प्राकृतिक सीमाओं के भीतर आस्ट्रिया^२ जैसे प्राकृतिक और भौगोलिक एकीकृत राज्यों में तो इस आवश्यकता को स्थान मिलना ही चाहिये।

^१ अब हमें इसकी जगह ग्रेट-ब्रिटेन और आयर्लैंड कहना चाहिये, क्योंकि संयुक्त राज्य का अस्तित्व अब नहीं है।

^२ इस दृष्टि से वे भीषण आर्थिक परिणाम ध्यान देने योग्य हैं जिनकी उत्पत्ति आस्ट्रियन साम्राज्य के उन छोटे-छोटे राष्ट्रों में विभक्त होने से हुई थी जो उसके स्थान पर उदित हुए हैं।

रूसी सिद्धांत वस्तुतः उस संभावित भविष्य की वस्तु है जिसमें नैतिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों को प्रबल होने का सच्चा अवसर मिलेगा और प्राणिक और भौतिक आवश्यकताओं को इनके अनुकूल बनना होगा, जब कि अब इससे उल्टा है। यह सिद्धांत उस व्यवस्था के साथ संबंध रखता है जो वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली से ठीक उल्टी होगी। जो वर्तमान वस्तुस्थिति है उसे ऐसी बाधाओं के साथ संघर्ष करना पड़ेगा जो शायद न भी पार की जा सकें। रूसियों का इसके लिये बड़ा मजाक उड़ाया गया था और इससे भी कहीं अधिक उनकी निंदा की गयी थी कि वे स्वेच्छाचारी और सैनिकवादी जर्मनी को, जो दूसरे साम्राज्यों की भांति कपटपूर्ण कूटनीति तथा तलवार के बल पर अपना राज्य-विस्तार करने पर तुल्य हुआ था, राष्ट्रों के स्वतंत्र चुनाव पर आधारित जनतंत्रीय शांति प्रदान करना चाहते थे। व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से यह मजाक उचित भी था, क्योंकि इस प्रस्ताव ने तथ्यों और शक्तियों की उपेक्षा करके निःशस्त्र और निरे विचार की शक्ति को अपना आधार बना लिया था। इन पूर्णरूपेण आदर्शवादी रूसियों ने वस्तुतः उसी भावना से कार्य किया जिसके वश में होकर फ्रेंच लोगों ने अपने क्रांतिकारी उछाह की पहली उमंग में कार्य किया था। इन्होंने स्वाधीनता और जनतंत्रीय शांति का अपना नया सिद्धांत संसार के सामने—प्रारंभ में केवल जर्मनी के सामने ही नहीं—इस आशा से रखा था कि इसका नैतिक सौंदर्य और सत्य तथा इसकी प्रेरणा सरकारों को नहीं, बल्कि लोगों को इसकी स्वीकृति के लिये बाधित कर देंगे जो सरकारों को इसे स्वीकार करने के लिये विवश कर देंगे और यदि उन्होंने विरोध किया तो उन्हें उल्टा देंगे। फ्रेंच क्रांतिकारियों की भांति इन्हें भी ऐसा लगा कि हमारा संसार अभी तक एक ऐसा संसार है जिसमें आदर्श केवल तभी लागू हो सकते हैं यदि इनके साथ अथवा इनके पीछे अत्यधिक प्राणिक और भौतिक शक्ति हो। फ्रेंच जैकोबिन अपने एकात्मक राष्ट्रवाद के आदर्श के साथ, अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर ही, अपने सिद्धांत को विरोधी संसार के मुकाबले में शस्त्रबल के द्वारा कुछ समय के लिये विजय दिलाने में समर्थ हुए। रूसी आदर्शवादियों ने जब अपने सिद्धांत को कार्यान्वित करने के लिये प्रयत्न किया तो उन्हें ज्ञात हुआ कि स्वयं उनका सिद्धांत ही उनकी दुर्बलता का कारण था। उन्होंने जर्मनी की उग्र कठोरता के सामने अपने-आपको निःसहाय अनुभव किया, इसलिये नहीं कि उनमें संगठन का अभाव था, —क्योंकि क्रांतिकारी फ्रांस ने असंगठित होते हुए भी बाधा पर विजय प्राप्त कर ली थी, —किंतु इसलिये कि पुराने स्वीकृत रूसी ढांचे के विलयन ने उन्हें संयुक्त और संगठित कार्य के साधनों से वंचित कर दिया था। यह सब होते हुए भी उनका सिद्धांत नैतिक होने के कारण उस उग्र राष्ट्रवाद से अधिक उन्नत था जो फ्रेंच क्रांति का संपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय परिणाम था; भविष्य के लिये यह सिद्धांत और भी अधिक अर्थपूर्ण है।

कारण, यह स्वतंत्र विश्व-ऐक्य के उस भविष्य के साथ संबंध रखता है जिसमें

स्वतंत्र स्व-निर्धारण का यही सिद्धांत या तो उस व्यवस्था का प्रारंभिक कार्य या मुख्य और अंतिम परिणाम होगा जिसमें संसार राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अंतिम आधार के रूप में युद्ध और बलप्रयोग को समाप्त कर देगा और इनके स्थान पर स्वतंत्र सहमति को अपनाने के लिये तैयार हो जायेगा। यदि यह विचार कार्यान्वित हो सकता—चाहे ऐसा केवल रूस की सीमाओं के अंदर ही होता—और केवल राष्ट्रीय केंद्रीकरण से प्राप्त हो सकनेवाले उग्र बलप्रयोग के द्वारा ही सामूहिक कर्म के किसी सिद्धांत पर पहुंच सकता, तो यह विश्व में एक नयी नैतिक शक्ति बन जाता। अप्रत्याशित क्रांतियों को छोड़कर यह निश्चय ही, बिना अत्यधिक भय-संकोच और मर्यादाओं के, और कहीं भी स्वीकार नहीं किया जायेगा, किंतु संसार को अपने लिये तैयार करने के लिये यह फिर भी एक शक्ति के रूप में कार्य करता रहेगा; और जब संसार तैयार हो जायेगा तो यह मानव एकता की अंतिम व्यवस्था में एक महान् और निर्णायक भाग लेगा। पर यदि यह चरितार्थता की अपनी वर्तमान प्रवृत्ति में पूर्णतया असफल भी हो जाये, तो भी इसे ऐसे भविष्य में, जो अधिक अच्छी तरह तैयार हो चुका होगा, अपना भाग लेना ही होगा।

‘उस समय इस विचार में सत्यता थी, किंतु अब इसका महत्त्व नष्ट हो चुका है और इसका कारण क्रांतिकारी शक्ति का वह सिद्धांत है जो अबतक भी सोवियतवाद का आधार है।

स्वतंत्र विश्व-संघ की शर्तें

स्वतंत्र विश्व-संघ को अपने स्वरूप में एक ऐसी जटिल एकता होना चाहिये जो विभिन्नता पर आधारित हो और फिर उस विभिन्नता को स्वतंत्र स्व-निर्धारण पर आश्रित होना चाहिये। एक यंत्रतुल्य एकात्मक प्रणाली के विचार में मनुष्यों के भौगोलिक समूह प्रांतीय विभाजन और प्रशासन के लिये सुविधाजनक साधन समझे जायेंगे, काफी हदतक उसी भावना में जिसमें फ्रेंच क्रांति ने पुराने प्राकृतिक और ऐतिहासिक विभागों की पूर्ण रूप से उपेक्षा करके फ्रांस का पुनर्निर्माण किया था। यह प्रणाली मनुष्यजाति को एक अखंड राज्य समझेगी और यह पुरानी पृथक्कारी राष्ट्रीय भावना को पूर्ण रूप से मिटा देने की चेष्टा करेगी। यह संभवतः महाद्वीपों के आधार पर अपनी व्यवस्था करेगी और फिर महाद्वीपों को सुविधाजनक भौगोलिक सीमाओं द्वारा पुनः विभाजित कर देगी। इस अन्य प्रकार के बिल्कुल विरोधी विचार में एकता का भौगोलिक और भौतिक सिद्धांत मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के अधीन हो जायेगा, क्योंकि यांत्रिक विभाजन नहीं, बल्कि एक सजीव विभिन्नता इसका लक्ष्य होगी। यदि इस लक्ष्य को प्राप्त करना है तो राष्ट्रों को इस बात की अनुमति मिलनी चाहिये कि वे अपनी स्वतंत्र इच्छा और स्वाभाविक आकर्षणों के अनुसार अपने-आपको समूहों में विभक्त करें। किसी भी अनिच्छुक राष्ट्र या मनुष्यों के विशिष्ट समुदाय को अपनी इच्छा के विरुद्ध दूसरे जनसमुदाय की सुविधा, उन्नति किंवा राजनीतिक आवश्यकता के लिये अथवा सामान्य सुविधा के लिये भी किसी अन्य प्रणाली को स्वीकार करने, उससे संबंध जोड़ने तथा संबंध बनाये रखने के लिये किसी प्रतिबंध या शक्ति के द्वारा विवश नहीं किया जाना चाहिये। इंग्लैंड और कनाडा या इंग्लैंड और आस्ट्रेलिया जैसे राष्ट्र या देश भी, जो भौगोलिक दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत अलग हैं, आपस में जुड़े रह सकते हैं। उधर कुछ राष्ट्र जो भौगोलिक दृष्टि से बहुत पास-पास हैं अलग रहना भी पसंद कर सकते हैं, उदाहरणार्थ, इंग्लैंड और आयर्लैंड या फिनलैंड और रूस। एकता तब जीवन का सबसे बड़ा सिद्धांत होगी, किंतु स्वतंत्रता उसकी आधारशिला रहेगी।^१

समुदायीकरण की यह प्रणाली एक ऐसे संसार में, जो वर्तमान समय के राजनीतिक और व्यापारिक आधार पर टिका हुआ है, बहुधा अजेय कठिनाइयां अथवा गंभीर क्षति उपस्थित कर सकती है; केवल एक ऐसी अवस्था में ही, जिसमें एक स्वतंत्र विश्व-प्रेम संभव हो, ये कठिनाइयां और हानियां निष्प्रभाव हो सकती हैं। रक्षा

^१ अवश्य ही प्रत्येक सिद्धांत को एक उचित सीमातक ही प्रयोग में लाना चाहिये, अन्यथा विचित्र प्रकार की तथा अव्यवहार्य मूर्खताएं सजीव सत्य का स्थान ले सकती हैं।

अथवा आक्रमण की शक्ति के लिये बलपूर्वक लादे गये ऐक्य की सैनिक आवश्यकता भी समाप्त हो जायेगी, क्योंकि युद्ध की अब और संभावना ही नहीं रहेगी। अंतर्राष्ट्रीय मत-विभेदों के निर्णायक के रूप में शक्ति और स्वतंत्र विश्व-संघ दोनों सर्वथा विरोधी विचार हैं और व्यवहार रूप में दोनों इकट्ठे नहीं रह सकते। राजनीतिक आवश्यकता भी समाप्त हो जायेगी, क्योंकि यह अधिकतर संघर्ष की भावना और उसके फलस्वरूप एक ऐसे अंतर्राष्ट्रीय जीवन की अरक्षित अवस्थाओं से बनी हुई है जो संसार में भौतिक और संघटनात्मक दृष्टि से अत्यंत सबल राष्ट्रों को ही प्रधानता प्रदान करता है; यह भावना और ये अवस्थाएं ही सैनिक आवश्यकता को उत्पन्न करती हैं। एक ऐसे स्वतंत्र विश्व-संघ में, जो अपने कार्यों को स्वयं निर्धारित करता हो तथा समझौते के द्वारा अथवा जहां समझौता सफल न हो, वहां मध्यस्थता के द्वारा अपने झगड़े निपटाता हो, एक-दूसरे से पृथक् बड़े-बड़े जनसमुदायों को एक अखंड राज्य में अंतर्भूत करने का एकमात्र राजनीतिक लाभ समुदाय और जनसंख्या से उत्पन्न होनेवाला एक महत्तर प्रभाव होगा। किंतु यह प्रभाव कार्यकारी नहीं हो सकेगा यदि यह अंतर्भाव उन राष्ट्रों की इच्छा के विरुद्ध हो जो राज्य में मिलाये जानेवाले हैं। कारण, तब यह प्रभाव राज्य के अंतर्राष्ट्रीय कार्य में दुर्बलता और फूट को जन्म देगा, जबतक कि यह अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली में अपने परिणाम और जनसंख्या के बल पर, बिना अपने अंगभूत जनसमुदायों की इच्छा और सम्मति का ख्याल किये, अधिक शक्ति प्राप्त न कर ले। इस प्रकार फिनलैंड और पोलैंड की आबादी मतों की संख्या अत्यधिक बढ़ा सकती है, जिनकी संयुक्त रूस राष्ट्र-परिषद् में गणना कर सकता है, किंतु फिन और पोल लोगों की इच्छा, भावना और मतों की अभिव्यक्ति का उस यांत्रिक और अ-वास्तविक एकता में कोई स्थान नहीं होगा; किंतु यह न्याय और तर्क की आधुनिक भावना के विपरीत होने के साथ-साथ स्वतंत्रता के उस सिद्धांत से भी असंगत होगा जो विश्व-व्यवस्था का एकमात्र दृढ़ और शांतिपूर्ण आधार हो सकता है। इस प्रकार, युद्ध के उन्मूलन और शांतिपूर्ण साधनों द्वारा मतभेदों के निपटारे का फल यह होगा कि अनैच्छिक ऐक्य के लिये सेना की आवश्यकता नहीं रहेगी, उधर संसार की प्रत्येक जाति की स्वतंत्र आवाज और स्वतंत्र स्थितिविषयक अधिकार का फल यह होगा कि राजनीतिक रूप में युद्ध अनावश्यक हो जायेगा और उसका कोई लाभ नहीं होगा। युद्ध का उन्मूलन और समस्त जातियों के समान अधिकारों की स्वीकृति एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप में जुड़े हुए हैं। यदि जाति के किसी भी प्रकार के एकीकरण को चरितार्थ करना है तो उस अन्योन्याश्रितता को, जो कुछ समय के लिये यद्यपि अपूर्ण ढंग से ही यूरोपीय संघर्ष के समय स्वीकार की गयी थी, स्थायी रूप से स्वीकार करना पड़ेगा।

आर्थिक प्रश्न अभी बाकी है और यह प्राणिक और भौतिक व्यवस्था की एकमात्र

‘भारतवर्ष का राष्ट्र-संघ में समाविष्ट होना प्रत्यक्ष रूप से इसी ढंग की व्यवस्था रही है।

और ऐसी महत्वपूर्ण समस्या है जो इस ढंग की विश्व-व्यवस्था में किसी भी प्रकार की गंभीर कठिनाइयां उपस्थित कर सकती है अथवा जिसमें एकात्मक प्रणाली के लाभ इस अधिक जटिल एकता के लाभों को वास्तविक रूप में अतिक्रान्त कर सकते हैं। फिर भी दोनों में, एक राष्ट्र का दूसरे के द्वारा बलपूर्वक किया गया आर्थिक शोषण, जो वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का एक काफी बड़ा भाग है, अवश्य ही समाप्त कर दिया जायेगा। तब एक प्रकार के शांतिपूर्ण आर्थिक संघर्ष की संभावना, एक पृथक्ता, कृत्रिम अवरोधों की रचना शेष रह जायेगी और यह एक ऐसा तथ्य होगा जो वर्तमान व्यापारिक सभ्यता का एक विशिष्ट और अत्यधिक महत्वपूर्ण अंग रह चुका है। किंतु यह संभव है कि यदि एक बार संघर्ष का तत्त्व राजनीतिक क्षेत्र से दूर हटा दिया गया तो आर्थिक क्षेत्र में भी उस संघर्ष का दबाव बहुत हदतक कम हो जायेगा। तब स्वयं-संपूर्णता और प्रधानता के लाभ, जिन्हें आजकल राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता और संघर्ष तथा विरोधी संबंधों की संभावना अत्यधिक महत्व देते हैं, काफी हदतक अपनी कठोरता छोड़ देंगे और एक अधिक स्वतंत्र आदान-प्रदान के लाभ अधिक सरलता से सामने आ जायेंगे। उदाहरणार्थ, यह स्पष्ट है कि एक स्वतंत्र फिनलैंड रूसी व्यापार को फिनलैंड के बंदरगाहों में अथवा इटैलियन ट्रिऐस्ट वर्तमान आस्ट्रियन प्रांतों के व्यापार को सहर्ष मार्ग देकर कहीं अधिक लाभ उठायेगा अपेक्षा इसके कि वह अपने और अपने परिपोषकों के बीच में एक अवरोध खड़ा कर ले। आयरलैंड को, जो कि राजनीतिक और प्रशासनीय रूप में स्वाधीन है और जो अपनी कृषि और शिल्प-संबंधी शिक्षा की उन्नति करने तथा अपनी उत्पादन-शक्ति को बढ़ाने में समर्थ है, अपने को ग्रेट-ब्रिटेन से अलग करने की अपेक्षा उसके व्यापार की गति-विधि में भाग लेने में अधिक लाभ होगा; इसी प्रकार ग्रेट-ब्रिटेन भी आयरलैंड को दरिद्र और भुखमरी से पीड़ित बनाकर रखने की अपेक्षा उससे समझौता करके अधिक लाभ उठा सकता है। संसारभर में, एक बार ऐक्य के विचार और लक्ष्य के निश्चित रूप में फैल जाने के बाद हितों की एकता अधिक स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होने लगेगी तथा यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि स्वाभाविक रूप से सामंजस्यपूर्ण जीवन में किये गये समझौते और पारस्परिक सहयोग पृथक्कारी अवरोधों के दबाव से प्राप्त की गयी क्षुब्ध और कृत्रिम समृद्धि से कहीं अधिक लाभकारी हैं। यह दबाव संघर्ष और अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता की अवस्था में अनिवार्य है, पर शांति और ऐक्य की एक ऐसी अवस्था में जो पारस्परिक संबंधों को अनुकूल बनाने में सहायक होगी यह चीज प्रतिकूल सिद्ध होगी। स्वतंत्र विश्व-संघ का सिद्धांत जो कि सर्वसम्मत समझौते द्वारा सामान्य विषयों के निबटारे का सिद्धांत है, केवल राजनीतिक विभेदों को मिटाने और राजनीतिक संबंधों की व्यवस्था करने में ही प्रयुक्त नहीं हो सकता, किंतु इसे स्वभावतः आर्थिक विभेदों और आर्थिक संबंधों पर भी लागू होना चाहिये। युद्ध के उन्मूलन तथा जातियों के स्वनिर्धारण के अधिकार की स्वीकृति के साथ स्वतंत्र ऐक्य की तीसरी शर्त अर्थात्

संसार की अपनी नयी व्यवस्था में पारस्परिक और सर्वसम्मत समझौते द्वारा की जानेवाली आर्थिक जीवन की व्यवस्था भी जोड़ देनी होगी।

अब एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न बाकी रह जाता है, यह उस लाभ का प्रश्न है जो मनुष्यजाति की आत्मा को, उसकी संस्कृति को, उसके बौद्धिक, नैतिक, सौंदर्यात्मक तथा आध्यात्मिक विकास को पहुंचता है। वर्तमान समय में मनुष्यजाति के मनोवैज्ञानिक जीवन की पहली बड़ी आवश्यकता एक महत्तर एकता की ओर उसका विकास है, परंतु इसकी आवश्यकता एक सजीव एकता की आवश्यकता है, सभ्यता के बाह्य रूपों की अर्थात् वेष की, चाल-ढाल और जीवन के अभ्यासों की, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की बारीकियों की नहीं, न उस एकरूपता की ही आवश्यकता है जो एक ऐसी एकता है जिसकी ओर सभ्यता का यांत्रिक युग प्रवृत्त हो रहा है, बल्कि सर्वत्र ही एक ऐसे स्वतंत्र विकास की आवश्यकता है जिसमें आदान-प्रदान सदा ही मित्रतापूर्ण हो, एक घनिष्ठ सद्भाव और हमारी सर्वसामान्य मानवजाति की भावना उपस्थित हो और हों उसमें उसके महान् सर्वसामान्य आदर्श और सत्य जिनकी ओर वह जा रही है और मनुष्यजाति की संयुक्त प्रगति के लिये प्रयत्न की एक विशेष प्रकार की एकता और सुसंगति। अभी यह प्रतीत हो सकता है कि इसमें अधिक अच्छी सहायता इस प्रकार पहुंचेगी और अधिक प्रगति भी इस प्रकार होगी कि विभिन्न राष्ट्र और संस्कृतियां राजनीतिक रूप में पृथक् रहने की अपेक्षा एक ही राजनीतिक राज्य-संघ में मिलकर रहें। कुछ समय के लिये यह एक सीमा तक ठीक हो सकता है, पर यह अभी हमें देखना है कि यह कहांतक ठीक हो सकता है।

एक प्रबल जाति द्वारा एक अधीनस्थ राष्ट्र को बलपूर्वक अपने में मिला लेने का पुराना मनोवैज्ञानिक तर्क यह था कि एक श्रेष्ठ सभ्यता को अपने से निम्न अथवा बर्बर जाति पर दबाव डालने का अधिकार है तथा इसमें लाभ भी है। इस प्रकार वैल्श और आइरिश लोगों को यह कहा जाता था कि उनकी अधीनता उनके देशों के लिये एक महान् वरदान है और उनकी भाषाएं तुच्छ बोलचाल की भाषाएं हैं और जितनी जल्दी उनका लोप हो जाये उतना ही अच्छा है, साथ ही उन्हें यह भी बताया जाता था कि अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी संस्थाएं और अंग्रेजी विचार को स्वीकार करना ही उनके लिये सभ्यता, संस्कृति और समृद्धि प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग है। भारतवर्ष में ब्रिटिश प्रभुत्व को भी इसी कारण उचित ठहराया गया था कि इससे उसे ब्रिटिश सभ्यता और ब्रिटिश आदर्शों का एक अमूल्य उपहार प्राप्त हुआ है, उस एकमात्र सच्चे ईसाई धर्म का तो कहना ही क्या जो एक ऐसे राष्ट्र को प्रदान किया गया था जो उनके विचारों में अन्य पूर्वोक्त देशों की भांति मूर्तिपूजक, तमोग्रस्त और अर्धबर्बर था। अब इस मनगढ़ंत कहानी का भेद खुल गया है। हम काफी स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि कैल्टिक भावना और कैल्टिक संस्कृति का, जो, कुछ व्यावहारिक दिशाओं में हीन होते हुए भी आध्यात्मिकता में लैटिन और ट्यूटोनिक संस्कृतियों से श्रेष्ठ थी, दीर्घकालीन

दमन न केवल कैल्टिक जातियों के लिये ही, वरन् संसारभर के लिये हानिकारक था। जब कि भारतवर्ष ने ब्रिटिश जाति का यह दावा पूरे बल के साथ अस्वीकार कर दिया है कि ब्रिटिश सभ्यता, ब्रिटिश संस्कृति और धर्म अधिक श्रेष्ठ हैं, और वह अब भी राजनीति में तथा महत्तर सामाजिक समानता की प्रवृत्ति में आधुनिक आदर्शों और प्रणालियों को जितना स्वीकार करता है उतना ब्रिटिश को नहीं। और, यह अब अधिक विज्ञ यूरोपीय मनीषियों को भी स्पष्ट रूप से दिखायी दे रहा है कि भारतवर्ष का आंग्लीकरण केवल भारतवर्ष के लिये ही नहीं, मनुष्यजाति के लिये भी हानिप्रद होता।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इस प्रकार के संबंध का पुराना सिद्धांत अशुद्ध था, तथापि स्वयं संबंध अंत में अच्छे परिणाम की ही ओर ले जाता है। यद्यपि आयरलैंड ने अपनी पुरानी राष्ट्रीय भाषा बहुत कुछ खो दी है और वैल्श का अब अपना सजीव साहित्य नहीं रहा है, तो भी एक महान् क्षतिपूर्ति के रूप में कैल्टिक भावना अब पुनः जाग्रत् हो रही है और अंग्रेजी भाषा पर, जो संसारभर में लाखों मनुष्यों द्वारा बोली जाती है, अपनी मुहर लगा रही है; ब्रिटिश साम्राज्य में कैल्टिक देशों के समावेश के परिणामस्वरूप ऐसी एंग्लो-कैल्टिक संस्कृति तथा जीवन विकसित हो सकते हैं जो संसार के लिये दो तत्त्वों के पृथक् विकास से अधिक लाभप्रद होंगे। अंग्रेजी भाषा को आंशिक रूप में प्राप्त करके भारतवर्ष आधुनिक जगत् के जीवन के साथ संबंध स्थापित करने तथा अपने साहित्य एवं जीवन और अपनी संस्कृति को एक अधिक बड़े आधार पर नया रूप देने में समर्थ हो सका है और अब जब कि वह अपनी भावना और अपने आदर्शों को एक नये सांचे में पुनर्जीवित कर रहा है, वह पश्चिम के विचारों पर अपना प्रभाव भी डाल रहा है; दो देशों के स्थायी ऐक्य और इस घनिष्ठ संबंध के द्वारा उनकी संस्कृतियों की आपसी सतत क्रिया-प्रतिक्रिया, उनके लिये तथा विश्व के लिये भी उनके पृथक् जीवन की अपेक्षा अधिक लाभकारी होगी।

इस विचार में एक अस्थायी तथा प्रतीयमान सत्य है, यद्यपि इस स्थिति का यह पूरा सत्य नहीं है और हमने साम्राज्यीय समाधान अथवा एकता की ओर प्रगति की साम्राज्यीय प्रणाली की मांगों को विचार में लाते हुए इसपर पूरा बल दिया है, पर इसके अंदर निहित सत्य के तत्त्व केवल तभी स्वीकार किये जा सकते हैं, जब एक स्वतंत्र और समान ऐक्य वर्तमान, अस्वाभाविक, क्षोभजनक और मिथ्याकारी संबंधों का स्थान ले ले। इसके अतिरिक्त ये लाभ एक महत्तर एकता की एक ऐसी अवस्था के रूप में ही मूल्यवान् हो सकते हैं जिसमें इस घनिष्ठ संबंध का उतना महत्त्व नहीं होगा। कारण, अंतिम लक्ष्य एक ऐसी सार्वभौम विश्व-संस्कृति है जिसमें प्रत्येक राष्ट्रीय संस्कृति को किसी अन्य संस्कृति में, जो सिद्धांत-रूप में अथवा स्वभाव से ही उससे भिन्न है, विलीन अथवा एकीभूत नहीं हो जाना चाहिये, वरन् उसे विकास के द्वारा अपनी पूर्ण शक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये; तब वह अपनी उस लक्ष्य-प्राप्ति में और सबसे लाभ उठा सकती है, साथ ही अपने लाभ से उनको भी लाभ पहुंचा सकती है।

तथा उन्हें प्रभावित भी कर सकती है; तब ये सब अपनी पृथक्ता और पारस्परिक क्रिया द्वारा मानव पूर्णता के समान लक्ष्य और विचार की पूर्ति में सहायक हो सकेंगी। इसमें सबसे अधिक लाभ पृथक्ता और अलगाव द्वारा नहीं—जिनका कोई भय नहीं है—बल्कि जीवन की एक ऐसी विभिन्नता और स्वाधीनता द्वारा पहुंचेगा जो एक कृत्रिम एकता की यांत्रिकारी शक्ति के अधीन नहीं होगी। स्वयं स्वाधीन राष्ट्र के अंदर भी विकास और विविधता की एक महत्तर स्थानीय स्वतंत्रता की ओर प्रवृत्ति हो सकती है जो लाभदायक तो होगी, किंतु वह एक प्रकार से प्राचीन ग्रीस और भारतवर्ष तथा मध्यकालीन इटली के सजीव स्थानीय और प्रादेशिक जीवन की ओर लौटना होगा, क्योंकि एक ऐसी वस्तु-स्थिति में, जिसमें से भौतिक संघर्ष की पुरानी अवस्थाएं निकाल दी गयी हों, राष्ट्र की स्वाधीनता के संघर्ष, उसकी राजनीतिक दुर्बलता और अस्थिरता की हानियां अब और नहीं रहेंगी, जब कि समस्त सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक लाभ पुनः प्राप्त किये जा सकेंगे। ऐसा संसार, जो अपनी शांति और स्वतंत्रता की ओर से निश्चित होगा, जीवन की वास्तविक मानव-शक्तियों के तीव्रोत्करण पर अपना समस्त ध्यान स्वतंत्रतापूर्वक लगा सकेगा, ऐसा वह एक एकीकृत मनुष्यजाति के सुदृढ़ ढांचे में वैयक्तिक, स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय मन और शक्ति को पूर्ण रूप से उत्साहित और विकसित करके ही कर सकेगा।

यह ढांचा ठीक-ठीक क्या रूप धारण करेगा यह पहले से ही कहना असंभव है और इसके विषय में कल्पना करना भी निरर्थक है। हां, केवल कुछ वर्तमान प्रचलित विचारों का संशोधन या उनका त्याग करना पड़ेगा। विश्व-संसद का विचार पहली दृष्टि में आकर्षक अवश्य है, क्योंकि हमारा मन संसद-प्रणाली का अभ्यस्त हो चुका है; किंतु वर्तमान एकात्मक राष्ट्रीय ढंग की सभा इस बड़े और जटिल प्रकार के स्वतंत्र विश्व-संघ का उपयुक्त साधन नहीं हो सकती, यह केवल एकतात्मक विश्व-राज्य का ही साधन बन सकती है। विश्व-राज्यसंघ का विचार भी, यदि इससे हमारा अभिप्राय इसके जर्मन अथवा अमरीकन रूप से हो, और जिसे इस प्रकार का विश्व-संघ अपना एक मुख्य सिद्धांत बना लेगा, राष्ट्रीय विकास की उस महत्तर विभिन्नता और स्वतंत्रता के लिये उतना ही अनुपयुक्त होगा। वस्तुतः समान मानव लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये, संघर्ष और विभेदों के समस्त कारणों को दूर करने के लिये, पारस्परिक संबंधों तथा पारस्परिक सहायता और आदान-प्रदान के नियमन के लिये राष्ट्रों का एक महासंघ बनाना ही इस एकता का उचित सिद्धांत होगा, साथ ही प्रत्येक इकाई को पूर्ण आंतरिक स्वतंत्रता और स्व-निर्धारण की शक्ति भी प्रदान करनी होगी।

किंतु, यह क्योंकि अधिक शिथिल एकता है तो ऐसी कौन-सी चीज होगी जो पृथक्ता की भावना तथा संघर्ष और विभेद के कारणों को इतने सशक्त रूप में जीवित रहने से रोक दे कि एकता के महत्तर सिद्धांत की स्थिरता के लिये भय उत्पन्न हो जाये—चाहे वह भावना और वे कारण इसे किसी प्रकार की पर्याप्त पूर्णता तक पहुंचने की

अनुमति दे भी दें ? इसके विपरीत, एकात्मक आदर्श इन विरोधी प्रवृत्तियों को इनके रूप, यहांतक कि इनके मूल कारण में ही नष्ट करना चाहता है और प्रतीत होता है कि ऐसा करके वह एक स्थायी एकता को सुरक्षित करता है। किंतु उतर में यह कहा जा सकता है कि यदि, राजनीतिक विचारों और यंत्र-विन्यास के द्वारा, तथा राजनीतिक और आर्थिक भावना के दबाव से, अर्थात् भौतिक लाभों, सुविधाओं, ऐक्य-द्वारा साधित हित के विचार तथा अनुभव के द्वारा एकता लायी जाये तो एकात्मक प्रणाली भी निश्चित रूप से स्थिर नहीं रह सकेगी। कारण, जबतक जीवन सक्रिय रहता है मानव मन और भौतिक परिस्थितियों की सतत परिवर्तनशीलता में, नये विचार और परिवर्तन अनिवार्य होते हैं। विविधता, पृथक्ता और स्वतंत्र जीवन के खोये हुए तत्व को पुनः प्राप्त करने की सुप्त इच्छा उनसे लाभ उठा सकती है जो तब एक स्वस्थ और आवश्यक प्रतिक्रिया समझी जायेगी। ऐसी निर्जीव एकता जो प्राप्त की जा चुकी है आंतरिक जीवन की मांग के दबाव से समाप्त हो जायेगी; उदाहरणार्थ, रोमन एकता जो बाह्य दबाव का प्रतिकार करने में निर्बल और निर्जीव सिद्ध हुई, इसी प्रकार नष्ट हुई थी। और, तब एक बार फिर स्थानीय, प्रांतिक और राष्ट्रीय अहंभाव अपने लिये नये रूपों और नये केंद्रों का पुनर्निर्माण कर लेगा।

दूसरी ओर, एक स्वतंत्र विश्व-संघ में राष्ट्रीय विचार में आमूल परिवर्तन की आशा की जा सकती है यद्यपि मूलतः उसकी शुरुआत का आधार राष्ट्रीय होगा। यह समुदायीकरण के एक ऐसे नये और कम कठोर एवं दृढ़ रूप तथा विचार में विलीन भी हो सकता है जो भावना में पृथक् न होते हुए भी स्वाधीनता और विविधता के उस आवश्यक तत्व को सुरक्षित रखेगा जिसकी व्यक्ति और समुदाय दोनों को अपने पूर्ण संतोष और स्वस्थ जीवन के लिये आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त, मनोवैज्ञानिक विचार और आधार पर, राजनीतिक और यांत्रिक विचार और आधार के समान ही बल देते हुए, हम कह सकते हैं कि यह राष्ट्रीय विचार आवश्यक बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक परिवर्तन के सुनिश्चित विकास के लिये एक अधिक स्वतंत्र और कम कृत्रिम रूप और अवसर प्रदान करेगा, क्योंकि एक ऐसा आंतरिक परिवर्तन ही एकीकरण को स्थायित्व का अवसर प्रदान कर सकता है। वह परिवर्तन मानवजाति के सजीव विचार अथवा धर्म का विकास होगा, क्योंकि केवल इसी प्रकार जीवन, भावना और दृष्टिकोण का मनोवैज्ञानिक रूपांतर साधित हो सकता है जो व्यक्ति और समुदाय दोनों को इस बात का अभ्यस्त बना देगा कि वे अपने वैयक्तिक और सामुदायिक अहंभाव को अपने अधीन रखकर प्रथमतः और प्रधानतः अपनी सर्व-सामान्य मनुष्यजाति में रहें और साथ ही वे मनुष्य के अंदर की दिव्यता को उसके अपने तरीके से विकसित और व्यक्त करने के लिये अपनी वैयक्तिक और सामूहिक शक्ति को तनिक भी न खोयें; एक बार जाति का भौतिक अस्तित्व सुनिश्चित हो जाये तो यह दिव्यता मानव जीवन के सच्चे लक्ष्य के रूप में प्रकट हो जायेगी।

अंतर्राष्ट्रीयता

यह विचार कि मनुष्यजाति एक अखंड जाति है जिसका एक-सा जीवन और एक-सा सामान्य हित है, आधुनिक मन की एक अत्यंत विशिष्ट और महत्वपूर्ण उपज है। यह यूरोपीय विचार का परिणाम है जो विशेषतः जीवन के अनुभव से विचार की ओर जाता है और, अधिक गहराई में गये बिना, विचार से जीवन की ओर वापिस लौटता है; इसमें यह जीवन के बाह्य रूपों और संस्थाओं को तथा उसके क्रम और प्रणाली को बदलने का प्रयत्न करता है। यूरोपीय मन में इसने जो आकार धारण किया है वह प्रचलित भाषा में अंतर्राष्ट्रीयता कहलाता है। अंतर्राष्ट्रीयता मानव-मन और मानव जीवन के राष्ट्रीय विचार और रूप को अतिक्रांत करने का तथा एक तरह से उसे मनुष्यजाति के बृहत्तर समन्वय को साधित करने के हित में नष्ट करने का प्रयत्न है। इन दिशाओं में चलनेवाले विचार को क्रियात्मक रूप में प्रभावकारी होने से पहले सदा ही उस समय के जीवन की किसी यथार्थ सामर्थ्य या विकसनशील शक्ति के साथ संयुक्त होने की आवश्यकता है। किंतु साधारणतया होता यह है कि अपने स्थूलतर सहायक के हित और पूर्वविचारों के संपर्क में आकर यह कम या अधिक रूप में हीन हो जाता है, यहांतक कि इसका रूप ही बिगड़ जाता है और उस रूप में, जो अब शुद्ध और पूर्ण नहीं रहता, यह व्यवहार की पहली अवस्था में प्रवेश करता है।

अंतर्राष्ट्रीयता का सिद्धांत अठारहवीं शताब्दी के विचार से उत्पन्न हुआ था और फ्रेंच क्रांति की पहली आदर्शवादी अवस्थाओं में इसे एक प्रकार की शक्ति प्राप्त हुई थी। किंतु उस समय यह एक ऐसा स्पष्ट विचार नहीं था जिसे अपने-आपको कार्यान्वित करने की विधि का प्रत्यक्ष ज्ञान हो, वरन् यह एक धुंधली-सी बौद्धिक भावनामात्र था। उसे, जीवन में वह सुदृढ़ बल नहीं प्राप्त हुआ जो उसके एक प्रत्यक्ष आकार ग्रहण करने में सहायक होता। जो चीज फ्रेंच क्रांति से और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए संघर्ष से प्रकट हुई, वह एक पूर्ण और स्वचेतन राष्ट्रीयता थी, अंतर्राष्ट्रीयता नहीं। उन्नीसवीं शताब्दी में हम देखते हैं कि यह बृहत्तर विचार चिंतकों के मन में पुनः विकसित हुआ, कभी एक संशोधित रूप में तो कभी विशुद्ध आदर्श के रूप में; ऐसा तबतक चलता रहा जबतक कि इसने समाजवाद और अराजकतावाद की बढ़ती हुई शक्तियों के साथ संयुक्त होकर एक स्पष्ट आकार और एक प्रत्यक्ष प्राणिक शक्ति नहीं प्राप्त कर ली। अपने पूर्ण रूप में यह बुद्धिवादियों की एक ऐसी अंतर्राष्ट्रीयता बन गया जिसे राष्ट्रीयता, जो इसके विचार में भूतकाल की एक संकुचित भावना थी, सहा नहीं थी, जो देशभक्ति को हेय समझती थी, क्योंकि यह उसे एक अयुक्तियुक्त पक्षपात तथा एक ऐसा दुर्भावपूर्ण सामूहिक अहंकार प्रतीत होती थी जो

संकुचित बुद्धि का विशिष्ट गुण है तथा जो अभिमान, पक्षपात, घृणा, उत्पीड़न और राष्ट्र राष्ट्र के बीच विभेद और कलह उत्पन्न करनेवाला है, साथ ही यह उसे भूतकाल का एक ऐसा स्थूल अवशेष प्रतीत होती थी जिसके भाग्य में बुद्धि के विकास द्वारा नष्ट होना लिखा था। यह एक ऐसे दृष्टिकोण पर आधारित है जो मनुष्य को केवल उसके मनुष्यत्व में ही देखता है और जन्म, पद, वर्ग, वर्ण, धर्म, राष्ट्रीयता के उन सब भौतिक और सामाजिक संयोगों को त्याग देता है जो कितनी ही दीवारों और पर्दों के रूप में बनाये गये हैं और जिनकी ओट लेकर मनुष्य ने अपने-आपको दूसरे मनुष्यों से पृथक् कर लिया है; उसने इन्हें ऐसे सहानुभूतिरहित सुरक्षित गृह और खाइयाँ बना लिया है जहाँ से वह इनके विरुद्ध आक्रमण और प्रतिरक्षा का, राष्ट्रों का, महाद्वीपों का, वर्गों तथा काले-गोरे का, धर्म धर्म और संस्कृति संस्कृति का युद्ध ठानता है। बौद्धिक अंतर्राष्ट्रीयतावादी का विचार इस सब बर्बरता को नष्ट करना चाहता है, और उसके अनुसार इसे नष्ट करने का ढंग यह है कि मनुष्य, अपनी सर्वसामान्य मानव सहानुभूति, उद्देश्य और भविष्य के सर्वोच्च हितों के आधार पर, एक-दूसरे के साथ मिलकर रहें। यह अपनी दृष्टि में सर्वथा भविष्यवादी है; यह भूतकाल की अव्यवस्थित और अंधकारमय संपदा की ओर से पीठ फेरकर उस भविष्य की शुद्धतर संपदा की ओर मुंह कर लेता है जब कि मनुष्य, जिसने अब अंत में एक सच्चा बुद्धिशाली और सदाचारी प्राणी बनना आरंभ कर दिया है, अपने से पक्षपात, आवेग और बुराई के इन सब मूल कारणों को अलग कर देगा। मनुष्यजाति विचार और भावना में एक हो जायेगी, और जीवन सचेतन रूप में, जैसा कि वह अब न जानते हुए भी है, पृथ्वी पर अपनी स्थिति में, अपने भाग्य में एक हो जायेगा।

इस विचार की उच्चता और श्रेष्ठता पर कोई शंका नहीं की जा सकती और निश्चय ही ऐसी मानवजाति जो इस आधार पर अपना जीवन आरंभ करेगी, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ, पवित्र, शांतिपूर्ण और प्रबुद्ध जाति होगी जिसकी हम आज आशा कर सकते हैं। किंतु जैसी कि मनुष्य की आज रचना है, उसे देखते हुए, एक निरा विचार, चाहे वह सदा ही एक महान् शक्ति होता है, एक बड़ी दुर्बलता से भी ग्रस्त रहता है। एक बार जब विचार जन्म ले लेता है तो उसमें दूसरे मनुष्यों को अपने अधिकार में करने की, उन्हें अंत में अपने सत्य की स्वीकृति के लिये बाध्य करने की तथा अपने-आपको चरितार्थ करने के लिये किसी प्रकार का प्रयत्न करने की अंतिम योग्यता होती है; यह इसकी शक्ति है। किंतु एक बात और भी है कि, क्योंकि मनुष्य वर्तमान समय में अधिकतर अपने अंदर नहीं, बल्कि बाहर ही अधिक रहता है, वह मुख्यतः अपने प्राणिक जीवन, संवेदनों, सुख-दुःख और रिवाज-अनुवर्ती मानसिकता से संचालित होता है, अपने उच्चतर चिंतक मन से नहीं; और इन्हींमें वह अपना वास्तविक जीवन, वास्तविक अस्तित्व और सत्ता अनुभव करता है, जब कि विचारों का जगत् उसके लिये सुदूर और गहन होता है, और चाहे यह कितना भी

अपने ढंग में शक्तिशाली और रुचिकर क्यों न हो, वह उसके लिये एक सजीव वस्तु नहीं होता; जबतक कि एक शुद्ध विचार जीवन में मूर्त रूप नहीं धारण कर लेता, तबतक यह वास्तविक प्रतीत ही नहीं होता; यह अमूर्तता और सुदूरता ही इसकी कमजोरी है।

इस अमूर्तता की भावना ही विचार को इस बात के लिये प्रेरित करती है कि वह जल्दी-से-जल्दी जीवन के द्वारा स्वीकार कर लिया जाये और एक व्यक्त रूप धारण कर ले। यदि इसे अपनी शक्ति में भरोसा हो सके और जबतक यह मनुष्य की भावना में अपनी जड़ न जमा ले, यह विकसित होने, आग्रह करने और अपना प्रभाव डालने में ही संतुष्ट रह सके, तो यह संभवतः उसकी आत्मा के जीवन का एक वास्तविक भाग, उसके मनोविज्ञान की एक स्थायी शक्ति बन सकता है और उसके जीवन को फिर से अपने अनुरूप ढालने में सफल हो सकता है, पर अनिवार्य रूप में इसकी यह इच्छा होती है कि यह जितनी जल्दी संभव हो जीवन के किसी बाह्य रूप में स्थान प्राप्त कर ले, क्योंकि तबतक यह अपने-आपको सशक्त अनुभव नहीं करता और न ही इसे इस बात का पूरा निश्चय हो सकता है कि इसने अपनी सत्यता को प्रमाणित कर दिया है। इससे पहले कि यह अपना वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर ले, यह कार्यक्षेत्र में उतर पड़ता है और फलस्वरूप अपनी निराशा के लिये मार्ग तैयार कर लेता है, उस समय भी जब कि इसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह जीत रहा है और अपने उद्देश्य की पूर्ति कर रहा है। कारण, सफलता प्राप्त करने के लिये यह अपने-आपको उन शक्तियों और व्यापारों से जोड़ लेता है जो इसके उद्देश्य से नहीं, वरन् किसी अन्य उद्देश्य से प्रेरित होते हैं, किंतु जो अपने पक्ष और मांग को सबल बनाने के लिये इसकी सहायता पाकर प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार, जब कि यह अंत में चरितार्थ हो जाता है, वह इसका एक मिश्रित, अशुद्ध और निष्प्रभाव रूप ही होता है। जीवन उसे एक आंशिक अभ्यास के रूप में तो स्वीकार कर लेता है, किंतु पूर्ण रूप में तथा बिल्कुल सच्चे हृदय से स्वीकार नहीं करता। आनुक्रमिक रूप से सभी विचारों का यही इतिहास रहा है, यह कम-से-कम इस बात का एक कारण है कि क्यों मानव-प्रगति में प्रायः सदा ही कुछ-न-कुछ अवास्तविक, अपूर्ण और कष्टग्रस्त रह जाता है।

मनुष्य-जीवन में वर्तमान समय में कई ऐसी अवस्थाएं और प्रवृत्तियां हैं जो अंतर्राष्ट्रीय विचार के विकास के अनुकूल हैं। इन अनुकूल शक्तियों में सबसे अधिक बलशाली हैं अंतर्राष्ट्रीय जीवन के संबंधों का अनवरत रूप में अधिक निकट आना, संपर्क-बिंदुओं और पारस्परिक व्यवहार के सूत्रों की वृद्धि होना तथा विचार और ज्ञान-विज्ञान में अधिकाधिक समानता आना। विशेषकर विज्ञान इस दिशा में एक बहुत बड़ी शक्ति रहा है, कारण, विज्ञान एक ऐसी चीज है जो अपने परिणामों में सब मनुष्यों के लिये समान है, अपनी प्रणालियों में सबके लिये खुली है, तथा उसके फल सर्व-सुलभ हैं। यह स्वभाव से ही अंतर्राष्ट्रीय है; राष्ट्रीय विज्ञान नाम की कोई चीज हो

ही नहीं सकती, हां, राष्ट्र विज्ञान की उन्नति और उसके कार्य में सहयोग दे सकता है, जो समस्त मनुष्यजाति की अविभाजित संपत्ति हैं। इसलिये वैज्ञानिकों का और उनका, जो विज्ञान द्वारा अत्यधिक प्रभावित हैं अंतर्राष्ट्रीय भावना में विकसित होना आसान है, वस्तुतः अब सारे संसार ने ही वैज्ञानिक प्रभाव अनुभव करना तथा उसमें निवास करना शुरू कर दिया है। विज्ञान विश्व के एक भाग को दूसरे भाग के अधिक निकट संपर्क में ले आया है और इस संपर्क में से ही एक प्रकार की अंतर्राष्ट्रीय मनोवृत्ति विकसित हो रही है, यहांतक कि जीवन के सार्वभौम अभ्यास भी अब असाधारण नहीं रहे हैं और ऐसे व्यक्ति काफी संख्या में विद्यमान हैं जो जितने कि अपने राष्ट्र के नागरिक हैं उतने ही या उससे अधिक संसार के भी नागरिक हैं। ज्ञान का विकास लोगों के अंदर एक-दूसरे की कला, संस्कृति, धर्म और विचारों में रुचि उत्पन्न कर रहा है और कई क्षेत्रों में पुरानी राष्ट्रीयतावादी भावना के पक्षपात, अहंभाव और ऐकांतिकता को तोड़ रहा है। धर्म, जिसे पथप्रदर्शक बनना चाहिये था, अपने बाह्य अंगों पर अधिकतर निर्भर होकर तथा अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के कारण नहीं, बल्कि अवबौद्धिक प्रवृत्तियों के कारण एकता का शिक्षक बनने के स्थान पर, फूट का बीज बोनेवाला अधिक बन गया है; धर्म ने यह समझना आरंभ कर दिया है—पर अभीतक एक धुंधले और निष्प्रभावपूर्ण तरीके से ही—कि आध्यात्मिकता ही अंत में उसका अपना मुख्य कार्य तथा सच्चा उद्देश्य है और साथ ही यह सब धर्मों का सर्वसामान्य तत्त्व एवं उनको बांधनेवाली ग्रंथि भी है। जैसे-जैसे ये प्रभाव बढ़ते जायेंगे और एक-दूसरे को अधिकाधिक सचेतन रूप में सहयोग देने लगेंगे, यह आशा की जा सकेगी कि एक ऐसा आवश्यक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन, जो मनुष्यजाति के जीवन में एक आमूल और वास्तविक रूपांतर ला सकता है, चुपचाप, धीमे-धीमे पर फिर भी अदम्य रूप से और अंत में तो अधिकाधिक बढ़ते हुए बल और वेग के साथ साधित हो जायेगा।

किंतु अभी यह एक धीमी प्रक्रिया है; और इस बीच में अंतर्राष्ट्रीय विचार ने, जो चरितार्थता के लिये उत्सुक था, अपने-आपको उत्तरोत्तर शक्ति को प्राप्त होते हुए दो आंदोलनों—समाजवाद और अराजकतावाद—के साथ संबद्ध कर लिया, प्रायः उनके साथ एक हो गया; इन दोनों आंदोलनों ने अंतर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया है। वस्तुतः इस संबंध को ही साधारणतया लोग अंतर्राष्ट्रीयता कहने लगे। किंतु यह समाजवादी और अराजकतावादी अंतर्राष्ट्रीयता अभी हाल में ही कसौटी पर कसी गयी थी—यह कसौटी थी यूरोपीय युद्ध—और इस कठिन परीक्षा में वह बुरी तरह असफल रही। हर देश में समाजवादी दल ने सहज और अनायास रूप में अंतर्राष्ट्रीय भावना को छोड़ दिया, इस विचार का समर्थक जर्मन समाजवाद इस विकट कार्य में अगुआ रहा। यह सत्य है कि हर देश में कुछ थोड़े-से लोग या तो वीरतापूर्वक अपने सिद्धांतों पर डटे रहे या शीघ्र ही उन्हें उन्होंने अपना लिया, और जैसे ही इस बृहद्

अंतर्राष्ट्रीय जन-संहार के प्रति एक व्यापक असंतोष उत्पन्न हो गया, वैसे ही अधिकाधिक लोग प्रत्यक्ष रूप से इस दिशा की ओर मुड़ते दिखायी दिये, किंतु यह सिद्धांत से अधिक परिस्थिति का परिणाम था। यह कहा जा सकता है कि रूसी समाजवाद में, कम-से-कम उसके उग्रतर रूप में, अंतर्राष्ट्रीय भावना अधिक गहरे रूप में दृष्टिगोचर हुई है, पर जिस चीज को उसने वास्तव में संपन्न करने का प्रयत्न किया वह है श्रमिक राज्य का विकास; यह विकास एक बृहत्तर अंतर्राष्ट्रीय विचार पर नहीं, वरन् एक ऐसी शुद्ध राष्ट्रीयता पर आधारित था जो क्रांति के अवसरों को छोड़कर वैसे उग्र नहीं थी तथा जो स्वयं में परिपूर्ण थी। जो भी हो, रूसी प्रयत्न के जो वास्तविक परिणाम हैं वे अभीतक यही दर्शाते हैं कि यह विचार उस प्राणिक शक्ति और निपुणता को प्राप्त करने में असफल रहा है जो इसे जीवन के लिये उचित ठहराते। मानव-विकास की वर्तमान अवस्था में इसके सत्य अथवा कम-से-कम इसके प्रयोग को उचित ठहराने की अपेक्षा अंतर्राष्ट्रीयता का बलपूर्वक खंडन करने में इनका प्रयोग कहीं अधिक किया जा सकता है।

किंतु जीवन की कठिन परीक्षा में अंतर्राष्ट्रीय आदर्श के प्रायः संपूर्णतया दिवालिया होने का कारण क्या है ? कुछ अंश में यह हो सकता है कि समाजवाद की विजय अंतर्राष्ट्रीयता के विकास के साथ अनिवार्य रूप में बंधी हुई नहीं है। समाजवाद वस्तुतः राष्ट्रीय जनसमुदाय के विकास को पूर्ण बनाने का प्रयत्न है, और इसका तरीका यह है कि व्यक्ति को उस कार्य को करने के लिये विवश किया जाता है जो उसने कभी नहीं किया है अर्थात् उसे अपने लिये उतना नहीं जितना जनसमुदाय के लिये जीना पड़ता है। यह अंतर्राष्ट्रीय विचार का नहीं वरन् राष्ट्रीय विचार का अतिक्रमण है। निःसंदेह, जब एक राष्ट्र का समाज पूर्णता प्राप्त कर लेगा, तभी राष्ट्रों का समाज निर्मित किया जा सकेगा और निर्मित किया भी जायेगा, किंतु यह समाजवाद का बाद का संभव अथवा अंतिम परिणाम है, उसकी प्रथम सजीव आवश्यकता नहीं। जीवन के संकट-काल में प्रथम सजीव आवश्यकता का ही महत्व होता है, जब कि दूसरा और अधिक दूर का तत्त्व एक विचारमात्र रह जाता है, कार्यान्वित होने के लिये तैयार नहीं होता; वह सशक्त तभी बन सकता है जब वह भी सजीव या मनोवैज्ञानिक आवश्यकता बन जाये। वास्तविक सत्य अर्थात् असफलता का सच्चा कारण यह है कि अंतर्राष्ट्रीयता, कुछ विशेष व्यक्तियों को छोड़कर शेष सबके लिये अभीतक एक विचारमात्र है; यह अभीतक ऐसी चीज नहीं बनी है जो हमारे प्राणिक भावों के निकट हो, या फिर हमारे मनोविज्ञान का एक अंग हो। एक साधारण समाजवादी अथवा व्यवसायी-संघवादी (Syndicalist) सामान्य मानव-भावना से मुक्त नहीं हो सकता और चाहे वह साधारण समय में अपनी एक मातृभूमि न भी मानता हो, फिर भी परीक्षा के समय वह अपने अंतरीय हृदय और सत्ता में राष्ट्रवादी ही सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त, एक महत्वपूर्ण तथ्य के रूप में, ये आंदोलन

श्रमिक दल के विद्रोहरूप थे जिन्हें कुछ बुद्धिवादियों ने उस समय की वस्तुस्थिति के विरुद्ध सहायता दी थी; इन्होंने अंतर्राष्ट्रीयता के साथ अपना संबंध इसलिये जोड़ लिया है कि वह भी एक बौद्धिक विद्रोह है और उसका विचार उन्हें युद्ध में सहायता प्रदान करता है। यदि श्रमिकदल के हाथों में शक्ति आ जाये, तो वह अपनी अंतर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को रखेगा या छोड़ देगा ? जिन देशों में यह सब कार्य-व्यवहार का नेता है या रह चुका है, वहां का अनुभव इस प्रश्न का कोई उत्साहजनक उत्तर नहीं देता, और कम-से-कम यह कहा जा सकता है कि जबतक मानवजाति में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन अब की अपेक्षा बहुत अधिक न हो जाये, श्रमिकदल, यदि वह प्रधान पद पर हो, अंतर्राष्ट्रीय भावना को रखने में सफल होने से कहीं अधिक इसका त्याग ही कर देगा और वह अधिकतर पुराने मानवी उद्देश्यों से ही प्रेरित होकर कार्य करेगा।

इसमें कोई संदेह नहीं कि स्वयं यूरोपीय युद्ध उस सबका विस्फोट था जो सफल राष्ट्रीयता में भयावह और अशुभ था, और उसके फलस्वरूप जो संहार देखने में आया वह शुद्धीकरण की एक ऐसी प्रक्रिया सिद्ध हो सकता है जिसने उन अनेकों वस्तुओं को नष्ट कर दिया जिनके नष्ट होने की आवश्यकता थी। इसने अंतर्राष्ट्रीय विचार को बलशाली बना दिया है और उसे सरकारों और राष्ट्रों पर लागू भी कर दिया है, किंतु हम उन विचारों और निश्चयों पर बहुत अधिक निर्भर नहीं रह सकते जो असाधारण संकट तथा परिस्थितियों के प्रबल दबाव के समय बनाये गये हों। अंत में इसका कुछ फल तो निकलेगा ही, उदाहरणार्थ अंतर्राष्ट्रीय व्यवहारों में अधिक न्याय-युक्त सिद्धांतों की मान्यता, एक श्रेष्ठतर, अधिक युक्तियुक्त, कम-से-कम अधिक सुविधापूर्ण अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के प्रयत्न इसके फल हैं। किंतु जबतक मानवता का विचार बुद्धि को ही नहीं वरन् मनुष्य की भावनाओं, संवेदनों स्वाभाविक सहानुभूतियों और मानसिक अभ्यासों को भी अधिकृत नहीं कर लेता, तबतक जो भी प्रगति होगी वह महत्वपूर्ण विषयों की अपेक्षा बाह्य व्यवस्थाओं में तथा आदर्श की तात्कालिक अथवा शीघ्र ही व्यापक और वास्तविक चरितार्थता की अपेक्षा मिश्रित और अहंकारयुक्त उद्देश्यों के लिये इस आदर्श के उपयोग में ही होगी। जबतक मनुष्य का हृदय तैयार नहीं हो जाता, संसार की अवस्थाओं का गभीर रूपांतर नहीं हो सकता; या फिर वह केवल बलप्रयोग अर्थात् भौतिक बलप्रयोग द्वारा या परिस्थितियों के बल से संपन्न किया जा सकता है, परंतु असली कार्य फिर भी बाकी रह जाता है। एक ढांचा तैयार हो जाता है पर उस यांत्रिक शरीर में आत्मा के विकास का कार्य अब भी शेष रह जाता है।

अंतर्राष्ट्रीयता और मानव-एकता

अतएव, एक बड़ी आवश्यकता और एक बड़ी कठिनाई यह है कि मानवता के इस विचार को सहायता पहुंचायी जाये जो विचार पहले से ही हमारे मन पर कार्य कर रहा है, यहांतक कि इसने ऊपर से हमारे कार्यों को किसी अंश में प्रभावित करना भी आरंभ कर दिया है। इस विचार को अब विचारमात्र से—चाहे वह कितना भी सशक्त क्यों न हो—कुछ अधिक बनाना चाहिये, जिससे कि वह हमारी प्रकृति का एक प्रमुख प्रेरक भाव तथा स्थायी अंग बन जाये। इस भाव और अंग की पूर्ति को हमारी मनोवैज्ञानिक सत्ता की आवश्यकता बन जाना चाहिये, उसी प्रकार जैसे कि कौटुंबिक विचार और राष्ट्रीय विचार मनोवैज्ञानिक प्रेरणा बन गये जिनकी पूर्ति की आवश्यकता उनमें निहित थी। किंतु यह कैसे किया जाये? कौटुंबिक विचार को यह सुविधा प्राप्त थी कि वह एक मौलिक प्राणिक मांग में से उत्पन्न हुआ था और इसलिये उसे एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता और प्रेरणा बन जाने में जरा भी कठिनाई नहीं हुई। कारण, हमारी अत्यंत गतिशील तथा प्रबल मानसिक प्रेरणाएं और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएं वे हैं जो हमारी प्राणिक आवश्यकताओं और सहज-प्रेरणाओं में से विकसित हुई हैं। वंशीय और उपजातीय विचारों का भी यही स्रोत था जो कम प्रधान एवं प्रबल था और इसलिये अधिक शिथिल और शीघ्र नष्ट होनेवाला था, पर फिर भी ये विचार मानव-प्रकृति में समुदायीकरण की प्राणिक आवश्यकता से तथा एक ऐसे तैयार आधार से उत्पन्न हुए थे जो उसे कुटुंब के वंश या उपजाति में अनिवार्य और भौतिक रूप से विकसित होने के द्वारा प्राप्त हुआ। ये स्वाभाविक समुदायीकरण के विचार थे और साथ ही ये ऐसे विकासात्मक रूप थे जो पशु-स्तर पर पहले से ही तैयार हो चुके थे।

इसके विपरीत, राष्ट्र-विचार एक प्राथमिक प्राणिक आवश्यकता से नहीं, बल्कि एक दूसरी यहांतक कि तीसरी श्रेणी की आवश्यकता से उत्पन्न हुआ था जो हमारी प्राणिक प्रकृति में निहित किसी चीज का परिणाम नहीं अपितु परिस्थितियों का तथा चारों ओर के विकास का परिणाम थी। इसकी उत्पत्ति प्राणिक आवश्यकता से नहीं, वरन् एक भौगोलिक और ऐतिहासिक आवश्यकता से हुई थी। और हम इसका एक परिणाम यह देखते हैं कि इसे अत्यधिक साधारण तरीके से शक्ति के द्वारा, निःसंदेह आंशिक रूप में, परिस्थितियों की शक्ति के द्वारा या साथ ही भौतिक शक्ति अर्थात् राजा और विजयी जाति की, जो एक सैनिक और प्रबल राज्य में परिणत हो गये थे, शक्ति के द्वारा उत्पन्न करना पड़ा। या फिर यह शक्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया के द्वारा, तथा विजय और अधिकार के विरुद्ध उस क्रांति के द्वारा उत्पन्न हुई जिसने जातियों को एक धीमी

अथवा आकस्मिक सुदृढ़ता प्रदान की; ये जातियां यद्यपि भौगोलिक, यहांतक कि ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एक थीं, तथापि इनमें मेल का अभाव था तथा ये अपनी पहली विषमजातीयता या स्थानीय, प्रादेशिक और अन्य विभाजनों के प्रति बहुत अधिक सचेतन रहीं। किंतु फिर भी आवश्यकता तो वहां थी ही, और कितनी ही असफलताओं और झूठी सफलताओं के बाद राष्ट्र का रूप बना और देशभक्ति का मनोवैज्ञानिक उद्देश्य भी, जो सचेतन राष्ट्रीय अहंभाव के विकास का लक्षण था, उस रूप के साथ उत्पन्न हुआ; यह उसकी आत्मा की अभिव्यक्ति तथा उसके स्थायित्व का आश्वासन था। कारण, एक ऐसी आत्मा के तथा ढांचे के अंदर की मनोवैज्ञानिक शक्ति और उपस्थिति के बिना, स्थायित्व का कोई आश्वासन नहीं हो सकता, स्थायित्व के बिना परिस्थितियों ने जो कुछ भी उत्पन्न किया है उसे स्वयं वे ही आसानी से नष्ट भी कर देंगी। इसी कारण से प्राचीन संसार राष्ट्र बनाने में असफल हुआ था, हां, छोटे परिमाण में, छोटे वंश और छोटे प्रादेशिक राष्ट्र उसने अवश्य बनाये थे पर वे बहुत थोड़े समयतक जीवित रहे और साधारणतया उनकी बनावट भी बड़ी अधूरी रही, उसने केवल कुछ कृत्रिम साम्राज्य ही उत्पन्न किये जो बाद में छिन्न-भिन्न हो गये तथा अपने पीछे घोर अव्यवस्था छोड़ गये।

तब इस अंतर्राष्ट्रीय एकता का क्या होगा जो इस समय रचना से पूर्व की अवस्था की पहली अस्पष्ट वेदना में से गुजर रही है? यह अवस्था परस्पर संयुक्त होने के लिये एक-दूसरे के निकट आते हुए कोषाणुओं के क्षोभ से मिलती-जुलती है। इसके पीछे कौन-सी प्रबल आवश्यकता है? यदि हम केवल बाह्य वस्तुओं की ओर देखें तो यह आवश्यकता, उस आवश्यकता से, जो इसके पहले विद्यमान थी, बहुत कम प्रत्यक्ष तथा प्रबल है। यहां कोई प्राणिक आवश्यकता नहीं है; जहांतक जीवन-यापन का प्रश्न है, संपूर्ण मनुष्यजाति अंतर्राष्ट्रीय एकता के बिना अपना काम भली-भांति चला सकती है; यह जाति का एक पूर्ण, युक्तिसंगत तथा आदर्श सामूहिक जीवन नहीं होगा, पर मानव-जीवन अथवा मानव-समाज में अभीतक ऐसा पूर्ण, युक्तिसंगत या आदर्श तत्त्व है कहां? अभीतक तो नहीं है; तब भी किसी-न-किसी प्रकार हम अपना जीवन चलाते हैं, क्योंकि हमारे अंदर का प्राणिक मनुष्य, जो हमारी सहजप्रवृत्तियों और हमारे कार्यों में एक प्रमुख तत्त्व है, इन वस्तुओं में से किसीकी भी चिंता नहीं करता और जीवन के किसी भी कामचलाऊ अथवा अनिश्चित या आंशिक रूप में अनुकूल प्रणाली से पूरी तरह से संतुष्ट हो जाता है, क्योंकि वह केवल इसीका अभ्यस्त है, अतएव इसे ही वह आवश्यक भी अनुभव करता है। वे मनुष्य जो संतुष्ट नहीं हैं, अर्थात् विचारक और आदर्शवादी, सदा ही संख्या में थोड़े होते हैं और आगे चलकर तो उनका प्रभाव भी नहीं रहता; यद्यपि अंत में वे आंशिक रूप में अपना अभीष्ट प्राप्त कर लेते हैं, तथापि उनकी विजय हार में परिणत हो जाती है। कारण, प्राणिक मनुष्य फिर भी बहुमत में रहता है और उनकी प्रत्यक्ष सफलता को वह उनकी युक्तिसंगत

आशा, स्पष्टदर्शी आदर्श अथवा पूर्णता की सबल मंत्रणा के दयनीय व्यंग में बदल देता है और इस प्रकार उसे निम्न स्तर पर ले आता है।

इस प्रकार के एकीकरण के लिये भौगोलिक आवश्यकता विद्यमान ही नहीं है, जबतक कि हम यह न सोच लें कि विज्ञान ने स्थानसंबंधी दूरियों और बाधाओं को आश्चर्यजनक तरीके से कम तथा हलका करके और इस प्रकार पृथ्वी और उसके निवासियों को एक-दूसरे के अधिक निकट लाकर इसे उत्पन्न किया है। किंतु भविष्य में जो कुछ भी हो, अभीतक तो यह पर्याप्त नहीं है; संसार अब भी काफी बड़ा है और उसके विभाग अभीतक इतने वास्तविक अवश्य हैं कि वह बिना किसी औपचारिक एकता के अपना काम चला सकता है। यदि इसके लिये कोई बलवती आवश्यकता है, तो हम उसे—यदि यह नाम वर्तमान और भविष्य में किसी चीज को दिया जा सकता है—ऐतिहासिक आवश्यकता कह सकते हैं, अर्थात् एक ऐसी आवश्यकता, जिसका जन्म उन वास्तविक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हुआ है जो अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विकास के फलस्वरूप उत्पन्न हुई हैं। और यह आवश्यकता आर्थिक, राजनीतिक और यांत्रिक है, तथा किन्हीं विशेष परिस्थितियों में एक प्रयोगात्मक या प्रारंभिक ढांचा उत्पन्न कर सकती है, किंतु यह शुरू-शुरू में कोई ऐसी मनोवैज्ञानिक वास्तविकता नहीं पैदा कर सकती जो इस ढांचे में जान डाल दे। इसके अतिरिक्त, यह अभी उतनी सजीव है भी नहीं कि यह एक वास्तविक आवश्यकता बन सके, क्योंकि यह, प्रधानतः, कुछ शंकाओं और असुविधाओं को दूर करने की मांग बन जाती है, उदाहरणार्थ युद्ध का अनवरत संकट; यह एक श्रेष्ठतर अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की सबल वांछनीयता का रूप भी धारण कर लेती है। पर अपने-आपमें यह केवल एकता की प्रारंभिक, धुंधली रूपरेखा और उसके अधूरे ढांचे की एक ऐसी संभावना—नैतिक यथार्थता नहीं—उत्पन्न करती है जो किसी अधिक निकट और वास्तविक लक्ष्य की ओर ले जा भी सकती है या नहीं भी।

किंतु बाह्य परिस्थिति के अतिरिक्त एक और शक्ति भी है जिसपर हमें विचार करने का अधिकार है। कारण, उन समस्त बाह्य परिस्थितियों और आवश्यकताओं के पीछे, जिन्हें हम प्रकृति में अधिक सरलता से जान जाते हैं, सदा ही सत्ता के अंदर एक आंतरिक आवश्यकता होती है तथा स्वयं प्रकृति में ही एक ऐसा संकल्प एवं आशय होता है जो उसके विकास के बाह्य संकेतों से पहले प्रकट हो जाता है और सब बाधाओं और असफलताओं के होते हुए भी अंत में अवश्य ही चरितार्थ हो जाता है। आजकल हम यह सत्य प्रकृति के अंदर सर्वत्र, उसके निम्नतम रूपों में भी, देख सकते हैं; सत्ता के ठीक मूल में एक ऐसा संकल्प विद्यमान है जो या तो पूर्णतः सचेतन नहीं है या फिर केवल अपने बाह्य रूप में अंशतः सचेतन है, पर फिर भी वह प्रकृति में विद्यमान अवश्य है। इस संकल्प को तुम अवचेतन या फिर निश्चेतन भी कह सकते हो, पर फिर भी यह एक ऐसा अंध-संकल्प एवं मूक विचार है जिसके अंदर वह आकार पहले से ही निहित है जिसे इसे उत्पन्न करना है, जो परिपार्श्विक

आवश्यकता के अतिरिक्त एक दूसरी आवश्यकता को भी जानता है, वह आवश्यकता जो स्वयं सत्ता में विद्यमान है और जो अटल, अविचल और अनिवार्य रूप में एक ऐसा आकार उत्पन्न करती है जिससे आवश्यकता सर्वश्रेष्ठ तरीके से पूरी हो जाती है, चाहे हम उसकी क्रियाओं में हस्तक्षेप करने या उनका विरोध करने की कितनी भी चेष्टा क्यों न करें।

जीवशास्त्र के अनुसार तो यह सत्य है ही, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह सत्य है, चाहे वह एक अधिक सूक्ष्म और परिवर्तनशील रूप में ही क्यों न हो। मनुष्य का स्वभाव एक ऐसे व्यक्ति का स्वभाव है जो एक ओर तो सदा अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपनी वैयक्तिक सत्ता पर बल देता है तथा उसे विकसित करता रहता है, किंतु दूसरी ओर वह अपने अंदर के 'विचार' और 'सत्य' से भी प्रेरित होता है; यह विचार अथवा सत्य उसे अपनी जाति के दूसरे लोगों से संयुक्त होने के लिये, अपने-आपको उनके साथ और उनको अपने साथ युक्त करने के लिये, मानवसमूह, संघ और समुदाय उत्पन्न करने के लिये प्रेरित करता है। और यदि कोई ऐसा समूह या संघ है जिसे बनाना उसके लिये संभव है, पर जो अभी तक बना नहीं है, तो हम यह निश्चित रूप में जान सकते हैं कि उसे भी वह अंत में उत्पन्न कर ही लेगा। उसके अंदर यह संकल्प सदा या प्रायः पूर्ण सचेतन या पूर्वदर्शी नहीं होता; यह प्रायः अधिकांश में अवचेतन होता है, किंतु तब भी वह अंत में रोका नहीं जा सकता। और यदि वह उसके सचेतन मन में प्रवेश पा ले, जैसा कि अंतर्राष्ट्रीय विचार ने अब कर लिया है, तो हम एक अधिक द्रुत विकास की निश्चित आशा कर सकते हैं; प्रकृति के अंदर निहित इस प्रकार का संकल्प अपने लिये अनुकूल बाह्य परिस्थितियां एवं घटनाएं उत्पन्न कर लेता है अथवा वह देखता है कि घटनाओं के दबाव से ये उसके लिये स्वयं उत्पन्न हो जाती हैं। यदि ये अपर्याप्त भी हों, फिर भी प्रकृति, इनके प्रभाव की प्रत्यक्ष सामर्थ्य से ऊपर उठकर भी, इनका प्रयोग प्रायः करेगी; वह असफलता की संभावना की परवाह नहीं करती, क्योंकि वह जानती है कि अंत में उसे सफलता मिलेगी तथा असफलता का प्रत्येक अनुभव अंतिम सफलता को अधिक पूर्ण बनाने में सहायक होगा।

हां तो, अब यह कहा जा सकता है कि हम प्रकृति की इस अनिवार्य इच्छा पर भरोसा रखें और उसकी कार्यपद्धति का अनुसरण करें। हमें किसी भी प्रकार से यह ढांचा, समुदाय का कोई-सा भी ढांचा, बना लेना चाहिये; कारण, प्रकृति जो रूप बनाना चाहती है उसे वह पूरे-का-पूरा पहले से ही जानती है और अंत में, अपने समय में और उसे चरितार्थ करने के हमारे विचार और संकल्प की शक्ति के द्वारा, वह उस आकार की रचना कर ही लेगी, ऐसा वह परिस्थितियों की प्रबल शक्ति की, सभी प्रकार के दबावों की, यहां तक कि यदि आवश्यकता हुई तो भौतिक शक्ति की सहायता लेकर भी करेगी, क्योंकि भौतिक शक्ति अभी तक उसके आवश्यक यंत्र-

विन्यास का एक अंग प्रतीत होती है; हमें यह ढांचा बना ही लेना चाहिये। एक शरीर तो बना लेना चाहिये, आत्मा उस शरीर में बाद में विकसित हो जायेगी। हमें चिंता नहीं करनी चाहिये, यदि यह शारीरिक रचना कृत्रिम हो अथवा आरंभ में उसके अंदर जीवन डालने के लिये एक छोटी-सी ही सचेतन मनोवैज्ञानिक सत्ता हो या फिर वह भी न हो। वह तो, ज्यों ही शरीर बन जायेगा, अपने-आप ही बननी शुरू हो जायेगी; कारण, राष्ट्र भी आरंभ में उन बेमेल तत्त्वों के द्वारा थोड़े-बहुत कृत्रिम ढंग से बना था जो वस्तुतः एक अवचेतन विचार की आवश्यकता से एकत्र किये गये थे, यद्यपि ऊपर से ऐसा प्रतीत होता था कि यह केवल भौतिक शक्ति अथवा परिस्थितियों के बल से किया गया है। जिस प्रकार एक राष्ट्रीय अहंभाव बना, जिसने अपने-आपको राष्ट्र के भौगोलिक शरीर से एक करके उसमें राष्ट्रीय एकता की मनोवैज्ञानिक सहज-प्रवृत्ति और उमकी पूर्ति की मांग को विकसित किया, उसी प्रकार एक सामूहिक मानव-अहंभाव भी अंतर्राष्ट्रीय शरीर में विकसित हो जायेगा और उसमें वह मानव-एकता की मनोवैज्ञानिक सहज-प्रवृत्ति और उसकी पूर्ति की मांग विकसित कर लेगा। यह स्थायित्व का एक निश्चित आश्वासन होगा। क्योंकि मनुष्य जैसा है उसके रहते, यह सब संभवतः ऐसे ही होगा; वास्तव में यदि हम इससे अच्छा नहीं कर सकते, तो यह इसी प्रकार ही घटित होगा, क्योंकि इसे होना तो हर अवस्था में है, चाहे वह पहले से बुरे ढंग से हो या अधिक अच्छे से।

यह अच्छा रहेगा यदि हम यहां संक्षेप में, इन विचारों के प्रकाश में, उन मुख्य संभावनाओं और शक्तियों का सिंहावलोकन कर लें जो विश्व की वर्तमान अवस्थाओं में हमें इस लक्ष्य के लिये तैयार कर रही हैं। एकीकरण का पुराना तरीका अर्थात् एक ही महान् शक्ति की विजय, जो संसार के कुछ भाग को बलप्रयोग द्वारा समाप्त कर देती है और शेष राष्ट्रों को अधीनस्थ तथा रक्षित राज्यों एवं अधीनस्थ मित्रों का रूप दे देती है, और यह सब एक विशाल और अंतिम एकीकरण का आधारभूत ढांचा बन जाता है, —प्राचीन रोमन एकीकरण का यही रूप था, —इस समय संभव नहीं प्रतीत होता। इसके लिये जल और स्थल-शक्ति की अत्यधिक प्रधानता की, एक अतुल्य रूप में श्रेष्ठ विज्ञान और संगठन की और इस सबके साथ एक निरंतर सफल होनेवाली कूटनीति की और एक अजेय सौभाग्य की भी आवश्यकता पड़ेगी। अतीत के समान यदि भविष्य में भी युद्ध और कूटनीति को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में निर्णायक तथ्य रहना है तो पहले से यह कहना अविचारपूर्ण होगा कि ऐसा सुसंयोग उत्पन्न नहीं हो सकता और यदि अन्य साधन असफल हुए तो इसे उत्पन्न होना ही चाहिये, क्योंकि ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो भविष्य की घटनाओं में असंभव कहला सकती हो; प्रकृतिगत प्रेरणा सदैव अपने साधनों को उत्पन्न कर लेती है, किंतु वर्तमान समय में, भविष्य की संभावनाएं इस दिशा की ओर इंगित करती नहीं प्रतीत होतीं। दूसरी ओर,

समस्त पृथ्वी या कम-से-कम पूर्वी गोलार्ध के तीन महाद्वीपों के लिये यह एक प्रबल संभावना प्रतीत होती है कि उनपर ऐसे तीन या चार विशाल साम्राज्यों का प्रभुत्व स्थापित हो जायेगा जो राज्य-विस्तार में तथा प्रभाव-क्षेत्रों में और रक्षित राज्यों की दृष्टि से अत्यधिक बड़े-चढ़े हैं और इसके द्वारा वे एक ऐसी प्रमुखता प्राप्त कर लेंगे जिसे या तो वे, संघर्ष के सब कारणों से बचते हुए, समझौतों के द्वारा या फिर एक ऐसी प्रतिद्वंद्विता के द्वारा सुरक्षित रख सकेंगे जिसका फल होगा नये युद्ध और परिवर्तन। यही साधारणतया उस बड़े यूरोपीय संघर्ष का परिणाम होता।

किंतु, इस संभावना को राष्ट्रीयता के विचार की पुनर्जीवित शक्ति ने खंडित कर दिया है, यह विचार स्व-निर्धारण के उस सिद्धांत के नये सूत्र में प्रकट किया गया है जिसके प्रति महान् विश्व-साम्राज्यों को कम-से-कम अपनी मौखिक श्रद्धांजलि तो निवेदन करनी ही पड़ी है। अंतर्राष्ट्रीय एकता का विचार ही, जिसकी ओर राष्ट्रीयता की पुनर्जीवित शक्ति का हस्तक्षेप हमें ले जा रहा है, तथाकथित राष्ट्रसंघ का रूप धारण करता है। फिर भी व्यावहारिक रूप में वर्तमान अवस्थाओं में बने राष्ट्रसंघ का या ऐसे किसी भी संघ का, जो शीघ्र ही बननेवाला है, अब भी अर्थ होगा कुछ महान् शक्तियों द्वारा संसार का नियंत्रण, —ऐसा नियंत्रण जो अनेक छोटे-छोटे अथवा कम सशक्त राष्ट्रों की सहानुभूति और सहायता प्राप्त करने की आवश्यकता के द्वारा ही रोका जा सकेगा। इन थोड़े-से राष्ट्रों के बल और प्रभाव पर ही व्यावहारिक रूप में —यदि सैद्धांतिक रूप में नहीं—समस्त महत्वपूर्ण विवादास्पद प्रश्नों का निर्णय निर्भर होगा। और इसके बिना बहुमत के निर्णयों को किसी भी विद्रोही महान् शक्ति या शक्तियों के गुट पर लागू करना संभव नहीं होगा। जनतंत्रीय संस्थाओं का विकास संभवतः, संघर्ष के संयोगों तथा शक्ति के दुरुपयोगों को कम करने में सहायता पहुंचायेगा, तथापि यह पूर्ण रूप से निश्चित नहीं है, किंतु गुट के इस यथार्थ स्वभाव को यह नहीं बदलेगा।

इस सब में एकीकरण के किसी भी ऐसे रूप के बनने की तात्कालिक संभावना नहीं है जो एकता के वास्तविक मनोवैज्ञानिक भाव को स्थान दे, उसके विकास को संपन्न करना तो दूर रहा। ऐसा रूप विकसित हो सकता है, किंतु इसके लिये हमें आकस्मिक संयोगों पर अथवा अधिक-से-अधिक अंतर्राष्ट्रीय विचार में व्यक्त प्रकृति की पूर्वघोषित प्रवृत्ति पर भरोसा रखना पड़ेगा। उस अवस्था में, एक समय, एक ऐसी संभावना थी जो एकदम और द्रुत वेग से किसी और चीज में विकसित होती प्रतीत हो रही थी, अर्थात् संसार के उन उन्नत देशों में एक शक्तिशाली दल का उदय जो अंतर्राष्ट्रीयता के प्रति प्रतिज्ञाबद्ध थे, जो इसकी आवश्यकता को अपने दूसरे लक्ष्यों के लिये पहली शर्त समझते थे और जो इसे प्रधानता देने तथा इसको प्राप्त करने के लिये अंतर्राष्ट्रीय संगठन बनाने के लिये अधिकाधिक कृत-संकल्प थे। श्रमिकदल और बुद्धिवादियों का यह संगठन, जिसने जर्मनी, रूस और आस्ट्रिया में समाजवादी

दल उत्पन्न किये, जिसने हाल में ही नये सिरे से इंग्लैंड के अंदर एक श्रमिकदल की रचना की तथा अधिकतर यूरोपीय देशों में जिसके अपने प्रतिरूप भी थे, इसी दिशा में बढ़ रहा प्रतीत होता है। यह विश्वव्यापी आंदोलन, जिसके अंतर्राष्ट्रीयता और श्रमिक राज्य दो मुख्य सिद्धांत थे, पहले से ही रूसी क्रांति उत्पन्न कर चुका था और ऐसा प्रतीत होता था कि मध्य यूरोप में भी वह एक अन्य बड़ी समाजवादी क्रांति के लिये तैयार है। यह कल्पना की जा सकती थी कि यह दल सर्वत्र संगठित हो जायेगा। ऐसी क्रांतियों की शृंखला के द्वारा जैसी कि उन्नीसवीं शताब्दी में घटी थीं और उनसे कम प्रबल, पर फिर भी अधिक द्रुत उन विकासों की शृंखला के द्वारा जो उनके दृष्टांत के दबाव से साधित हुए थे, या प्रत्येक देश में केवल अधिकाधिक बहुमत प्राप्त करके भी यह दल यूरोप पर प्रभुत्व स्थापित कर सकता था। यह समस्त अमरीकन गणराज्यों तथा एशियाई देशों में अपने प्रतिरूप उत्पन्न कर सकता था। राष्ट्र-संघ के यंत्र-विन्यास का प्रयोग करते हुए अथवा, जहां आवश्यकता हो, बल-प्रयोग या आर्थिक अथवा किसी अन्य दबाव के जोर से भी यह समस्त राष्ट्रों को अंतर्राष्ट्रीय एकीकरण की किसी अधिक कठोर प्रणाली का अनुसरण करने के लिये प्रेरित अथवा बाधित कर सकता था। एक ऐसा विश्व-राज्य अथवा जनतंत्रीय राष्ट्रों का एक सुगठित राज्य-संघ उत्पन्न किया जा सकता था जिसकी सिद्धांतों के निर्णय तथा सभी सर्वसाधारण महत्वपूर्ण विषयों अथवा कम-से-कम सभी विशिष्ट अंतर्राष्ट्रीय विषयों और समस्याओं के लिये एक ही शासक संस्था हो; राष्ट्रों का एक सर्वसामान्य विधान और उसकी व्यवस्था करने के लिये अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा उसे स्थिर रखने और लागू करने के लिये अंतर्राष्ट्रीय पुलिस-नियंत्रण की कोई प्रणाली विकसित हो सकती थी। इस प्रकार, एक विचार की व्यापक विजय के द्वारा, चाहे वह समाजवादी हो या कोई और, जो मनुष्यजाति को अपने नमूने के अनुसार संगठित करना चाह रहा था, अथवा किसी अन्य अभीतक अज्ञात तरीके द्वारा एक पर्याप्त औपचारिक एकता उत्पन्न हो सकती थी।

प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार इस विशुद्ध औपचारिक एकता में से एक यथार्थ मनोवैज्ञानिक एकता उत्पन्न की जा सकती है और क्या उसे सजीव एकता का रूप दिया जा सकता है। कारण, केवल एक औपचारिक, यांत्रिक, प्रशासनीय, राजनीतिक और आर्थिक ऐक्य के द्वारा मनोवैज्ञानिक एकता का उत्पन्न होना आवश्यक नहीं है। कोई भी महान् साम्राज्य अभीतक ऐसा करने में सफल नहीं हुआ है, यहांतक कि रोमन साम्राज्य में भी, जहां एकता की कुछ भावना अवश्य उत्पन्न हुई थी, यह बहुत सुगठित अथवा सजीव नहीं थी; यह अंदर और बाहर के सब आघातों का सामना नहीं कर सकती थी, यह उस अधिक अनिष्टकारी वस्तु को अर्थात् क्षीण और निर्जीव होने के उस भय को, जिसे स्वतंत्र विभेदीकरण के स्वाभाविक तत्त्वों तथा सहायक संघर्ष की कमी अपने साथ लायी थी, नहीं रोक सकती थी। एक पूर्ण विश्व-ऐक्य को निश्चित रूप से यह लाभ होगा कि उसे बाहर की शक्तियों से डरने की आवश्यकता नहीं

पड़ेगी, क्योंकि ऐसी शक्तियों का तब अस्तित्व ही नहीं होगा। किंतु बाह्य दबाव का यह अभाव विघटन के आंतरिक तत्वों को और हास के अवसरों को तो इससे भी अधिक अवकाश एवं बल प्रदान कर सकता है। यह वस्तुतः, एक लंबे समय तक आंतरिक, बौद्धिक और राजनीतिक प्रवृत्ति तथा सामाजिक उन्नति का पोषण कर सकता है जो इसे जीवित रखेगी; किंतु उन्नति का यह सिद्धांत निःशक्तता और अवरोध की उस स्वाभाविक प्रवृत्ति के सामने सदा सुरक्षित नहीं रह सकेगा जिसे विविधता की प्रत्येक कमी और सामाजिक और आर्थिक हित की पूर्ति शीघ्रता से ला सकती है। तब मनुष्यजाति में पुनः जीवन लाने के लिये एकता को भंग करना आवश्यक हो जायेगा। और, फिर जब कि रोमन साम्राज्य केवल रोमन एकता के विचार की ही दुहाई देता था, जो एक कृत्रिम और आकस्मिक सिद्धांत था, यह विश्व-राज्य मानव-एकता के विचार का समर्थन करेगा जो एक वास्तविक और जीवंत सिद्धांत है। किंतु यदि एकता का विचार मानव-मन को प्रभावित कर सकता है तो विभेदकारी जीवन का विचार भी उसे प्रभावित कर सकता है, क्योंकि दोनों ही उसकी प्रकृति की प्राणिक प्रवृत्तियों को आकर्षित करते हैं। इस बात का क्या भरोसा कि ये सहज-प्रवृत्तियां प्रबल नहीं हो जायेंगी, जब कि मनुष्य एक बार एकता का प्रयोग कर चुका है और शायद उसे पता लग गया है कि इसके लाभ उसकी संपूर्ण प्रकृति को संतुष्ट नहीं करते? केवल किसी अत्यधिक शक्तिशाली मनोवैज्ञानिक तथ्य का विकास ही एकता को उसके लिये आवश्यक कर देगा, चाहे अन्य कोई भी परिवर्तन और कौशल उसकी अन्य आवश्यकताओं और सहज-प्रवृत्तियों को संतुष्ट करने के लिये वांछनीय क्यों न हों।

मनुष्यजाति का औपचारिक एकीकरण हमारे सामने एक ऐसी प्रणाली के रूप में उपस्थित होगा जो उत्पन्न और विकसित होगी एवं अपनी उच्चतम अवस्था पर पहुंचेगी। किंतु वस्तुओं का मूल स्वभाव ही ऐसा है कि प्रत्येक प्रणाली अपने शिखर पर पहुंचकर क्षीण होने लगती है और फिर नष्ट हो जाती है। किसी संगठन को क्षीण या नष्ट होने से रोकने के लिये उसके अंदर एक ऐसे मनोवैज्ञानिक तत्त्व का होना आवश्यक है जो स्थायी और शरीर के सब परिवर्तनों के होते हुए भी जीवित रहे। राष्ट्रों में एक सामूहिक राष्ट्रीय अहंभाव के रूप में यह चीज रहती है, यह अहंभाव समस्त प्राणिक परिवर्तनों में से गुजरता हुआ भी सुरक्षित रहता है, किंतु यह किसी भी प्रकार से स्वतः-स्थित और अमर नहीं है, यह कुछ ऐसी चीजों पर आश्रित होता है जिनके साथ यह एकाकार हो जाता है, सर्वप्रथम है भौगोलिक शरीर या देश; दूसरे, एक ही देश में रहनेवाले सभी लोगों के समान हित—जैसे सुरक्षा, आर्थिक हित और उन्नति, राजनीतिक स्वाधीनता; तीसरे, एक ही नाम, भावना और संस्कृति। पर हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि इस राष्ट्रीय अहंभाव का जीवन पृथक्ता और एकता की प्रवृत्तियों के सम्मिलन पर निर्भर करता है, क्योंकि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों से भिन्न होते हुए भी अपने को एक अनुभव करता है। उसकी शक्ति इस बात पर निर्भर रहती है

कि वह उनके साथ आदान-प्रदान करे तथा अपनी प्रकृति के समस्त व्यापारों में उनके साथ संघर्ष करे। किंतु ये सब बातें भी कुल मिलाकर पर्याप्त नहीं हैं, एक और गभीरतर तथ्य भी है। देश का किसी प्रकार का एक धर्म भी होना चाहिये, भौतिक जननी अर्थात् भूमि की पवित्रता को ही नहीं, वरन्, चाहे वह कितने भी अस्पष्ट ढंग की क्यों न हो, एक सामूहिक आत्मा के रूप में राष्ट्र की पवित्रता को भी सतत रूप से, यदि प्रत्यक्ष रूप से न भी हो, मान्यता प्राप्त होनी चाहिये; प्रत्येक मनुष्य का यह पहला कर्तव्य तथा पहली आवश्यकता है कि वह इसे जीवित रखे, इसे दमन और और घातक लांछन से बचाये और यदि यह दब जाये तो देखे, प्रतीक्षा करे और उसे मुक्त तथा पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये संघर्ष करे, यदि किसी घातक आध्यात्मिक रोग के स्पर्श से वह क्षत-विक्षत हो जाये तो वह सदा उसे स्वस्थ और पुनर्जीवित करने तथा उसके जीवन की रक्षा करने के लिये यत्न करे।

विश्व-राज्य अपने निवासियों को शांति, आर्थिक हित, एवं सामान्य सुरक्षा के तथा बौद्धिक, सांस्कृतिक और सामाजिक कार्य एवं उन्नति को साधित करने वाले संगठन के महान् लाभ प्रदान करेगा। इनमें से कोई भी अपने-आपमें अभीष्ट लक्ष्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। शांति और सुरक्षा आजकल हम सब चाहते हैं, क्योंकि ये पर्याप्त रूप में हमारे पास नहीं हैं; किंतु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य के अंदर युद्ध, साहसिक कार्य और संघर्ष की मांग भी विद्यमान है, वह अपने विकास तथा स्वस्थ जीवन के लिये इनकी आवश्यकता प्रायः ही अनुभव करता है। यह सहज-प्रवृत्ति एक वैश्व शांति और निःसार सुरक्षा से अधिकांश में दब तो जायेगी, पर दमन के विरोध में वह सफलतापूर्वक फिर खड़ी भी हो सकती है। आर्थिक हित अपने-आपमें, स्थायी रूप में, हमें संतुष्ट नहीं कर सकता और उसके लिये जो मूल्य चुकाया जायेगा वह इतना भारी होगा कि वह उसके प्रभाव और महत्त्व को घटा देगा। वैयक्तिक और राष्ट्रीय स्वाधीनता की मानव-सहज-प्रवृत्ति विश्व-राज्य के लिये एक सतत भय का कारण हो सकती है, जबतक कि वह अपनी प्रणाली को इतनी निपुणता के साथ व्यवस्थित ही न कर ले कि उन्हें काफी स्वतंत्रता से कार्य करने का अवसर मिल जाये। एक सर्वसामान्य बौद्धिक और सांस्कृतिक प्रवृत्ति और उन्नति बहुत कुछ कर सकती हैं, पर ये अपने-आपमें एक आवश्यक एवं पूर्णतः शक्तिशाली मनोवैज्ञानिक तत्त्व को जन्म देने में समर्थ नहीं भी हो सकतीं। और, जो सामूहिक अहंभाव उत्पन्न होगा उसे केवल एकता की सहज-प्रवृत्ति पर ही निर्भर रहना पड़ेगा; अन्यथा वह उस पृथक्कारी प्रवृत्ति के साथ संघर्ष में आ जायेगा जो राष्ट्रीय अहंभाव को उसकी आधी शक्ति प्रदान करती है।

यह असंभव नहीं है कि इस बाह्य ढांचे के लिये इसकी विकास-प्रक्रिया में ही, एक अनिवार्य आंतरिक तत्त्व उत्तरोत्तर उत्पन्न होता चला जाये, पर कुछ मनोवैज्ञानिक तत्वों का अत्यंत शक्तिशाली रूप में विद्यमान रहना आवश्यक है। परिवर्तन को स्थायी

बनाने के लिये मनुष्यजाति के एक ऐसे धर्म और उसकी समतुल्य भावना की आवश्यकता पड़ेगी जो अपने प्रभाव में देश के राष्ट्रीयतावादी धर्म की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली, स्पष्ट, स्वचेतन और सार्वभौम हो, अर्थात् मनुष्य अपने संपूर्ण चिंतन और जीवन में मनुष्यजाति के अंदर एक ऐसी अभिन्न आत्मा को स्पष्ट रूप में स्वीकार कर ले जिसका प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक राष्ट्र मूर्त रूप और आत्मा-स्वरूप है; मनुष्य उस अहंभाव के सिद्धांत से ऊपर उठ जाये जो पृथक्ता के सहारे जीता है, फिर भी व्यक्तित्व का नाश नहीं होना चाहिये, क्योंकि उसके बिना मनुष्य पंगु हो जायेगा; सामान्य जीवन के एक ऐसे सिद्धांत और एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण हो जो वैयक्तिक विविधता को, विभिन्नता में आदान-प्रदान को तथा साहसिक कार्य और विजय की आवश्यकता को मुक्त रूप से कार्य करने दे—ये सब वस्तुएं मनुष्य की आत्मा को जीवित रखती तथा महान् बनाती हैं—और साथ ही इसके फलस्वरूप मानव-समाज के नमनीय और प्रगतिशील रूप में, समस्त जटिल जीवन और विकास को व्यक्त करने के पर्याप्त साधन प्राप्त हो जायें।

मानवता का धर्म

मानवता का धर्म या तो एक बौद्धिक और भावनाप्रधान आदर्श, अर्थात् एक ऐसा सजीव सिद्धांत हो सकता है जिसके परिणाम बौद्धिक, मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक तरीके के हों, या फिर एक आध्यात्मिक अभीप्सा और जीवन-यापन का नियम; यह किसी अंश में मनुष्यों की आत्मा के परिवर्तन का चिह्न और किसी अंश में उसका कारण भी हो सकता है। मानवता का बौद्धिक धर्म पहले से ही, किसी हदतक, अपना अस्तित्व रखता है, अंशतः तो थोड़े-से लोगों के मनों में एक सचेतन सिद्धांत के रूप में और अंशतः जाति की चेतना के अंदर एक शक्तिशाली छाया के रूप में। यह एक ऐसी भावना की छाया है जो अभीतक जन्मी नहीं है किंतु जन्म लेने की तैयारी कर रही है। हमारा यह भौतिक संसार, वर्तमान समय की पूर्णतया मूर्त वस्तुओं के होते हुए भी, शक्तिशाली छायाओं अर्थात् मृत वस्तुओं के प्रेतों तथा ऐसी वस्तुओं की अमूर्त भावनाओं से परिपूर्ण है जिन्होंने अभीतक जन्म नहीं लिया है। मृत वस्तुओं के प्रेत अत्यंत दुःखदायी तथ्य हैं और आजकल इनकी संख्या अत्यधिक है : मृत धर्मों, मृत कलाओं, मृत नैतिक नियमों और मृत राजनीतिक सिद्धांतों के प्रेत, जो अभीतक अपने सड़ते शरीरों को रखने का या वर्तमान वस्तुओं के शरीर में कुछ हदतक जीवन-संचार करने का अधिकार जतलाते हैं। भूतकाल के अपने पवित्र सूत्रों को हठपूर्वक दुहराते हुए, ये अतीत की ओर देखनेवाले व्यक्तियों को मंत्रमुग्ध कर लेते हैं, यहांतक कि मनुष्यजाति के एक प्रगतिशील भाग को भी त्रस्त कर देते हैं। किंतु कुछ ऐसी अजन्मी भावनात्माएं भी हैं जो अभीतक एक निश्चित आकार नहीं प्राप्त कर सकी हैं, किंतु वे मानस-जन्म धारण कर चुकी हैं और ऐसे प्रभावों के रूप में अपना अस्तित्व रखती हैं जिनके प्रति मानव-मन सचेतन है और जिन्हें वह अब एक अस्थिर और अव्यवस्थित ढंग से प्रत्युत्तर देता है। मानवता के धर्म ने मानस-रूप में अर्थात् उन युक्तिवादी विचारकों के मानस-पुत्र के रूप में अठारहवीं शताब्दी में ही जन्म ले लिया था जिन्होंने इसे संगठनरूपी ईसाइयत की आनुष्ठानिक आध्यात्मिकता के स्थान पर प्रतिष्ठित किया था। इसने प्रत्यक्षवाद में अपने-आपको आकार देने की चेष्टा की, जो इस धर्म के सिद्धांतों को इतने अत्यधिक और कठोर रूप में बुद्धिवादी आधार पर सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न था कि बुद्धि के युग में भी उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता था। इसका अत्यंत प्रधान और भावुक परिणाम था मानवहितवाद; परोपकार, समाज-सेवा और ऐसे ही अन्य कार्य इसके सत्कार्यों की बाह्य अभिव्यक्ति थे। जनतंत्र,

‘मन से उत्पन्न पुत्र, यह भारतीय पौराणिक सृष्टि-विज्ञान का विचार तथा उसकी भावाभिव्यक्ति है।

समाजवाद, शांतिवाद आदि तो अधिकतर इसके आनुषंगिक फल हैं या कम-से-कम उनकी शक्ति तो अवश्य ही, अधिकांश में, इसकी आंतरिक उपस्थिति पर निर्भर है।

मूल विचार यह है कि मानवजाति वह देवत्व है जिसकी मनुष्य को पूजा करनी चाहिये, सेवा करनी चाहिये और यह भी कि मनुष्य और मनुष्य-जीवन का सम्मान, उसकी सेवा और उन्नति मानव-भावना का प्रधान कर्तव्य और प्रधान लक्ष्य हैं। किसी भी प्रतिमा को, न राष्ट्र, न राज्य, न कुटुम्ब और न ही और किसी वस्तु को, इसका स्थान लेना चाहिये। ये केवल वहींतक सम्मान के पात्र हैं जहांतक वे मानव-आत्मा की प्रतिमूर्तियां हैं तथा उसकी उपस्थिति की प्रतिष्ठा करती हैं एवं उसकी आत्म-अभिव्यक्ति में सहायता पहुंचाती हैं। पर जहां इन प्रतिमाओं की पूजा भावनारूपी आत्मा का स्थान छीन लेना चाहती है और ऐसी मांगें प्रस्तुत करती है जो उसकी सेवा के प्रतिकूल हैं, तो उन्हें एक ओर रख देना चाहिये। पुराने धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सिद्धांतों के आदेश जब इसकी मांगों के विपरीत जाते हैं तो वे सच्चे नहीं होते। विज्ञान को भी, यद्यपि वह एक प्रधान आधुनिक प्रतिमा है, यह अनुमति नहीं मिलनी चाहिये कि वह उसके नैतिक स्वभाव और उद्देश्य के विपरीत अपनी मांगें प्रस्तुत करे, क्योंकि विज्ञान केवल उसी हदतक मूल्यवान् है जिस हदतक वह ज्ञान और विकास के द्वारा मानवता के धर्म की सहायता करता है, उसकी सेवा करता है। युद्ध, मृत्युदंड, हत्या और सब प्रकार की क्रूरताएं, चाहे वे व्यक्ति, राज्य अथवा समाज द्वारा की गयी हों—शारीरिक क्रूरता ही नहीं, नैतिक क्रूरता भी—किसी भी मनुष्य की या मनुष्यों के वर्ग की अधोगति, चाहे वह किसी भी प्रत्यक्षतः उचित बहाने अथवा हित के लिये हुई हो, मनुष्य का मनुष्य के द्वारा, वर्ग का वर्ग के द्वारा और राष्ट्र का राष्ट्र के द्वारा उत्पीड़न और शोषण एवं जीवन के वे सब अभ्यास और उसी प्रकार की सामाजिक प्रथाएं जिन्हें धर्म और नीतिशास्त्र पहले सहन करते थे, यहांतक कि उन्हें व्यवहार में भी लाने के पक्षपाती थे—अपने आदर्श नियम या सिद्धांत में वे जो कुछ भी करते हों—मानवता के धर्म के विरुद्ध ऐसे अपराध हैं जो उसके नैतिक मन के लिये घृणित हैं और उसके प्रारंभिक सिद्धांतों द्वारा वर्जित हैं तथा जिनके विरुद्ध सदा ही युद्ध किया जाना चाहिये, सहन तो उन्हें किसी भी अंश में नहीं करना चाहिये। जाति, धर्म, वर्ण, राष्ट्र, पद और राजनीतिक अथवा सामाजिक प्रगति के सब भेदों को भुलाकर मनुष्य मनुष्य को पवित्र माने। मनुष्य-शरीर का सम्मान करना चाहिये, उसे उग्रता और हिंसा से निरापद रखना चाहिये तथा विज्ञान द्वारा रोग और निवारणीय मृत्यु से उसकी रक्षा करनी चाहिये। मनुष्य के जीवन को पवित्र मानना चाहिये, उसे सुरक्षित, सशक्त, श्रेष्ठ और उन्नत बनाना चाहिये। मनुष्य के हृदय को भी पवित्र मानना चाहिये, उसे क्षेत्र मिलना चाहिये, अतिचार, दमन और यांत्रिकरण से उसकी रक्षा करनी चाहिये, अवनतिकारी प्रभावों से उसे मुक्त करना चाहिये। मनुष्य के मन को सब बंधनों से मुक्ति दे देनी चाहिये, उसे स्वतंत्रता, क्षेत्र तथा अवसर

प्रदान करने चाहियें, उसे आत्म-प्रशिक्षण और आत्म-विकास के समस्त साधन उपलब्ध होने चाहियें और मनुष्यजाति की सेवा के लिये उसे अपनी शक्तियों के प्रयोग में व्यवस्थित करना चाहिये। और, इस सबको एक सिद्धांतरूप या पवित्र भावना ही नहीं मानना चाहिये, वरन् मनुष्यों, राष्ट्रों और समस्त मनुष्यजाति के व्यक्तियों द्वारा इसे पूर्ण और व्यावहारिक रूप में स्वीकृति भी मिलनी चाहिये, सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि यही मानवता के बौद्धिक धर्म का विचार तथा उसकी भावना है।

यदि हम एक या दो शताब्दी पहले के मानव-जीवन, विचार और भावना की युद्ध से पूर्व के मानव-जीवन, विचार और भावना के साथ तुलना करें तो हम यह देखेंगे कि मानवता के इस धर्म ने कितना अधिक प्रभाव उत्पन्न किया है और कितना अधिक फलप्रद कार्य किया है। इसने द्रुत वेग से बहुत-से ऐसे कार्यों को संपन्न किया है जिन्हें पुराणपंथी धर्म सफलता से नहीं कर सका, इसका अधिकतर कारण यह था कि इसने एक अनवरत बौद्धिक और आलोचक शोधक की भांति कार्य किया था, यह वर्तमान वस्तु-स्थिति पर निर्दयतापूर्वक प्रहार करता था और भविष्य की वस्तुस्थिति का अविचल नायक था, यह भविष्य के प्रति सदा सच्चा रहता था, जब कि पुराणपंथी धर्म ने वर्तमान समय की शक्तियों के साथ, यहांतक कि भूतकाल की शक्तियों के साथ भी मित्रता स्थापित कर ली थी, उसने अपने-आपको उनके साथ संधि द्वारा बांध लिया था और वह सुधारक शक्ति के रूप में नहीं, बल्कि अधिक-से-अधिक एक मर्यादाकारी शक्ति के रूप में कार्य कर सकता था। इसके अतिरिक्त, यह धर्म मनुष्यजाति में और उसके लौकिक भविष्य में विश्वास रखता है और इसलिये उसकी लौकिक उन्नति में सहायता पहुंचा सकता है, जब कि पुराणपंथी धर्म मनुष्य के लौकिक जीवन को पावन दुःख और शोक की दृष्टि से देखते थे, और सदा ही उसे इन्हें शांति और संतोषपूर्वक सहन करने तथा जीवन की अपूर्णताओं, क्रूरताओं, अत्याचारों और कष्टों का स्वागत करने की सलाह देने के लिये तैयार रहते थे, ये उनके विचार में उनका मूल्य जानने तथा उस श्रेष्ठतर जीवन को प्राप्त करने के साधन थे जो उन्हें इसके बाद मिलेगा। विश्वास, यहांतक कि एक बौद्धिक विश्वास भी, सदा चमत्कारपूर्ण कार्य कर सकता है, और मानवता का यह धर्म, चाहे इसने कोई शारीरिक आकार या प्रबल रूप अथवा आत्म-चरितार्थता के प्रत्यक्ष साधन प्राप्त नहीं किये थे, फिर भी जो कार्य इसने करना आरंभ किया था उसमें से बहुत कुछ वह संपन्न कर सका था। किसी अंश में, इसने समाज को मानवोचित रूप दिया, विधि और दंड को तथा एक मनुष्य के दूसरे मनुष्य के प्रति दृष्टिकोण को मानवीय रूप दिया, वैध यंत्रणा और दासप्रथा के स्थूलतर रूपों को दूर किया, दलितों और पतितों को ऊपर उठाया, मनुष्यजाति को बड़ी-बड़ी आशाएं दिलायीं, परोपकार, उदारता और मानव-सेवा को प्रोत्साहन दिया, सर्वत्र स्वतंत्रता की भावना को बढ़ाया, उत्पीड़न पर रोक लगायी तथा उसके रूपों की क्रूरता को बहुत कम कर दिया। इसे युद्ध को भी

मानवीय रूप देने में करीब-करीब सफलता प्राप्त हो गयी थी; यदि आधुनिक विज्ञान विपरीत दिशा न ग्रहण करता तो शायद इसे पूरी सफलता भी मिल जाती। इसने मनुष्य के लिये युद्ध-मुक्त संसार की कल्पना करना संभव बना दिया, उसके लिये सहस्र वर्ष के बाद आनेवाले ईसा के युग के लिये प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। जो भी हो, यह परिवर्तन तो हुआ ही कि, जब कि शांति पहले अनवरत युद्ध की कभी-कभी आनेवाली विश्राम की अवस्था थी, अब युद्ध ने शांति की मध्यवर्ती अवस्था का रूप धारण कर लिया, जो बार-बार आने पर भी अभीतक केवल एक सशस्त्र शांति की अवस्था थी। यह एक बहुत बड़ा कदम न भी हो फिर भी यह आगे की ओर एक कदम अवश्य था। इसने मनुष्य के महत्त्व के विषय में नयी धारणाएं उत्पन्न कीं और उसकी शिक्षा, उसके आत्म-विकास और उसकी शक्यताओं के विषय में नये विचारों और नये क्षेत्रों को उन्मुक्त कर दिया। इसने ज्ञान का प्रकाश फैलाया; इसने मनुष्य को यह अनुभव कराया कि वह संपूर्ण जाति की उन्नति और प्रसन्नता के लिये उत्तरदायी है; इसने मनुष्यजाति के औसत आत्म-सम्मान और सामर्थ्य को ऊपर उठाया, इसने कृषिदास को आशा दिलायी और दलितों को आत्मनिश्चय का पाठ पढ़ाया और मजदूर को, उसके मनुष्यत्व के कारण, गुप्त रूप से धनी और शक्तिशाली का समकक्ष बना दिया। यह सत्य है कि यदि हम 'जो हैं' उसकी 'जो होना चाहिये' के साथ अर्थात् आदर्श की वास्तविक चरितार्थता के साथ तुलना करें, तो यह सब केवल तैयारी का एक तुच्छ कार्य प्रतीत होगा, किंतु यह डेढ़ शताब्दी अथवा इससे भी थोड़े अधिक समय तक एक अपूर्व कार्य रहा, यह उस अमूर्त भावना के लिये एक अद्भुत वस्तु था जिसे प्राप्य साधनों के द्वारा ही कार्य करना पड़ा और जिसके पास अभीतक कोई रूप, स्थान अथवा अपने केंद्रीभूत कार्यों के लिये कोई प्रत्यक्ष यंत्र नहीं था। किंतु शाब्द इसीमें उसकी शक्ति तथा लाभ निहित थे, क्योंकि उसने इसे किसी नियत आकार में परिणत होने, जड़ रूप धारण करने तथा कम-से-कम अपने अधिक स्वतंत्र एवं सूक्ष्म कार्य को खो देने से बचाया।

किंतु फिर भी अपने समस्त भविष्य को चरितार्थ करने के लिये मानवता के इस विचार और धर्म को अधिक स्पष्ट, दृढ़ और पूर्णतया आवश्यक बनना होगा, अन्यथा यह कुछ व्यक्तियों के मनों में ही स्पष्टतया कार्यान्वित हो सकेगा, जनसाधारण के साथ तो यह केवल एक संशोधक प्रभाव के रूप में ही रहेगा, मानवजीवन का सिद्धांत नहीं बनेगा। और, जबतक ऐसा रहा, यह स्वयं अपने प्रमुख शत्रु पर भी पूर्णतः विजय प्राप्त नहीं कर सकेगा। वह शत्रु अर्थात् सच्चे धर्ममात्र का शत्रु, मानव अहंभाव है अर्थात् व्यक्ति का अहंभाव और वर्ग एवं राष्ट्र का अहंभाव। उन्हें यह थोड़े समय के लिये दुर्बल और संशोधित कर सकता है, उन्हें अपनी अधिक अहंकारयुक्त प्रत्यक्ष और क्रूर अभिव्यक्ति को रोकने तथा अधिक अच्छे अभ्यासों को ग्रहण करने के लिये बाधित कर सकता है, किंतु यह उन्हें अपना स्थान मानवजाति के प्रेम को देने तथा

मनुष्य-मनुष्य में सच्ची एकता को स्वीकार करने के लिये विवश नहीं कर सकता। इसे ही आवश्यक रूप में, मानवता के धर्म का लक्ष्य होना चाहिये, जिस प्रकार इसे समस्त मानव-धर्म, प्रेम और मानव-भ्रातृभाव की पारस्परिक मान्यता का भी लौकिक लक्ष्य होना चाहिये; इसे मानव-एकता की सजीव भावना तथा विचार, अनुभव और जीवन में मानव-एकता की चरितार्थता भी होना चाहिये; यह वह आदर्श है जो कुछ सहस्र वर्ष पहले प्राचीन वैदिक सूक्त में व्यक्त किया गया था और जिसे सदा ही हमारे अंदर इस पृथ्वी के मानव-जीवन के लिये आत्मा के सर्वोच्च आदेश के रूप में विद्यमान रहना चाहिये। जबतक ऐसा नहीं हो जाता, मानवता का धर्म अचरितार्थ ही रहेगा। यह हो गया तो एक ऐसा अनिवार्य मनोवैज्ञानिक परिवर्तन साधित हो जायेगा जिसके बिना कोई भी औपचारिक, यांत्रिक, राजनीतिक और प्रशासनीय एकता वास्तविक और सुरक्षित नहीं हो सकती। यदि यह हो गया तो बाह्यतर एकीकरण अनिवार्य नहीं भी हो सकता, अथवा यदि हो भी तो वह स्वाभाविक रूप में ही साधित हो जायेगा, भयंकर साधनों के द्वारा नहीं, जैसे कि आज उसके होत्रे की संभावना है, बल्कि मानव-मन की मांग के द्वारा, और वह पूर्णता और विकास को प्राप्त हमारी मानव-प्रकृति की अनिवार्य आवश्यकता के द्वारा सुरक्षित रहेगा।

किंतु अब प्रश्न यह है कि क्या एक विशुद्ध बौद्धिक और भावनात्मक मानवधर्म हमारे मनोविज्ञान में इतना बड़ा परिवर्तन लाने के लिये पर्याप्त होगा। बौद्धिक विचार की—चाहे वह भाव और भावनाओं को प्रभावित करके अपने-आपको सशक्त बना ले—दुर्बलता यह है कि वह मानव-सत्ता के केंद्र तक नहीं पहुंचता। बुद्धि और भावनाएं सत्ता के यंत्रमात्र हैं, और ये या तो निम्नतर बाह्य रूप के यंत्र अर्थात् अहंभाव के सेवक अथवा आंतरिक और उच्चतर मनुष्य अर्थात् आत्मा के यंत्र हो सकते हैं। मानवता के धर्म का लक्ष्य अठारहवीं शताब्दी में एक प्रकार की प्रारंभिक सहज-प्रेरणा द्वारा सुनिश्चित किया गया था, यह लक्ष्य तब भी यह था और अब भी यही है कि मानवसमाज का तीन सजातीय विचारों, स्वाधीनता, समानता और भ्रातृ-भावना, के रूप में पुनः निर्माण किया जाये। पर जितनी उन्नति की गयी है, उस सबके होते हुए भी इनमें से एक को भी वास्तविक रूप में प्राप्त नहीं किया गया है। स्वाधीनता, जिसे खूब बढ़-चढ़कर आधुनिक उन्नति का आवश्यक तत्त्व बतलाया जाता है, केवल एक बाह्य, यांत्रिक और अवास्तविक स्वाधीनता है। समानता भी, जिसे पाने के लिये इतना परिश्रम और संघर्ष किया जा चुका है, एक बाह्य और यांत्रिक समानता है और वह अंत में अवास्तविक ही सिद्ध होगी। भ्रातृभावना को जीवन के व्यवस्थापन का व्यवहार्य सिद्धांत स्वीकार ही नहीं किया जाता और जो उसके स्थान पर प्रस्तुत किया गया है वह समाज-संगठन का एक बाह्य और यांत्रिक सिद्धांत है या अधिक-से-अधिक श्रमिक क्षेत्र में सहयोग है। इसका कारण यह है कि बौद्धिक युग में मानवता के विचार को अपना सच्चा धार्मिक, आत्मिक और

आध्यात्मिक स्वरूप छिपाने के लिये तथा मनुष्य की आंतरिक सत्ता को नहीं वरन् उसके प्राणिक और भौतिक मन को प्रभावित करने के लिये बाधित किया गया है। उसने राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं में क्रांतिकारी परिवर्तन उत्पन्न करने तथा मानवजाति के सामान्य मन के भावों और विचारों में एक ऐसा संशोधन लाने तक ही अपना प्रयत्न सीमित कर दिया है जो इन संस्थाओं को व्यावहारिक रूप दे दें; इसने जाति की आत्मा की अपेक्षा कहीं अधिक मनुष्य-जीवन के यंत्र और बाह्य मन पर कार्य किया है। इसने राजनीतिक, सामाजिक और वैध स्वाधीनता और समानता तथा संगठन की पारस्परिक सहायता को स्थापित करने के लिये अत्यधिक परिश्रम किया है।

यद्यपि अपने क्षेत्र में ये लक्ष्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं, तथापि ये प्रमुख वस्तु नहीं हैं; ये केवल तभी सुरक्षित रह सकते हैं, यदि ये आंतरिक मानव-प्रकृति और आंतरिक जीवन-प्रणाली के रूपांतर पर आधारित हों; अपने-आपमें इनका महत्त्व केवल ऐसे साधनों के रूप में ही है जो इस रूपांतर की ओर बढ़ने के लिये मनुष्य को एक महत्तर अवकाश तथा श्रेष्ठतर क्षेत्र प्रदान करते हैं; तथा एक बार इसके साधित हो जाने के बाद, विशालतर आंतरिक जीवन की बाह्य अभिव्यक्ति होते हैं। स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृभावना आत्मा की तीन दिव्यताएं हैं; ये वस्तुतः, समाज के बाह्य यंत्र-विन्यास द्वारा अथवा मनुष्य के द्वारा, जबतक कि वह केवल वैयक्तिक और सामाजिक अहंभाव में निवास करता है, चरितार्थ नहीं हो सकते। जब अहंभाव स्वाधीनता की मांग करता है, उसका परिणाम प्रतियोगितापूर्ण व्यक्तिवाद होता है। जब उसका आग्रह समानता पर होता है, तो पहले तो वह संघर्षशील बन उठता है और फिर प्रकृति की विविधताओं से विमुख होने का प्रयत्न करता है और इस कार्य को सफलतापूर्वक करने का एक ही ढंग है कि वह कृत्रिम और यंत्र-निर्मित समाज की रचना कर लेता है। जो समाज स्वाधीनता को अपना आदर्श मानकर उसे प्राप्त करना चाहता है वह समानता को प्राप्त करने में असमर्थ होता है; और जिसका लक्ष्य समानता है उसे स्वाधीनता का त्याग करना पड़ेगा और अहंभाव के लिये भ्रातृभाव के विषय में कुछ कहने का अर्थ उसकी प्रकृति के विरुद्ध बात करना होगा। जो कुछ वह जानता है वह केवल सर्वसामान्य अहंभावयुक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये सहयोग है, अधिक-से-अधिक वह समान श्रम-वितरण, उत्पादन, खपत और मनोरंजन के लिये एक दृढ़तर संगठन तक पहुंच सकता है।

यह सब होते हुए भी भ्रातृभावना ही मानवता के विचार की त्रिविध शिक्षा की वास्तविक कुंजी है। स्वाधीनता और समानता पर आश्रित एकता केवल मानव-बंधुत्व की शक्ति द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, इसका आधार और कोई वस्तु नहीं बन सकती। किंतु भ्रातृभाव का अस्तित्व केवल आत्मा में और आत्मा के द्वारा ही होता है, यह और किसी के सहारे नहीं टिक सकता। कारण, यह भ्रातृभाव भौतिक संबंध या

प्राणिक सहयोग अथवा बौद्धिक समझौते की वस्तु नहीं है। जब आत्मा स्वतंत्रता की मांग करती है, वह स्वतंत्रता उसके आत्म-विकास की अर्थात् मनुष्य की संपूर्ण सत्ता में उसके अंतरस्थ भगवान् के विकास की स्वतंत्रता होती है। जब वह समानता चाहता है, तो उसकी मांग यह होती है कि स्वतंत्रता सबको समान रूप से प्राप्त हो तथा समस्त मनुष्यों में उसी एक ही आत्मा को, एक ही भगवान् को स्वीकार किया जाये। जब वह भ्रातृभाव के लिये चेष्टा करता है, तो वह आत्म-विकास की समान स्वतंत्रता को एक ऐसे सर्वसामान्य लक्ष्य और जीवन तथा विचार और भाव की एकता पर आधारित करता है जो इस आंतरिक आध्यात्मिक एकता की स्वीकृति पर आश्रित हो। ये तीन वस्तुएं, वास्तव में, आत्मा के स्वभाव हैं, क्योंकि स्वतंत्रता, समानता और एकता आत्मा के सनातन गुण हैं। यह इस सत्य की व्यावहारिक स्वीकृति है, यह मनुष्य के अंदर आत्मा का जागरण है तथा उसके अपने अहंभाव की नहीं, बल्कि अपनी आत्मा की प्रेरणा से जीवन बिताने के लिये उसे समर्थ बनाने का प्रयत्न है; यही धर्म का आंतरिक अर्थ है, और इसे ही मानवता के धर्म को उपलब्ध करना चाहिये, ताकि यह धर्म जाति के जीवन में सफल हो सके।

सिंहावलोकन और परिणाम

दूसरे शब्दों में,—और यही वह परिणाम है जिसपर हम पहुंचते हैं,—जब कि राजनीतिक और प्रशासनीय साधनों द्वारा एक अनिश्चित और सर्वथा यांत्रिक एकता को निर्मित करना संभव है, मनुष्यजाति की एकता, चाहे वह प्राप्त हो भी जाये, केवल तभी सुनिश्चित हो सकती है तथा वास्तविक बनायी जा सकती है यदि मानवता का धर्म, जो आजकल मनुष्यजाति का सर्वोच्च और सक्रिय आदर्श है, आध्यात्मिक रूप धारण कर ले और मनुष्य-जीवन का सामान्य आंतरिक विधान बन जाये।

बाह्य एकता संभवतः, यद्यपि निश्चित रूप से नहीं, एक सीमित अवधि में ही चरितार्थ हो सकती है, क्योंकि वह मानवसमाज में प्रकृति की कार्यप्रणाली की एक ऐसी अनिवार्य और अंतिम प्रवृत्ति है जो अधिकाधिक बड़े समुदाय बनाने में सहायक होती है; वह एक घनिष्ठतर अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली के द्वारा मनुष्यजाति का पूरा समुदाय बनाने में भी अवश्य सफल होगी।

प्रकृति की यह कार्य-प्रणाली अपनी चरितार्थता के लिये दो शक्तियों पर निर्भर है जो एक बृहत्तर समुदाय को अनिवार्य बनाने के लिये संयुक्त रूप में कार्य करती है। पहली शक्ति सामान्य हितों की अधिकाधिक निकटता अथवा कम-से-कम उत्तरोत्तर बड़े क्षेत्र में हितों का एकीभाव और परस्पर संबंध है जो पुराने विभाजनों को एक प्रकार की बाधा और साथ ही दुर्बलता, अवरोध एवं संघर्ष का कारण बना देता है, इस संघर्ष के परिणामस्वरूप जो कलह और संघर्ष उत्पन्न होते हैं, वे सबके लिये, यहांतक कि उस विजेता के लिये भी, जिसे प्राप्त लाभों के लिये अत्यधिक मूल्य चुकाना पड़ता है, एक विनाशकारी संकट का रूप धारण कर लेते हैं। ज्यों-ज्यों युद्ध अधिक जटिल और दुःखद बनता जाता है, इन प्रत्याशित लाभों की प्राप्ति भी अधिकाधिक कठिन होती जा रही है, साथ ही सफलता में भी संदेह हो रहा है। मनुष्यों को हितों की इस समानता अथवा संबद्धता की बढ़ती हुई अनुभूति से तथा विरोध और विनाशकारी संघर्ष के परिणामों का सामना करने की अधिकाधिक अनिच्छा से यह प्रेरणा मिलनी चाहिये कि वे उन विभाजनों को, जो इस प्रकार के संकटों का कारण होते हैं, निर्बल बना देनेवाले प्रत्येक साधन का स्वागत करें। यदि विभाजनों को निर्बल बनाने की प्रवृत्ति एक बार निश्चित रूप धारण कर ले तो इससे एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जायेगी जो अधिकाधिक घनिष्ठ एकता की ओर ले जायेगी। यदि प्रकृति इन साधनों द्वारा अपना लक्ष्य प्राप्त न कर सकी, यदि असंगति इतनी बड़ी हुई कि एकीकरण की प्रवृत्ति विजय-लाभ करने में असमर्थ रही तो फिर वह अन्य साधनों का प्रयोग करेगी, जैसे युद्ध, एक शक्तिशाली राज्य अथवा साम्राज्य

द्वारा विजय अथवा अस्थायी प्रभुत्व या इस प्रकार के प्रभुत्व का भय जो आतंकित लोगों को एकता की एक घनिष्ठतर प्रणाली को स्वीकार करने के लिये बाधित करेगा। इन्हीं साधनों को तथा बाह्य आवश्यकता की इसी शक्ति को वह राष्ट्र-इकाइयों और राष्ट्रीय साम्राज्यों को उत्पन्न करने के लिये प्रयोग में लायी थी, और परिस्थितियों और कार्य-प्रणालियों में यह कितनी भी संशोधित क्यों न हो, मूलतः यह वही शक्ति और वही साधन हैं जिन्हें वह मनुष्यजाति को अंतर्राष्ट्रीय एकीकरण की ओर ले जाने के लिये प्रयुक्त कर रही है।

किंतु दूसरी ओर एक सामान्य एकीकारक भावना की शक्ति भी है। यह दो तरीकों से कार्य कर सकती है; प्रवर्तक और सहायक कारण के रूप में यह प्रारंभ में ही कार्य कर सकती है अथवा यह एक संयोजक परिणाम के रूप में बाद में भी प्रकट हो सकती है। पहली अवस्था में, उन इकाइयों में जो पहले विभाजित थीं, एक बृहत्तर एकता की भावना उत्पन्न हो जाती है तथा यह उन्हें ऐक्य के उस रूप को खोजने के लिये प्रेरित करती है जो उस समय मुख्यतः भावना की शक्ति एवं उसके विचार के द्वारा, पर गौणतः अन्य और बाह्यतर घटनाओं और कारणों के सहायक के रूप में उत्पन्न किया जा सकता है। हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि पुराने समय में यह भावना पर्याप्त प्रभावशाली नहीं थी : छोटे कुलों या प्रादेशिक राष्ट्रों में ऐसा ही था। एकता को साधारणतया बाह्य परिस्थितियों द्वारा तथा सामान्यतया इनमें से भी स्थूलतम साधनों, उदाहरणार्थ, युद्ध, विजय और युद्धरत तथा मित्र-जातियों में से अत्यंत शक्तिशाली जाति के प्रभुत्व के द्वारा प्राप्त करना होता था। किंतु बाद में ऐक्य-भावना की शक्ति, जिसे एक स्पष्टतर राजनीतिक विचार की सहायता प्राप्त थी, अधिक प्रभावकारी हो गयी थी। राज्यसंघ अथवा संघ बनाने से ही बृहत्तर राष्ट्रीय समुदाय उत्पन्न हुए हैं, यद्यपि इससे पूर्व कभी-कभी स्वाधीनता के लिये एक सामान्य संघर्ष करने अथवा एक ही शत्रु के विरुद्ध युद्ध करने के लिये गुट बनाने की भी आवश्यकता पड़ती थी; संयुक्त राज्य, इटली और जर्मनी इसी प्रकार एक हुए थे, उधर आस्ट्रेलियन और दक्षिण-अफ्रीकी राज्यसंघ अधिक शांति के साथ संगठित हुए थे, किंतु कुछ अन्य दृष्टांतों में, विशेषतया प्रारंभिक राष्ट्रीय समुदायों में, एकता की भावना अधिकांश या पूर्ण रूप में औपचारिक, बाह्य और यांत्रिक ऐक्य के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थी, किंतु इस भावना के विकास को चरितार्थ करने अथवा उसे सुरक्षित रखने के लिये मनोवैज्ञानिक तथ्य अति आवश्यक हैं; इसके बिना एक सुरक्षित और स्थायी ऐक्य प्राप्त नहीं हो सकता। इसकी अनुपस्थिति अथवा इस प्रकार की भावना को उत्पन्न करने अथवा उसे पर्याप्त रूप में सजीव, स्वाभाविक और सशक्त बनाने में असमर्थता ही आस्ट्रो-हंगरी और प्राचीन समय के अस्थायी साम्राज्यों जैसे समुदायों की अनिश्चित स्थिति का कारण है, यहांतक कि, यदि परिस्थितियां ही न बदलीं तो यह आजकल के महान् साम्राज्यों के नाश अथवा विघटन का कारण भी बन सकती है।

एक ऐसे अंतर्राष्ट्रीय विश्व-संगठन की ओर बढ़ती हुई शक्तियों की प्रवृत्ति, जिसका परिणाम एक दूरस्थ एकीकरण हो सकता है, एक विचार अथवा अभीप्सा के रूप में प्रकट होना प्रारंभ कर रही है, यद्यपि इसे अनिवार्य बनानेवाले कारण कुछ समय से कार्यरत हैं; यह प्रवृत्ति अब वातावरण और आवश्यकता के दबाव तथा बाह्य परिस्थितियों के कारण सबल हो गयी है। इसके साथ ही, एक ऐसी भावना भी विद्यमान है जिसे इन बाह्य परिस्थितियों द्वारा सहायता तथा प्रेरणा मिलती है अर्थात् एक ऐसी सार्वभौम, अंतर्राष्ट्रीय भावना, जो वस्तुतः अभीतक अस्पष्ट और धुंधले विचार के रूप में अपना अस्तित्व रखती है तथा जो औपचारिक ऐक्य के विकास को शीघ्रता से ला सकती है। अपने-आपमें यह भावना किसी भी संभव यांत्रिक ऐक्य को सुरक्षित करने के लिये पर्याप्त नहीं होगी; कारण, यह आसानी से राष्ट्रीय भावना के समान प्रगाढ़ और शक्तिशाली नहीं हो सकती। इसे संघ की सुविधाओं को ही अपना एकमात्र पोषक तत्व मानकर उनपर निर्वाह करना होगा। किंतु भूतकाल का अनुभव बताता है कि केवल सुविधा की आवश्यकता अंत में इतनी सशक्त नहीं हो सकती कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों के दबाव तथा नयी केंद्रविमुखी शक्तियों के पुराने अथवा सफल विकास के आग्रह का सामना कर सके। वहां एक अधिक सबल शक्ति भी कार्य कर रही है अर्थात् मानवता का एक प्रकार का बौद्धिक धर्म, जो कुछ व्यक्तियों के मनों में स्पष्ट है तो बहुतों ने उसके प्रभाव तथा छद्म-रूप अस्पष्ट रूप में अनुभव भी किये हैं; इसने आधुनिक मन की प्रवृत्ति तथा उसकी विकसित होती हुई संस्थाओं की दिशा को अधिकांशतः निश्चित करने में अत्यधिक सहायता पहुंचायी है। यह एक ऐसी मनोवैज्ञानिक शक्ति है जो राष्ट्र-सिद्धांत के ऊपर उठ जाने की प्रवृत्ति रखती है तथा राष्ट्र-धर्म को च्युत करना, यहांतक कि अपने चरम रूपों में, राष्ट्रीय भावना को बिल्कुल ही नष्ट करना तथा मानवजाति को एक अखंड राष्ट्र बनाने के लिये उसके विभाजनों को समाप्त करना चाहती है।

अतएव हम कह सकते हैं कि यह प्रवृत्ति अंत में अवश्य ही चरितार्थ होगी, कठिनाइयां चाहे कितनी भी बड़ी क्यों न हों, और वे वस्तुतः बहुत बड़ी हैं, उनसे कहीं अधिक बड़ी जो राष्ट्र के निर्माण में आयी थीं। यदि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की वर्तमान असंतोषजनक अवस्था क्रांतियों की एक शृंखला को जन्म दे दे, चाहे वे क्रांतियां वर्तमान युद्ध की भांति बड़ी और विश्वव्यापी हों अथवा अपने क्षेत्र में अपेक्षाकृत सीमित होती हुई भी सामूहिक रूप में संसारभर में फैल जायें तथा हितों के विकसनशील पारस्परिक संबंधों द्वारा आवश्यक रूप में उनपर भी अपना प्रभाव डालें जो सीधे उनके संपर्क में नहीं आते, तो स्वरक्षा के लिये मनुष्यजाति को अंत में एक नयी, घनिष्ठतर और अधिक दृढ़तया एकीभूत व्यवस्था का निर्माण करना पड़ेगा। उसे इस व्यवस्था तथा प्रलंबित आत्महत्या में से एक को चुनना होगा। यदि मानव-बुद्धि रास्ता न पा सकी तो निश्चय ही स्वयं प्रकृति इन क्रांतियों को इस प्रकार आयोजित

करेगी कि वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर ले। अतएव चाहे जल्दी हो चाहे देर में, चाहे सामान्य हित और सुविधा से प्रेरित होकर एकता की विकसित होती हुई अपनी भावना के द्वारा उत्पन्न हो अथवा परिस्थितियों के विकसनशील दबाव द्वारा, हम यह मान सकते हैं कि इस भूतल पर मनुष्य जीवन का एक अंतिम एकीकरण अथवा कम-से-कम उसका एक औपचारिक संगठन व्यावहारिक रूप में अनिवार्य है; हां, अचिंत्य संभावनाओं के लिये अवकाश तो सदा ही रखना होगा।

मैं राष्ट्र के पिछले विकास के दृष्टांत से यह दिखाने का प्रयत्न कर चुका हूँ कि यह अंतर्राष्ट्रीय एकीकरण अंत में इन दो रूपों में से एक रूप धारण करेगा या कर सकता है, या तो एक केंद्रित विश्वराज्य बन सकता है या फिर एक ऐसा शिथिलतर विश्व-संघ जो या तो एक घनिष्ठ संघ हो अथवा मनुष्यजाति के सर्वसामान्य उद्देश्यों के लिये राष्ट्रों का एक सरल-सा महासंघ। यह पिछला रूप अधिक वांछनीय है, क्योंकि यह विविधता के सिद्धांत को, जो कि जीवन की स्वतंत्र क्रीड़ा तथा जाति के स्वस्थ विकास के लिये आवश्यक है, पर्याप्त क्षेत्र प्रदान करता है। विश्व-राज्य को लानेवाली प्रक्रिया का आरंभ एक ऐसी केंद्रीय संस्था की उत्पत्ति से होता है जिसके कर्तव्य शुरू में बहुत सीमित होंगे, किंतु एक बार जब वह उत्पन्न हो गयी तो उसमें धीरे-धीरे एक केंद्रीभूत अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण की सभी विभिन्न उपयोगिताएं समाविष्ट हो जायेंगी, जिस प्रकार राज्य पहले राजतंत्र के तथा बाद में संसद् के रूप में राष्ट्र-जीवन के समस्त नियंत्रण को शनैः-शनैः अधिकृत कर रहा था, उसी प्रकार हम अब एक केंद्रीभूत समाजवादी राज्य से, जो अपने व्यक्तियों के जीवन के किसी भी अंग को अव्यवस्थित नहीं रहने देगा, अधिक दूर नहीं है। विश्वराज्य में इसी प्रकार की प्रक्रिया का अंत यह होगा कि वह राष्ट्रों का संपूर्ण जीवन अपने हाथ में लेकर उसका नियमन करेगा। इसका परिणाम राष्ट्रीय व्यक्तित्व को दूर करके उन विभाजनों को, जिन्हें इसने उत्पन्न किया है, एक ही राज्य के विभागीय समुदायों, प्रांतों तथा जिलों का रूप देना हो सकता है। यह परिणाम अब एक काल्पनिक स्वप्न या अव्यवहार्य विचार प्रतीत हो सकता है किंतु यह एक ऐसा परिणाम है जो कुछ दशाओं में और वे किसी भी प्रकार अंतिम संभावना के क्षेत्र से बाहर नहीं हैं, आसानी से चरितार्थ हो सकता है, यहांतक कि एक स्थल पर पहुंच जाने के बाद अनिवार्य भी हो सकता है। इसके विपरीत, एक संघ-प्रणाली और उससे भी अधिक एक महासंघ का अर्थ राष्ट्रीय आधार की सुरक्षा तथा राष्ट्रीय जीवन की कम अथवा अधिक स्वतंत्रता होगा, किंतु इसमें पृथक् राष्ट्रीय हित बृहत्तर सामान्य हितों के और पूर्ण पृथक् स्वतंत्रता महत्तर अंतर्राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अधीन हो जायेंगे।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ये पिछले दृष्टांत एक इतनी नयी समस्या के सुरक्षित मार्गदर्शक बन सकते हैं और क्या कोई और ऐसा रूप विकसित नहीं हो सकता जो घनिष्ठ और स्वतंत्र रूप में इस समस्या से उत्पन्न हो और उसकी

जटिलताओं के लिये उपयुक्त हो। किंतु मनुष्यजाति नयी समस्याओं का समाधान करते हुए भी पुराने अनुभव, अतएव पुराने उद्देश्यों और दृष्टान्तों के आधार पर ही कार्य करती है। नये विचार उसकी पकड़ में आ भी जायें, पर उन्हें रूप देने के लिये वह अतीत की ओर ही जाती है। अत्यधिक मौलिक क्रांतियों के प्रत्यक्ष परिवर्तनों के पीछे हम अविच्छिन्न परंपरा के इस अनिवार्य सिद्धांत को नयी व्यवस्था के केंद्र में देखते हैं। इसके अतिरिक्त, ये विकल्प ही एक ऐसा रास्ता प्रतीत होते हैं जिसमें दो उपस्थित शक्तियां अपने संघर्ष को सुलझा सकती हैं, चाहे ऐसा वे इनमें से एक अर्थात् पृथक्कारी राष्ट्रीय प्रेरणा को नष्ट करके करें, चाहे इनमें अनुकूलता स्थापित करके। दूसरी ओर, यह बिल्कुल संभव है कि मानव-विचार और कर्म एक ऐसी नयी दिशा ग्रहण कर लें कि बहुत-सी अदृष्ट संभावनाएं प्रकट होकर सर्वथा भिन्न परिणाम उत्पन्न कर दें। इन दिशाओं में मनुष्य अपनी कल्पना को कार्य में लगा सकता है तथा एक श्रेष्ठतर आदर्श अवस्था उत्पन्न कर सकता है। मानव-कल्पना के ऐसे निर्माणकारी प्रयत्न अपना महत्त्व, कभी-कभी तो अत्यधिक महत्त्व रखते हैं; किंतु इस प्रकार के विचार उस अध्ययन में, जिसे मैंने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, स्पष्टतः अप्रासंगिक होते।

निश्चय ही, इन दोनों विचारणीय विकल्पों और तीनों रूपों में से एक भी गंभीर आपत्ति से मुक्त नहीं है। एक केंद्रीभूत विश्व-राज्य का अर्थ यांत्रिक एकता की, बल्कि एकरूपता के विचार की विजय होगा। इसका अवश्य ही यह अर्थ होगा कि मानव जीवन और प्रगति के बल में और व्यक्ति के स्वतंत्र जीवन तथा राष्ट्रों की स्वतंत्र विविधता में एक अनिवार्य तत्त्व का अनुचित रूप से हास हो जायेगा। यदि यह स्थायी हो गया और इसने अपनी सभी प्रवृत्तियों को चरितार्थ कर लिया तो इसकी समाप्ति निश्चय ही या तो जीवन में ही मृत्यु अथवा गति-अवरोध से या फिर एक ऐसी रक्षक किंतु क्रांतिकारी शक्ति किंवा सिद्धांत के उदय से होगी जो समस्त ढांचे को छिन्न-भिन्न कर देगा। यांत्रिक प्रवृत्ति एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसमें मनुष्य की तार्किक बुद्धि, जो अपने-आपमें एक यथार्थ यंत्र है, सरलता से ग्रस्त हो जाती है और इसके कार्यकलाप प्रत्यक्षतः अत्यधिक सरलता से संचालित हो सकते हैं, साथ ही प्रयोग के लिये सुलभ भी हैं; इसका पूर्ण विकास बुद्धि को वांछनीय, आवश्यक और अनिवार्य प्रतीत हो सकता है, पर उसका अंत पहले से ही निश्चित है। एक केंद्रीभूत समाजवादी राज्य एक बार स्थापित हो जाने के बाद भविष्य की आवश्यकता बन सकता है, किंतु उससे उत्पन्न प्रतिक्रिया भी भविष्य की एक अंतिम आवश्यकता होगी। जितना अधिक इसका दबाव होगा उतने ही अधिक निश्चित रूप में उस यांत्रिक दबाव के विरोध में अराजकता का आध्यात्मिक, बौद्धिक, प्राणिक तथा क्रियात्मक सिद्धांत फैलेगा। इसी प्रकार एक केंद्रीभूत यांत्रिक विश्व-राज्य अंत में अपने विरुद्ध एक ऐसी ही शक्ति खड़ी करके मानवविकास के क्रम के हास और विघटन में समाप्त हो सकता है, यहां तक

कि विकास-चक्र के दुहराने की आवश्यकता भी पड़ सकती है, जिसके फलस्वरूप समस्या को सुलझाने के लिये अधिक अच्छी तरह यत्न किया जायेगा। इसका अस्तित्व तभी रह सकेगा यदि मनुष्यजाति शांति और स्थिरता की खातिर इसकी स्थापना के लिये अपने शेष जीवन को सुव्यवस्थित करने के लिये सहमत हो जाये तथा अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिये आध्यात्मिक जीवन में आश्रय ग्रहण कर ले, जैसा कि एक बार रोमन साम्राज्य में हुआ था। किंतु यह भी केवल एक अस्थायी समाधान ही होगा। एक संघीय प्रणाली की प्रवृत्ति भी अनिवार्य रूप में मानव-जीवन, संस्थाओं तथा कार्य-व्यवहारों के लिये एक सामान्य आदर्श की स्थापना करने की होगी; वह केवल साधारण विविधताओं को ही क्रीड़ा करने की अनुमति देगी, किंतु सजीव प्रकृति में विविधता की आवश्यकता इस छोटे-से आधार से ही सदा संतुष्ट नहीं रह सकेगी। दूसरी ओर, एक शिथिलतर राज्य-संघ के लिये यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि यह उन केंद्र-विरोधी शक्तियों को, यदि वे नया बल प्राप्त करके उठ खड़ी हुईं, अत्यधिक अवसर प्रदान करेगा। एक शिथिल राज्य-संघ स्थायी नहीं हो सकता, इसे एक-न-एक दिशा ग्रहण करनी ही पड़ेगी, या तो इसे एक घनिष्ठ और कठोर केंद्रीकरण में अथवा कम-से-कम उस शिथिल एकता के अपने मूल तत्त्वों में विघटन के द्वारा समाप्त होना पड़ेगा।

जो शक्ति इसकी रक्षा के लिये आवश्यक है वह एक ऐसा नया मनोवैज्ञानिक तत्त्व है जो मनुष्यजाति के लिये एकीकृत जीवन को आवश्यक बना देगा और साथ ही उसे स्वतंत्रता का सम्मान करने के लिये विवश कर देगा। मानवता का धर्म एक ऐसी ही विकसनशील शक्ति प्रतीत होता है जिसका झुकाव इस दिशा में है, क्योंकि यह मानव-एकता की भावना को उन्नत करने में सहायक होता है; यह जाति-विचार को रखते हुए भी व्यक्ति और स्वाभाविक मानव-समुदाय का सम्मान करता है। किंतु इसका वर्तमान बौद्धिक रूप शायद ही पर्याप्त हो। विचार अपने-आप में तथा अपने प्रभावों में शक्तिशाली होते हुए भी इतना शक्तिशाली नहीं है कि वह जाति के समस्त जीवन को अपने अनुरूप गढ़ ले। कारण, इसे मनुष्य की प्रकृति के अहंभावयुक्त पक्ष के आगे, जो एक समय हमारी संपूर्ण सत्ता था और अभीतक उसका नव-दशमांश है और जिसके साथ इसके बृहत्तर विचार का संघर्ष रहता है, बहुत अधिक झुकना पड़ता है। दूसरी ओर, क्योंकि यह मुख्यतया तर्क को अपना आधार मानता है, यह यांत्रिक समाधान की ओर आसानी से मुड़ जाता है। कारण, बौद्धिक विचार अंत में सदा अपने यंत्र का बंदी बन जाता है, वह अपनी ही अत्यधिक बंधनकारी क्रिया का दास बन जाता है। तब एक नया विचार इस तर्कसंगत यंत्र की एक और प्रवृत्ति को लिये हुए उसके विरुद्ध खड़ा हो जाता है और उस यंत्र को तोड़-फोड़ देता है, किंतु वह उसे इसलिये तोड़ता है कि अंत में वह उसके स्थान पर एक दूसरी यांत्रिक प्रणाली की, किसी अन्य मत, सूत्र या आचार-पद्धति की स्थापना कर सके।

मानवता का आध्यात्मिक धर्म भविष्य की आशा है। इस धर्म से हमारा मतलब वह धर्म नहीं जिसे साधारणतया लोग एक सार्वभौम धर्म, प्रणाली, मत या बौद्धिक विश्वास, सिद्धांत एवं बाह्य विधि कहते हैं। मनुष्यजाति इन साधनों द्वारा एकता प्राप्त करने का प्रयत्न कर चुकी है, परंतु उसके हाथ असफलता ही लगी और वह असफलता की अधिकारी भी थी, कारण, एक ऐसी सार्वभौम धार्मिक पद्धति हो भी नहीं सकती जो मानसिक विश्वास और प्राणिक रूप में एक हो। आंतरिक भावना एक अवश्य है, किंतु औरों से कहीं अधिक आध्यात्मिक जीवन अपनी आत्म-अभिव्यक्ति तथा विकास के साधनों में स्वतंत्रता और विविधता पर आग्रह करता है। मानवता के धर्म का अर्थ यह विकसनशील उपलब्धि है कि एक गुप्त आत्मा एवं एक दिव्य सद्बस्तु का अस्तित्व है जिसमें हम सब एक हैं और मानवता आज इस भूतल पर उसकी अभिव्यक्ति का सर्वोच्च साधन है। मानवजाति और मानवप्राणी ही ऐसे साधन हैं जिसके द्वारा वह क्रमशः यहां अपने-आपको प्रकट करेगी। इसका मतलब यह है कि इस ज्ञान को जीवन में चरितार्थ करके पृथ्वी पर इस दिव्य आत्मा का राज्य स्थापित करने के लिये अधिकाधिक प्रयत्न किया जाये। हमारे अंदर इसका विकास होने से अन्य साथी-मनुष्यों के साथ एकत्व की भावना हमारे समस्त जीवन का प्रमुख सिद्धांत बन जायेगी; यह केवल सहयोग का सिद्धांत नहीं, वरन् एक अधिक गहरे भ्रातृभाव का, एकता और समानता की वास्तविक एवं आंतरिक भावना तथा सर्वसामान्य जीवन का सिद्धांत बन जायेगा। व्यक्ति को यह अनुभव करना होगा कि अपने साथियों के जीवन में ही उसके अपने जीवन की पूर्णता निहित है। जाति को भी यह अनुभव करना होगा कि व्यक्ति के स्वतंत्र और पूर्ण जीवन पर ही उसकी अपनी पूर्णता और स्थायी सुख अवलंबित हैं। इस धर्म के अनुरूप एक ऐसा अनुशासन एवं मुक्ति का मार्ग अर्थात् एक ऐसा साधन होना चाहिये जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य इसे अपने अंदर विकसित कर ले जिससे कि यह जाति के जीवन में भी विकसित हो सके। इसका क्या अर्थ है इसके संबंध में यदि हम पूरा-पूरा जानना चाहें तो यह एक इतना बड़ा विषय बन जायेगा कि इसका विवेचन करना यहां संभव नहीं होगा, केवल इतना कहना ही काफी है कि अंतिम मार्ग इसी दिशा में है। यह सत्य है कि यदि यह भी और सब की तरह एक विचारमात्र है तो इसका भी वही हाल होगा जो और विचारों का होता है। किंतु यदि यह हमारी सत्ता का सत्य है, तो यह अवश्य ही ऐसा सत्य है जिसकी ओर सब बढ़ रहे हैं, और इसीमें एक मूलभूत आंतरिक, पूर्ण और वास्तविक मानव-एकता के साधन प्राप्त होने चाहियें, यही एकता मानवजीवन के एकीकरण का एकमात्र सुरक्षित आधार बनेगी। आध्यात्मिक एकत्व ही मनुष्य-जीवन के उच्चतर आदर्श का आधार होगा, क्योंकि यह एक ऐसी मनोवैज्ञानिक एकता उत्पन्न कर देगा जो किसी बौद्धिक अथवा बाह्य एकरूपता पर आधारित नहीं होगी और जीवन की उस एकता को अवश्य ही उत्पन्न कर देगी जो एकीकरण के यांत्रिक साधनों से बंधी नहीं

होगी, वरन् एक स्वतंत्र आंतरिक विविधता तथा एक स्वतंत्र रूप की विविधतापूर्ण बाह्य अभिव्यक्ति के द्वारा अपनी सुरक्षित एकता को समृद्ध बनाने के लिये सदा तैयार रहेगी।

यदि यह अनुभूति मनुष्यजाति में शीघ्र ही विकसित हो सकी तो हम एकीकरण की समस्या को, आंतरिक सत्य से लेकर बाह्य रूपों तक, एक अधिक गभीर और सच्चे तरीके से सुलझा सकेंगे। तबतक, यांत्रिक साधनों द्वारा इसे चरितार्थ करने का हमारा प्रयत्न जारी रहना ही चाहिये। किंतु मानवजाति की उच्चतर आशा इसमें है कि इस सत्य को प्राप्त करनेवाले और इसे अपने अंदर विकसित करनेवाले मनुष्यों की संख्या बढ़ती जाये जिससे कि जब मनुष्य का मन अपनी यांत्रिक प्रवृत्ति से मुक्त होने के लिये तैयार हो जाये—यह शायद तब होगा जब उसे यह पता लग जायेगा कि उसके सब यांत्रिक समाधान अस्थायी और निराशाजनक हैं—तो आत्मा का सत्य प्रकट हो सके और मनुष्यजाति को उसकी सर्वोच्च संभवनीय प्रसन्नता और पूर्णता का मार्ग दिखा सके।

ग्रंथोत्तर अध्याय

जिस समय यह पुस्तक अपनी समाप्ति पर थी, नयी विश्व-व्यवस्था के किसी प्रथम दुविधापूर्ण प्रारंभिक आधार की स्थापना के प्रयत्न पर विचार-विमर्श हो रहा था, किंतु इसे अभी एक मूर्त और व्यावहारिक रूप नहीं प्राप्त हुआ था; तथापि इस व्यवस्था को, यदि संसार में किसी भी व्यवस्था का होना आवश्यक है, सरकारों और राष्ट्रों ने एक स्थायी आवश्यकता मानना शुरू कर दिया था। पर इसे स्थापित होना ही था और अंत में इसका एक महत्वपूर्ण आरंभ कर भी दिया गया। इसे उस वस्तु का नाम और रूप मिला जिसे हम राष्ट्र-संघ (League of Nations) कहते हैं। इसकी परिकल्पना सुंदर नहीं थी और न ही इसकी रचना के मूल में कोई सम्यक् प्रेरणा थी; इसके भाग्य में अधिक देर तक टिकना या पूर्णतया सफल होना भी नहीं था, किंतु एक ऐसा संगठित प्रयत्न प्रारंभ ही किया जाये और वह शीघ्र नष्ट हुए बिना अपने मार्ग पर बढ़ता जाये यह तथ्य अपने-आपमें अत्यधिक महत्वपूर्ण था, इसका मतलब था कि विश्व के इतिहास में एक नये युग का आरंभ हो चुका है; विशेषतया यह एक ऐसा प्रारंभिक प्रयत्न था जिसे यद्यपि सफलता नहीं भी मिले, फिर भी उसे व्यर्थ नहीं जाने दिया जा सकता था; उसे फिर से हाथ में लेना आवश्यक ही था, जबतक कि एक सफल समाधान मनुष्यजाति के भविष्य को एक सतत अव्यवस्था और घातक संकट से ही नहीं वरन् उन विनाशकारी संभावनाओं से भी सुरक्षित न कर दे जो आसानी से सभ्यता के नाश की और शायद अंत में उस चीज की भी, जिसे हम मानवजाति की हत्या कह सकते हैं, तैयारी कर सकती हैं, परिणामतः राष्ट्र-संघ समाप्त हो गया और उसके स्थान पर संयुक्त राष्ट्र-संघ (United Nations Organisation) की स्थापना हुई जो अब संसार की प्रमुख संस्था है। यह एक सुरक्षित स्थायित्व तथा एक महान् और दूरगामी उद्यम में सफलता प्राप्त करने के लिये संघर्ष कर रहा है; इसी उद्यम पर संसार का भविष्य निर्भर है।

यह एक प्रमुख घटना है, उन विश्वव्यापी प्रवृत्तियों का महत्वपूर्ण और निर्णयात्मक परिणाम है जिन्हें प्रकृति ने अपने नियत उद्देश्य की पूर्ति के लिये गति प्रदान की है। मनुष्य के प्रयत्न और उसकी लड़खड़ाती हुई मनोवृत्ति की सतत दुर्बलताओं तथा उन विरोधी संभावनाओं के होते हुए भी, जो इस महान् साहसपूर्ण कार्य की सफलता को कुछ समय के लिये रोक अथवा स्थगित कर सकती हैं—यही घटना भावी कार्य को सुनिश्चित कर सकती है। वे सभी विपत्तियाँ, जो घटनाक्रम के साथ जुड़ी हुई हैं तथा ऐसा प्रतीत होता है कि वे प्रकृति के उद्देश्य की कार्यान्विति को रोकने के उद्देश्य से ही प्रकट होती हैं, एक ऐसे कार्य के सफल प्रारंभ और विकास को नहीं रोक सकी हैं जो

जाति के विकास और शायद उसके अस्तित्व के लिये भी आवश्यक हो गया है, यहांतक कि यदि और विपत्तियां भी आयें तो वे भी इसे नहीं रोक सकेंगी। दो महान् और विश्व-संहारक युद्ध पृथ्वीपर से गुजर चुके हैं, इनके साथ और इनके बाद कई ऐसी क्रांतियां भी हुई हैं जिनके परिणाम दूरतक पहुंचे हैं; इन परिणामों ने पृथ्वी के राजनीतिक नक्शे और अंतर्राष्ट्रीय संतुलन को, जो एक बार पांच महाद्वीपों का काफी स्थायी संतुलन था, तथा संपूर्ण भविष्य को बदल दिया है। एक तीसरा युद्ध जो और भी अधिक संकटपूर्ण होगा और जिसमें ऐसे शस्त्रों और विनाश के अबतक आविष्कृत साधनों से कहीं अधिक घातक और व्यापक वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग में लाये जाने की संभावना है—ऐसे शस्त्रों के जिनका सुदूरव्यापी प्रयोग सभ्यता की इमारत को एकदम ढाह देगा तथा जिनके प्रभाव एक बड़े पैमाने पर विनाश-कार्य कर सकते हैं—भविष्य की संभावना के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। इसका सतत भय राष्ट्रों के मन में एक बड़ी भारी चिंता उत्पन्न करता है, उन्हें युद्ध के लिये अधिकाधिक तैयारी करने के लिये उकसाता है तथा एक लंबे विरोध का, संघर्ष का न भी हो, वातावरण उत्पन्न कर देता है जो शांति के दिनों में भी “शीत युद्ध” का रूप धारण कर लेता है। किंतु इन दोनों युद्धों ने, जो आकर चले गये हैं, ऐक्य और एक मूर्त संगठन अर्थात् उस उद्देश्य के संगठित साधन की क्रियात्मक रचना के लिये प्रारंभिक प्रयत्न के पहले और दूसरे महत्वपूर्ण कदमों के उठाये जाने में बाधा नहीं डाली है, बल्कि ये इस नयी रचना के कारण बने हैं तथा इन्होंने इसे वेग प्रदान किया है। राष्ट्रसंघ का तो निर्माण ही प्रथम युद्ध के प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में हुआ था, संयुक्त राष्ट्रसंघ की उत्पत्ति भी दूसरे विश्वव्यापी संघर्ष के फलस्वरूप हुई थी। यदि तीसरा युद्ध हुआ जिसे कई लोग, यद्यपि अधिकतर नहीं, अनिवार्य समझते हैं तो यह संभव है कि यह शीघ्रतापूर्वक अगले कदम के उठाये जाने और शायद इस महान् विश्व-प्रयास के अंतिम परिणाम को उत्पन्न करने में सहायक हो। प्रकृति ऐसे साधनों का, जो प्रत्यक्षतः उसके अभिप्रेत लक्ष्य के विरोधी होते हैं तथा उसके लिये संकट उत्पन्न कर देते हैं, उसी लक्ष्य की चरितार्थता के लिये प्रयोग करती है। जिस प्रकार आध्यात्मिक विद्या और योगविद्या के अभ्यास में उन वैज्ञानिक संभावनाओं को, जो प्रकृति में विद्यमान हैं और उसकी आध्यात्मिक पूर्णता और चरितार्थता में बाधक होती हैं, ऊपर लाना होता है जिससे कि उन्हें दूर किया जा सके, यहांतक कि उन सुप्त संभावनाओं को भी ऊपर लाना होता है जो किये हुए कार्य को नष्ट करने के लिये भविष्य में प्रकट हो सकती हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी उन विश्व-शक्तियों के साथ, जो उसके संपर्क में आती हैं, ऐसा ही व्यवहार करती है, वह केवल उनको ही नहीं उभारती जो उसकी सहायता करेंगी वरन् उन्हें भी समाप्त करने के लिये ऊपर उठाती है जिनके विषय में वह जानती है कि वे स्वाभाविक, यहांतक कि अनिवार्य बाधाएं हैं और उसके गुप्त संकल्प के मार्ग में रुकावट डालने के लिये वे अवश्य ही प्रकट होंगी। यह बात प्रायः ही मनुष्यजाति के

इतिहास में देखी गयी है; इसे आज भी, जो कार्य करना है उसकी महानता के अनुपात में, अत्यधिक प्रबल रूप में देखा जा रहा है। ये बाधाएं सदा ही अपने प्रतिरोध के द्वारा उस महान् विधात्री तथा उसके प्रेरक के उद्देश्य में रुकावट डालने की अपेक्षा कहीं अधिक सहायता ही पहुंचानेवाली सिद्ध होती हैं।

इसलिये हम, जो कुछ अबतक प्राप्त हो चुका है उसकी ओर तथा भविष्य में होनेवाली प्राप्ति की ओर उचित आशावादी दृष्टि से देख सकते हैं। किंतु इस आशावाद के वशीभूत होकर हमें अवांछनीय लक्षणों, संकटमय प्रवृत्तियों तथा कार्य में गंभीर विघ्न होने की संभावनाओं, यहांतक कि मानव-संसार में होनेवाली उन अव्यवस्थाओं की ओर से, जो संभवतः किये हुए कार्य को उलट भी सकती हैं, आंखें बंद कर लेने की न तो आवश्यकता है और न ही हमें ऐसा करना चाहिये। वर्तमान समय की वास्तविक दशाओं के विषय में यह भी माना जा सकता है कि आजकल बहुत-से लोग संयुक्त राष्ट्र-संघ के दोषों तथा उसकी भूलों और उन द्वेष-भावनाओं पर, जो उसके अस्तित्व के लिये संकटपूर्ण हैं, असंतोष की दृष्टि डालते हैं, कड़ियों को तो इसकी अंतिम सफलता की संभावना के विषय में भी अधिकाधिक निराशा तथा शंका हो रही है। इस निराशा में भाग लेना न तो आवश्यक है और न ही बुद्धिमत्तापूर्ण, क्योंकि ऐसी मनोवृत्ति उन परिणामों को, जिनके विषय में वह भविष्यवाणी करती है, लाने अथवा उन्हें संभव करने की प्रवृत्ति रखती है, किंतु ये परिणाम बाद में उत्पन्न ही हों, यह आवश्यक नहीं। साथ ही, हमें संकट की उपेक्षा भी नहीं करनी चाहिये। राष्ट्रों के नेताओं को, जिनमें सफलता प्राप्त करने का संकल्प है तथा जिन्हें उनकी संतान किसी भी ऐसी असफलता के लिये, जिससे बचा जा सकता हो उत्तरदायी ठहरायेगी, अदूरदर्शी नीतियों अथवा घातक भूलों से सावधान रहना चाहिये; जो त्रुटियां संगठन या उसके निर्माण में विद्यमान हैं उनका या तो शीघ्र ही सुधार होना चाहिये या उन्हें धीरे-धीरे होशियारी से दूर कर देना चाहिये; यदि आवश्यक परिवर्तन के प्रति दुराग्रहपूर्ण विरोध हों तो उन्हें जैसे भी हो वश में कर लेना चाहिये अथवा किसी-न-किसी प्रकार संस्था को बिना तोड़े उन्हें दूर कर देना चाहिये। फिर भी उसकी पूर्णता को अधिकाधिक प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये चाहे वह सुगमता या शीघ्रता से न भी प्राप्त हो सके और संसार की आशा को किसी भी प्रकार भंग नहीं होने देना चाहिये। इसके अतिरिक्त मनुष्यजाति के लिये और कोई रास्ता नहीं है जबतक कि वह शक्ति, जो मानव-संकल्प और मानव-प्रकृति में किसी उद्धारक दिशा-परिवर्तन या सुधार के द्वारा अथवा किसी आकस्मिक विकाससंबंधी प्रगति के द्वारा पथप्रदर्शन करती है, एक महत्तर मार्ग न खोल दे। यह आकस्मिक प्रगति, जो हमारी मानव-भवितव्यता के एक और तथा अधिक बड़े समाधान को संभव कर देगी, पहले से ही सरलतापूर्वक दृष्टिगोचर नहीं हो सकती।

यद्यपि एक ऐसे विश्व-ऐक्य के आरंभ के प्रथम विचार और रूप में, जिसने राष्ट्र-

संघ का रूप धारण किया था, निर्माणसंबंधी कई भूलें थीं, उदाहरणार्थ—मतैक्य पर आग्रह, जिसका झुकाव संघ के व्यावहारिक कर्म और प्रभावशालिता को कुंद बनाने, उसे सीमित करने और रोकने की ओर था, तथापि मुख्य दोष उसकी कल्पना तथा उसकी सामान्य रचना में निहित था, और वह भी स्वभावतः तथा जगत् की तात्कालिक अवस्था के प्रत्यक्ष परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ था। राष्ट्र-संघ वस्तुतः महान् शक्तियों का कुलीनतंत्र था और प्रत्येक के पीछे छोटे-छोटे राज्यों की एक मंडली थी; वह सर्वसामान्य संगठन का प्रयोग, यथासंभव, संसार के सामान्य हित अथवा भलाई से कहीं अधिक अपनी नीति को आगे बढ़ाने के लिये ही करता था। यह स्वभाव राजनीतिक क्षेत्र में अत्यधिक प्रकट हुआ और दांव और विरोध, सुविधा और समझौते जो इस वस्तुस्थिति में अनिवार्य थे, संघ के कार्य को हितकारी अथवा सफल बनाने में सहायक नहीं हुए, जैसा कि उसका शुरू में विचार अथवा संकल्प था। अमरीका की अनुपस्थिति और रूस की स्थिति ने इस प्रथम प्रयास की अंतिम असफलता को यदि अनिवार्य नहीं तो एक स्वाभाविक परिणाम का रूप देने में सहायता पहुंचायी थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ के संविधान में, कम-से-कम सिद्धांत-रूप में, इन भूलों से बचने का प्रयत्न किया गया था, किंतु यह प्रयत्न भी सर्वांगपूर्ण नहीं था और न ही इसे पूरी सफलता प्राप्त हुई। कुलीनतंत्र का एक सबल और अवशिष्ट तत्त्व उसी प्रमुख स्थान पर स्थित रहा जो सुरक्षा-समिति में पांच बड़ी शक्तियों को प्राप्त था, साथ ही निषेधाधिकार की युक्ति के द्वारा यह दृढ़ भी हो गया; ये यथार्थवाद की भावना के लिये तथा वास्तविक स्थिति एवं दूसरे महायुद्ध के परिणामों को समझने की आवश्यकता के लिये रियायतें थीं और संभवतः इनसे बचा नहीं जा सकता था, किंतु इन्होंने कष्ट उत्पन्न करने, कार्य में बाधा डालने तथा नयी सफलता को कम करने के लिये जितना कार्य किया है उतना इसकी रचना ने तथा उस कार्यप्रणाली की किसी और वस्तु ने नहीं किया है जो इसपर विश्वस्थिति के द्वारा अथवा इसकी रचना की अंगभूत संयुक्त कार्य-पद्धति की कठिनाइयों के द्वारा लादी गयी थी। इन दोषों से मुक्त होने के लिये अत्यंत उतावली में अथवा आमूल रूप में किया गया प्रयत्न पूरी इमारत को ढा सकता है; इन्हें असंशोधित छोड़ देने से कष्ट बढ़ता है, सामंजस्य और निर्विघ्न कार्यप्रणाली का अभाव रहता है जिसके फलस्वरूप अविश्वास तथा सीमित और अपूर्ण कार्य की भावना उत्पन्न हो जाती है, साथ ही ये दोष निष्फलता की व्यापक भावना को जन्म देते हैं तथा इस तथ्य का कारण बनते हैं कि संसार इस महान् और आवश्यक संस्था पर, जिसकी इतनी बड़ी आशाओं को लेकर स्थापना हुई थी और जिसके बिना संसार की अवस्था अत्यंत बुरी और संकटपूर्ण, संभवतः असाध्य तक हो जाती, संदेह की दृष्टि डालने लगा है। एक तीसरा प्रयत्न है, इसके स्थान पर एक विभिन्न प्रकार से निर्मित संस्था की स्थापना और यह स्थापना तभी हो सकती है यदि यह संस्था एक नये संकट के परिणामस्वरूप समाप्त हो जाये : यदि कुछ संदेहात्मक

लक्षण अपने अपशकुनों को पूरा कर दें तो इसका निर्माण हो सकता है और अधिकाधिक और व्यापक रूप से यह निश्चय कर लेने के कारण कि इस प्रकार के संकट को दुबारा न आने दिया जाये यह अधिक सफल भी हो सकती है। किंतु ऐसा एक तीसरे क्रांतिकारी संघर्ष के बाद होगा जो दो बार की उथल-पुथल के बाद अत्यंत कठिनाई और असुविधा से खड़ी हुई अंतर्राष्ट्रीय रचना को उसकी जड़ समेत हिला सकता है। तथापि ऐसी अवस्था में भी, प्रकृति के कार्य का अंतर्निहित प्रयोजन उन बाधाओं को पार कर सकता है जिन्हें उसने स्वयं उत्पन्न किया है और वे अब सदा के लिये दूर की जा सकती हैं। किंतु इसके लिये एक ऐसे सच्चे विश्व-राज्य का, चाहे वह अंत में ही संभव हो, निर्माण करना आवश्यक हो जायेगा, जिसमें किसी को अलग न रखा जाये तथा जो समानता के एक ऐसे सिद्धांत पर आधारित हो जिसमें परिमाण और शक्ति के विचार प्रवेश न कर सकें। इन्हें इस बात के लिये स्वतंत्र छोड़ा जा सकता है कि वे संसार की जातियों के, जो एक नयी अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के कानून द्वारा सुरक्षित होंगी, सुव्यवस्थित सामंजस्य में अपना स्वाभाविक प्रभाव डालें। एक सुनिश्चित न्याय, एक आधारभूत समानता तथा अधिकारों और हितों के सुसंयोग इस विश्व-राज्य के नियम तथा इसकी पूरी इमारत के आधार होने चाहियें।

एकता की ओर प्रगति की इस दूसरी अवस्था का वास्तविक संकट संयुक्त राष्ट्र-परिषद् के निर्माणसंबंधी किन्हीं दोषों में नहीं, चाहे वे कितने भी गंभीर क्यों न हों, बल्कि राष्ट्रों के दो दलों में विभाजित हो जाने में है, इन दलों की प्रवृत्ति स्वभावतः ही एक दूसरे का विरोध करने की होती है तथा किसी भी समय वे प्रत्यक्ष रूप में शत्रु बन जाते हैं जिनमें कभी मेल नहीं हो सकता, यहांतक कि जिनके सामूहिक जीवन में भी कोई संगति नहीं होती। इसका कारण यह है कि बोलशेविस्ट रूस के तथाकथित साम्यवाद की उत्पत्ति एक द्रुत विकास के फलस्वरूप नहीं बल्कि एक ऐसे भयानक और लंबे विद्रोह के फलस्वरूप हुई जिसका इतिहास में कोई दृष्टांत नहीं मिलता तथा जिसमें अत्यधिक रक्तपात भी हुआ था; इसने एक ऐसी स्वच्छंद और असहिष्णु राज्य-पद्धति उत्पन्न कर दी जो वर्गों के युद्ध पर, जिनमें से मजदूरवर्ग को छोड़कर बाकी सब का सफाया कर दिया गया था, उन्हें समाप्त कर दिया गया था तथा “मजदूरवर्ग की तानाशाही” पर अथवा एक संकुचित सर्वशक्तिशाली दल-प्रणाली की, जो उसके नाम से कार्य करती थी, अर्थात् एक पुलिस-राज्य की तानाशाही पर एवं बाह्य संसार के साथ एक घातक संघर्ष पर आधारित थी। इस संघर्ष की भयानकता ने नये राज्य के व्यवस्थापकों के मन में यह दृढ़ विचार उत्पन्न कर दिया कि जीते रहना ही आवश्यक नहीं है बल्कि तबतक संघर्ष करते रहना तथा अपने आधिपत्य का विस्तार करना आवश्यक है, जबतक नयी व्यवस्था पुरानी व्यवस्था को नष्ट न कर दे अथवा यदि सारी पृथ्वी से न भी हो तो उसके एक बड़े भाग से उसका उन्मूलन न कर दे, साथ ही उनमें यह विचार भी जम गया कि एक नया राजनीतिक

एवं सामाजिक सिद्धांत लोगों पर लाद दिया जाये अथवा वह संसार के राष्ट्रों द्वारा सामान्य रूप में स्वीकार कर लिया जाये। किंतु यह वस्तुस्थिति बदल सकती है तथा अपनी कठोरता और पूरा परिणाम खो भी सकती है, जैसा कि वह कुछ हदतक सुरक्षा की प्राप्ति से तथा संघर्ष की पहली प्रचंडता, कटुता तथा खिन्नता की समाप्ति से कर भी चुकी है। नयी व्यवस्था के अत्यधिक असहिष्णु और उग्र तत्त्वों की शक्ति कम की जा सकती थी और तब एक साथ या पास-पास रहने की असमर्थता अथवा अयोग्यता की भावना समाप्त हो जाती और कार्य करने का एक अधिक सुरक्षित तथा सद्भावनापूर्ण तरीका संभव हो जाता। यदि व्याकुलता, अनिवार्य संघर्ष की भावना, पारस्परिक सहनशीलता और आर्थिक अनुकूलता की कठिनाई का एक बड़ा अंश अभीतक विद्यमान है तो इसका कारण इतना यह नहीं है कि दो विचार-धाराओं का साथ-साथ रहना असंभव है, वरन् यह है कि विचारसंबंधी संघर्ष को संसार पर प्रभुत्व स्थापित करने के साधन के रूप में प्रयुक्त करने की धारणा विद्यमान है तथा वह राष्ट्रों में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देती है कि वे एक-दूसरे से भय खाने लगते हैं तथा सशस्त्र रक्षा और आक्रमण की तैयारी करने लगते हैं। यदि यह तत्त्व दूर कर दिया जाये तो एक ऐसे संसार का अस्तित्व, जिसमें ये दो विचारधाराएं एक साथ रह सकें, आर्थिक आदान-प्रदान कर सकें तथा एक-दूसरे के अधिक निकट आ जायें जरा भी असंभव नहीं होगा; कारण, विश्व इस सिद्धांत के महत्तर विकास की ओर बढ़ रहा है कि समाज के जीवन पर राज्य का नियंत्रण होना चाहिये, साथ ही एक ओर समाजवादी राज्यों के तथा दूसरी ओर संशोधित पूंजीवाद को सुसंगत तथा नियंत्रित करनेवाले राज्यों के समूह भी इकट्ठे रह सकते हैं तथा एक-दूसरे के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बना सकते हैं। यहांतक कि एक ऐसे विश्व-राज्य का भी निर्माण हो सकता है जिसमें दोनों समूह अपनी-अपनी संस्थाएं रख सकें तथा एक ही संसद् में भाग ले सकें; इस आधार पर बना अखंड विश्वसंघ असंभव नहीं होगा। यह विकास वस्तुतः वह अंतिम निष्कर्ष है जो संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना के मूल में पहले से निहित है, क्योंकि वर्तमान संगठन अपने-आपमें अंतिम वस्तु नहीं हो सकता; यह केवल एक अधूरा आरंभ है जो उस बृहत्तर संस्था के प्राथमिक केंद्र के रूप में उपयोगी तथा आवश्यक है जिसमें पृथ्वी के सभी राष्ट्र एक अखंड अंतर्राष्ट्रीय एकता में परस्पर संबंध रख सकते हैं; इस प्रकार की प्रक्रिया में विश्व-राज्य का निर्माण ही एक युक्तिसंगत और अनिवार्य अंतिम परिणाम है।

वर्तमान परिस्थितियों में भविष्यविषयक इस विचार को अत्यंत सहज आशावाद कहकर इसकी निंदा की जा सकती है, किंतु यह अवस्था भी उतनी ही संभव है जितनी कि वह अधिक दुःखद अवस्था जिसकी निराशावादी आशा करते हैं, क्योंकि यह संभव है कि जिस क्रांति के और साथ ही सभ्यता के नाश के बारे में वे कभी-कभी भविष्यवाणी करते हैं वे नये युद्ध का परिणाम शायद बिल्कुल भी न हों।

मानवजाति इस बात की अभ्यस्त है कि वह उन बुरी-से-बुरी विपत्तियों को भी पार कर जाती है जो उसकी अपनी भूलों से अथवा प्रकृति के प्रचंड मोड़ों से उत्पन्न हुई हैं और ऐसा होना ही चाहिये, यदि उसके अस्तित्व का कोई प्रयोजन है और यदि उसका लंबा इतिहास और सतत जीवन-प्रवाह किसी ऐसे आकस्मिक संयोग की घटना नहीं है जो दैवात् ही अपने को संगठित कर लेता है; संसार की प्रकृति की शुद्ध जड़वादी दृष्टि में तो यह एक ऐसी ही घटना है। यदि मनुष्य का उद्देश्य जीते रहना और उस विकास को, जिसका वह आजकल अग्रणी है और कुछ हदतक उसकी गति का अर्ध-चेतन नेता है, आगे चलाते रहना है तो उसे वर्तमान अस्तव्यस्त अंतर्राष्ट्रीय जीवन से बाहर निकल आना चाहिये तथा संगठित और संयुक्त कार्य का आरंभ कर देना चाहिये; किसी प्रकार के एकात्मक अथवा संघीय विश्व-राज्य या राज्य-संघ या किसी संयुक्त शासन पर तो अंत में पहुंच ही जाना चाहिये; इससे लघुतर या अपूर्णतर साधन ठीक-ठीक इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करेगा। उस अवस्था में इस पुस्तक में प्रस्तुत की गयी सामान्य स्थापना उचित सिद्ध होगी और हम पहले से ही कुछ विश्वासपूर्वक प्रगति की उस मुख्य दिशा का, जिसे घटनाक्रम ग्रहण करेगा, मानवजातियों के कम-से-कम भावी इतिहास की मुख्य दिशा का आभास तो दे ही सकते हैं।

विकासोन्मुख प्रकृति अब मनुष्य के आगे यह प्रश्न उपस्थित करती है कि क्या वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली के स्थान पर—यदि उसे प्रणाली कहा जा सकता है—अर्थात् एक ऐसी अस्थायी व्यवस्था के स्थान पर, जिसमें सदा विकासात्मक तथा क्रांतिकारी परिवर्तन होते रहते हैं, एक ऐसी सुयोजित एवं सुविचारित दृढ़ व्यवस्था अर्थात् एक सच्ची प्रणाली, जो अंत में एक वास्तविक एकता सिद्ध होगी और संसार की जातियों के सभी सामान्य हितों की रक्षा करेगी, स्थापित नहीं की जा सकती। एक आदि अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता, जो अपनी शक्तियों के जाल के साथ, जहां कहीं संभव था, सभ्यता और व्यवस्था के ऐसे बड़े या छोटे समुदायों का निर्माण कर रही थी जिनके विषय में यह भय था कि बाह्य अस्तव्यस्तता से आक्रांत होकर वे नष्ट-भ्रष्ट अथवा छिन्न-भिन्न हो जायेंगे, जगत् की रचना का पहला प्रयत्न था जिसे मानव-बुद्धि ने सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया था। अंत में इसके स्थान पर अंतर्राष्ट्रीय ढंग की एक प्रणाली आयी जिसमें अंतर्राष्ट्रीय विधान अथवा पारस्परिक व्यवहार एवं आदान-प्रदान के स्थिर अभ्यासों के तत्त्व थे; इन तत्त्वों ने, विरोधों और संघर्षों के रहते हुए भी, राष्ट्रों को मिलकर रहने में सहायता पहुंचायी, पर इस सुरक्षित अवस्था के बाद भय और संकट की अवस्था की भी बारी आती थी जिसके कई वीभत्स अंग थे, चाहे वे कितने भी स्थानीय क्यों न हों, उदाहरणार्थ, अत्याचार, रक्तपात, विद्रोह और अव्यवस्था, उन युद्धों के बारे में तो कुछ कहना ही बेकार है जो कभी-कभी पृथ्वी के बड़े भागों को बिल्कुल ही उजाड़ देते थे। उस अंतःस्थित देवता ने जो जाति की भवितव्यता का अधिष्ठाता है मनुष्य के मन और हृदय में एक ऐसी नयी व्यवस्था के

विचार और आशा को उत्पन्न कर दिया है जो पुरानी असंतोषजनक व्यवस्था का स्थान ले लेगी और उसके स्थान पर विश्व-जीवन की ऐसी अवस्थाएं पैदा कर देगी जिन्हें अंत में स्थायी शांति और सुख की स्थापना के लिये उचित अवसर प्राप्त होगा। यह पहली बार मानव-एकता के आदर्श को एक सुनिश्चित तथ्य का रूप प्रदान करेगा; यह आदर्श जो कम लोगों को ही प्रिय था कब से एक भव्य कल्पनामात्र प्रतीत हो रहा था। तब शांति और सामंजस्य का दृढ़ आधार और यहांतक कि जाति की पूर्णता के लिये, एक पूर्ण समाज के लिये, और मानव-आत्मा और मानव-प्रकृति के उच्चतर और ऊर्ध्वमुख विकास के सर्वोच्च मानवी स्वप्नों की चरितार्थता के लिये स्वतंत्र क्षेत्र उत्पन्न किया जा सकता है। इसका उत्तर हमारे समय के अथवा अधिक-से-अधिक निकट भविष्य के मनुष्यों को देना है। कारण, बहुत लंबा स्थगन अथवा चिर असफलता उन बढ़ती हुई विपत्तियों की शृंखला का रास्ता खोल देगी जो एक अत्यधिक लंबी और संकटपूर्ण अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता को उत्पन्न कर सकती हैं तथा समाधान को अत्यंत कठिन अथवा असंभव बना सकती हैं; इसका अंत वर्तमान विश्व-सभ्यता के ही नहीं बल्कि सभ्यतामात्र के असाध्य ध्वंस में हो सकता है। शायद एक अत्यंत व्यापक संहार, अस्तव्यस्तता और ध्वंसावशेष के बीच में एक नया, कठिन और अनिश्चित प्रयत्न आरंभ करना पड़ सकता है और एक अधिक सफल निर्माण की भविष्यवाणी तभी की जा सकती है यदि एक श्रेष्ठतर मनुष्यजाति या फिर, संभवतः, एक महत्तर अतिमानवजाति को विकसित करने का तरीका उपलब्ध हो जाये।

मुख्य प्रश्न यह है कि क्या राष्ट्र अर्थात् सबसे बड़ी स्वाभाविक इकाई ही, जिसे मनुष्यजाति अपने सामूहिक जीवन-यापन के लिये उत्पन्न कर सकी है तथा सुरक्षित रख सकी है, उसकी अंतिम और चरम इकाई है या एक ऐसे महत्तर समुदाय की रचना भी हो सकती है जो बहुत से, यहांतक कि अधिकतर राष्ट्रों को और अंत में सब को ही अपनी एकीभूत समग्रता में समाविष्ट कर लेगा। अधिक व्यापक निर्माण करने की प्रेरणा का, अत्यंत बड़े, यहांतक कि बहुत ही विस्तृत अतिराष्ट्रीय समुदाय बनाने की प्रवृत्ति का अभाव नहीं रहा है; बल्कि यह जाति के जीवन की सहज-प्रवृत्तियों का एक स्थायी अंग भी रही है। किंतु इसने जो रूप धारण किया था वह एक सबल राष्ट्र का दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करने, उनके राज्यों को स्थायी रूप से हस्तगत करने तथा प्रजा का दमन एवं उसकी संपत्ति का शोषण करने की अभिलाषा थी : अर्ध-आत्मसात्करण के लिये भी प्रयत्न किया गया था, प्रबल जाति की संस्कृति दूसरों पर लादी गयी थी तथा सामान्य रूप से एक ऐसी प्रणाली को जारी रखने के लिये प्रयत्न किया गया था जो पूर्ण रूप से या यथासंभव पूर्ण रूप से दूसरों को अपने अंदर मिला ले। रोम का साम्राज्य इस प्रकार के प्रयत्न का एक प्रसिद्ध दृष्टांत था और राजनीतिक और प्रशासनीय एकता के एक बहुत बड़े ढांचे में एक ही तरह के जीवन और संस्कृति की ग्रीक-रोमन एकता भौगोलिक सीमाओं के अंदर एक ऐसी चीज की ओर निकटतम

प्रगति थी जिसतक यह सभ्यता पहुंची थी और जिसे मानव-एकता का प्रथम प्रतीक या उस प्रतीक की अपूर्ण झलक माना जा सकता है। समस्त इतिहास में इसी प्रकार के और प्रयत्न भी किये गये हैं पर वे न तो इतने व्यापक थे और न ही उनमें पूर्ण क्षमता थी, किंतु कोई भी अधिक शताब्दियों तक नहीं टिक सका। जो प्रणाली प्रयोग में लायी गयी थी वह मूलतः दोषपूर्ण थी, क्योंकि वह जीवन की उन अन्य सहज-प्रवृत्तियों का विरोध करती थी जो मनुष्यजाति की जीवन-शक्ति और स्वस्थ विकास के लिये आवश्यक थीं और जिन्हें अस्वीकार कर देने का परिणाम एक प्रकार का गतिरोध अथवा अवरुद्ध विकास होता। साम्राज्यीय समुदाय राष्ट्र-इकाई की अजेय जीवन-शक्ति तथा चिरजीवी रहने की सामर्थ्य नहीं प्राप्त कर सकता था। जो साम्राज्य-इकाइयां स्थायी रह सकीं वे वस्तुतः ऐसी बृहत् राष्ट्र-इकाइयां थीं जिन्होंने जर्मनी और चीन की तरह यह नाम ग्रहण कर लिया था, ये अति-राष्ट्रीय राज्य के रूप नहीं थीं, अतएव साम्राज्यीय समुदाय की रचना के इतिहास में इनकी गणना करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिये, यद्यपि साम्राज्य की रचना की प्रवृत्ति मानवजीवन की अधिक बड़ी एकताओं के लिये प्रकृति के आवेग का प्रमाण है, —और इसके अंदर हम एक बड़े परिमाण में मानवजाति के विषम समुदायों को एक संयोजक अथवा संयुक्त जीवन-इकाई में एकीभूत करने के संकल्प को छिपा हुआ देख सकते हैं, —तथापि इसे एक ऐसी असफल रचना ही मानना चाहिये जिसका कोई फल नहीं है तथा जो इस दिशा में किसी भी आगामी विकास के लिये अनुपयुक्त है। वास्तव में विश्वव्यापी प्रभुत्व के लिये एक नया प्रयत्न केवल एक नये साधन द्वारा अथवा नयी परिस्थितियों में पृथ्वी के सभी राष्ट्रों को अंतर्भूत करने या उन्हें किसी प्रकार के ऐक्य के लिये प्रेरित या बाधित करने के द्वारा ही सफल हो सकता है। एक आदर्श सिद्धांत अर्थात् राष्ट्रों का एक ऐसा सफल संगठन, जिसका एक ही लक्ष्य हो तथा जिसका नायक शक्तिशाली हो, उदाहरणार्थ साम्यवादी रूस, इस उद्देश्य की पूर्ति में अस्थायी सफलता प्राप्त कर सकता है, किंतु यह परिणाम जो अपने-आप में अधिक वांछनीय नहीं है संभवतः एक स्थायी विश्वराज्य के निर्माण को सुनिश्चित नहीं कर सकेगा। अन्य शक्तियों के विकास के लिये उच्च प्रवृत्तियां, बाधाएं, तथा प्रेरणाएं वहां विद्यमान रहेंगी जो देर-सबेर उसके नाश का अथवा किसी क्रांतिकारी परिवर्तन का कारण बन जायेंगी जिसका अर्थ होगा उसकी समाप्ति। अंत में ऐसी प्रत्येक अवस्था को पार करना होगा; केवल एक सच्चे विश्व-राज्य का निर्माण ही, चाहे वह एकात्मक पर अब भी नमनीय ढंग का हो, —क्योंकि एक कठोर एकात्मक राज्य जीवन के स्रोतों के गतिरोध और क्षय का कारण बन सकता है —और चाहे वह स्वतंत्र राष्ट्रों का संघ हो, एक ठोस और स्थायी विश्व-व्यवस्था के भविष्य का मार्ग बन सकता है।

विषम या क्रमिक विकास के उन साधनों, प्रणालियों अथवा दिशाओं के विषय में, जिन्हें मानव-एकता की वास्तविक चरितार्थता ग्रहण कर सकती थी, जो विचार और

निष्कर्ष इस पुस्तक में दिये गये हैं उन्हें, कुछ एक दिशाओं को छोड़कर, दुहराना या उनका सिंहावलोकन करना आवश्यक नहीं है। किंतु फिर भी कुछ दिशाओं में कई ऐसी गौण संभावनाएं उठ खड़ी हुई हैं जो यह मांग करती हैं कि जो कुछ इन अध्यायों में लिखा गया है तथा जिन परिणामों पर हम पहुंचे हैं उनमें कुछ संशोधन किया जाये। उदाहरणार्थ, यह परिणाम निकाला गया था कि एक ही प्रबल राष्ट्र अथवा साम्राज्य द्वारा संसार की विजय तथा उसके एकीकरण का होना संभव नहीं है। यह अब उतना निश्चित नहीं रहा है, क्योंकि हमें अब कुछ परिस्थितियों में ऐसे प्रयत्न की संभावना स्वीकार करनी पड़ी है। एक प्रबल शक्ति अपने चारों ओर ऐसे सबल मित्र इकट्ठा कर सकती है जो उसके अधीन होंगे किंतु फिर भी अपने साधन-सामर्थ्यों में काफी बढ़े-चढ़े होंगे, साथ ही उन्हें वह दूसरी शक्तियाँ एवं राष्ट्रों के साथ एक विश्वव्यापी संघर्ष में झोंक भी सकती है। यह संभावना और भी बढ़ जायेगी यदि वह प्रबल शक्ति, आक्रमणकारी सैनिक कार्यवाई के कुछ ऐसे भयानक साधनों के प्रयोग में, जिन्हें विज्ञान खोज रहा है तथा सफलतापूर्वक उपयोग में ला रहा है, अत्यधिक श्रेष्ठता का एकाधिकार स्थापित कर ले, चाहे वह कुछ समय के लिये ही क्यों न हो। विनाश और व्यापक संहार का भय जो इन अशुभ खोजों का परिणाम होगा, सरकारों और राष्ट्रों में इन आविष्कारों के सैनिक प्रयोग पर प्रतिबंध लगाने तथा उनका निषेध करने की इच्छा उत्पन्न कर देगा, किंतु जबतक मनुष्यजाति का स्वभाव ही नहीं बदल जाता, यह प्रतिबंध अनिश्चित और अस्थायी रहेगा और किसी भी तरीके से श्रेष्ठता प्रकट करने की आकांक्षा रखनेवाले राष्ट्र को इससे आत्मगोपन, आकस्मिक आक्रमण तथा एक निर्णायक क्षण के उपयोग का अवसर प्राप्त हो जायेगा जिससे उसे संभवतः विजय प्राप्त हो सकती है और उस महान् संभावना के लिये खतरा पैदा हो सकता है। इस बात पर यह तर्क किया जा सकता है कि पिछले युद्ध का इतिहास इस संभावना के विरुद्ध जाता है, कारण, ऐसी अवस्थाओं में, जिन्होंने परिस्थितियों के ऐसे संयोग को प्राप्त तो नहीं किया था बल्कि उसके निकट पहुंच रही थीं, आक्रमणकारी शक्तियाँ अपने प्रयत्न में असफल हुईं तथा उन्हें एक भयानक पराजय के घातक परिणामों में से गुजरना पड़ा। किंतु जो भी हो, वे कुछ समय के लिये तो सफलता के बिल्कुल निकट पहुंच ही गयी थीं और यह हो सकता है कि संसार को किसी आगामी अधिक बुद्धिमत्तापूर्वक संचालित और संगठित युद्ध में यह सौभाग्य न भी प्राप्त हो। कम-से-कम इस संभावना को ध्यान में तो रखना ही चाहिये तथा उन लोगों को, जिनके पास रोकने की शक्ति है तथा जाति की भलाई का कार्य जिनके सुपुर्द है, संसार की इससे रक्षा करनी चाहिये।

उस समय एक संभावना यह भी सुझायी गयी थी कि कुछ महाद्वीपीय समुदायों का अर्थात् एक संयुक्त यूरोप, संयुक्त-राज्य के नेतृत्व के अधीन अमरीकी महाद्वीप की जातियों के समुदाय का विकास किया जाये; एशिया के पुनरुत्थान और यूरोपीय

जातियों के आधिपत्य से मुक्त होने की उसकी प्रेरणा के फलस्वरूप भी इस महाद्वीप के राष्ट्र अपनी सुरक्षा के हित संगठन बनाने के लिये इकट्ठे हो सकते हैं; बृहत् महाद्वीपीय समुदायों का यह अंतिम रूप विश्व-ऐक्य की अंतिम रचना की एक अवस्था भी हो सकता है। इस संभावना ने कुछ हदतक इतने वेग से आकार ग्रहण करना प्रारंभ कर दिया है जितने की उस समय आशा नहीं की जा सकती थी। अमरीका के दो महाद्वीपों में तो इसने वास्तव में एक प्रमुख तथा व्यावहारिक रूप धारण कर लिया है, यद्यपि अभी वह अपने पूर्ण रूप में नहीं है। यूरोप के संयुक्त राज्यों का विचार भी एक वास्तविक आकार धारण कर चुका है और एक औपचारिक अस्तित्व ग्रहण कर रहा है, किंतु वह अभीतक एक निष्पन्न और पूर्णतया चरितार्थ संभावना में विकसित नहीं हो सका है, इसका कारण परस्पर-विरोधी आदर्शों पर आधारित शत्रुता है जो रूस और अपने लौह परदे के पीछे स्थित उसके अनुगामीयों को पश्चिमी यूरोप से पृथक् कर देती है। यह पृथक्ता इतनी दूरतक चली गयी है कि इसकी समाप्ति कब होगी यह पहले से कहना संभव नहीं है। कुछ अन्य परिस्थितियों में ऐसे समुदायों की प्रवृत्ति अत्यंत बड़े महाद्वीपीय संघर्षों का, उदाहरणार्थ, उदीयमान एशिया और पश्चिम के संघर्ष का, जिसे एक समय संभव समझा जाता था, भय उत्पन्न कर सकती थी। यूरोप और अमरीका के द्वारा एशिया के पुनरुत्थान की स्वीकृति ने और उसके फलस्वरूप पूर्वी राष्ट्रों की पूर्ण मुक्ति और साथ ही जापान के पतन ने, जो एक समय पश्चिम के प्रभुत्व के विरुद्ध स्वतंत्र एशिया का उद्धारक तथा नायक माना जाता था तथा उसने वास्तव में संसार के सामने अपने-आपको इसी रूप में उपस्थित भी किया था, इस संकटपूर्ण संभावना को दूर कर दिया है। यहां भी और स्थानों की तरह, वास्तविक भय दो विरोधी आदर्शों के परस्पर-संघर्ष के रूप में उपस्थित होता है, एक रूस और लाल चीन का है, यह अनिच्छुक अथवा कम-से-कम जो प्रभावित तो हैं, पर पूर्णतया इच्छुक नहीं हैं ऐसे एशिया और यूरोप पर कुछ हदतक सैनिक और कुछ हदतक बलपूर्वक राजनीतिक साधनों द्वारा अत्युग्र साम्यवाद लाद देने की चेष्टा कर रहा है, दूसरी ओर उन राष्ट्रों का समुदाय है जो कुछ अंश में पूंजीवादी तथा कुछ अंश में नरमपंथी समाजवादी हैं और जो अभीतक कुछ मोहपूर्वक स्वाधीनता के विचार अर्थात् विचार की स्वतंत्रता एवं व्यक्ति के स्वतंत्र जीवन की भावना के किसी अवशेष के साथ चिपके हुए हैं। अमरीका में, विशेषकर लैटिन राष्ट्रों में एक ऐसी प्रवृत्ति प्रतीत होती है कि संपूर्ण महाद्वीप तथा उसके निकटवर्ती द्वीपों का अमरीकीकरण कर दिया जाय और वह असहिष्णु रूप में पूर्ण हो, यह एक प्रकार का विस्तृत मुनरो सिद्धांत (Monroe Doctrine) है जो उन यूरोपीय शक्तियों में संघर्ष उत्पन्न कर सकता है जिनके अधिकार में अभीतक महाद्वीप के उत्तरी भाग के कुछ प्रदेश हैं। किंतु यह केवल कुछ छोटी-मोटी कठिनाइयां तथा वैमनस्य ही उत्पन्न कर सकता है, किसी गंभीर युद्ध की संभावना नहीं; यह संभवतः एक ऐसा विषय होगा जिसके संबंध में

संयुक्त राष्ट्रसंघ को मध्यस्थता या अन्य कोई व्यवस्था करनी होगी, इसका और कोई गंभीर परिणाम नहीं होगा। साम्यवादी चीन के उदय से एक अधिक संकटपूर्ण स्थिति पैदा हो गयी है जो तीव्र रूप में संसार के इस भाग की जातियों की महाद्वीपीय एकता की किसी भी संभावना का मार्ग अवरुद्ध किये हुए है। इसने एक ऐसे विशाल गुट का निर्माण कर दिया है जो दो बड़ी साम्यवादी शक्तियों, रूस और चीन, के मिलने से संपूर्ण उत्तरी एशिया को आसानी से अपने अंतर्गत कर सकता है तथा जो दक्षिण-पश्चिमी एशिया और तिब्बत को अधीन कर लेने का भय दिखाकर उन्हें अभिभूत कर लेगा; यह भारतवर्ष की सीमा तक सभी को आक्रांत करने के लिये प्रेरित हो सकता है और इस प्रकार आक्रमण करने तथा रौंदने की संभावना के द्वारा तथा अंतःप्रवेशन, यहांतक कि अदम्य सैनिक शक्ति की सहायता से भारत और पश्चिमी एशिया को अवांछित विचारों, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं के अधीन करके तथा साम्यवाद के एक ऐसे सैनिक गुट के आधिपत्य द्वारा, जिसका वेग सहज ही अदम्य सिद्ध हो सकता है, यह उनकी सुरक्षा को खतरे में डाल सकता है। किसी भी दशा में महाद्वीप दो अत्यंत बड़े गुटों में विभाजित हो जायेगा जो परस्पर सक्रिय विरोध में भी खड़े हो सकते हैं और इसके फलस्वरूप एक ऐसे भीषण विश्व-संघर्ष की संभावना पैदा हो सकती है जिसके सामने कोई भी पूर्वघटित संघर्ष तुच्छ प्रतीत होगा। किसी भी विश्व-ऐक्य की संभावना, शत्रुता के किसी वास्तविक विस्फोट के बिना भी, हितों और सिद्धांतों की असंगति के कारण—जो इतने व्यापक रूप में होगी कि ये किसी अखंड समुदाय में शायद ही समाविष्ट हो सकें—अनिश्चित समय के लिये स्थगित हो सकती है। ऐसे तीन या चार महाद्वीपीय संघों के बनने की संभावना, जो समय पाकर एक अखंड एकता में परिणत हो सकते हैं, तब बहुत दूर की वस्तु हो जायेगी और वह एक महान् युद्ध के बिना शायद ही चरितार्थ हो सके।

एक समय ऐसा दिखायी देता था कि अंततः सभी राष्ट्रों में समाजवाद का विस्तार किया जा सकता है। तब, एक अंतर्राष्ट्रीय एकता अपनी उन स्वाभाविक प्रवृत्तियों द्वारा, जो स्वभावतः राष्ट्र-विचार की विभाजक शक्ति को अधीन करने की ओर मुड़ी हुई थीं, उत्पन्न हो सकेगी। इस विचार के साथ पृथक्ता की भावना तथा उन प्रतियोगिताओं और प्रतिस्पर्धाओं की प्रवृत्ति भी जुड़ी हुई थी जिनका अंत प्रायः ही प्रकट युद्ध होता था; यह एक स्वाभाविक मार्ग समझा जा सकता था और यह वस्तुतः विश्व-ऐक्य की प्राप्ति का अंतिम मार्ग बन सकता था किंतु, पहले तो, समाजवाद कुछ दबावों के अधीन होकर विभाजक राष्ट्रीय भावना के संक्रामक प्रभाव से किसी प्रकार भी विमुक्त नहीं रह सकता और जब यह पृथक् राष्ट्रीय राज्यों में शक्ति ग्रहण कर लेगा तथा उसके फलस्वरूप जब इसका प्रतियोगी राष्ट्रीय हितों तथा आवश्यकताओं पर अधिकार हो जायेगा तो इसकी अंतर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति तब संभवतः न भी बची रहे। हां, नयी समाजवादी संस्थाओं में पुरानी भावना बची रह सकती है। किंतु साथ ही ऐसा

भी हो सकता है कि समाजवाद के प्रसार की अनिवार्य लहर पृथ्वी के सब राष्ट्रों तक न भी पहुंचे अथवा बहुत सुदूर भविष्य में ही पहुंचे। कुछ ऐसी अन्य शक्तियां भी उठ खड़ी हो सकती हैं जो किसी समय या अब भी वर्तमान विश्व-प्रवृत्तियों का अत्यंत संभवनीय परिणाम प्रतीत होनेवाली वस्तु के साथ संघर्ष में आ सकती हैं। साम्यवाद और उस कम उग्र समाजवादी विचार के बीच का संघर्ष जो अभीतक स्वाधीनता के सिद्धांत का, चाहे वह एक सीमित स्वाधीनता ही है, तथा विवेकबुद्धि, विचार एवं मनुष्य के व्यक्तित्व की स्वतंत्रता का—यदि यह भेद स्थायी रहा—आदर करता है, विश्व-राज्य के निर्माण में गंभीर कठिनाई उत्पन्न कर सकता है। एक ऐसा संविधान एवं सामंजस्यपूर्ण राज्यनियम और व्यवहार बनाना आसान नहीं होगा जिसमें व्यक्ति के लिये अथवा उसके सतत अस्तित्व के लिये, सिवाय इसके कि वह समूहवादी राज्य के सुनिश्चित शरीररूपी यंत्र की क्रिया में एक अणु अथवा मशीन का एक पुर्जामात्र हो, थोड़ी-सी भी वास्तविक स्वतंत्रता संभव या कल्पनीय हो। यह बात नहीं है कि साम्यवाद का सिद्धांत ऐसे परिणामों को अनिवार्य करता है या इसकी प्रणाली एक समूह-मूलक सभ्यता को जन्म देगी अर्थात् व्यक्ति का दमन करेगी; इसके विपरीत, यह व्यक्ति की चरितार्थता और समुदाय की पूर्ण समस्वरता दोनों का एक साधन भी बन सकता है। जो प्रणालियां इस नाम से विकसित हो चुकी हैं वे वास्तव में साम्यवाद नहीं हैं, वरन् अत्यधिक कठोर राज्य-समाजवाद की रचनाएं हैं। किंतु समाजवाद स्वयं मार्क्सवाद की लीक से अलग हटकर विकसित हो सकता है, तथा कम कठोर पद्धतियां उत्पन्न कर सकता है; उदाहरणार्थ, एक ऐसा सहकारी समाजवाद भी एक दिन पैदा हो सकता है जिसमें पुलिस-राज्य के दमनकारी प्रशासन की नौकरशाही कठोरता विद्यमान न हो, किंतु यह पहले से कहना कठिन है कि वर्तमान परिस्थितियों में समाजवाद को संसारभर में प्रसारित किया जा सकता है, कदाचित् इसकी कोई प्रबल संभावना भी नहीं है : सुदूर पूर्व में हाल की घटनाओं द्वारा उत्पन्न उच्च संभावनाएं तथा प्रवृत्तियों के होते हुए भी पृथ्वी का दो पद्धतियों, पूंजीवादी और समाजवादी में विभाजन आजकल अधिक संभव तथ्य है। अमरीका में व्यक्तिवाद तथा समाजवाद के पूंजीवादी तंत्र के प्रति आसक्ति और साम्यवाद के प्रति ही नहीं, वरन् एक नरम समाजवाद के प्रति भी घोर विरोध पूरी तरह से विद्यमान है और इसकी उग्रता में कमी होने की संभावना कम ही दिखायी देती है। साम्यवाद की चरम सफलता, जो पुरानी दुनिया के महाद्वीपों पर छा रही है तथा जिसे हमें एक संभावना के रूप में मानना पड़ा है, अभीतक यदि हम वर्तमान परिस्थितियों तथा विरोधी शक्तियों के संतुलन पर विचार करें तो, अत्यधिक असंभव दिखायी देती है और यदि ऐसा हुआ तो किसी प्रकार की व्यवस्था करने की आवश्यकता तो फिर भी पड़ेगी ही, जबतक कि दो शक्तियों में से एक अपने शत्रु पर अंतिम रूप से दुर्दमनीय विजय ही न प्राप्त कर ले। एक सफल व्यवस्था एक ऐसी संस्था के निर्माण की मांग करेगी

जिसमें संभवनीय विवाद के सभी प्रश्न, जैसे ही वे उठें, प्रकट युद्ध का विस्फोट हुए बिना ही सुलझाये जा सकें; यह राष्ट्र-संघ तथा संयुक्त राष्ट्र-संघ की उत्तराधिकारिणी होगी और उसी दिशा की ओर प्रगति करेगी। जिस प्रकार रूस और अमरीका ने, नीति और आदर्शों का सतत विरोध होते हुए भी, अभी तक कोई भी ऐसा कदम नहीं उठाया है जो संयुक्त राष्ट्र-संघ की सुरक्षा को अत्यधिक कठिन अथवा असंभव बना दे, उसी प्रकार यह तीसरा संगठन भी अपने सतत अस्तित्व की उसी आवश्यकता अथवा अनिवार्य उपयोगिता द्वारा सुरक्षित रखा जायेगा। वही शक्तियाँ उसी दिशा में कार्य करेंगी और तब भी एक सफल विश्व-संघ की रचना संभव रहेगी, और अंत में तो इसे अनिवार्य बनाने के लिये जाति की सामान्य आवश्यकताओं के समूह तथा स्वरक्षा की उसकी मांग के ऊपर भली-भाँति निर्भर रहा जा सकता है।

संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना से अब तक की घटनाओं में तथा सानफ्रांसिस्को में एक ऐसे विश्व-संगठन के निर्माण की ओर, जिसके फलस्वरूप अंत में एक सच्ची एकता की स्थापना हो सकती है, बढ़ाये गये महान् और निश्चयात्मक आरंभिक कदम के परिणाम में ऐसी कोई भी बात नहीं है जो हमें इस महान् कार्य की अंतिम सफलता की ओर से निराश कर दे। संकट और कठिनाइयाँ अवश्य हैं, संघर्षों का भय भी हो सकता है, उन भारी संघर्षों का भी जो भविष्य का मार्ग अवरुद्ध कर सकते हैं, किंतु नितांत असफलता की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है, जब तक कि हम जाति की असफलता की ही भविष्यवाणी नहीं करना चाहते। बृहत्तर समुदायों की ओर प्रकृति की प्रवृत्ति तथा सबसे अधिक बड़े और संसार की जातियों के अंतिम संघ की स्थापना के जिस विषय को प्रस्थापित करने का कार्य हमने हाथ में लिया है उसमें अभी तक कुछ परिवर्तन नहीं हुआ है; प्रत्यक्ष ही यही वह दिशा है जिसकी मनुष्यजाति का भविष्य मांग करता है तथा जिसे संघर्ष और विक्षोभ, चाहे वे कितने भी बड़े क्यों न हों, स्थगित कर सकते हैं तथा उन रूपों को, जिन्हें यह दिशा ग्रहण कर सकती है, बहुत हद तक बदल भी सकते हैं, पर रोक नहीं सकते; क्योंकि, अन्यथा केवल एक व्यापक विनाश ही मानवजाति के भाग्य में रह जायेगा। किंतु चाहे विज्ञान की हाल की खोजों और आविष्कारों के सुनिश्चितप्राय लाभकारी परिणामों का—जिनके विस्तार की कोई सीमा नहीं है—संतुलन करनेवाली संकटपूर्ण संभावनाएं जा भी हों, ऐसा विनाश भी उसी प्रकार काल्पनिक हो सकता है जिस प्रकार अंतिम शांति और सुख-आनंद की अथवा मानव जातियों के एक पूर्णताप्राप्त समाज की असामयिक आशा हो सकती है। यदि हम और किसी चीज पर नहीं तो विकासात्मक प्रेरणा पर तो भरोसा रख ही सकते हैं, यदि और किसी महत्तर गुह्य शक्ति पर नहीं तो विश्वशक्ति की, जिसे हम प्रकृति कहते हैं। व्यक्त क्रिया और दिशा अथवा उसके उद्देश्य पर तो हम इस बात के लिये निर्भर रह ही सकते हैं कि वह मानवजाति को कम-से-कम अपने आवश्यक कदम अर्थात् अगलं स्व-रक्षात्मक कदम तक तो ले ही जायेगी; कारण, आवश्यकता

तो यहां है ही, कम-से-कम उसकी सामान्य स्वीकृति तो प्राप्त हो ही चुकी है और जिस चीज की ओर यह अंत में ले जायेगी उसका विचार भी जन्म ले चुका है, साथ ही उसके बाह्य रूप ने भी अपनी रचना की मांग करना आरंभ कर दिया है। हमने इस पुस्तक में उन शर्तों, संभावनाओं तथा रूपों की ओर संकेत किया है जिन्हें यह नयी रचना ग्रहण कर सकती है और उनकी ओर भी जो बिना कट्टर सिद्धांत बनाये अथवा व्यक्तिगत मत को प्रधानता दिये सबसे अधिक वांछनीय प्रतीत होते हैं; जो शक्तियां कार्य करती हैं तथा जो परिणाम निकल सकते हैं उनका निष्पक्ष अवलोकन इस विवेचना का उद्देश्य था। शेष तो उस चीज को कार्यान्वित करने के लिये मानवजाति की बौद्धिक और नैतिक योग्यता पर निर्भर करेगा जो आज स्पष्टतः एकमात्र आवश्यक चीज है।

अतएव, हम यह परिणाम निकालते हैं कि विश्व की वर्तमान अवस्थाओं में, उसके अत्यधिक निराशाजनक लक्षणों तथा संकटपूर्ण संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए भी ऐसी कोई बात नहीं है जो हमारे उस दृष्टिकोण को बदल दे जो हमने किसी भी प्रकार के विश्व-संघ की आवश्यकता तथा अनिवार्यता के संबंध में निश्चित किया है; प्रकृति की प्रेरणा, परिस्थितियों के दबाव तथा मनुष्यजाति की वर्तमान और भावी आवश्यकता इसे अनिवार्य बना देते हैं। जिन सामान्य परिणामों पर हम पहुंचे हैं वे वैसे ही रहेंगे और साथ ही वैकल्पिक अथवा क्रमिक विकास के जो भी आदर्श और संभावित रूप अथवा दिशाएं, यह ग्रहण करे उनका विचार भी अपरिवर्तित रहेगा। अंतिम परिणाम एक विश्व-राज्य की रचना होगा और उसका सबसे अधिक वांछनीय रूप स्वतंत्र राष्ट्रीयताओं का एक ऐसा संघ होगा जिसमें सब प्रकार की दासता अथवा कृत्रिम असमानता, एक की दूसरे के प्रति अधीनता समाप्त हो जायेगी और, चाहे कुछ राष्ट्र अपना महत्तर स्वाभाविक प्रभाव सुरक्षित भी रखें, सबकी स्थिति समान ही रहेगी। एक राज्य-संघ विश्व-राज्य के निर्मायक राष्ट्रों को अत्यधिक स्वतंत्रता प्रदान करता है, किंतु यह पृथक्कारी अथवा केंद्रविमुखी प्रवृत्तियों को कार्य करने के लिये बहुत बड़ा क्षेत्र प्रदान कर सकता है; एक संघीय व्यवस्था तब सबसे अधिक वांछनीय होगी। शेष सब घटनाक्रम तथा सर्वसामान्य समझौते अथवा भविष्य में प्रकट होनेवाले विचारों और आवश्यकताओं द्वारा दिये गये आकार के द्वारा निश्चित होगा। इस प्रकार का विश्व-संघ संभवतः बहुत लंबे समयतक अथवा स्थायी रूप से जीवित रह सकता है। यह संसार परिवर्तनशील है और अनिश्चितताएं और संकट कुछ समय के लिये आक्रांत या पीड़ित कर सकते हैं; जैसे ही नये विचार और नयी शक्तियां प्रकट होकर मनुष्यजाति की सामान्य मनोवृत्ति पर अपना प्रभाव डालने लगे, निर्मित ढांचा क्रांतिकारी प्रवृत्ति से प्रभावित हो सकता है, किंतु आवश्यक कदम तो उठ चुका होगा तथा जाति का भविष्य भी सुनिश्चित हो चुका होगा या कम-से-कम आज का युग तो बीत गया होगा जिसमें यह अनसुलझायी आवश्यकताओं तथा कठिनाइयों, अनिश्चित

अवस्थाओं, अत्यधिक बड़े विप्लवों एवं विशाल और रक्त से सने विश्वव्यापी संघर्षों तथा भविष्य में आनेवाले अन्य संघर्षों के भय से आक्रांत और विक्षुब्ध है। मानव-एकता का आदर्श तब एक अचरितार्थ आदर्श नहीं रहेगा, वरन् एक चरितार्थ तथ्य हो जायेगा और इसकी सुरक्षा एकीभूत मानव-जातियों को सौंप दी जायेगी। इसका भावी भाग्य देवताओं के हाथ में होगा और यदि देवताओं के लिये जाति के अनर्वाच्छन्न अस्तित्व का कुछ उपयोग है, तो वह वहां सुरक्षित है तथा उसे उन्हींपर छोड़ा जा सकता है।

युद्ध और आत्म-निर्णय

भूमिका

(प्रथम संस्करण)

इस पुस्तक में प्रकाशित चार^१ निबंध एक ही समय नहीं लिखे गये थे, और न ही विचार अथवा उद्देश्य-विषयक कोई पारस्परिक संबंध ही इनमें अभिप्रेत था। पहला युद्ध के प्रारंभिक महीनों में लिखा गया था और दो अन्य युद्ध की समाप्ति के दिनों में। अंतिम निबंध अभी हाल में ही, उस बुरी तरह संयोजित, लड़खड़ाती और सकुचाती हुई मशीन, राष्ट्र-संघ के निर्माण और आरंभिक कार्यकाल में लिखा गया है। फिर भी ये एक ही विचार से आबद्ध हैं, कम-से-कम ये चार संबंधित विषयों को एक ही सामान्य दृष्टिबिंदु से देखते हैं—यह एक प्रत्यक्ष परंतु व्यवहार में भुलाया हुआ सत्य है कि इस संकट और क्रांति के काल में जाति की भवितव्यता उस यंत्र पर उतना नहीं जिसका हम प्रयोग करेंगे बल्कि हमारी वर्तमान प्रवृत्ति पर अधिक निर्भर है। इस सत्य की वर्तमान स्थिति पर भूमिकारूप कुछ शब्द कहना शायद यहां अप्रासंगिक न हो।

वर्तमान स्थिति की समस्त कठिनाई इस युग की, जिसमें हम रह रहे हैं, विशिष्ट और संकटपूर्ण प्रवृत्ति को लेकर है। यह एक अपरिमित एवं द्रुत परिवर्तनों का काल है और ये परिवर्तन इतनी शीघ्रता से हो रहे हैं कि इनमें से गुजरनेवाले हम बहुत कम लोग ही इनके प्रमुखतम विचार को पकड़ने या इनका आंतरिक अर्थ जानने अथवा इनके संभावित परिणाम का निश्चित मूल्यांकन करने की आशा कर सकते हैं। बड़ी-बड़ी आशाएं की जा रही हैं, उच्च और महान् आदर्शों से वायुमंडल ओत-प्रोत है, विराट् शक्तियां हमारे सामने विद्यमान हैं। यह जाति के जीवन के उन विशाल एवं संकटपूर्ण क्षणों में से एक क्षण है जब सभी वस्तुएं परिवर्तन और पुनर्गठन के लिये कार्य कर रही हैं। भविष्य के आदर्श, विशेषतया स्वतंत्रता के आदर्श, समानता, सार्वजनिकता और एकता के आदर्श आध्यात्मिक जीवन या किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों के ध्येयवाद के सीमित क्षेत्र से निकलकर कर्म की सच्ची आत्मा का प्रारंभ और जाति के जीवन में कोई भौतिक आकार प्राप्त करना चाहते हैं। किंतु ऐसी किसी भी प्राप्ति के साथ प्रबल बाधाएं भी जुड़ी होती हैं और सबसे बड़ी बाधाएं बाहर से नहीं अंदर से आती हैं। कारण, ये मनुष्यजाति की भूतपूर्व प्रकृति के पुराने, परंतु अभी तक चलते आ रहे आवेग और हठीले दुराग्रह हैं, यह उसके सामान्य मन के उन अहंभावयुक्त, प्राणिक और भौतिक स्वार्थों और महत्त्वाकांक्षाओं के प्रति पूर्ण अधीनता है जो एकता को नहीं बल्कि विरोध और कलह को जन्म देती है, ये व्यावहारिक तर्क-बुद्धि के सत्याभासी रूप हैं, उस तर्कबुद्धि के जो केवल उसी दिन की और तत्काल बाद की

^१ पांचवां निबंध (युद्ध के बाद) दूसरे संस्करण में जोड़ा गया था।

संभावनाओं को तो देखती है पर अगले दिन के परिणामों की ओर से आंखें मूंद लेती है, ये बाधाएं उन झूठे आरोपों और काल्पनिक कहानियों के अभ्यास हैं जो मनुष्यों और राष्ट्रों को एक प्रत्यक्षतः सुंदर आदर्शवाद के आवरण के नीचे निजी स्वार्थ-साधना में लगाने के लिये विवश करते हैं, यह एक ऐसा अभ्यास है जो कुछ अंश में ही राजनीतिज्ञों के कूटनीतिक पाखंड से बना है पर अधिकतर इसका निर्माण एक सामान्य अर्ध-ऐच्छिक आत्म-वंचना से हुआ है, और अंत में होता है अंधतर असंतुष्ट शक्तियों और अधूरे और अपूर्ण आदर्शवादों का वेगपूर्ण प्रवेश — बोल्शेविज्म का मत इसी प्रकार का है — जिनका उद्देश्य ऐसे समयों में पायी जानेवाली अशांति और अतृप्ति से लाभ उठाना और थोड़े समय के लिये मनुष्य के जीवन पर अधिकार जमाना होता है। प्रधानतः इन्हीं वस्तुओं को हम आज प्रबल रूप में अपने आस-पास देख रहे हैं, ठीक मनोभावना अपनाने का और उसमें से ठीक उपाय विकसित करने का कोई प्रयत्न नहीं दिखायी देता। आधुनिक मन — जो भौतिक विज्ञान की विजयों से जितना आलोकित हुआ है उतना ही धूमिल भी हो गया है — बार-बार पश्चिम के द्वारा अनुमोदित इसी उपाय का राग अलापता रहता है कि मशीन के द्वारा ही मुक्ति मिल सकती है। आधुनिक मत यही कहता मालूम होता है कि ठीक ढंग का यंत्र ले आओ तो सब कुछ किया जा सकता है। किंतु मनुष्यजाति की भवितव्यता इच्छानुसार अमरीकन कारखाने में नहीं गढ़ी जा सकती। जो चीज हमारे आगे महत्वपूर्ण समस्याएं रख रही है, वह इसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। और यदि हमारी स्वीकृत वस्तुओं के अंदर निहित भावना समाप्त या मिथ्या हो जाये तो कोई भी उपाय या मशीन हमारे लिये उन्हें नहीं गढ़ सकती और न ही वांछित फल उपलब्ध कर सकती है। यह एक ऐसा सत्य है जिसे आधुनिक वैज्ञानिक और औद्योगिक मन सदा भूल जाता है, क्योंकि वह प्रक्रिया, तैयार सामान एवं उत्पादन को देखता है और मनुष्य के अंदर की आत्मा और उसकी सत्ता के गहनतर आंतरिक विधान की उपेक्षा करता है।

युद्ध का विलोपन इस युग का एक अतिप्रिय आदर्श एवं प्रत्याशा है। किंतु इस इच्छा की जड़ में क्या वस्तु है? हृदय की एक महत्तर एकता, सहानुभूति, मनुष्यों और राष्ट्रों में मेल-मिलाप, राष्ट्रों की पारस्परिक घृणा, लोभ, महत्वाकांक्षाएं, संघर्ष आदि युद्ध के उपजाऊ बीजों से मुक्त होने की एक अविचल इच्छा? यदि ऐसा ही है तो ठीक है और हमारे प्रयत्नों के सिर विजय का सेहरा अवश्य बंधेगा। किंतु इस गहनतर वस्तु का कुछ तत्त्व ही हमारी भावनाओं में हो सकता है पर हमारे कर्म और प्रधान उद्देश्य में अभी उसका बहुत थोड़ा अंश ही आया है। जन-साधारण के मन में तो यही विचार प्रधान है कि वे युद्ध की विघ्न-बाधा के बिना अपने परिश्रम से, सुविधापूर्वक सुरक्षित अवस्था में उत्पादन और संग्रह कर सकें। उधर राजनीतिज्ञ और शासकवर्ग यह सोचता है कि पुराने उपार्जनों के स्थायित्व के लिये शांति और सुरक्षा का वातावरण बना रहे और महान् सुसंगठित साम्राज्यवादी और औद्योगिक राष्ट्र संसार

पर निर्विघ्न शासन और उसका शोषण करते रहें। उनके विचार में ऐसा तभी हो सकता है जब संसार में नयी अतृप्त आकांक्षाएं न प्रकट हों, हिंसक अशांति, विद्रोहों और क्रांतियों का संकट संसार को अस्तव्यस्त न करे। एक बार यह आशा की जाती थी कि युद्ध असंभव बनकर अपने-आप ही समाप्त हो जायेगा, किंतु इस सुखद और सुगम समाधान का अब कोई महत्त्व नहीं रह गया है। किंतु अब यह आशा की जाती है कि विजेता राष्ट्रों का संघ युद्ध को किसी ऐन्द्रजालिक या यांत्रिक बल से समाप्त कर देगा और शेष राष्ट्रों में से कुछ स्वेच्छा से और कुछ न चाहते हुए भी अधीन भागीदार या आश्रित के रूप में अपना जीवन व्यतीत करेंगे। इस न्यायपूर्ण और सुंदर व्यवस्था के जादू में संघ के राजनीतिज्ञों और सरकारों की बुद्धि और सद्भावना, जिसे जातियों की बुद्धि और सद्भावना भी प्राप्त है, यह चाहती है कि वह विभिन्न हितों को मिलाकर उन्हें अपना उचित स्थान दे, कठिनाइयों को सुलझाये या उन्हें दूर करे, प्राकृतिक परिणामों, राष्ट्रीय स्वार्थ और भावोद्देगों के अनिवार्य कर्म को टालने की चेष्टा करे और वर्तमान अस्तव्यस्ततामें से अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था, सुरक्षा, शांति और आनंद से परिपूर्ण एक न्यायपूर्ण और सुंदर रूप से यंत्रीकृत संसार को विकसित करे। बस मशीन को शुरू कर दो, फिर उत्तम स्वीकारोक्तियों और घोषणाओं अथवा सामान्य अच्छे संकल्पों-रूपी पैसे को छिद्र में डाल दो और सब कुछ ठीक हो जायेगा—यही आजकल का सिद्धांत प्रतीत होता है। किंतु अधिकतर तो ये उत्तम स्वीकारोक्तियां और सामान्य संकल्प नर्क का फर्श जमाने के ही काम आते हैं और इसका कारण यह है कि प्रकृति में मनुष्य की श्रेष्ठतर बुद्धि और संकल्प आशावादी तत्त्व तो हो सकते हैं, पर समस्त प्रकृति या सत्ता नहीं हो सकते, और हमारी समस्त मानव-प्रकृति तो किसी हालत में भी नहीं हो सकते। हमारे और संसार के अंदर कई अन्य बहुत-सी विकट वस्तुएं हैं और यदि हम उनके साथ खिलवाड़ करें या उन्हें प्रवेश दिलाने के लिये उन्हें तर्कबुद्धि और भावना का मुखौटा पहना दें—दुर्भाग्य से हम सब ऐसा करते हैं और यह अब भी राजनीति के खेल का एक बड़ा हिस्सा माना जाता है—तो अवश्यंभावी परिणाम आकर रहेंगे। यदि हम चाहें तो युद्ध और हिंसक क्रांति से बचा जा सकता है, यद्यपि इसमें असीम कठिनाई होगी, पर केवल इस शर्त पर कि हम युद्ध के आंतरिक कारणों और सफल अन्याय के उस निरंतर संचित होते हुए कर्म से मुक्त हो जायें जिसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया हैं प्रचंड क्रांतियां। अन्यथा, अधिक-से-अधिक कृत्रिम शांति का एक भ्रामक काल ही आ सकता है। जो कुछ अतीत में था वही अब वर्तमान में भी बोया जायेगा और भविष्य में वही लौट-लौटकर हमारे ऊपर आता रहेगा।

मनुष्य का अभिज्ञ मन या सर्वश्रेष्ठ बौद्धिक विवेक और विज्ञान ही हमारे भविष्य के अनन्य विधाता नहीं हैं। सौभाग्य से वस्तुओं की व्यवस्था के लिये एक महत्तर अदृश्य शक्ति, एक वैश्व संकल्प या, यदि आप यह नाम पसंद करें तो, एक वैश्व

शक्ति या विधाता उपस्थित है जो केवल हमें अपने विचारों और प्रयत्नों का एक ढांचा या उनके लिये अवस्थाएं ही प्रदान नहीं करता वरन् वह इनके तथा इन अवस्थाओं के नियम के द्वारा वर्तमान वस्तु में से उस वस्तु को विकसित भी करता है जो आगे आयेगी। और यह शक्ति हमारे साथ व्यवहार करने में हमारे विवेक के उपायों तथा हमारी बुद्धि के तथ्यों अथवा कल्पनाओं का इतना सहारा नहीं लेगी जितना इस सत्य का कि मनुष्य क्या है और उसके कार्य की सच्ची आत्मा और अर्थ क्या है। शास्त्र कहते हैं कि भगवान् को धोखा नहीं दिया जा सकता। आधुनिक मन भगवान् में विश्वास नहीं करता, परंतु वह प्रकृति में विश्वास करता है : किंतु प्रकृति को भी धोखा नहीं दिया जा सकता। वह वस्तुओं पर अपना विधान लागू करती है। वह हमेशा वास्तविक सद्बस्तु तथा हमारी क्रियागत शक्ति की सच्ची भावना तथा विशेषता के आधार पर अपने निष्कर्ष निकालती है। यह युग विशेष रूप से एक ऐसा युग है जब मनुष्यजाति के सामने गभीर प्रश्न आ खड़ा हुआ है। हमारे चारों ओर उपस्थित आशाएं, आदर्श और अभीप्साएं अपने-आपमें ऐसे कठोर और सारगर्भित प्रश्न हैं जो हमसे आगे, केवल हमारी बुद्धि के आगे नहीं अपितु हमारी सत्ता और कर्म की भावना के आगे भी रखे गये हैं। इस महत्वपूर्ण परीक्षा में अंततः कार्य-कुशलता, दक्षता, यांत्रिक व्यवस्था और संगठन विजयी नहीं होंगे—जर्मनी इसी बात पर विश्वास करता था और हम जानते हैं कि उसका क्या अंत हुआ—बल्कि हमारे जीवन का सत्य और सच्चाई विजयी होंगे। मनुष्य के लिये अपने आदर्शों को चरितार्थ करना कोई असंभव बात नहीं है, ताकि वह और भी बड़ी और अकल्पित वस्तुओं की ओर बढ़ सके, किंतु एक शर्त है कि वह उन्हें पूरी तरह एक आंतरिक सत्य का रूप दे दे, ताकि वे बाह्य रूप से भी सत्य बन सकें। पुनर्गठन का यह युग जिन परिवर्तनों का पूर्वाभास देता है वे निश्चय ही आयेगे, किंतु इनसे मानवजाति को जो लाभ पहुंचेगा वह उस भावना पर निर्भर करेगा जो उनके संपादन-काल में हमें शासित करती है।

हम आजकल के मनुष्य अज्ञान का बहाना भी नहीं बना सकते, क्योंकि हमारे पास पूर्णतः स्पष्ट आदर्श और अवस्थाएं मौजूद हैं। स्वतंत्रता और एकता, सहयोग, मित्रता और यदि हो सके तो भ्रातृत्व की भावना पर निर्मित जीवन के ढांचे में, मनुष्यों और राष्ट्रों का आत्मनिर्णय, जाति के समान उद्देश्यों और हितों के घनिष्ठ पारस्परिक संबंध की स्वीकृति, एक ऐसे मानव-जीवन की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई एकता, जिसमें हम दूसरों के लिये किसी ऐसी वस्तु को अस्वीकार नहीं कर सकते जो हम अपने लिये चाहते हैं,—ये ऐसी वस्तुएं हैं जिनके बारे में हम एक निश्चित धारणा बना चुके हैं। मानव-मन इन सबको स्वीकार तो करता है पर अभी उसमें इन्हें कार्यान्वित करने का नियमित दृढ़ संकल्प नहीं है। शब्द और घोषणाएं अपने-आप में बहुत सुंदर वस्तुएं हैं और हम उन्हें पूरा सम्मान भी देंगे; किंतु अभी तो वास्तविक तथ्य अधिक महत्वपूर्ण हैं और तथ्यों के परिणाम भी निकलेंगे किंतु परिणाम वही होंगे जो होने चाहियें, वे नहीं जिन्हें

हमारा अहंभाव चाहता है। आत्मनिर्णय का सिद्धांत अपने-आप में कपोल-कल्पना नहीं है, लेकिन हम उसे यह रूप देना चाहें तो यही बन जाता है। यह संसार की श्रेष्ठतर व्यवस्था की स्थिति है जिसे हम सत्ता में लाना चाहते हैं; पहला अवसर आते ही उसे दूर फेंक देना ऐसे महान् और कठिन कार्य के लिये एक बड़ा निराशाजनक आरंभ है। आत्म-निर्णय ऐसा सिद्धांत नहीं है जो अपने ही आधार पर खड़ा हो सके और जिसे एकमात्र अनुसरणीय नियम बना दिया जाये। इस प्रकार कोई भी सिद्धांत सचमुच जीवन के इस जटिल जाल में बिलकुल अकेला नहीं टिक सकता और न ही अकेला प्रमुख रूप ले सकता है। यदि हम उसे ऐसा मान बैठें तो वह अपने अर्थ में मिथ्या हो जाता है और अपना अधिकांश गुण खो देता है। साथ ही, वैयक्तिक आत्म-निर्णय को सार्वजनिक आत्म-निर्णय के साथ समस्वर होना चाहिये। स्वाधीनता की एकता के ढांचे में या एक स्वतंत्र एकता की प्राप्ति की ओर बढ़ना चाहिये। अवसरवादी, व्यावहारिक मनुष्य, तथा उन सब मनो की, जिन्हें भूतकाल और वर्तमान की परिस्थितियों से आगे देखने में कठिनाई होती है, यह बात आसानी से मानी जा सकती है कि बहुत-से उदाहरणों में इस सिद्धांत को पूरी तरह और तत्काल लागू करने में बड़ी कठिनाइयां आ सकती हैं। किंतु जब किसी महान् बोधक क्षण के प्रकाश में इस प्रकार के सिद्धांत को एक आदर्श के रूप में ही नहीं बल्कि जिस परिणाम की हम अपेक्षा करते हैं उसकी एक स्पष्ट शर्त के रूप में भी स्वीकार कर लिया गया है, तो हमें जो समस्या सुलझानी है उसे इसके एक प्रधान तत्त्व के रूप में स्वीकार करना होगा। कठिनाइयों पर सच्चाई के साथ विचार करना होगा और उनका सामना करना होगा और एक ऐसा रास्ता ढूंढना होगा जिससे किसी प्रकार की टालमटोल, वागछल या अनावश्यक विलंब के बिना इसे विकसित किया जा सके तथा समस्या के समाधान में इसे अपना उचित स्थान दिया जा सके। किंतु इससे ठीक उल्टा तरीका संसार की सरकारों ने अपनाया है और उसे विभिन्न जातियों ने भी अंगीकार कर लिया है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि चीजें पुराने ढर्रे पर चल रही हैं चाहे नाम नया हो या फिर अधिक-से-अधिक यह हुआ है कि उनकी पद्धति में कुछ ढीले-ढाले परिवर्तन और कुछ आंशिक सुधार ही हुए हैं।

राष्ट्रसंघ का अनगढ़ संविधान और लड़खड़ाता कार्य इसी पुराने तोड़-जोड़ का परिणाम है। संघ की स्थापना ही उन सिद्धांतों की बलि देकर हुई है जो इसके आरंभ के पीछे स्थित विचार का परिचालन करते थे। केवल एक वस्तु की प्राप्ति हुई है और वह है एक औपचारिक, नियमित और सुस्थापित साधन जिसके द्वारा प्रमुख राष्ट्रों की सरकारें स्वाभाविक रूप से परस्पर मिल-बैठ एवं सलाह कर सकती हैं, अपने हितों को समायोजित कर सकती हैं, अपने से छोटे स्वतंत्र राष्ट्रों की आवाज और अधिकारों पर कुछ हदतक विचार कर सकती हैं, कुछ सामान्य अथवा विरोधी हितों की भी सामान्य सूझ-बूझ से व्यवस्था कर सकती हैं, भयंकर विद्रोहों और संघर्षों को रोक या

कम कर सकती हैं; जो राष्ट्र स्वतंत्र नहीं हैं पर अभीतक सफल साम्राज्यों की प्रजा भी नहीं बने हैं, उन राष्ट्रों की व्यापारी मंडियों, उपनिवेशों और अधीन राज्यों को छोना-झपटी के अस्त-व्यस्त संयोगों से बचाकर आदेश-पद्धति से शासित कर सकती हैं। पर इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भी यह मशीन किसी विशेष योग्यता से काम करती नहीं प्रतीत होती, फिर भी यह कहा जा सकता है कि यही बड़ी बात है कि इससे कुछ काम तो करवाया जा सकता है। बहरहाल यह एक ऐसा सुसंपादित तथ्य है जिसे बिना अधिक उत्साह दिखाये स्वीकार करना होगा क्योंकि यह किसी उत्साह का अधिकारी भी नहीं है। किंतु इसे व्यावहारिक सहमति या बाध्य स्वीकृति देनी पड़ती है। इसलिये यह और भी जरूरी हो जाता है कि इसके अंदर निहित अपूर्णताओं, दुर्गुणों और संकटों की ओर से, जो इसे कार्यान्वित करने में उत्पन्न होंगे, आंखें न मूंद ली जायें, बल्कि इन्हें पूर्ण प्रकाश में लाया जाये जिससे कि इन अपूर्णताओं को पहचाना और सुधारा जा सके और तब हमें अपने ऊपर झूलती अशुभ और संकटपूर्ण घटनाओं के अत्यधिक बुरे परिणामों से बचने का अवसर भी प्राप्त हो सकेगा। इस बात की और भी अधिक आवश्यकता है कि जो आदर्श उपेक्षित कर दिये गये हैं या जो काल्पनिक ही बनकर रह गये हैं उन्हें अपना जोर आजमाना चाहिये, चाहे वर्तमान उन्हें अवसर न भी दे, भविष्य पर अपना अधिकार घोषित करने के लिये उन्हें अपनी आवाज उठानी ही होगी।

कारण, ये आदर्श अब भी ज्यों-के-त्यों बने हैं और ये मनुष्य के अंदर की आत्मा के महत्तर उद्देश्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं, उस आत्मा के जो उसकी वर्तमान अपूर्ण प्रकृति की समस्त विघ्न-बाधाओं, अस्वीकृतियों और अपूर्णताओं के बीच रहते हुए भी उस पूर्णता को जानती है जिसकी ओर वह बढ़ रही है, उस महानता को भी जानती है जिसे वह प्राप्त कर सकती है। परिस्थितियां, बल, बाह्य आवश्यकता और पुराना स्वभाव हमारे लिये अधिक शक्तिशाली हो सकते हैं, रुद्रशक्तियां अभीतक हमारी भवितव्यता को शासित करती हैं, और सत्य, न्याय और प्रेम के प्रभुओं को अभी अपने राज्य के लिये प्रतीक्षा करनी है, किंतु यदि आदर्श की ज्योति ज्ञान और बल की अपनी अग्निशिखा को प्रज्वलित रखेगी तो वह इन वस्तुओं को भी अपनी पकड़ में ले लेगी और इनके अशुभ वातावरण से महत्तर और अनिवार्य शुभ को उत्पन्न कर देगी। इस समय यह केवल एक ऐसा भाव या शब्द प्रतीत हो सकता है जिसमें सजीव तथ्य बनने की सामर्थ्य नहीं है, किंतु आत्मा में जो कुछ छिपा हुआ है उसे अभिव्यक्त करनेवाला भाव और शब्द ही सृष्टि की अध्यक्षता करते हैं। समय आयेगा जब वे कार्य करनेवाली शक्ति को हस्तगत करके अधिक महान् और न्यायसंगत सृष्टि के यंत्र में परिवर्तित कर सकेंगे। समय की निकटता या दूरी मनुष्य के मन तथा संकल्प की सर्वश्रेष्ठ के प्रति निष्ठा पर निर्भर है—उस सर्वश्रेष्ठ के प्रति जिसे उसने देखा है। अपने आत्मबोध की परिस्थितियों और अपने साधनों की अधीनता से अभिभूत हुए बिना

सत्य को जीवन में उतारने के उसके आग्रह पर भी यह निर्भर है ताकि मनुष्य का वातावरण सत्य को स्वीकार कर ले और उसका बाह्य जीवन उसीकी प्रतिमूर्ति के रूप में गढ़ा जा सके।

युद्ध की समाप्ति ?

मानवजाति का विकास उन कल्पनाओं की शृंखलाओं के साथ आगे बढ़ता है जिन्हें जातीय संकल्प चरितार्थ तथ्यों में परिणत कर देता है और फिर भ्रांतियों की उस शृंखला के साथ जिसकी प्रत्येक कड़ी में एक अनिवार्य सत्य विद्यमान रहता है। यह सत्य, उस गुप्त संकल्प एवं ज्ञान में रहता है जो हमारे लिये हमारे कार्यों का संपादित कर रहे हैं, और साथ ही वह मनुष्य की आत्मा में अपने-आपको प्रतिबिंबित भी करता है। भ्रांति उस आकार में रहती है जो हम उस प्रतिबिंब को देते हैं, यह काल, स्थान और परिस्थिति के मनमाने आग्रहों का आवरण है जिसे ज्ञान का वह भ्रमोत्पादक अंग, मानव-बुद्धि सत्य के मुख पर डाल देती है। मानव-कल्पनाएं, प्रायः अक्षरशः चरितार्थ हो जाती हैं। इसके विपरीत, हमारी भ्रांतियों के पीछे स्थित सत्य अत्यधिक आकस्मिक रूप से चरितार्थ होता है, पर उन उपायों द्वारा, उस समय या उन परिस्थितियों में नहीं जो हमने उसके लिये नियत की हैं, वरन् किन्हीं दूसरे ही उपायों द्वारा अन्य समय या परिस्थितियों में चरितार्थ होता है।

मनुष्य की भ्रांतियां नाना प्रकार की और अनेक रीति की हैं, कुछ बहुत तुच्छ होती हैं, पर अनावश्यक नहीं, — कारण, संसार में कोई भी वस्तु अनावश्यक नहीं है — और कुछ बहुत बड़ी और विशाल होती हैं। इनमें सबसे बड़ी भ्रांतियां वे होती हैं जो पूर्णताप्राप्त आदर्श समाज, आदर्श जाति और पृथ्वी पर सतयुग लाने की आशा के चारों ओर घिरी रहती हैं। ऐसा प्रत्येक नया विचार, चाहे वह धर्मसंबंधी हो या समाजसंबंधी, जो उस युग पर अधिकार करके अधिकांश जनसमुदाय को अपनी पकड़ में ले लेता है, समय आने पर इन उच्च उपलब्धियों का यंत्र बन जाता है; और फिर प्रत्येक ही उस आशा को धोखा दे देता है जिसने उसे विजयी होने की शक्ति प्रदान की थी। इसका कारण इतना सीधा-सा है कि इसे प्रत्येक व्यक्ति चाहने पर जान सकता है; और वह यह है कि विचार या जीवनसंबंधी बौद्धिक दृष्टिकोण का कोई भी परिवर्तन, भगवान्, अवतार और धर्मगुरु में विश्वास, कोई भी सफल विज्ञान या मुक्तिदायक दर्शन, सामाजिक योजना या प्रणाली, किसी भी प्रकार का आंतरिक या बाह्य यंत्र-विन्यास वस्तुतः उस महती आकांक्षा की परिपूर्ति नहीं कर सकता जो जाति में दृढ़-प्रतिष्ठित है, यद्यपि यह सच है कि वह आकांक्षा अपने-आपमें ही वह उद्देश्य है और उस उद्देश्य की सूचक है जिसकी ओर हम ले जाये जा रहे हैं। कारण, मनुष्य स्वयं न यंत्र है न साधन, वरन् वह एक सत्ता है और बड़ी जटिल सत्ता। अतः उसका उद्धार यंत्र द्वारा नहीं हो सकता। वह केवल एक ऐसे समग्र परिवर्तन के द्वारा, जो उसकी सत्ता के सभी अंगों पर प्रभाव डाले, अपनी असंगतियों एवं अपूर्णताओं से मुक्त हो सकता है।

इस महती आशा के साथ प्रसंगवश एक और भ्रांति जुड़ी है अर्थात् युद्ध के अतिक्रमण की आशा। मानव-विकास में सदा ही बड़े विश्वास के साथ इस महान्

घटना की आशा की जाती रही है और चूंकि अब हम लोग वैज्ञानिक मन और बुद्धिप्रधान सत्तावाले हैं, अतः हम इसे दिव्य हस्तक्षेप के द्वारा पाने की आशा नहीं रखते, बल्कि अपने अंदर स्थित विश्वास के लिये एक युक्तियुक्त भौतिक एवं आर्थिक कारण निर्धारित कर देते हैं। इस नवीन सिद्धांत का पहला स्वरूप इस आशा एवं भविष्यवाणी में था कि व्यापार का विस्तार ही युद्ध की समाप्ति होगा। व्यवसायवाद सैनिकवाद का स्वाभाविक शत्रु था और वह उसे पृथ्वी के तल से मिटायेगा ही। स्वर्ण के लिये यह नित्य-प्रति बढ़ता हुआ व्यापक लोभ और सुविधापूर्ण जीवन का अभ्यास और उत्तरोत्तर बढ़ते उत्पादन की आवश्यकताएं और जटिल आदान-प्रदान—ये सब शक्ति, प्रभुता, वैभव और युद्ध की लालसा को कुचलकर रख देंगे। सोने की भूख अथवा वस्तुओं की बुभुक्षा पृथ्वी की बुभुक्षा को समाप्त कर देगी और वैश्यधर्म क्षत्रिय के धर्म को दबा देगा और उसे कष्टहीन मुक्ति प्रदान करेगा। विधत्ता का व्यंगात्मक उत्तर पाने में अधिक समय नहीं लगा। वस्तुतः व्यवसायवाद के इस शासन ने, उत्पादन की वृद्धि और विनिमय ने, वस्तुओं और बाजारों पर प्रभुता पाने की इच्छा ने और अनावश्यक आवश्यकताओं के नित्य-प्रति बढ़ते विराट् बोझ ने ही इस काल में होनेवाली कम-से-कम आधी लड़ाइयों का कारण उपस्थित किया है। अब हम सैनिकवाद और व्यवसायवाद को प्रेमपूर्ण आलिंगन में पाते हैं, राष्ट्रीय जीवन और देशभक्ति की अभीप्सा दोनों एक पवित्र गठबंधन में बंध रहे हैं और अत्यधिक अविवेकपूर्ण, अत्यधिक भयंकर तथा लगभग प्रलयंकर, एवं आधुनिक युग के, बल्कि सभी ऐतिहासिक युगों के सबसे बड़े युद्ध का कारण बन रहे हैं और अपनी शक्ति से उन्हें चला रहे हैं।

एक अन्य भ्रांति यह भी थी कि जनतंत्र के विकास का अर्थ होगा शांतिवाद का विकास और युद्ध की समाप्ति। लोगों का यह एक बड़ा प्रिय विचार था कि युद्ध स्वभाव से ही राजवंश या उच्चवर्ग से संबंध रखते हैं; साम्राज्य-लिप्सा और युद्ध-लिप्सा द्वारा प्रेरित लोभी राजा और युद्धप्रिय सरदार तथा मनुष्यों के जीवन और राष्ट्रों के भाग्य को शतरंज के मोहरे बनाकर खेलनेवाले कूटनीतिज्ञ, —ये ही युद्ध के लिये दोषी कारण हैं, इन्होंने अभागे लोगों को युद्धक्षेत्र में ऐसे खदेड़ दिया जैसे भेड़ों को कसाईखाने की ओर खदेड़ा जाता है। इस सर्वहारा वर्ग को जो केवल तोपों का चारा था, जिसे सशस्त्र संघर्ष के लिये कोई रुचि, इच्छा और युद्ध-लिप्सा न थी, एक स्वतंत्र भ्रातृत्वपूर्ण मित्रता में परस्पर तथा सारे संसार के साथ गले मिलने के लिये प्रशिक्षण देने एवं सामर्थ्यवान् बनाने की जरूरत थी। मनुष्य उस इतिहास से सीखना अस्वीकार करता है जिसकी शिक्षा के बारे में बुद्धिमान् लोग कभी बोलते हुए नहीं थकते, अन्यथा प्राचीन लोकतंत्रों की कहानी इस भ्रांति-विशेष को रोकने के लिये काफी हो सकती थी। जो भी हो, यहां भी विधाता का उत्तर काफी व्यंगात्मक ही रहा है। यद्यपि अभीतक राजा और कूटनीतिज्ञ ही प्रायः युद्ध के लिये प्रेरित करते हैं फिर भी

आधुनिक लोकतंत्र के समान उनका उत्साही और कोलाहलपूर्ण साझीदार कोई और नहीं होता। हम यह आधुनिक दृश्य भी देखते हैं जहां शोर मचाती हुई क्रुद्ध जातियां सरकारों और कूटनीतिज्ञों को युद्ध-सीमा पर आने के लिये विवश करती हैं और वे इस मुंह बाये, कोलाहलपूर्ण अगाध गर्त के आगे भय और शंका से झिझकते-हिचकिचाते रहते हैं। वे किकर्तव्यविमृढ़ शांतिवादी, जो अभीतक अपने सिद्धांतों और भ्रांतियों से चिपटे हुए हैं, लोगों से झिड़कियां खाकर चुप बैठ जाते हैं और मजे की बात यह है कि उनके हाल ही के साथी और नेता भी उनकी यही गत करते हैं। कल का समाजवादी, संघवादी और अंतर्राष्ट्रीयतावादी भी उस बड़े पारस्परिक संहार में ध्वजावाहक के रूप में आगे खड़ा हो जाता है और युद्ध-श्वानों को बढ़ावा देने में उसकी आवाज सबसे ऊंची होती है।

एक और भी भ्रांति थी जो अभी हाल में ही पैदा हुई है कि विवाचक न्यायालय और यूरोपीय संघ युद्ध को रोकने की शक्ति रखते हैं। यहां भी घटनाक्रम ने तत्काल जो मोड़ लिया वह काफी व्यंगात्मक था; क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय विवाचक न्यायालय की संस्थापना के बाद कई छोटे-मोटे युद्ध हुए जिन्होंने बाद में एक कठोर तार्किक शृंखला के द्वारा यूरोपीय संघर्ष का रूप ले लिया, एक ऐसे संघर्ष का जो बहुत समय से डर दिखा रहा था। और, जिस राजा के मन में सबसे पहले यह विचार आया, उसीने सबसे पहले युद्ध के लिये अपनी तलवार खींची थी, यह युद्ध दोनों ओर से अत्यधिक अन्यायपूर्ण लोभ और आक्रमणशील वृत्ति से ही प्रेरित हुआ था। वस्तुतः युद्धों की इस शृंखला में, चाहें वे उत्तरी या दक्षिणी अफ्रीका में लड़े गये हों या मंचूरिया या बाल्कन में, मुख्यतः एक ऐसी भावना विद्यमान थी जो अत्यंत कटुतापूर्वक अंतर्निहित और वर्तमान अधिकारों के विचार की, साथ ही कानून के संतुलन और साम्य की, जो विवाचन की नींव है, अवहेलना करती है। उधर यूरोपीय संघ अब काफी दूर की, अत्यंत प्राचीन और प्राक्प्रलय वस्तु प्रतीत होता है। किंतु हम अभीतक भली-भांति याद कर सकते हैं कि उस समय भी यह कितना नीरस और असंगत संघ था, कितने संशय और भ्रमों का शिकार था, जिस वस्तु के विरुद्ध हाथ पैर मार रहा था, उसीकी ओर किस प्रकार इसकी कूटनीति हमें खींच ले गयी और कितना घातक था यह सब ! अब बहुतों ने यह सुझाव दिया है कि इस निर्जीव संघ के स्थान पर यूरोप के संयुक्त राज्य को लाया जाये और बेचारे असहाय हेग के न्यायालय के स्थान पर अंतर्राष्ट्रीय कानून का न्यायालय स्थापित किया जाये और उसमें अपने निर्णयों को लागू करवाने की सामर्थ्य हो। किंतु जबतक लोग यंत्र-विन्यास की सर्वोपरि सत्ता में विश्वास करते रहेंगे, तबतक ऐसा प्रतीत होता है कि देवता अपने सुविवेचित व्यंग्य करते ही रहेंगे।

अन्य अनुमान और तर्क भी उपस्थित किये जा चुके हैं; चतुर व्यक्तियों ने विश्वास के एक अधिक सुस्थिर एवं अधिक तर्कसंगत आधार की खोज भी की है। इनमें से पहला एक रूसी लेखक की पुस्तक में प्रतिपादित किया गया है जिसे अपने समय में

अत्यधिक सफलता भी प्राप्त हुई थी, किंतु अब वह मौन के वातावरण में खो चुका है। विज्ञान से आशा की जाती थी कि वह युद्ध को भौतिक रूप से असंभव बनाकर उसे समाप्त कर देगा। गणित के द्वारा यह सिद्ध कर दिया गया था कि आधुनिक शस्त्रों से समान बलवाली दो सेनाएं परस्पर युद्ध करती-करती स्थिर हो जायेंगी और आक्रमण तबतक असंभव होगा जबतक प्रतिरक्षा-सेना से आक्रमणकारी सेना की संख्या तिगुनी न हो; अतएव, तब युद्ध का कोई सैनिक निर्णय भी न हो पायेगा, केवल यही परिणाम होगा कि राष्ट्रों के सुव्यवस्थित जीवन में उथल-पुथल और विक्षोभ पैदा हो जायेगा। जब रूसी-जापानी युद्ध ने प्रायः तत्काल ही यह सिद्ध कर दिया कि आक्रमण और विजय अब भी संभव हैं और मनुष्य का युद्ध का उन्माद मृत्यु से क्रीड़ा करते हुए इंजनों के उन्माद से अधिक बड़ा है, तभी एक और पुस्तक, जिसका नाम 'महान् भ्रांति' (द ग्रेट इल्यूज़न) था, प्रकाशित हुई जो उलटी लेखक पर ही उपहास करके रह गयी। इसका उद्देश्य यह प्रमाणित करना था कि युद्ध और विजय द्वारा प्राप्त व्यापारिक लाभ का विचार एक भ्रांति है और ज्यों ही यह बात समझ में आ जायेगी और शांतिपूर्ण विनिमय का एकमात्र लाभ भी समझ में आ जायेगा, त्यों ही जातियां व्यवस्थापन के इस तरीके को छोड़ देंगी जिसे आजकल मुख्यतः व्यावसायिक विस्तार के उद्देश्यों से प्रयुक्त किया जाता है, पर जिसका विनाशकारी परिणाम यह हुआ कि जिस व्यावसायिक समृद्धि को पाने के लिये वह प्रयुक्त किया गया था वह घातक रूप से अस्त-व्यस्त हो गयी। वर्तमान युद्ध मानों देवताओं की ओर से इस गंभीर और तर्कसंगत प्रस्ताव के तात्कालिक उत्तर के रूप में आया था। यह विजय एवं व्यापारिक विस्तार के लिये लड़ा गया था और हालांकि यह युद्ध मैदान में लड़ा जा चुका है फिर भी यह प्रस्ताव किया गया है कि यह युद्धरत राष्ट्रों के बीच एक व्यापारिक संघर्ष के रूप में जारी रहे।

जिन व्यक्तियों ने ये पुस्तकें लिखी थीं वे योग्य विचारक थे, किंतु उन्होंने एकमात्र महत्त्वपूर्ण वस्तु की उपेक्षा कर दी अर्थात् मानवप्रकृति की। वर्तमान युद्ध ने कुछ हदतक रूसी लेखक के कथन के औचित्य को सिद्ध किया है, यद्यपि ऐसे परिणामों द्वारा जिन्हें उसने नहीं देखा था। वैज्ञानिक युद्ध-विधि ने सैनिक गति को रोक दिया है और युद्धनीतिज्ञों और रणकुशल लोगों को चक्कर में डाल दिया है। इसने अत्यधिक संख्या या दुर्दमनीय तोपखानों के बिना निर्णायक विजय को असंभव बना दिया है। किंतु इस बात ने युद्ध को असंभव नहीं बनाया है, इसने केवल उसके स्वरूप को बदल दिया है। अधिक-से-अधिक यह सैनिक निर्णयों के युद्ध के स्थान पर सैनिक और वित्तीय क्रांति का युद्ध ले आया है, जिसे दुर्भिक्ष के क्रूर शस्त्र की सहायता भी प्राप्त है। उधर अंग्रेज लेखक ने भी आर्थिक उद्देश्य को एकमात्र महत्त्वपूर्ण तथ्य मानकर भूल की है। उसने मनुष्य की अधिकार-लिप्सा की अवहेलना कर दी जिसे यदि वाणिज्य-व्यवसाय की भाषा में रखा जाये तो कहना होगा बाजारों पर निर्विवाद

नियंत्रण और असहाय जनता का शोषण। एक बात और है, जब हम एक संगठित राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय जीवन की अस्तव्यस्तता को युद्ध की रोक-थाम का आधार मानते हैं तो हम मनुष्य की उस असीम शक्ति को भूल जाते हैं जिसके द्वारा वह अपने-आपको परिस्थितियों के अनुकूल बना सकता है। यह शक्ति आश्चर्यजनक रूप से उस कौशल और सुगमता में दिखायी दी जिसके साथ वर्तमान संकट-काल में शांति के संगठन और वित्त-व्यवस्था के स्थान पर युद्ध के संगठन और वित्त-व्यवस्था को बिठाया गया। जब हम युद्ध को असंभव बनाने के लिये विज्ञान पर निर्भर रहते हैं तो हम भूल जाते हैं कि विज्ञान की प्रगति का अर्थ है आश्चर्यों की एक शृंखला, साथ ही मानवप्रतिभा द्वारा किया गया एक ऐसा सतत प्रयत्न, जिसके द्वारा वह असंभव पर विजय प्राप्त करती है और हमारे विचारों, अभिलाषाओं और सहजप्रवृत्तियों की संतुष्टि के लिये नित नये साधन ढूँढती है। विज्ञान युद्ध के वर्तमान रूप को—गोलियों, तोपों, विस्फोटक सुरंगों और युद्धपोतों द्वारा युद्ध को—असंभव भी बना सकता है पर साथ ही इनके स्थान पर उन सरलतर साधनों को भी विकसित कर सकता है जो युद्ध के पुराने तरीकों को पुनः ले आयें।

जबतक युद्ध मनोवैज्ञानिक रूप से असंभव नहीं हो जाता, तबतक वह रहेगा ही या कुछ दिनों के लिये समाप्त भी कर दिया जाये तो पुनः लौट आयेगा। यह आशा की जाती है कि स्वयं युद्ध युद्ध का निष्कासन कर देगा। युद्ध का खर्च, आतंक, हत्याकांड, शांत जीवन की क्षुब्धता, इसका अस्तव्यस्त और रक्त से सना पागलपन, यह सब ऐसे दीर्घकाय अनुपात तक पहुंच गये हैं अथवा पहुंच जायेंगे कि मानवजाति थककर और ऊबकर स्वयं ही इस क्रूरता को त्याग देगी। किंतु थकान और अरुचि, युद्ध द्वारा उत्पन्न आतंक और दया, मानव जीवन और शक्ति का अपव्यय और अन्य हानियां और अत्यधिक खर्च आदि क्रियात्मक बातें मनुष्य की आखें खोल भी दें जिससे कि वह युक्तिसंगत बात को समझ ले तो भी ये स्थायी तथ्य नहीं हैं। यह असर तभीतक रहता है जबतक कि पाठ नया हो। फिर विस्मृति की बारी आती है। मानव-प्रकृति अपने-आपको तथा अपनी उन सहज-प्रवृत्तियों को पुनः प्राप्त कर लेती है जो अस्थायी रूप से अभिभूत थीं। परिणामस्वरूप एक लंबा शांति-काल आ सकता है, एक विशेष शांतिपूर्ण व्यवस्था भी हो सकती है, किंतु जबतक मनुष्य का हृदय जैसा है वैसा ही बना रहेगा तबतक शांति स्थापित नहीं हो सकती; मनुष्य के भावावेशों के बोझ से यह शांति-व्यवस्था टूट जायेगी। युद्ध अब शायद जैविक दृष्टि से आवश्यक नहीं रह गया है लेकिन वह अबतक एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता बना हुआ है। जो वस्तु हमारे अंदर है उसे बाहर अभिव्यक्त होना ही पड़ेगा।

तबतक यही अच्छा है कि हमें देवताओं की ओर से ऐसी प्रत्येक झूठी आशा और विश्वासपूर्ण भविष्यवाणी का व्यंग्यात्मक उत्तर मिलता रहे। केवल इसी हालत में हम वास्तविक उपचार पाने के लिये आगे बढ़ सकेंगे। जब मनुष्य अन्य सभी मनुष्यों से

केवल सहानुभूति ही नहीं, बल्कि एकता, सर्व-सामान्यता का भी प्रबल अनुभव करने लगेगा, जब वह उन्हें केवल भाइयों के रूप में ही नहीं देखेगा—यह एक कच्चा बंधन है—बल्कि उन्हें अपना ही अंश समझने लगेगा, जब वह अपने पृथक् वैयक्तिक और सामूहिक अहंभावना में नहीं, बल्कि एक विस्तृत वैश्व चेतना में रहना सीख लेगा, केवल तभी युद्ध, वह चाहे जिन भी शस्त्रों से लड़ा जाये, उसके जीवन से इस प्रकार बाहर निकल जायेगा कि उसके लौटने की संभावना नहीं रहेगी। पर तबतक यदि वह इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये भ्रांतियों द्वारा भी आगे बढ़ता जाये तो यह भी एक बहुत अच्छा लक्षण है; क्योंकि, इससे यह पता चलता है कि भ्रांति के पीछे स्थित सत्य उस मुहूर्त की ओर बढ़ रहा है जब वह वास्तविकता के रूप में अभिव्यक्त हो सकेगा।

अदृश्य शक्ति

विचार के क्षेत्र में एक युद्ध समाप्त हो गया है, एक संसार नष्ट हो चुका है और उसने बाह्य प्रकृति की क्रम-व्यवस्था में विलीन होना शुरू कर दिया है। जो युद्ध समाप्त हुआ है वह भौतिक रूप से खंदकों में, गोलियों, तोपों, टैंकों और वायुयानों से लड़ा गया था, इसमें मानव-अंग कट-कटकर बिखर गये, मकान तहस-नहस हो गये और भूमिमाता का वक्षस्थल निर्दयतापूर्वक रौंदा गया। नया युद्ध या फिर नये रूप में पुराना युद्ध, जो अभी से शुरू हो चुका है, अब अधिकतर मानसिक खंदकों और अभेद्य रक्षास्थानों से, विचार और शब्द के सर्वेक्षण-यंत्रों, बैटरियों और गतिशील मशीनों से, प्रचार-दलों और कार्यक्रमों से लड़ा जायेगा; इसमें मनुष्यों और राष्ट्रों के कामना-पुरुष क्षत-विक्षत होकर बिखर जायेंगे, कई प्रकार के राजसिंहासन, उच्च संस्थाएं नष्ट हो जायेंगी, पृथ्वी पर चढ़ी रूढ़ियों की पुरानी पर्त बुरी तरह से रौंद दी जायेगी, वह पर्त जिसे मनुष्य ने विकासवादी प्रकृति की चंचल और तरल शक्तियों के ऊपर चढ़ा रखा है। वह पुराना जगत् बाह्य रूप में अपनी नींव से ही हिल गया जिसके कई भाग गिरने भी शुरू हो गये हैं, वह एक आर्थिक एवं जड़वादी संस्कृति है जिसे मनुष्य पिछली कुछ शताब्दियों से गढ़ रहा है, इसे एक ऐसी सामग्री से बना रहा है जो कभी नयी थी पर अब बड़े वेग से अपनी सामर्थ्य खोती जा रही है, जिसमें अब प्राचीन और मध्य युगों के टूटे-फूटे अवशेषों के पैबंद लगे हुए हैं। सैनिक संघर्ष का काल, जो अभी समाप्त हुआ है, उस वस्तु को तोड़ने के लिये आया था जिसे विचार पहले से ही दुर्बल करता जा रहा था। अब क्रांतियों का युग आ पहुंचा है जो संभवतः इस विनाश को पूरा करेगा और एक नये भवन के निर्माण की तैयारी करेगा। इस संघर्ष में चिंतक मनुष्य के मन में यह प्रश्न उठता है कि कौन-सी शक्ति या शक्तियां इस क्रांति में अपने संकल्प या प्रयत्नों को व्यक्त कर रही हैं? और हमें अब किस शक्ति या किन शक्तियों का आदेश मानना है? किस आंतरिक या अतिमानव-वस्तु के प्रति निष्ठा रखनी है, क्योंकि बाह्य राजसिंहासन और प्रणालियां अब काल के अंधड़ के आगे तिनकों के समान उड़ रहे हैं। वह कौन-सी वस्तु या व्यक्ति है जिसे पदासीन करने के लिये हम लड़ेंगे?

मनुष्य अपने वैयक्तिक, सांप्रदायिक या राष्ट्रीय हितों के लिये लड़ते हैं या फिर उन विचारों और सिद्धांतों के लिये जिन्हें वे अपना मंत्र या युद्ध का नारा बना लेते हैं। किंतु सबसे बड़े मानव-हित भी केवल साधन और यंत्र ही हैं जिन्हें उनसे भी कोई बड़ी शक्ति तोड़ देती है अथवा अपनी अचेतन प्रेरणावश या फिर किसी सचेतन उद्देश्य के लिये प्रयोग में लाती है। विचार और सिद्धांत हमारे मन की उपज हैं जो जन्म लेते हैं, शासन करते हैं और विलीन हो जाते हैं और वे तबतक शब्दमात्र ही रहते हैं जबतक कि वे हमारी सत्ता और जगत्-सत्ता की शक्ति को व्यक्त नहीं करते,

उस शक्ति को जो मानसिक रूप में अपने-आपको उनमें अभिव्यक्त करती है। हमारे विचारों और हमारी इच्छाओं से बड़ी एक और वस्तु भी है, जो अधिक स्थायी और आग्रही है, जो स्थिर रहती है, जो उनके परिवर्तनों के द्वारा विकसित होती है और उनके बाद भी बनी रहती और बढ़ती रहती है। यदि कोई ऐसी वस्तु न होती तो यह समस्त मानव-प्रयत्न एक व्यर्थ का विक्षोभ बनकर रह जाता, मनुष्य का जीवन तब जरा ऊंचे स्तर का मधुमक्खी और चींटी का व्यस्त और नैसर्गिक कार्यक्रम ही होता, जिसमें व्यर्थ का कष्ट तो अधिक होता पर मितव्ययता और बुद्धि कम रहती। हमारा विचार कल्पनाओं की एक गर्विली चमकमात्र रह जाता जो अनिच्छापूर्वक एक जाल-सा बुनती रहती, उस पुरानी कथा जैसा जाल जो इसलिये बार-बार बुना जाता है कि उसे बार-बार उधेड़ा जा सके, या फिर तर्कों का एक जाल जो बौद्धिक और व्यावहारिक प्रथाओं की एक शृंखला खड़ी कर देता है। उस अधिक महान् चीज के अभाव में जीवन में यही अवस्था रहती जिसमें हम प्रथाओं को सत्य और सही वस्तु समझते हैं और अपने मन की भ्रांतियों को बुद्धि के स्थान पर और सामाजिक जीवन की भ्रांतियों को सुख के स्थान पर स्थापित कर देते हैं। क्योंकि, यह निश्चित है कि ऐसी कोई भी वस्तु और बाह्य व्यवस्था, जिसे हम निर्मित करते हैं, अपने नियत समय या फिर अपने संभावित समय के बाद नहीं टिक सकती। जिस तरह यूरोप की यह विशद जड़वादी सभ्यता, जिसे पुनर्जागरण के आलोकपूर्ण प्रभात ने देदीप्यमान जन्म दिया और उन्नीसवीं शताब्दी के तर्कवाद के शुष्क, पीले मध्याह्न ने कठोर परिपक्वता प्रदान की, अब समाप्त हो रही है। इसे जाते हुए देखकर पृथ्वी का वक्षस्थल और मनुष्य की आत्मा आराम की सांस ले रहे हैं। अतएव, जिस युग-संध्या में हम प्रवेश कर रहे हैं और उसके बाद हम जिस नयी सभ्यता का निर्माण करेंगे वह भी—कारण जो लोग सोचते हैं कि यही सच्चा प्रभात है वे निश्चय ही भ्रम में हैं—अपने निश्चित काल तक जीवित रहकर या तो द्रुत वेग से नष्ट हो जायेगी या फिर मंद गति से हास को प्राप्त होगी और ऐसा तबतक होगा जबतक वस्तुओं में एक सनातन आत्मा न आ जाये, मनुष्य को उसके मूल स्वर में अपनी सच्ची समस्वरता की प्रवृत्ति की प्रथम तान दृढ़नी होगी, इस प्रकार यह उन परिवर्तनों की आरोहक शृंखला में प्रथम चरण हो सकता है जिसके फलस्वरूप एक महत्तर मनुष्यजाति जन्म लेगी। अन्यथा, जातियों की यह बहुत भारी मुठभेड़, यह आक्रमण और विश्वव्यापी रक्तपात केवल एक आकस्मिक दुःस्वप्न बनकर रह जायेंगे और राष्ट्र अथवा मनुष्यजाति का ज्ञात रूप सर्वश्रेष्ठ सुखी काल केवल एक क्षणिक मनोहर स्वप्न। तब संसार की प्राचीन शिक्षा ही, जिसने हमें मानव-जीवन को एक बहुत बड़ी निस्सारता के रूप में लेने को कहा है, एकमात्र बुद्धिमत्ता होगी।

किंतु इस मत को मानकर मनुष्य की आत्मा कभी संतुष्ट नहीं रही और आज तो हम इसे और भी कम स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि मनुष्यजाति सहज-प्रेरणावश अब

यह जान रही है कि संसार में हमारी बाह्य सत्ता से अधिक बड़ी एक और शक्ति कार्य कर रही है और यह तीव्र भावना कि जीवन का ध्येय अभी प्राप्त नहीं हुआ है, उसे मानव-विचार और ऊर्जा के अभूतपूर्व प्रयत्न की ओर प्रेरित कर रही है। ऐसे क्षण में बड़ी-से-बड़ी विपत्तियां भी जीवन को कलांत नहीं कर सकतीं, न ही उसकी प्रेरक शक्ति को निरुत्साहित कर सकती हैं, बल्कि वे उसके प्रयत्न में एक नयी स्फूर्ति ला सकती हैं। कारण, विचार की ज्वालाएं अग्नि की विनाशकारी लपटों से अधिक ऊंची उठती हैं और उसमें एक अर्थ और एक नयी सृष्टि की प्रतिज्ञा देखती हैं। जो विनाश हो चुका है, जो स्थान रिक्त रह गया है उसमें मन को प्रगति करने की और अधिक आशा बंधती है, वह उसमें एक ऐसा विस्तृत क्षेत्र पाता है जिसे काल के अंदर निर्माण करनेवाली आत्मा ने अपने नये भवन के लिये साफ किया है। क्योंकि, ऐसा कौन है जिसके देखनेवाली आंखें हों फिर भी वह यह न देख सकता हो कि जो कुछ हो चुका है उसमें वे असीम शक्तियां काम करती रही हैं, जो एक ऐसे विशालतर वैश्व अभिप्राय को विकसित करती हैं जिसे व्यक्ति या राष्ट्र के उस अहंकारपूर्ण मन के व्यक्तिगत विचार या सामूहिक स्वार्थ के गज से नहीं नापा जा सकता तथा जिनके लिये सरकारों और जातियों के प्रेरक हेतु और भावोद्वेग यंत्र अथवा अवसरमात्र थे ? जब पूर्व और केंद्र के निरंकुश शासकों और युद्ध-प्रभुओं ने इस महान् संकट को बुलाने का निश्चय किया ताकि वे इसके द्वारा अपनी उच्चतम महत्वाकांक्षाओं को पूरा कर सकें, जब वे संसार के तीव्रतम संघर्ष की ऊंची चट्टान की ओर उन्मत्त अवस्था में बढ़े, तब उन्हें इस बात का जरा भी आभास नहीं था कि चार या चार से भी कुछ कम वर्षों में ही उनके सिंहासन डोल उठेंगे, वे स्वयं या तो मार दिये जायेंगे या निर्वासित कर दिये जायेंगे और जिस सिद्धांत का वे पोषण करते थे वह भूतकाल की अंधेरी रात्रि में विलीन हो जायेगा। केवल उनकी प्रेरक शक्ति ने ही यह सब पहले से देख लिया था और यही उसे अभिप्रेत भी था। न ही वे जातियां जो अनिच्छापूर्वक युद्ध के किनारे खड़ी लड़खड़ा रही थीं इस गुप्त उद्देश्य के बारे में अधिक जानकारी रखती थीं। जो कुछ वे थे और जो कुछ उनके पास था उसकी रक्षा और उनकी व्यवस्थित यूरोपीय सभ्यता को खतरे में डालनेवाले भयंकर आक्रमण के प्रति रोष ने उनके संकल्प को प्रेरणा दी और उनके निश्चय को बल प्रदान किया। फिर भी, जिस 'शक्ति' ने उन्हें विजय दिलायी उसका अभिप्राय इस सभ्यता को उसकी भूल के लिये दोषी ठहराना और मानवजाति के एक अन्य युग की तैयारी करना ही था। उनके विचारों में इसकी आवाज कुछ अस्तव्यस्त रूप में गूंज रही थी, साथ ही यह उन लोगों के मन में, जिन्होंने बाद के युद्ध में इच्छापूर्वक और सचेतन संकल्प के साथ प्रवेश किया, स्पष्टतर होती जा रही थी।

विनाश और ध्वंस बहुत अधिक हो चुका है। असीम कष्ट की अवस्था थी यह, अंधकार के घने रक्तरंजित बादल संसार को अपने अंदर आवेष्टित कर रहे हैं।

असंख्य प्राणी मृत्यु के मुख में चले गये हैं, खजाने के खजाने और मानव-साधन मानों कुएं में डाल दिये गये हैं। और अभी इस सबका अंदाजा भी नहीं लगाया जा सकता है, अभी पूरा मृत्यु नहीं चुकाया गया है; क्योंकि, युद्ध के बाद के परिणाम शायद उसके वर्तमान परिणामों से कहीं अधिक बड़े होंगे, और जो कुछ एकाग्र प्रयत्न के फलस्वरूप भूचाल के पूरे धक्के से बच निकला है वह भी बाद के कंपनों से हहराकर गिर जायेगा। इस विपत्तिकाल में, आंधी तूफानों को ओढ़े हुए जगत् के ऊपर खड़ी शक्ति से परिचित मनुष्य, कुरुक्षेत्र में कहे गये अर्जुन के इन शब्दों को भली-भांति दोहरा सकता है :

दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥
 नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्याताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
 दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥
 यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
 तथा तवामी नरलोकवीराः विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥
 यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाः विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
 तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥
 लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्राण्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
 तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥
 आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
 विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

“हे सामर्थ्यशाली आत्मा, जब तेरा यह भयानक और अद्भुत रूप दिखायी देता है, तीनों लोक पीड़ा और कष्ट से कराह उठते हैं, —जैसे ही मैं तुझे देखता हूं, मेरी आत्मा भी दुःखी एवं पीड़ित अनुभव करने लगती है, मेरे अंदर शांति और प्रसन्नता नहीं है, जिस द्रुत वेग से ये नदियां सागर की ओर दौड़ रही हैं उसी वेग से संसार के वीरगण तेरे अग्निशिखा जैसे लपलपाते अनेक मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि में पतियों के झुण्ड-के-झुण्ड वेगपूर्वक जा गिरते और विनाश को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र तेरे विनाशरूपी जबड़े में अधिकाधिक द्रुत गति से प्रवेश कर रहे हैं, तू अपनी अनेक जिह्वाओं से चारों ओर के लोकों को चाट रहा है और अपने अग्निमुख से सभी राष्ट्रों को अपना ग्रास बना रहा है; तेरी शक्तियों की ज्वाला से समस्त जगत् व्याप्त हो उठा है; हे विष्णु, तेरा तेज भयंकर एवं विकराल है, वह हमें जला देता है। मुझे बताओ तो, हे भयंकर आकारवाले, तुम कौन हो ? हे देववर, तुम्हें मेरा नमस्कार, हम पर कृपा करो, सृष्टि के आदि में होनेवाले देव, मैं तुझे जानना चाहता हूं, क्योंकि मैं तेरे कार्यों की प्रवृत्ति को नहीं समझ पा रहा हूं।”

यदि इसका पहला उत्तर उन्हीं शब्दों में आता हुआ प्रतीत होता है जिन शब्दों में अर्जुन की प्रार्थना का उत्तर दिया गया था यानी “मैं ही लोकों का नाश करनेवाला काल हूँ और इस समय राष्ट्रों का संहार करने के लिये प्रवृत्त हूँ”,

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।

ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

और उन लोगों को भी जो इस विनाशकारी युद्ध और रक्तपात में भाग लेने से हिचककर पीछे हटते हैं यही आवाज सुनायी देती है, “तेरे बिना भी ये सब समाप्त हो जायेंगे, ये सब, जो विरोधी पंक्तियों में खड़े हैं, क्योंकि मैं अपने दिव्य-दृष्टिवाले संकल्प में इन्हें पहले ही मार चुका हूँ; तू अपने-आपको एक पूर्वनिर्धारित लक्ष्य के साधन के रूप में ही जान ।” —फिर भी अंत में विनाश के रूप की जगह मनुष्य का मखा, उसके युद्ध और उसकी यात्रा का सारथी ही प्रकट होता है और धर्मराज्य ही इस समस्त विनाश का परिणाम होता है । मानवजाति को और कुरुक्षेत्र के योद्धा दोनों को अंतिम संदेश प्राप्त हो चुका है, “अतः उठ और शत्रु का नाश कर, एक समृद्ध और आनंदपूर्ण राज्य का उपभोग कर ।” किंतु किस ‘धर्म’ का राज्य ? यहां यह संदेह होता है कि जैसे राष्ट्र आनेवाले विनाश के प्रति बिलकुल अंधे थे उसी भांति कहीं आनेवाले बड़े निर्माण के प्रति भी उनकी आंखें चूंधियायी न रहें । पुराने जगत् की जो शक्तियां जीवित बची हैं उनकी आवश्यकताओं, हितों एवं दुविधाओं के अनुसार उदारतापूर्वक या दान में दी जानेवाली यांत्रिक स्वतंत्रता में वृद्धि, अतीत के अवशेषों और भविष्य की अनगढ़ सामग्री के संयोग से पैदा हुई एकता, आय और व्यय का खाता जिसमें नियति अतीत के उन अहितों और भूलों को खाते से मिटाती जा रही है जिनकी वहां आवश्यकता नहीं है और जो पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ है उसी को एक अच्छी पूंजी के रूप में खाते में चढ़ाती जा रही है, —इसमें ईमानी अदायगी और अतिविलंबित ऋण की आंशिक अदायगी के कारण कुछ कमी हो जाती है —ये सब चीजें एकदम असंभव रीति से नष्ट नहीं हो गयी हैं, एक ऐसे परिवर्तन की स्वीकृति जो या तो इस अंधड़ के फलस्वरूप आया है या जो फिर इसके कारण तत्काल ही अनिवार्य हो गया है, बाढ़ की ओर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति को रोकने के लिये प्रतिबंधों की एक नयी प्रणाली, ये सब भी इस प्रवाह को रोकने में सफल नहीं हो सकते । यदि कोई अदृग्दर्शी बुद्धिमत्ता कुछ सफल और संगठित अहंभावों के सम्मिलित प्रयत्नों के द्वारा तथा काल-पुरुष के संदेशवाहकों के रूप में व्याप्त बलशाली विचार-शक्तियों के साथ मिलकर कुछ समय के लिये ऐसा कर भी दे, फिर भी यह एक कृत्रिम प्रतिबंध होगा जिसका परिणाम अंत में निकट भविष्य ही में एक नयी क्रांति होगा । पुराने दिव्यालये जड़वादी अर्थवाद का सम्पादन चाहे उसे एक नये नाम से और एक

आरक्षित पूंजी और नये खाते के साथ नया काम आरंभ करने में समर्थ बना भी दे फिर भी वह नियति को ठगने का एक निष्फल प्रयत्न होगा। व्यवसायवाद का निःसंदेह एक अपना 'धर्म' है। उसके उपयोगितावादी न्याय, कानून और समंजन का आदर्श, उसकी सभ्यता, जिसका प्रतीक तराजू है, उसके पुराने अधिनियम आदि सब रह रहे हैं। अब वह सुविचारित मूल्यों की एक नयी प्रणाली को लेकर फिर से श्रीगणेश करने को उत्सुक है। किंतु अधकचरा पश्चात्ताप करनेवाले वैश्य का धर्मराज्य हमारे इस युग की अंतिम परिणति नहीं होगा, जो विचार और भावना के नये-नये रहस्योद्घाटनों और जीवन की नयी रचनाओं से परिपूर्ण है। न ही तराजू के प्रतीकवाला स्वर्णिम, बल्कि यों कहें कि सोने के मुलम्मेवाला युग ही मनुष्यजाति के इस कष्ट एवं वेदना का कोई गौरवमय पुरस्कार होगा। यह निश्चित है कि एक अन्य और उच्चतर 'धर्म' के राज्य की तैयारी हो रही है।

वह 'धर्म' क्या है यह हम केवल तभी जान सकते हैं जब हम उस शक्ति को जान लें जिसका अस्तित्व और विचार उस सबके पीछे कार्य करता है जिसके लिये हम प्रयत्न करते हैं, कष्ट उठाते तथा कल्पना और प्रयास करते हैं। पहले समय की मनुष्यजाति ने इसकी कल्पना इस तरह की थी कि यह मनुष्य से, उसकी सत्ता से तथा उसके प्रयास से कहीं ऊंचा एक सर्जनात्मक देवत्व अथवा सर्वशक्तिमान् शक्ति है या फिर यह वैश्व शक्तियों का देवकुल अथवा देवस्थान है जिसने जाति के प्रयत्न, भावोद्देगों और विचार को देखा एवं प्रभावित किया था। किंतु ब्रह्मांड के लौकिक देवताओं की कार्य-प्रणाली में एकता के आधार और सिद्धांत की कमी थी, प्राचीन जाति को केवल एक अस्पष्ट और अवर्णनीय देवत्व की ही कल्पना करनी पड़ी थी, एक ऐसे अज्ञात देवता की जिसके लिये उन्होंने एक अनाम वेदी बनायी अथवा एक 'आवश्यकता' की जिसका मुख 'स्फिक्स' का है और हाथ कांसे के, उसके आगे स्वयं देवता भी ज्ञानशून्य आज्ञापालन के लिये बाधित होते हैं। और इससे मनुष्य का जीवन एक अबोधगम्य भाग्य का शिकार और अतिमानव तरंगों के हाथों की कठपुतली बनकर रह गया। जबतक वह अपने प्राणिक अहंभाव में निवास करता है और अपने वैयक्तिक विचारों और भावावेगों का दास बना रहता है, तबतक वह अधिकतर ऐसा ही रहता है। बाद के धर्मों ने एकमेव अज्ञात देव को एक नाम दिया तथा एक शरीर का रूप एवं गुण भी दिया और एक ऐसे आदर्श-विधान की घोषणा की जिसे उन्होंने दैवी संदेश एवं धर्म-पुस्तक बताया। किंतु एक आंशिक और अननुभूत ज्ञान की कट्टरता और मानव-मन की बाह्य प्रवृत्तियों ने धर्म के आलोकों को भ्रांति की अस्तव्यस्तता से धुंधला कर दिया और उसके मुख पर बचकाने और क्रूर अंधविश्वासों के अनोखे आवरण डाल दिये। धर्म ने भगवान् को बहुत ऊंचे सुदूर स्वर्गों में जा बिठाया और मनुष्य को बहुत हद तक धरती का एक कीड़ा बना डाला जो अपने बनानेवाले के सामने क्षुद्र और अधम ही रहा, वह अब उसके मनकी अनुग्रह पर ही

अतिमानव-लोको में अनिश्चित प्रकार की मुक्ति पा सकता था। आधुनिक विचार इन पुरानी धारणाओं से बिल्कुल मुक्त होना चाहता था, अतः उसे इनके स्थान पर कुछ और रखना पड़ा। उसने प्रकृति के जड़वादी विधान और अस्तित्व के जैविक विधान को देखा और वहां ला बिठाया। मानव-बुद्धि उसकी एकनिष्ठ प्रतिपादक बनी और मानव-विज्ञान उसका सफल प्रयोग करके लाभ उठानेवाला बना। किंतु भौतिक प्रकृति के नियम की यंत्रवत् अंधता को सोच सकने और देख सकनेवाले मनुष्य को एकमात्र पथप्रदर्शक बना देने का अर्थ है उसके अस्तित्व के दिव्यतर नियम के विरुद्ध जाना तथा उसकी उच्चतर शक्यता को पंगु बना देना। भौतिक और प्राणिक प्रकृति हमारी सत्ता का केवल प्रथम स्वरूप है और उसके नियम पर विजय पाना एवं उससे ऊपर उठना ही मानव विकास का सार है। इससे अन्य एवं अधिक समर्थ 'शक्ति' ही इस प्रयत्न की स्वामिनी है। मानव-बुद्धि या मानव-विज्ञान वह देव नहीं है, वह अधिक-से-अधिक उसका एक सचिव ही बन सकता है, मुख्य सचिव भी नहीं। मानव-बुद्धि और मानव-विज्ञान अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उस तूफान में और उसके द्वारा प्रयत्न नहीं कर रहे हैं जिसने उनकी कितनी ही रचनाओं को भूमिसात् कर दिया है, बल्कि एक महत्तर आत्मा अपने अदृश्य स्वरूप एवं प्रच्छन्न लक्ष्य को प्रकाश में लाने के लिये एक गहनतर खोज की प्रतीक्षा कर रही है।

इस सत्य का कुछ अंश हमें इस तथ्य में थोड़ा-थोड़ा दिखायी देने लगा है कि लोग अब अधिक आध्यात्मिक विचारों की ओर लौट रहे हैं और मानवजाति के जीवन में भगवान् के राज्य की स्थापना के विचार आ रहे हैं। सृष्टि में शक्ति के उस पुराने अर्थ पर—जिसके लिये हमारा जगत् एक कार्यक्षेत्र है—मनुष्य के अंदर देव के निकटतर बोध का अनुवर्तन हो रहा है। यही देव अदृश्य प्रभु है और बाह्य मनुष्य इसका आवरणमात्र है। हमारे मन और प्राण इसके सेवक और जीवित यंत्र हो सकते हैं और हमारी पूर्णता-प्राप्त आत्माएं उसके स्वच्छ दर्पण हो सकती हैं। किंतु इस देवत्व को जानने से पहले हमें अधिक स्पष्टता से तथा समग्र रूप में देखना होगा। ऐसी तीन शक्तियां और स्वरूप हैं जिनमें वस्तुओं में कार्य करनेवाली यह सत्ता हमारे सामने अपने-आपको व्यक्त करती है। पहला स्वरूप उसका वह है जिसे हम विश्व में देखते हैं, किंतु वह, अथवा जिसे हम वस्तुओं की बाह्य प्रतीति में देखते हैं, उसका समग्र सत्य नहीं है; यह पहला स्थूल आकार और सशक्त आधार अवश्य है जिसे उसने हमारे विकास के प्रारंभिक बिंदु के रूप में हमें प्रदान किया है, यह प्रारंभिक उपलब्धियों का प्राथमिक योगफल भी है जहां से चलकर हमें आगे बढ़ना है। अगला स्वरूप उसका वह है जिसका रहस्य केवल मनुष्य को ही ज्ञात है, क्योंकि उसीमें वह उत्तरोत्तर अपने-आपको अभिव्यक्त कर रहा है, चाहे यह कार्य और अभिव्यक्ति अभी आंशिक और अपूर्ण रूप में ही क्यों न हो। मनुष्य के विचार, उसके आदर्श और स्वप्न, अपने से आगे ऊंचाई पर जाने के उसके प्रयत्न ही वे

कुंजियां हैं जिनके द्वारा वह परम आत्मा को खोजने का प्रयत्न करता है, यही वे सांचे हैं जिनमें वह देवत्व के रूप को पकड़ने का प्रयास करता है। किंतु ये भी देवत्व के आंशिक प्रकाश ही हैं, उसका पूरा स्वरूप नहीं। इस सबके परे कोई ऐसी वस्तु प्रतीक्षा कर रही है जिसके आगे मानव-मन एक आकाररहित अभीप्सा लेकर जाता है और वह अभीप्सा होती है एक अवर्णनीय पूर्णता के लिये, एक अनंत प्रकाश, अनंत शक्ति, अनंत प्रेम और एक वैश्व 'शिव' और 'सुंदर' के लिये। यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो अभी पूर्ण सत्ता को नहीं प्राप्त हुई है अर्थात् एक ऐसा भगवान् जो अभी बन रहा है अथवा जिसकी रचना मनुष्य को करनी है; यह वह सनातन सत्ता है जिसका यह अनंत आदर्श एक मानसिक प्रतिबिम्बमात्र है। यह विश्व के स्वरूप और मानवसत्ता की इस मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों से परे की चीज है, फिर भी यह यहांपर मनुष्य में भी विद्यमान है और मनुष्य जिस जगत् में रहता है उसकी सभी शक्तियों में रहते हुए उसे घेरे रहती है। यह वह 'परम आत्मा' है जो विश्व में विद्यमान है और मनुष्य के अंदर स्थित वह अदृश्य नृप भी है जो उसके कार्यों का स्वामी है। यह विश्व में उन नियमों द्वारा विकास को प्राप्त होती है जो अभीतक यहां पूर्ण नहीं हैं, जो अपने अर्थ और कार्य में तबतक पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकते जबतक मनुष्यजाति अपनी प्रकृति में मन और आत्मा की शक्यताओं को पूर्णतया विकसित नहीं कर लेती। यह मनुष्य में कार्य तो करती है किंतु उसके वैयक्तिक और सामाजिक अहंभाव के द्वारा ही, और ऐसा तबतक चलता है जबतक वह अपने वर्तमान मन के बंधन में जकड़ा रहता है। जब मनुष्यजाति भगवान् को जान लेगी और उन्हींमें निवास करने लगेगी, तभी उसके प्रयत्नों का आदर्श अर्थ अपने-आपको अभिव्यक्त करना आरंभ करेगा और तभी उनका साम्राज्य भी स्थापित होगा—'राज्यम् समृद्धम्'।

जब हम अपने बाह्य जीवन को अपने अहंभाव, अपने स्वार्थों, अपने भावावेगों अथवा अपनी प्राणिक आवश्यकताओं के आदेशानुसार गढ़ने का प्रयत्न करते हैं या फिर उसे अपनी बुद्धि द्वारा प्रस्तुत एवं संवर्द्धित उन प्राणिक आवश्यकताओं के रूप में ढालने की चेष्टा करते हैं जिन्हें एक महत्तर आध्यात्मिक अर्थ का प्रकाश प्राप्त नहीं हुआ है तो हम ब्रह्मांड-संबंधी सूत्र-रचना के प्रथम विधान में निवास करते हैं। वहां यह अदृश्य शक्ति हमारे सामने आग्रही रुद्र के रूप में प्रकट होती है। यह विकासक्रम का स्वामी, कर्म का प्रभु, न्याय और विवेक का राजा है, आशुतोष है, सरलता से त्याग और प्रयत्न से संतुष्ट हो जाता है। यह असुर और राक्षस को, देव और दानव को भी उनकी तपस्या का फल देता है, किंतु यह क्रोधित भी जल्दी हो उठता है और जब-जब मनुष्य, अज्ञानवश ही सही, उसके विधान को तोड़ने का अपराध करता है या विकास की प्रवृत्ति के विरुद्ध अपने अहंकार में अकड़ा खड़ा रहता है या फिर कर्म की प्रतिक्रिया को चुनौती देता है, तब-तब यह निर्दयतापूर्वक प्रहार करता है; बाधाओं और संघर्ष में से, प्रबल भावोद्वेग और इच्छा और संकल्प

और अत्यधिक प्रयत्न के भयानक तनाव में से, निर्माण और विनाश में से, विकास की मंद गति और क्रांति की द्रुत गति में से ही रुद्र भागवत उद्देश्य को साधित करता है। इसके विपरीत, जब हम इस आदर्श के अनुसार अपने जीवन को कोई स्वरूप देना चाहते हैं तो सत्य का कठोर प्रभु ही हमारी परीक्षा लेने लगता है। तब हम जिस हदतक आंतरिक सत्य के अनुसार ईमानदारी से कार्य करेंगे, उसी हदतक हम भागवत कार्य के परिणाम की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई समस्वरता में निवास करने लगेंगे। किंतु यदि हमारे आदर्श के मानदंड झूठे हैं, यदि हम अपने अहंभाव और आत्म-प्रवंचना का अन्यायपूर्ण बोझ भी पलड़े में डाल दें, यदि हम अपने संकीर्णतर उद्देश्यों के लिये सत्य का गलत प्रयोग करें, यदि हम उसे मिथ्यात्व में या रूढ़ि में या फिर एक ऐसे बाह्य यंत्र में बदल दें जिसमें सत्य की जीवंत आत्मा विद्यमान नहीं होती, तो हमें इसका भारी मूल्य चुकाना होगा। कारण, पहले जिस प्रकार हम रुद्र के भयानक पंजे में गिर गये थे, उसी प्रकार अब हम वरुण के अधिक सूक्ष्म, पर अधिक संकटपूर्ण पाश में फंस जाते हैं। हमारी अभीप्सा की तुष्टि तभी होगी जब हम सत्य को देख सकेंगे और उसमें निवास कर सकेंगे। तब स्वतंत्रता के स्वामी, प्रेम के प्रभु और एकता की परम आत्मा ही व्यक्ति की आत्मा को अनुप्राणित करेगी और जगत् के प्रयत्न को स्वयं अपने हाथ में ले लेगी। ये ही परम मोक्षदाता हैं, 'पूर्णता' के सबल और सौम्य संस्थापक हैं।

रुद्र के कोप की आंधी पृथ्वी पर से गुजर चुकी है और उसके पदचिह्न इस ध्वंसावशेष में देखे जा सकते हैं, जिसके परिणामस्वरूप जाति को इस बात का बोध हो गया है कि वह बहुत-से मिथ्यात्वों में रह चुकी है और उसे अब एक आदर्श के अनुसार निर्माण करने की आवश्यकता है। अतएव अब हमें 'सत्य के स्वामी' के प्रश्न पर विचार करना है। इस विनाश के धमाके और झंझा के झोंके में से 'दिव्य सत्य' के दो महान् शब्दों ने बड़े आग्रहपूर्वक हमारे मन को अपनी पकड़ में ले लिया है और अब वे प्रत्याशित नव-निर्माण के प्रमुख शब्द बन गये हैं। वे शब्द हैं—स्वाधीनता और एकता। किंतु सब कुछ सबसे पहले उस सत्य पर निर्भर करता है जिसके साथ हम उन्हें देखते हैं, फिर उस सच्चाई पर जिसके साथ हम उसका प्रयोग करते हैं और अंत में विशेष रूप से यह हमारी उपलब्धि की आंतरिकता पर निर्भर करता है। यदि एकता जाति के हृदय में विद्यमान नहीं है, यदि यह केवल हमारे स्वार्थों को ही सुरक्षित एवं संयोजित करने का एक साधन है तो इसकी यांत्रिक रचना व्यर्थ है। तब इसका परिणाम, जैसा कि अभी हाल में हुआ था, एक भयंकर संघर्ष होगा जो क्रांति और अराजकता के नये विस्फोटों में प्रकट होगा। ऐसी कोई भी तुच्छ यांत्रिक रचना, जिसमें स्वाधीनता की बाह्य प्रतीति तो मालूम हो, पर उसका सत्य नहीं, हमें सहायता नहीं दे सकती; इस प्रकार का नया ढांचा चाहे जितना भव्य क्यों न हो, होगा एक और बंदीगृह ही, जिससे मुक्ति पाने के लिये फिर से एक नया संघर्ष जरूरी हो जायेगा।

मनुष्य के लिये सुरक्षा केवल इस बात में है कि वह अंदर से बाहर की ओर निवास करना सीखे, अपनी पूर्णता के लिये बाह्य संस्थाओं और यंत्रों पर निर्भर न रहकर अपनी विकसनशील आंतरिक पूर्णता से अपने जीवन का एक अधिक पूर्ण स्वरूप और ढांचा तैयार करे। कारण, इस आंतरिकता के द्वारा ही हम उन उच्च वस्तुओं के सत्य से अधिकाधिक अवगत हो सकते हैं जिन्हें हम अभी तो केवल मुख से बोलकर बाह्य बौद्धिक रचनाओं का रूप दे देते हैं, और तभी हम इनके सत्य को ईमानदारी के साथ अपने बाह्य जीवन में उतार सकते हैं। यदि हमें भगवान् के राज्य को मनुष्यजाति में स्थापित करना है तो हमें सबसे पहले भगवान् को जानना होगा तथा अपने अंदर अपनी सत्ता के दिव्यतर सत्य को देखना और उसके अनुसार आचरण करना होगा; अन्यथा बुद्धि की रचनाओं और कार्यक्षमता की वैज्ञानिक प्रणालियों के नये कौशल से—जो भूतकाल में असफल रह चुकी हैं—सत्य की स्थापना की आशा कैसे की जा सकती है? ऐसे बहुतेरे संकेत मिलते हैं कि पुराना भ्रम अभीतक बना हुआ है और केवल कुछ ही लोग, वे नेता जिन्हें शायद कुछ प्रकाश तो प्राप्त हुआ है, पर जो अभी कर्मक्षेत्र में नहीं उतरे हैं, अधिक स्पष्ट, आंतरिक और सत्य रूप से देखने की चेष्टा कर रहे हैं, इसीलिये हमें अभी उस अंतिम सांध्य-प्रकाश की ही आशा करनी चाहिये जो अंतिम श्वास लेते हुए युग को उस युग से पृथक् करता है जिसने अभी जन्म नहीं लिया है, अभी वास्तविक ऊषाकाल की आशा नहीं। चूंकि मनुष्य का मन अभी तैयार नहीं है, इसलिये कुछ समय के लिये पुरानी भावना और प्रणाली अब भी सशक्त बनी रहकर फलती-फूलती-सी प्रतीत हो सकती हैं; किंतु भविष्य उन व्यक्तियों और राष्ट्रों के हाथ में है जो तीव्र प्रकाश और संध्याकालीन अंधकार दोनों के परे जाकर ऊषा के देवताओं को देखते हैं और अपने-आपको उस शक्ति के उपयुक्त यंत्र बनने के लिये तैयार करते हैं जो एक महत्तर आदर्श के आलोक की ओर बढ़ रही है।

आत्म-निर्णय

अभी हाल में युद्ध के रक्तंजित खमीर में से एक नया शब्द राजनीति की कपटपूर्ण भाषा में गढ़ा गया है—एक ऐसी भाषा में जो माया और असत्यता से, अपने भ्रमों और दूसरों की आयोजित भ्रांतियों से परिपूर्ण है, जो प्रायः तत्काल ही सभी सच्चे और स्पष्ट वाक्यों को अनर्गल वस्तु में बदल देती है, ताकि मनुष्य लड़ाई के उद्देश्य को स्पष्ट रूप से जाने बिना केवल शब्दों के कोहरे में लड़ते रहें। यह वाक्यांश मुक्त रूप से प्रयोग में आनेवाला आत्म-निर्णय का अधिकार—स्वाधीनता की न्यायपूर्ण शक्ति के रूप में आलोकमय व्याख्या है। यह शब्द अपने-आपमें एक सुखद खोज है, वास्तविक उपयोगिता का विचार-संकेत है। कारण, जो कुछ अबतक विशद रूप से अस्पष्ट एवं धुंधला था, उसे यह निश्चित और संचालनीय बनाने में सहायता देता है। इसका आविष्कार एक साथ दो बातों का संकेत देता है, पहली, जिस महान् शुभ को पाने के लिये मनुष्य सदियों से प्रयास कर रहा है, पर जिसमें उसे कहीं भी गर्व करने लायक संतोषजनक सफलता नहीं मिली है, उसके विषय में उसकी धारणा अब अधिकाधिक स्पष्ट हो रही है; दूसरी, जीवनसंबंधी हमारे विचार भी अब उत्तरोत्तर आत्मनिष्ठ हो रहे हैं; इस स्पष्टता और आत्मनिष्ठता को साथ-साथ ही रहना चाहिये; कारण, हम उन महान् विचारों के उपयुक्त सिरे को, जिन्हें हमारी जीवन-पद्धतियों को शासित करना चाहिये, तभी अच्छी तरह पकड़ सकते हैं जब हम यह समझना आरंभ कर दें कि उनकी स्वस्थ प्रक्रिया अंदर से बाहर की ओर है और यह कि इसकी विरोधी प्रणाली अर्थात् यांत्रिक प्रणाली सदा सजीव सत्तों को औपचारिक रूढ़ियों में बदल देती है। निस्संदेह, पशुरूपी मनुष्य को यांत्रिक प्रणाली ही अधिक सत्य प्रतीत होती है, किंतु आत्मारूपा मनुष्य के लिये, विचारक मनुष्य के लिये, जिसके द्वारा हम अपने आंतरिक पुरुषत्व को प्राप्त करते हैं, केवल वही सत्य है जिसे वह अपने अंदर सत्य के रूप में और अपने से बाहर आत्माभिव्यक्ति के रूप में अनुभव कर सके। बाकी सब कपटभरा प्रपंच है, यह सत्तों के स्थान पर आडंबर की, वास्तविकता के स्थान पर बाह्य प्रतीतियों की स्वीकृति है और ये सब मनुष्य को बंधन में रखने के कौशल हैं।

स्वतंत्रता, चाहे वह एक रूप में हो या दूसरे में, हमारी जाति की अत्यधिक प्राचीन और निश्चित ही अत्यधिक कठिन अभीप्साओं में से है; यह हमारी सत्ता की मौलिक सहज-प्रवृत्ति से उठती है और फिर भी हमारी सभी परिस्थितियों के प्रतिकूल है। यह हमारा शाश्वत शुभ है और हमारी पूर्णता की शर्त है, किंतु हमारी लौकिक सत्ता इसकी कुंजी पाने में असफल रही है। इसका कारण शायद यह है कि सच्ची स्वतंत्रता तभी प्राप्त हो सकती है जब हम असीम में निवास करें, तथा जैसा कि वेदांत का विधान है, हम अपनी स्वयंभू सत्ता के अंदर निवास करें और उसीसे जीवन धारण करें; किंतु हमारी स्वाभाविक और लौकिक शक्तियां आरंभ में इसे हमारे अंदर नहीं, वरन् हमारी

बाह्य अवस्थाओं में खोजती हैं। यह महान् अवर्णनीय वस्तु स्वतंत्रता, अपने उच्चतम और चरम अर्थ में सत्ता की एक अवस्था है। यह स्वयंभू है, अपने ही अंदर निवास करती है और अपनी ऊर्जा से यह निर्णय करती है कि उसे आंतरिक रूप में क्या होना चाहिये और अंत में अपने अंदर की दिव्य आध्यात्मिक शक्ति के विकास के द्वारा यह भी निर्णय करती है कि वह बाह्य परिस्थितियों और वातावरण को क्या रूप देगी; यही आत्मनिर्णय का अत्यधिक विशद और स्वतंत्र अर्थ है। किंतु जब हम प्राकृतिक और लौकिक जीवन से आरंभ करते हैं, तब स्वतंत्रता का जो अर्थ हम व्यावहारिक रूप में लेते हैं वह यह होता है कि हमारी प्राकृतिक शक्तियों को आत्म-तृष्टि के लिये सुविधापूर्वक पर्याप्त स्थान मिल जाये और दूसरे अपने आग्रहों द्वारा उनमें अधिक हस्तक्षेप न करें। और, इस समस्या को सुलझाना बड़ा कठिन है, क्योंकि जैसे ही एक की स्वतंत्रता अपना कार्य आरंभ करती है वैसे ही वह घातक रूप से दूसरे की स्वतंत्रता से जा टकराती है; एक ही क्षेत्र में बहुतों की स्वतंत्र भाग-दौड़ का अर्थ है अव्यवस्था और टक्करों से उत्पन्न मुक्त अस्तव्यस्तता। इसमें एक बार प्रतियोगिता-प्रणाली का गौरवपूर्ण नाम दिया गया था और इसके परिणामों के प्रति असंतोष ने राजकीय समाजवाद के विरोधी विचार को जन्म दिया जिसके अनुसार यह माना जाता है कि राज्य की सामूहिक सत्ता में वैयक्तिक स्वतंत्रता के निषेध को किसी यांत्रिक प्रक्रिया के द्वारा स्वतंत्रता के एक सकारात्मक परिमाण में बदला जा सकता है जो एक भली-भाँति सुरक्षित समानता के भाव में सबके हिससे में आ सकती है। व्यक्ति अपने कर्म की स्वतंत्रता और उसके अधिकार को राज्य का सौंप देता है, और बदले में राज्य नियंत्रित स्वतंत्रता की भिक्षा प्रदान करता है, या यंत्र कहें कि कतरब्यांत करके उसे उतना ही स्थान दिया जाता है जिससे कि उसकी कोहनी अपने पड़ोसी की पसलियों से न टकरा सके। सिद्धांतरूप में यह सब बहुत सुंदर है, तार्किक दृष्टि से भी निर्दोष है, किंतु यह संदेह होता है कि व्यावहारिक रूप में इसका अर्थ होगा व्यक्ति की समाज के प्रति या अपने-आपको समाज कहनेवाली अनिश्चित प्रकार की वस्तु के प्रति यांत्रिक, अतएव अत्यधिक क्रूरतापूर्ण दासता।

अभीतक अनुभव ने हमें यही बताया है कि एक यांत्रिक स्वतंत्रता को प्राप्त करने के मानव प्रयत्न के परिणामस्वरूप केवल एक प्रकार की सापेक्षित स्वतंत्रता ही प्राप्त हुई है और इसका भी अधिकांश रूप में कुछ लोगों ने दूसरों को वंचित करके उपभोग किया है। साधारणतया इसका अर्थ बहुसंख्यक वर्ग पर अल्पसंख्यक वर्ग का शासन रहा है; इसके नाम से कई विचित्र कार्य किये जा चुके हैं। यूनान में प्राचीन समय की स्वाधीनता और जनतंत्र का अर्थ था सभी कोटियों के कुछ थोड़े-से स्वतंत्र व्यक्तियों का शासन जो अपने जीवन-निर्वाह के लिये झुंड-के-झुंड दासों पर निर्भर थे, बीच-बीच में ये शासक एक-दूसरे का गला काटने में भी संतोष अनुभव किया करते थे। अभी पिछले दिनों स्वाधीनता और जनतंत्र का अर्थ एक ऐसी बनावटी घोषणा रहा है

और अब भी है जो एक दक्षतापूर्वक मर्यादित की हुई धनिकतंत्रीय प्रणाली के नीचे श्रमजीवी पर मध्यवर्ग के संगठित और सफल शासन को छिपा देती है—ये श्रमजीवी पहले तो दबे रहते हैं, पर बाद में इनमें अधिकाधिक असंतोष आता जाता है जिसके फलस्वरूप ये इकट्ठे होकर अपनी बात मनवाने के लिये अड़ जाते हैं। स्वाधीनता और जनतंत्र का प्रारंभिक प्रयोग, जो मुक्तिप्राप्त सर्वहारा वर्ग ने किया, वह यही था : थोड़े-से मुट्ठीभर अव्यवस्थित श्रमजीवियों का एक विघटित कृषकदल और निर्बल रूप से हठधर्मी मध्यवर्ग पर स्थूल और उग्र प्रकार का अत्याचार। जिस प्रकार समाज के द्वारा स्वतंत्रता की इस गौरवपूर्ण प्राप्ति का अर्थ जनता के एक चौथाई भाग द्वारा बाकी के भागों का उत्पीड़न करना रहा है, उसी प्रकार इसका अभी हाल तक एक और अर्थ भी रहा है; मनुष्यजाति के आधे भाग अर्थात् स्त्रीजाति की शारीरिक रूप से सबल पुरुष जाति के प्रति पूर्ण अधीनता। यह क्रम सब प्रकार की असंगतियों के बीच में से चलता रहता है, इसमें मुक्ति-प्राप्त राष्ट्रों के द्वारा अपने अधीन जातियों का गौरवपूर्ण ढंग से कृपालु और हितकर शोषण भी शामिल है, उन राष्ट्रों के द्वारा जिन्हें, ऐसा प्रतीत होता है, स्वाधीनता के पवित्र संप्रदाय के पुरोहितों ने यह अधिकार दिया हुआ है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वे कभी आगे चलकर यह स्वाधीनता उन शोषित जातियों को भी प्रदान करना चाहेंगे, किंतु इस बीच, इसे देने के पहले, वे अपने-आपको अपने पवित्र पद का पूरा मूल्य चुका देने का पूरा ख्याल रखते हैं। अभीतक जिस यांत्रिक स्वतंत्रता की खोज हो चुकी है उसके अच्छे-से-अच्छे यंत्र-विन्यास का भी अर्थ एक न्यूनतम बहुमत का अपरिवर्तित संकल्प ही होता है, या फिर वह कुछ ऐसे शासकों को चुन लेती है जो उसके नाम से सभी अल्पसंख्यकों पर दबाव डालते हैं और उन्हें ऐसी समस्याओं की ओर ले जाते हैं जिनके बारे में उन्हें स्वयं भी कोई स्पष्ट बोध नहीं होता।

ये असंगतियाँ—जो कई प्रकार की हैं और जिन्हें यांत्रिक प्रणाली से अलग नहीं किया जा सकता—इस बात का संकेत हैं कि स्वाधीनता का वास्तविक अर्थ अभीतक किसी ने नहीं समझा है। फिर भी एक महान् विचार को प्राप्त करने की अभीप्सा और प्रयत्न का कुछ-न-कुछ फल तो निकलेगा ही और आधुनिक समय की स्वाधीनता और जनतंत्र चाहे कितने भी अपूर्ण या सापेक्षिक क्यों न हों, उनका एक यह फल अवश्य निकला है कि जिन जातियों ने उनका अनुसरण किया है उन्होंने उत्पीड़न और दमन के उन अधिक स्पष्ट, बाह्य एवं दुराग्रही स्वरूपों के दबाव को दूर कर दिया है जो पुराने समय की प्रणालियों में विद्यमान थे। उन्होंने जनसाधारण के लिये जीवन जरा अधिक सहनीय बना दिया है, और यदि उन्होंने स्वयं जीवन को अभीतक स्वतंत्रता नहीं दी, फिर भी कम-से-कम उन्होंने विचार और प्रयत्न को तो अधिक स्वतंत्रता प्रदान की ही है जिससे जीवन के अधिक उपयुक्त स्वरूप में एक अधिक स्वतंत्र विचार का समावेश हो सके। मनुष्य के अंदर विचार और उसकी क्रिया को

दिया गया यह बृहत्तर अवकाश एक ऐसी विकसनशील स्पष्टता के लिये आवश्यक शर्त है जिसे अंत में उन अपूर्ण विचारों को आलोक प्रदान करना है जिसके साथ जाति ने जीवन आरंभ किया है; साथ ही उसे उन स्थूल प्रणालियों और आकारों को भी परिष्कृत करना है जिसमें उसने इन विचारों को समाविष्ट किया है। विचार के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए आलोक से जीवन को शासित करने का प्रयत्न करना और जीवन की स्थूल एवं अपूर्ण यथार्थताओं को मन पर शासन करने एवं उसे सीमित करने की अनुमति न देना मानव-विकास की प्रगति का स्पष्ट चिह्न है। किंतु सच्चा मोड़ तब आयेगा जब इससे एक पग और आगे बढ़ाया जायेगा, अर्थात् जब जीवन को उस वस्तु से शासित करने का प्रयत्न आरंभ होगा जिसका स्वयं विचार भी एक संकेत और यंत्रमात्र है, दूसरे शब्दों में आत्मा से, आंतरिक सत्ता से; साथ ही यह प्रयत्न हमारे जीवन के तरीकों को एक अधिक स्वतंत्र अवसर का रूप भी देगा जिससे उसकी आत्मपरिपूर्णता की आवश्यकता को अधिकाधिक ऊंचा और विस्तृत बनाया जा सके। यही वह सच्चा और गहनतर अर्थ है जिसे आत्मनिर्णय के विचार के साथ हमें जोड़ना सीखना होगा, क्योंकि यह स्वाधीनता का प्रभावकारी सिद्धांत है।

आत्मनिर्णय के सिद्धांत का वास्तविक अर्थ यह है कि प्रत्येक जीवित मानव-प्राणी, पुरुष, स्त्री और बच्चे के अंदर, साथ ही प्रत्येक मानव-समुदाय के अंदर, चाहे वह विकसित हो रहा हो या विकसित हो चुका हो, चाहे वह अर्धविकसित हो या वयस्क हो, एक आत्मा, एक सत्ता का निवास है, जिसका अपने ही तरीके से प्रगति करने का, अपने-आपको ढूंढने और प्राप्त करने का, अपने जीवन को एक पूर्ण और तुष्ट यंत्र बनाने और उसे अपनी सत्ता की प्रतिमूर्ति बनाने का अधिकार है। यही वह पहला सिद्धांत है जिसे और सब सिद्धांतों में विद्यमान होना चाहिये और उन सबसे ऊपर भी। अब प्रश्न रह जाता है अवस्थाओं, साधनों, उपकरणों, समायोजनों, क्षमताओं, सीमाओं आदि का, इनमें से किसी को भी प्रथम मौलिक सिद्धांत के आधिपत्य को रद्द करने की अनुमति नहीं देनी चाहिये। किंतु इसका प्रभुत्व तभी रह सकता है यदि इसे इस आत्मा के और इसकी आवश्यकताओं और दावों के शुद्ध विचार के साथ समझा जाये। आत्मनिर्णय के सिद्धांत तथा अन्य सिद्धांतों के लिये भी सबसे पहले संकट यह है कि प्राचीन समय के हमारे मानव-अस्तित्व के अधिकांश आदर्शों के समान इसकी व्याख्या भी अहंभाव के, उसके स्वार्थों और स्व-तुष्टि और उसकी कामना के प्रकाश में ही की जा सकती है। इस प्रकार की की हुई व्याख्या हमें पहले से अधिक आगे नहीं ले जायेगी, हम तब एक ऐसे बिंदु पर पहुंचेंगे जहां यह सिद्धांत छोटा पड़कर हमें हताश कर देगा, या फिर मन की एक मिथ्या अथवा अर्धसत्य दृष्टिकोण और बाह्य रूढ़ि बनकर रह जायेगा, एक ऐसी रूढ़ि जो उन वास्तविकताओं को ढक देती है जो उससे उल्टी पड़ती है।

कारण, अहंभाव के पास आत्मसमर्थन की दोहरी सहजप्रवृत्ति है जो हस्तांतरित नहीं

की जा सकती, एक तो अन्य अहंभावों के विरुद्ध आत्मसमर्थन और दूसरे, अन्य अहंभावों के द्वारा आत्मसमर्थन; अपने विस्तार-काल में उसे दूसरों की आवश्यकता को अपनी आवश्यकता के अधीन रखने, अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिये उनका प्रयोग करने और जिस वस्तु का वह प्रयोग करता है उसमें एक प्रकार का नियंत्रण, अधिकार या स्वामित्व स्थापित करने के लिये विवश होना पड़ता है, और ऐसा वह बलपूर्वक या कुशलतापूर्वक, प्रत्यक्ष रूप में या परोक्ष रूप में, आत्मसात्करण से या शोषण के किसी दक्षतापूर्ण धुमाव से, किसी भी प्रकार कर सकता है। मानव-जीवन कभी मुक्त समानांतर रेखाओं पर नहीं चल सकता, क्योंकि उन्हें प्रकृति लगातार मिलने के लिये, एक-दूसरे से टकराने, परस्पर घुलने-मिलने के लिये विवश करती रहती है और अहंभावयुक्त जीवन में इसका अर्थ सदा संघर्ष होता है। हमारी तर्क-बुद्धि का पहला विचार यह है कि हमारे मानव-संबंध वैयक्तिक हितों के एक यांत्रिक समायोजन के अधीन किये जा सकते हैं जिसमें टक्कर और संघर्ष नहीं रहेंगे, किंतु यह कुछ हदतक ही किया जा सकता है : अधिक-से-अधिक हम इस मुठभेड़ और संघर्ष की उग्रता या स्थूल प्रकार की प्रत्यक्षता को कुछ कम कर सकते हैं और इन्हें एक अधिक सूक्ष्म और कम स्थूल प्रत्यक्ष रूप दे सकते हैं। फिर भी इस सूक्ष्मतर रूप में संघर्ष और शोषण का सिद्धांत तो कार्य करता ही रहता है; कारण, अहंभाव की सहज-प्रवृत्ति सदा उन समायोजनों को प्रयुक्त करने की ही होगी जिन्हें उसे, जहांतक हो सके अपने लाभ के लिये ही, अंगीकार करने के लिये अनुगृहीत अथवा प्रेरित होना पड़ता है। और इस प्रवृत्ति में यह अपनी ही शक्ति और क्षमता की सीमाओं के द्वारा, कार्यसाधकता और परिणाम की भावना तथा अपने अहंभाव का सम्मान करवाने के लिये अन्य अहंभावों का सम्मान करने की आवश्यकता के बोध के द्वारा सीमित है। किंतु ये विचार दूसरों के सूक्ष्म दमन और शोषण करने की किसी स्थूल या सूक्ष्म इच्छा को केवल हल्का कर सकते हैं या उसको छिपा सकते हैं, उसे मिटा नहीं सकते।

मानव-मन ने नीतिशास्त्र का एक शोधक शक्ति के रूप में सहारा लिया है; किंतु नैतिक व्यवहार के पहले नियम भी अधिक-से-अधिक जीवन के अहंभावयुक्त नियम पर केवल प्रतिबंध लगाने में ही सफल होते हैं, वे उनपर विजय नहीं प्राप्त कर सकते। अतएव नैतिक विचार ने आगे बढ़कर एक अन्य तथा विरोधी परहितवाद के सिद्धांत में प्रवेश पा लिया है। मुख्य रूप से इस सबके सामान्य परिणाम ये हुए हैं : सामूहिक अहंभावों का एक स्पष्टतर बोध और वैयक्तिक अहंभाव पर उनका दावा और दूसरे, अहंभाव और परहितवाद-संबंधी प्रेरक हेतुओं का एक बिल्कुल अनिश्चित और अवर्णनीय मिश्रण, संघर्ष और उनका संतुलन। अधिकतर तो परहितवाद की केवल घोषणा ही की जाती है या बहुत हुआ तो वहां एक सतही संकल्प होता है जो हमारे कर्म के केंद्र की वस्तु नहीं होता। उस अवस्था में वह जान-बूझकर बनाया गया या एक अर्धचेतन छद्मावरण बन जाता है जिसकी सहायता से अहंभाव अपने-आपको

छिपा लेता है और अपनी लक्षित वस्तु की ओर इस प्रकार बढ़ता है कि कोई उसपर संदेह नहीं कर पाता। किंतु सच्चा परहितवाद भी अहंभाव को अपने अंदर छिपाये रहता है, और यह देख सकना कि यह हमारे अत्यधिक दयालुता और आत्मत्याग से परिपूर्ण कार्यों में भी किस हदतक छिपा हुआ है, हमारे सच्चे आत्मपरीक्षण की कठिन कसौटी है। वस्तुतः इस निर्दयतापूर्ण और प्रायः कष्टकर विश्लेषण के बिना कोई अपने-आपको नहीं जान सकता। इससे भिन्न कुछ हो भी तो नहीं सकता, क्योंकि जीवन का विधान आत्मपीड़न नहीं हो सकता, आत्मत्याग आत्मपरिपूर्णता की ओर केवल एक पग ही हो सकता है। जीवन स्वभावतः प्रकृति में एकतरफा आत्मदान नहीं हो सकता; देने की समस्त क्रिया में कुछ-न-कुछ ग्रहण भी करना होता है, केवल तभी कोई फलप्रद मूल्य या महत्त्वपूर्ण परिणाम सामने आता है। परहितवाद दूसरों का जो भला करता है उसकी अपेक्षा स्वयं अपना भला करने की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि पहली अवस्था में कुछ संदिग्धता रह जाती है, जब कि दूसरी में निश्चिंति होती है और उस भले कार्य का अर्थ है अपनी सत्ता का विकास, आंतरिक रूप में समुन्नति और आत्म-विस्तार। अतएव परहितवाद के किसी सामान्य नियम को नहीं, बल्कि पारस्परिक मान्यता पर आधारित स्व-मान्यता को ही हमारे मानव-संबंधों का व्यापक नियम होना चाहिये। जीवन आत्मपरिपूर्णता है जो पारस्परिकता की भूमि पर आगे बढ़ती है; इसमें एक दूसरे का उपयोग करता है और अंत में सब सबका उपयोग करते हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या यह कार्य अहंभाव के निम्नतर आधार पर किया जायेगा जहां इसके साथ संघर्ष, विरोध और झगड़े लगे रहेंगे, —चाहे इसपर कुछ प्रतिबंध या नियंत्रण भी रहें —या फिर क्या यह हमारी सत्ता के किसी उच्चतर विधान के द्वारा नहीं किया जा सकता जो पारस्परिक समझौते तथा मुक्त संबंध एवं एकता के उपाय खोज सके ?

आत्मनिर्णय के नियम का शुद्ध विचार हमें इस उच्चतर विधान की खोज के मार्ग पर चलाने में सहायता दे सकता है। कारण, हम देख सकते हैं कि आत्मनिर्णय का शब्द एक ही जटिल विचार में स्वाधीनता और विधान के विचारों को शांतिपूर्ण तरीके से समाविष्ट कर लेता है। हमारी पहली धारणाओं के अनुसार सत्ता की ये दो शक्तियां, जैसा कि स्वयं जीवन के पहले प्रकट रूपों में होता है, एक दूसरे की विरोधी, प्रतिद्वंद्वी एवं शत्रु होती हैं; इसीलिये हम इन दोनों को, एक ओर विधान और व्यवस्था के नायकों को और दूसरी ओर स्वाधीनता के रक्षकों को दो विरोधी पंक्तियों में खड़ा पाते हैं। एक वह आदर्श है जो व्यवस्था को पहली श्रेणी में और स्वाधीनता को या तो कहीं नहीं या फिर एक निम्नतर श्रेणी में रखता है, क्योंकि वह व्यवस्था की यांत्रिक स्थिरता को बनाये रखने के लिये स्वाधीनता पर कोई भी प्रतिबंध लगाने को तैयार है, इसके विपरीत एक दूसरा आदर्श है जो स्वाधीनता को पहले रखता है और विधान को या तो एक विरोधी दबाव समझता है या उसे एक अस्थायी प्रकार की

आवश्यक बुराई, या अधिक-से-अधिक स्वाधीनता प्राप्त करने का एक साधन मानता है जो उस तरह के उग्र या आक्रामक हस्तक्षेप से रक्षा करता है जैसे मनुष्य-मनुष्य के बीच होता है। वस्तुस्थिति के वैयक्तिक विचार की दृष्टि से स्वाधीनता के साधन के रूप में विधान के इस उपयोग को उसकी अल्पतम मात्रा में—जितना उद्देश्यपूर्ति के लिये जरूरी है, समर्थन मिल सकता है, या उसे उच्चतम अशंतक उठाया जा सकता है जैसा कि समाजवादी विचार में होता है; उसके अनुसार नियमन और नियंत्रण के बड़े-से-बड़े योग का अर्थ स्वतंत्रता का बृहत्तर योग होगा या कम-से-कम वह ऐसी स्वतंत्रता प्राप्त करने का साधन बनेगा या उसे प्राप्त करेगा। वस्तुतः ये दोनों विचार हमेशा से ही अत्यधिक विचित्र रूप में एक-दूसरे के साथ घुलमिल रहे हैं, जैसा कि पूंजीपति का यह पुराना दावा है कि श्रमजीवी की स्वतंत्रता को संगठित न होने दिया जाये, ताकि अनुबंध की स्वतंत्रता सुरक्षित रह सके। पुरानी जाति-प्रथा की कठोरता के भारतीय रक्षकों के विचित्र कुतर्क में भी, जिसका संबंध उसके आर्थिक पक्ष से है, विचारों का यही मिश्रण होता है और वे कहते हैं कि व्यक्ति को अपना पैतृक व्यवसाय ही अपनाने को विवश किया जाये, इसमें भले उसकी अभिरुचियों की ही नहीं, उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों और योग्यताओं की भी अवज्ञा क्यों न हो, क्योंकि इसी तरीके से व्यक्ति अपने स्वाभाविक अधिकार को, अपने पैतृक स्वभाव का अनुसरण करने की स्वतंत्रता को प्राप्त कर सकता है। विचारों का यही गड़बड़झाला हम यूरोपीय राजनीतिज्ञ के एशियाई और अफ्रीकी जातियों को स्वाधीनता का पाठ पढ़ाने के दावे में भी पाते हैं, जिसका वास्तविक अर्थ यह होता है कि शुरू में उन्हें दासता की पाठशाला में स्वाधीनता का पाठ पढ़ाया जाये और बाद में उन्हें इस बात के लिये विवश किया जाये कि वे स्वतंत्रतापूर्वक अपना निजी तरीका और विधान विकसित करने के स्थान पर एक यांत्रिक स्वशासन की उन्नति के लिये पग-पग पर उन परीक्षाओं और विचारों की तुष्टि में लगे रहें जिन्हें उनपर एक विदेशी सत्ता और चेतना ने लादा है। आत्मनिर्णय के शुद्ध विचार में इस गड़बड़झाले के लिये जरा भी स्थान नहीं। वह यह स्पष्ट कर देता है कि स्वाधीनता को व्यक्ति की अपनी सत्ता के विधान के विकास के द्वारा आगे बढ़ना एवं अंदर से निर्धारित होना चाहिये; वह व्यक्ति के अंदर से विकसित होगी, बाहर से किसी और के विचारों और इच्छाओं के द्वारा नहीं। अब समस्या रह जाती है संबंधों की, वैयक्तिक और सामूहिक आत्मनिर्णय की तथा एक के आत्मनिर्णय की दूसरे के आत्मनिर्णय पर की गयी क्रिया की। कोई भी यांत्रिक समाधान इसका अंतिम फैसला नहीं कर सकता, इसके लिये तो एक ऐसा स्थल ढूंढ़ना होगा जहां हमारे आत्मनिर्णय का विधान और पारस्परिकता का सार्वजनिक विधान मिल सकें, जहां वे दोनों एक होना आरंभ कर दें। इसका अर्थ वस्तुतः यह है कि मात्र अहंभाव के अतिरिक्त एक आंतरिक और बृहत्तर सत्ता की खोज की जाये जिसमें हमारी वैयक्तिक आत्म-परिपूर्णता हमें दूसरों से अलग न करे, बल्कि हमारे विकास के प्रत्येक पग पर एकता की अधिकाधिक मांग करे।

किंतु हमें स्वतंत्र समूह में रहनेवाले स्वतंत्र व्यक्ति के आत्मनिर्णय से आरंभ करना है। कारण, केवल तभी हम स्वतंत्रता के स्वस्थ विकास के बारे में सुनिश्चित हो सकते हैं, साथ ही जिस एकता को हमें प्राप्त करना है वह उन व्यक्तियों की है जो स्वतंत्र रूप से पूर्णता की ओर बढ़ रहे हैं, उन मानव-यंत्रों की नहीं जो एक नियमबद्ध स्वरमेल से काम कर रहे हैं, न ही वह उन अवरुद्ध और विकलांग आत्माओं की एकता है जो किसी एक या अधिक रूढ़ ज्यामितीय सांचों में काटी गयी हो। जिस क्षण हम सच्चे हृदय से इस विचार को स्वीकार कर लेंगे उसी क्षण हमें मनुष्य पर मनुष्य के संपत्ति-स्वरूप अधिकार के पुराने विचार से बिल्कुल हट जाना होगा जो वहां भी, जहां यह अधिकार प्राप्त नहीं है, मानव-मन में दुबका बैठा है। इस विचार के चिह्न हमारे पूरे अतीत में दृष्टिगोचर होते हैं, पिता का पुत्र पर संपत्ति के समान अधिकार, पुरुष का स्त्री पर अधिकार, शासक अथवा शासकवर्ग का शासित पर और राज्य का व्यक्ति पर अधिकार। प्राचीन पितृसत्तात्मक विचार में बालक पिता की जीवित संपत्ति था; वह उसकी अपनी रचना और उपज था, उसका अपना प्रतिरूप था; भगवान् या वैश्व जीवन नहीं, भगवान् के स्थान पर पिता बालक के अस्तित्व का रचयिता था; और स्रष्टा का अपनी सृष्टि पर पूरा अधिकार होता है और उत्पादक का अपने तैयार माल पर। उसे यह अधिकार है कि वह उसे अपनी इच्छा के अनुसार गढ़े, बालक की वास्तविक आंतरिक सत्ता के अनुसार नहीं। उसे यह अधिकार है कि वह उसे, उसके अपने स्वभाव की गहन आवश्यकताओं के अनुसार नहीं, बल्कि पैतृक विचारों के अनुसार कतर-व्योत करके आकार दे। उसे पैतृक व्यवसाय या पिता द्वारा अनुमोदित व्यवसाय को ही अपनाने के लिये बाध्य करे, उस व्यवसाय को नहीं जिसकी ओर स्वयं बच्चे की प्रकृति, योग्यता और अभिरुचि इंगित करती है; वह परिपक्व अवस्था को पहुंच भी जाये तो भी पिता को ही उसके जीवन के विशेष मोड़ों को निर्धारित करने का अधिकार होता था। शिक्षा के संबंध में बच्चे को एक ऐसी आत्मा नहीं माना जाता था जिसे विकसित होना है बल्कि एक स्थूल मनोवैज्ञानिक पदार्थ माना जाता था जिसे शिक्षक को एक रूढ़ सांचे में ढालना है। अब हम बच्चे के संबंध में एक अन्य धारणातक आ पहुंचे हैं और वह यह कि बच्चा एक आत्मा है जिसकी अपनी सत्ता है, अपना स्वभाव है, अपनी क्षमताएं हैं और इन्हें ढूंढने में, अपने-आपको ढूंढने में, अपनी क्षमताओं को विकसित करने और अपनी शारीरिक और प्राणिक शक्ति को पूर्ण बनाने में, अपनी भावनात्मक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सत्ता को विस्तृत और गहन बनाने एवं ऊंचा उठाने में हमें उसकी सहायता करनी चाहिये। इसी प्रकार स्त्री की दासता, स्त्री पर पुरुष का अधिकार भी एक समय सामाजिक जीवन का सिद्धांत माना जाता था; अभी पिछले कुछ दिनों से ही इस सिद्धांत को सशक्त चुनौती मिलनी आरंभ हुई है। पुरुष नामक प्राणी में प्रभुत्व की यह सहजप्रवृत्ति इतनी प्रबल थी या हो गयी थी कि धर्म और दर्शन-शास्त्र को भी इसे स्वीकृति देनी पड़ी। बहुत कुछ उस

प्रकार जैसे मिलटन ने पुरुष के अहंभाव की पराकाष्ठा को अभिव्यक्त करते हुए कहा है, “पुरुष केवल भगवान् के लिये और स्त्री पुरुष के अंदर स्थित भगवान् के लिये।” — यदि स्त्री के लिये स्वयं पुरुष ही वास्तव में भगवान् के स्थान पर न हो। यह विचार भी अब ढहता जा रहा है, यद्यपि इसके अवशेष अभी तक पुराने विधान, पुरानी चली आ रही सहज-प्रवृत्ति तथा परंपरागत विचारों के आग्रहरूपी अनेक सबल तंतुओं के द्वारा जीवन से चिपके हुए हैं। अब इस विचार के विरुद्ध स्त्री के इस दावे के रूप में कि उसे भी एक स्वतंत्र वैयक्तिक सत्ता माना जाये अनुज्ञप्ति निकल चुकी है। स्वाधीनता और लोकतंत्र के विचार के विकसित होने से शासकों का शासितों पर अधिकार भी अब समाप्त हो गया है, लेकिन राष्ट्रीय साम्राज्यवाद के रूप में यह वस्तुतः अभी तक बना हुआ है, यद्यपि यहां इसके बने रहने का कारण व्यापारिक लोलुपता अधिक है और राजनीतिक अधिकार की सहज-प्रवृत्ति कम। बौद्धिक रूप से अधिकारप्रिय अहंभाव के इस रूप को भी घातक चोट पहुंच चुकी है, किंतु इसकी प्राणिक शक्ति अब भी बनी हुई है। राज्य के व्यक्ति को संपत्ति मानने के अधिकार ने इन सबका स्थान लेने की धमकी दी थी, पर अब युद्ध के अत्यधिक प्रबल प्रकाश ने इसके वास्तविक आध्यात्मिक परिणाम को उभारकर सामने ला रखा है और अब हम आशा कर सकते हैं कि इस स्पष्टतर ज्ञान से मानव-स्वाधीनता के लिये इसका भय कम हो जायेगा। कम-से-कम हम एक ऐसे बिन्दु की ओर तो बढ़ ही रहे हैं जहां शायद आत्मनिर्णय के सिद्धांत को मानव-जीवन को संपूर्ण आकार देने के लिये एक बहुत प्रबल शक्ति नहीं तो एक उपस्थित और आवश्यक शक्ति बनाना संभव हो सके।

इस आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण से यदि आत्मनिर्णय के सिद्धांत को देखा जाये तो यह हमें फिर एकदम अंतरास्थित सत्ता के पुराने आध्यात्मिक विचार की ओर ले आता है जिसका कार्य, एक बार ज्ञात और अभिव्यक्त हो जाने के बाद, बाह्य और यांत्रिक प्रवृत्तियों के आदेशानुसार नहीं होता वरन् प्रत्येक में आत्मा की शक्तियों द्वारा परिचालित होता है। यह एक ऐसा कार्य है जो उस तात्त्विक गुण और सिद्धांत द्वारा निर्धारित होता है जिसकी प्रकट क्रिया हमारा व्यक्त स्वरूप — ‘स्वाभावान्वितं कर्म’ — है। किंतु जब हम अपने अंदर अधिकाधिक ऊंचे उठते हैं और अपनी सच्ची सत्ता और उसकी सच्ची शक्तियों को प्राप्त कर लेते हैं, केवल तभी हम इस स्वभाव के पूरे सत्य को समझ सकते हैं। हमारा वर्तमान अस्तित्व अधिक-से-अधिक इसी की ओर एक प्रगति है, अतएव एक अपूर्णता है और इसकी मुख्य अपूर्णता है व्यक्ति का सत्तासंबंधी अहंकारपूर्ण विचार, जो सामूहिक अहंभाव में विस्तार पाकर पुनः प्रकट होता है। अतएव अहंकारपूर्ण आत्मनिर्णय अथवा एक परिवर्तित व्यक्तिवाद सच्चा समाधान नहीं है। यदि यही सब कुछ होता तो हम कभी एक समायोजना से आगे न बढ़ सकते और प्रगति में संघर्ष और सुविधाजनक समझौते के टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर ही

धक्के खाते रहते। अहंभाव आत्म-सत्ता का सच्चा चक्र नहीं है; पारस्परिकता का जो विधान उसे प्रत्येक मोड़ पर मिलता है और जिसका वह गलत उपयोग करता है, इस सत्य से उद्धूत होता है कि हमारी सत्ता और दूसरों की सत्ता में और इसीलिये हमारे और दूसरों के जीवन में एक गुप्त एकत्व विद्यमान है। हमारे आत्मनिर्णय के विधान को दूसरों के आत्मनिर्णय के साथ एक होना है और फिर इस पारस्परिकता के द्वारा सच्ची एकता को प्राप्त करने का मार्ग ढूँढ़ना है। किंतु इसका आधार अंदर से ही प्राप्त हो सकता है, किसी यांत्रिक व्यवस्था के द्वारा नहीं। सत्ता को अपने आत्मविस्तार और आत्मपरिपूर्णता के क्रम में अपने अंदर यह खोज करनी होगी कि ये वस्तुएं प्रत्येक मोड़ पर हमारे आस-पास रहनेवाले व्यक्तियों के आत्मविस्तार और आत्मपरिपूर्णता पर निर्भर हैं, क्योंकि हम गुप्त रूप में उनके साथ एक हैं, हमारे जीवन एक हैं। दार्शनिक भाषा में कहें तो यह सबमें उस सत्ता की मान्यता है जो प्रत्येक में विविध प्रकार से परिपूर्णता को प्राप्त करती है। यह प्रत्येक में भागवत सत्ता के विधान की प्राप्ति है, इसे सबमें उपस्थित भागवत सत्ता के विधान के साथ एक होना है। इस प्रकार समस्या की कुंजी एकदम ही बाहर से अंदर की ओर, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था की दृश्य बाह्य प्रतीतियों से आध्यात्मिक जीवन और सत्य की ओर चली जाती है, बल्कि केवल आध्यात्मिक जीवन और सत्य ही इसकी कुंजी प्रदान कर सकते हैं।

इसका यह अर्थ नहीं कि बाह्यतर जीवन की उपेक्षा की जानी चाहिये; इसके विपरीत एक क्षेत्र में या एक स्तर पर सिद्धांत का पालन करने से—पर हमें अपने-आपको वहींतक सीमित करना या बांध न लेना चाहिये,—वह दूसरे क्षेत्रों में और दूसरे स्तरों पर भी अपनी अभिव्यक्ति करता है। यदि हमारे अंदर एकता नहीं है तो उसे बाहर से किसी विधि की सहायता से या जोर-जबर्दस्ती द्वारा या बाह्य स्वरूपों पर आग्रह करके लादने की कोशिश करना बिल्कुल व्यर्थ होगा। बौद्धिक आग्रह भी, यांत्रिक आग्रह की ही भांति अपर्याप्त है। केवल आध्यात्मिक वस्तु ही यह एकता प्रदान कर सकती है, क्योंकि केवल इसीके पास उपलब्धि की सुरक्षित शक्ति है। सत्ता का प्राचीन सत्य सनातन सत्य है; हमें अब इसकी ओर दुबारा लौटना है ताकि हम इसे अधिक नवीन और परिपूर्ण तरीके से चरितार्थ कर सकें, इस कार्य के लिये पुरानी मानवजाति तैयार नहीं थी। अपने में और मनुष्यजाति में दिव्य सत्ता की मान्यता और परिपूर्णता, अपने अंदर और जाति के अंदर भगवान् का राज्य ही अंततोगत्वा वह आधार है जिसपर मनुष्य को आना होगा और मुक्त रूप से आत्मनिर्णय करनेवाली सत्ता के रूप में अपने-आपको प्राप्त करना होगा, साथ ही उसे मनुष्यजाति को भी पारस्परिक आत्मविस्तार में एक समस्वरतापूर्वक आत्मनिर्णय लेनेवाली एकीकृत सत्ता के रूप में पाना होगा।

एक राष्ट्र-संघ

प्राचीन परंपरा मानवजाति के एक स्वर्णयुग में विश्वास रखती थी, उस स्वर्णयुग में जो एक पुरातन अतीत की उज्ज्वल शैशवावस्था की वस्तु था। वह पीछे मुड़कर मौलिक पूर्णता के किसी प्ररूप या प्रतीक की ओर देखती थी, अर्थात् सत्ययुग को, सद्हृदय सत्ता और स्वतंत्र एकता के युग को जब कि स्वर्गपुत्र मानवजीवन और मन के नेता थे और जब भगवान् का विधान प्रभावहीन पुस्तकों में नहीं, वरन् मनुष्य के हृदयपटल पर लिखा गया था। उस समय उसे अपने-आपको बुराई की तरफ जाने से रोकने के लिये तथा अपनी स्वतंत्र सत्ता को काट-छांट कर उसे एक सामाजिक आदर्श के यंत्र द्वारा निर्मित एवं बलपूर्वक समता स्थापित करनेवाले सांचे में ढालने के लिये बाह्य विधान या सरकार की उग्र शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। कारण, तब उसके सदस्यों में स्थापित एक स्वाभाविक दिव्य शासन ही उसकी स्वतंत्रता को सहज और पर्याप्त रूप में सुरक्षित रखता था। यह परंपरागत विश्वास एक समय इतना व्यापक था कि इसमें किसी स्वर्णिम और उज्ज्वल उपलब्धि की जातिगत स्मृति को, किसी अद्भुत दिव्य आरंभ को तो शायद नहीं, किंतु किसी प्राचीन चक्राकार शिखर या शीर्ष को, कालचक्र के किसी उच्चतम और गौरवपूर्ण चाप को देखने का प्रलोभन हो सकता था,—साथ ही इस बात की संभावना भी है कि यह केवल मानव-मन की उस अति सामान्य, आदर्श रूप से बिसरी बातों को याद करनेवाली प्रवृत्ति का एक उच्च उदाहरणमात्र ही हो जो समस्त परिप्रेक्ष्य या अनुपात से आगे जाकर अतीत का ही गौरव-गान करती है, उसकी प्रतिच्छायाओं को मिटाकर उसे एक धुंधले और कृत्रिम प्रकाश में तथा वर्तमान की अंधेरी और तात्कालिक छाया के सामने रखकर देखती है,—अथवा यह उसकी किसी आंतरिक दिव्य वस्तु की अनुभूति का प्रक्षेपण भी हो सकता है जो पवित्र और परिपूर्ण है, पर जिससे वह पतित हो चुका है, जिसे प्रतीकात्मक परंपरा ने सनातनता में नहीं, बल्कि काल में, आंतरिक रूप से उसकी आध्यात्मिक सत्ता में नहीं, बल्कि बाह्य रूप से उसके अस्पष्ट अस्तित्व में, पृथ्वी की इस ऊपरी स्थूल और क्षणिक सतह पर स्थापित किया है। जो बात हमसे अधिक संबंध रखती है वह यह है कि इस स्मृति के साथ या मुड़कर पीछे देखनेवाली इस भ्रांति के साथ प्रायः ही एक धुंधली-सी आशा जुड़ी रहती है, साथ ही एक अधिक यथार्थ, भविष्यसूचक अथवा धार्मिक और आगे की ओर देखनेवाली परंपरा भी कि देर हो या सबेर, वह स्वर्णिम पूर्णावस्था पुनः आयेगी—हम यह भी कह सकते हैं कि कालचक्र की अधोमुखी रेखा से व्यक्ति उसी प्रकार के, शायद उससे भी अधिक बड़े, उच्च और दीप्तिमान शिखर की ओर पुनः लौट आयेगा। इस प्रकार मानव-मन में, जो सदा आगे और पीछे की ओर देखता है, उसके आदर्श अतीत के महान् स्वप्न ने अपने-आपको आदर्श भविष्य के एक महत्तर स्वप्न द्वारा पूरा कर लिया।

क्योंकि आधुनिक मानव-मन वैज्ञानिक है और वह धर्म पर अधिक विश्वास नहीं रखता, उसके लिये इन वस्तुओं में विश्वास करना तबतक कठिन होता है जबतक कि वह अपने-आपको ब्रह्मवेत्ता या गृह्यवेत्ता बनाकर आश्वस्त वैज्ञानिक बुद्धि से अच्छी तरह मुक्त नहीं हो जाता। जो विज्ञान इतने विश्वासपूर्वक हमारी जाति के श्रेष्ठ रूप से पूर्ण और आश्चर्यजनक विकास को, एक पर्याप्त द्रुत और सीधी रेखा में, वानर-मनुष्य से मि० लॉयड जॉर्ज की चकाचौंध पैदा करनेवाली तथा अनिवार्य प्रतिभा तथा रौकफैलर की अजीर्ण-ग्रस्त महानता तक दिखाता है, वह पुराने परंपरागत ज्ञान को स्वप्न और काव्यमय कल्पनाएं कहकर अस्वीकार कर देता है। किंतु हमारी हानि की क्षतिपूर्ति करने के लिये उसने बदले में हमें आधुनिक प्रगति की एक अधिक व्यावहारिक, स्थिर एवं तात्कालिक दृष्टि दी है तथा एक तर्कसंगत और यांत्रिक रूप से पूर्णता प्राप्त कर सकनेवाले समाज की आशा दिलायी है : यही एकमात्र सच्चा धर्म है जो अभीतक बचा हुआ है, यही एक प्रत्यक्षवादी समाजशास्त्र के आधुनिक संप्रदाय का है नया यरूशलम। आदर्श अतीत का जादू अब समाप्त हो चुका है, पर भविष्य के प्रशांत जादू को हम अब अपने अधिक निकट पाते हैं। वस्तुतः यह रचनात्मक मानव-तर्कबुद्धि के लिये अधिक वास्तविक हो उठा है। वास्तव में एशियाई मन अभीतक प्राचीनतर ढंग की कल्पना को बहुत अधिक प्रश्रय देता है; इस कल्पना ने कितने ही प्रेरणाप्रद रूप—ईसामसीह का पुनरागमन, देवनगरी, दैवी कुटुंब, मसीहा, 'मेहदी' अथवा अवतार का आविर्भाव—धारण किये और अभीतक धारण कर रहा है। किंतु ये रूप कितने भी विविध क्यों न हों, इनमें सारतत्त्व एक ही है अर्थात् भविष्य की संभावित मानवजाति का धार्मिक या आध्यात्मिक आदर्शीकरण। यूरोपीय प्रकृति—और आजकल तो हम सब ही कम-से-कम ऊपर से सफेद, भूरे, पीले या काले यूरोपियन बनने की कोशिश कर रहे हैं—एक ऐसी वस्तु की आकांक्षा करती है जो अधिक परिचित रूप से पृथ्वी की ठोस और प्रत्यक्ष वस्तु हो, उत्तरोत्तर विकसित होती हुई मानवजाति के एक निरपेक्ष, सामाजिक और राजनीतिक स्वप्न की, एक पूर्णता को प्राप्त लोकतंत्र की, समाजवाद और साम्यवाद की और अराजकता की आकांक्षा। किंतु हम चाहे जो दिशा अपनायें, वह चाहे सत्य हो या भ्रम, पीछे स्थित वस्तु एक ही होती है और वही हमारे मानव-मन और कार्य के संकल्प की आवश्यकता भी प्रतीत होगी। भविष्य के किसी प्रकार के आदर्श के बिना हमारा काम ही नहीं चल सकता। हमें अपने-आपसे और अपने जीवन से किसी वस्तु को गढ़ने के लिये वैयक्तिक या सामूहिक रूप से प्रयास करना ही होगा। हां, यह और बात है कि हम मनुष्य के, जो आधा तो निर्मित हो चुका है और आधा अभी पशुवत् ही है, अभ्यास की अस्थिरता और अति-साधारणता से ही संतुष्ट रहें—इस तरह अपदस्थ होना हमारे अंदर की महत्तम वस्तु कभी स्वीकार नहीं करेगी। मनुष्य कला या जीवन के क्षेत्र में कोई महान् कृति नहीं प्रस्तुत कर सकता जबतक कि वह पूर्णता की कोई

धारणा या आकार नहीं बना लेता और धारणा बनाकर प्रकृति के चाहे जैसे विद्रोही और हठीले उपादान से कुछ प्राप्त कर लेने की अपनी शक्ति में विश्वास नहीं करता। उसे अपनी पूर्णता प्राप्त करने की सामर्थ्य से वंचित कर दिया जाये तो उसकी सबसे बड़ी सर्जनात्मक अथवा स्व-रचनात्मक योग्यता ही नष्ट अथवा अतिक्षीण हो जाती है। अतएव, यदि आध्यात्मिक रूप में एकीकृत और पूर्णता-प्राप्त मानवजाति का यह उच्चतर और गहनतर स्वप्न तत्काल ही पूरा नहीं हो सकता तो इसके स्थान पर सामाजिक और राजनीतिक सुधार के स्वप्न को एक ऐसे अत्यधिक सक्षम एवं लभ्य प्रोत्साहन के रूप में, जो मानवजाति को प्रगति-पथ पर चलाता रहे, स्वीकार करना ही होगा। उसका कोई भी आदर्श न हो, एक बृहत्तर, श्रेष्ठतर और मधुरतर जीवन का कोई भी स्वरूप उसके सामने न हो, इससे अधिक अच्छा यह है कि उसके पास एक रक्षक यांत्रिक वस्तु का ही आदर्श हो।

एक अधिक पूर्ण, तर्कसंगत और शांतिपूर्ण तरीके से सहयोग प्रदान करनेवाले समाज के एक भावी स्वर्णिम अथवा अर्ध-स्वर्णिम युग के इस धर्मनिरपेक्ष स्वप्न ने अभी हाल में ही एक अनूठा पग बढ़ाया है, अर्थात् मनुष्य अपनी कल्पना में इसे साधित करने का प्रयास कर रहा है, बल्कि यहाँतक कि इसे वास्तविक रूप में भी फलप्रद बनाने के प्रयत्न में उसने पहला पग उठाया है। आदर्श और संभावना के रूप में इस स्वप्न ने राष्ट्रों के एक ऐसे राजनीतिक और आर्थिक समाज का रूप धारण किया है जो युद्ध की क्रूर और विनाशकारी नीति से पिंड छुड़ा लेगा, जो अंतर्राष्ट्रीय विधान और व्यवस्था का राज्य स्थापित करेगा तथा संघर्ष, विरोध एवं टक्कर के बिना, तर्कसंगत उपायों, सहयोग एवं मध्यस्थता और पारस्परिक व्यवस्था के द्वारा उन सब अधिक भयंकर समस्याओं को सुलझायेगा जो अभीतक सुविधापूर्ण शांति, मैत्री एवं संगठित उत्पादिता को—जिसे मनुष्य की संतुलित और उचित अवस्था होना चाहिये—विचलित कर रही हैं अथवा उसके लिये संकट उपस्थित कर रही हैं। अंतर्राष्ट्रीय शांति, संसार के मामलों की सुव्यवस्थित वैधता और व्यवस्था, आश्वासन देनेवाली स्वाधीनता,—या अयोग्य के लिये स्वाधीनता का प्रशिक्षण और तैयारी—जाति के जीवन की एक सुयोजित एकता—यही उस स्वर्णिम युग का स्वरूप है जिसके मिलने का हमें आश्वासन दिया जा रहा है। पहली ही दृष्टि में कहींपर अंतराल की प्रतीति होती है, एक अत्यधिक बाह्य प्रकार की तथा घड़ी की तरह चालित पूर्णता को देखकर संदेह होता है, साथ ही बार-बार संकोच-विचार आता है कि शायद यह न तो उतनी आसानी से कार्यान्वित हो सकेगी और न उतने प्रगतितात्मक रूप में आकर्षक होगी, जैसे कि इसके प्रवक्ता दावा करते हैं। यहाँ यह भी पूछा जा सकता है कि तब मनुष्य की सत्ता और आत्मा का क्या होगा, आंतरिक पूर्णता की महानता का क्या होगा, क्योंकि केवल वही उसके बाह्य जीवन की अत्यधिक आदर्शपूर्ण व्यवस्था को भी सहायता, सुरक्षा तथा एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक वास्तविकता प्रदान कर सकती

है—यह कितना आगे बढ़ चुकी है या निकट भविष्य में कितना बढ़ सकती है, अथवा यह नयी व्यवस्था मनुष्य-जीवन के विकास और संतोष के लिये कौन-से साधन या अवसर उपस्थित करने का विचार रखती है ? किंतु, निस्संदेह यह वस्तुओं को देखने का अत्यधिक गुह्य तरीका है। व्यावहारिक पश्चिमी मन इन सूक्ष्मताओं को देखने का अधिक कष्ट नहीं उठाता। चूंकि किसी काम को संपन्न कर लेना ही मनुष्यजीवन का मुख्य और वास्तविक कार्य प्रतीत होता है, अतः वह हाथ में लिये हुए कार्य को शीघ्रतापूर्वक करना चाहता है तथा एक ऐसी उपयोगी, ठोस और प्रत्यक्ष वस्तु प्राप्त करना चाहता है जो एक क्रियात्मक आरंभ के लिये या एक पग आगे बढ़ने के लिये उसकी सहायता कर सके, और यह ठीक भी है। वह विधान और संस्था में विश्वास रखते हुए यह मानता है कि मनुष्य का जीवन उसके बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक आदर्शों के अनुरूप हो। यदि वह विधियों की एक अच्छी और सुविधाजनक प्रणाली तथा एक संविदा अथवा संविधान प्रस्तुत कर सकता है तथा उसके लिये स्वीकृति भी प्राप्त कर सकता है, उसके विचारों को कार्यान्वित करने के लिये यांत्रिक साधनों का उपयोग कर सकता है तथा एक कार्यकारी संस्था को फलप्रद बना सकता है तो वह संतुष्ट हो जाता है। अन्य कम गोचर वस्तुओं से यह आशा की जाती है कि यदि वे जरा भी अनिवार्य हैं तो अपने-आप ठीक उसी प्रकार विकसित हो जायेंगी जैसी वे अच्छी यांत्रिक अवस्थाओं में विकसित होती हैं।

इस धारणा को दार्शनिक और व्यावहारिक दोनों रूपों से उचित ठहराया जा सकता है। आखिर बाह्य स्वरूप आत्मा के लिये एक फलप्रद संकेत है; यंत्र, जैसा कि चर्च और धर्म भी मानने लगे हैं, एक सर्वशक्तिमान् सत्ता है और तुम आत्मा से जो कुछ चाहते हो, उसे वह निर्मित कर सकता है। स्वयं भगवान् अथवा आविष्कारक प्रकृति को भी पहले विश्व के स्वरूप एवं यंत्र का आविष्कार करना पड़ा था और केवल तभी वह उसके सांचे में आत्मा की एक आकृति गढ़ सका था। अतएव, मनुष्य के लिये महान् आशा अथवा शांति एवं सद्भावना का संकेत यह नहीं है कि एक नयी और दिव्यतर अथवा केवल अधिक मानव-आत्मा ने मनुष्यजाति में जन्म ले लिया है, उसके नेताओं को प्रभावित किया है तथा वह उसके अहंभावग्रस्त आवेगों द्वारा प्रेरित और स्वार्थरत लाखों सदस्यों पर छा गयी है, बल्कि पेरिस में एक ऐसी संस्था ने जन्म लिया है जिसे प्रधान-मंत्रियों और राष्ट्रपतियों का आशीर्वाद प्राप्त है,—यह एक अंतर्राष्ट्रीय समाज का संघटन है जिसे महान् राष्ट्रों और साम्राज्यों की सशस्त्र शक्ति की सहायता प्राप्त है, अतएव, जिसकी व्यावहारिकता, समृद्धि एवं सफलता निश्चित है। इसका निर्माण हो गया है और यह युद्ध, सैनिकवाद, उत्पीड़न और शोषण का भूतकाल का एक दुःस्वप्न बना देगी, पूंजीपति और श्रमजीवी को, शेर और बकरी को शांतिपूर्वक साथ-साथ रहने के लिये प्रेरित करेगी, एक को दूसरे के पेट में भली-भांति हजम नहीं करेगी, जैसा कि दुष्ट बोल्शेविकवाद का मत है। वस्तुतः यह शीघ्र ही,

बल्कि आशा से भी अधिक शीघ्रतापूर्वक मानवजाति में महान् भ्रातृभाव को उत्पन्न करेगी। यह एक अच्छा समाचार है, यदि सत्य हो। फिर भी, इसके प्रति कृतज्ञ होने से पहले हम जरा रुककर इस नये शिशुवत् तत्त्व की जांच करते चलें।

ऐसा प्रतीत होता है कि एक ऐसे न्यायसंगत, उदार, मैत्रीपूर्ण और सच्चे राष्ट्र-संघ का निर्माण इसलिये किया गया है कि वह पुराने और अन्यायपूर्ण शक्ति-संतुलनों और लड़खड़ाते, झगड़ालू संघों का स्थान ले सके। और, यदि इसे ढीली-ढाली, निरर्थक और सरलता से समाप्त हो जानेवाली उन वस्तुओं से अधिक सफल होना है जिन्हें वह उखाड़ फेंकना चाहता है तो यह कहा जा सकता है कि इसे कुछ ऐसी शर्तों को पूरा करना होगा जिन्हें पूरा करने का उन्होंने कभी प्रयत्न ही नहीं किया। आरंभ में ही निम्नलिखित अनिवार्य शर्तें निर्धारित करनी होंगी। पहली, इस संघ को किसी-न-किसी ढंग से पृथ्वी के सभी राष्ट्रों को अपनी परिधि में लेना होगा और यह उसे ऐसे ढंग से करना होगा जो न्यायपूर्ण होने के साथ-साथ अनुकूल भी हो, ताकि वे राष्ट्र स्वेच्छा और प्रसन्नतापूर्वक, किन्हीं गंभीर शंकाओं, अविश्वास और असंतोष के बिना उसमें सहयोग दे सकें। जातियों के इस नवीन समाज में प्रत्येक को उसकी संतुष्टि के लिये न्यायपूर्ण और सार्थक और जनतंत्र के इस युग में यह भी कहना चाहिये कि सम्मानपूर्ण और बराबरी का स्थान देना होगा। यदि इस अन्यथा अस्थिर भौतिक संबंध को बनाये रखना है तो उसे उनकी नैतिक स्वीकृति और सहायता प्राप्त करके उसे सुरक्षित रखना होगा,—केवल निर्माण के समय ही नहीं, भविष्य में भी सदा बनाये रखने के लिये—और उसे अपना आधार किसी स्वार्थपूर्ण विधि को या तात्कालिक अत्यधिक शक्तिसंपन्न लोगों की किसी निरंकुश इच्छा द्वारा स्थापित रूढ़ नियमावली को नहीं, बल्कि न्याय और सत्यता के किसी ठोस, समझे जा सकनेवाले और मदा विकसनशील सिद्धांत को बनाना चाहिये। कारण, केवल जहां ये वस्तुएं रहती हैं, वहीं नैतिक आश्वासन और सुरक्षा रहते हैं। संघ के संविधान को उन सभी कठिन, नाजुक और व्यग्रता पैदा करनेवाले प्रश्नों को हल करने के लिये विश्वसनीय उपाय प्रस्तुत करने चाहियें जो आगे जाकर इस अंतर्राष्ट्रीय समाज के आरंभिक और संदिग्ध ढांचे के लिये खतरा पैदा कर सकते हैं और इसके लिये उसे एक ऐसी स्थायी, केंद्रीय और शक्तिशाली सत्ता का निर्माण करना चाहिये जिसे सभी राष्ट्र सरलता से मान्यता दे सकें तथा जिसे मानवजाति की सामूहिक सत्ता के स्वाभाविक नायक और विश्वसनीय सक्रिय अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार कर सकें। कहा जा सकता है कि ये कोई अस्पष्ट, काल्पनिक अथवा अत्यधिक आदर्शवादी मांगें नहीं हैं, बल्कि किसी भी ऐसी प्रणाली की व्यावहारिक आवश्यकताएं हैं जिसका वर्तमान रूप अभी तक एक प्रकार के ढीले एकीकरण का ही है। यदि संघ को किसी भी महान् उद्यम की बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के होते हुए भी जीवित रहना है तो उसे इन शर्तों को शुरू से ही अधिकाधिक पूरा करना होगा। जैसे-जैसे यह कार्य आगे बढ़ेगा इसे मनुष्य की सत्ता से जातिगत सहज

अहंकारात्मक प्रेरणाओं और अंतर्राष्ट्रीय मानस के प्राचीन बद्धमूल अभ्यासों को दूर करना होगा।

इस भीमकाय बालक का जन्म ऐसी अवस्था में हुआ कि युद्ध उसका पिता और एक सशस्त्र और ऊपर से थोपी हुई शांति उसकी माता है, धमकी और रक्तपात से पूर्ण दबी घुटी क्रांतियाँ, एक विकृत रूढ़-मुंड-सा अंतर्राष्ट्रीयतावादी आदर्शवाद और बहुत-से अर्द्धप्रतिबद्ध और अभी नयी-नयी लगामवाले, ऊपर उठते हुए राष्ट्रीय अहंभाव इसके साक्षी एवं धार्मिक माता-पिता हैं। यदि इस दृष्टि से देखा जाये तो कहा जा सकता है कि कुछ आशावादी तत्त्व के होते हुए भी यह कोई अधिक आश्वासन देता नहीं प्रतीत होता। उसके जन्म की परिस्थितियाँ प्रतिकूल थीं और विजयी राष्ट्रों के शासकों और राजनीतिज्ञों द्वारा किये गये आत्मविजय के लिये महान् प्रयत्न के बिना किसी भी पूर्ण परिणाम तथा शुभ और नवीन प्रारंभ की आशा नहीं की जा सकती। ऐसी आत्मविजय को युद्ध में विजय के बृहत् आकार और मादक पूर्णता ने हजारगुना कठिन बना दिया है। यह संघ, जो इस समय रचना की प्रसव-पीड़ा की अंतिम अवस्था में है, संसार की सभी जातियों की एकता के लिये शांतिपूर्ण, समान और सुसंयोजित संकल्प की सहज सृष्टि नहीं है। जन्म के साथ-साथ इसे विरासत में ये वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं—विद्वेष, प्रतिशोध, शंकाएँ, हत्यारे विश्व-युद्ध की महत्वाकांक्षाएँ और बीच-बीच में होनेवाली क्रांतियाँ जिन्होंने एक विश्वव्यापी अशांति और विक्षुब्धता का एक नया और भयप्रद क्षेत्र हमारे सामने खोल दिया है। इसकी उत्पत्ति इस अस्पष्ट किंतु सशक्त अभीप्सा से हुई है कि भविष्य में मनुष्यजाति के अंतर्राष्ट्रीय जीवन में हिंसात्मक आपत्तियों से बचने के लिये साधन ढूँढ़े जायें,—यह अभीप्सा जितनी जनसाधारण में थी उतनी राष्ट्रों के अधिकारीवर्ग या शासकों में नहीं थी और जहाँ थी वहाँ भी सबमें समान रूप से विद्यमान नहीं थी। एक प्रसिद्ध और आदर्शवादी राजनीतिज्ञ के निश्चय ने ही इसे इतनी शीघ्रता से ठोस रूप प्रदान किया था, इसे उन लोगों की कुछ हेर-फेर के साथ और कहीं-कहीं अनिच्छापूर्ण स्वीकृति प्राप्त थी जो उसके आदर्शवाद में या तो आंशिक रूप में विश्वास रखते थे या उसे बिल्कुल ही न मानते थे। यह दृढ़ संकल्पवाला अकेला व्यक्ति था जिसे किन्हीं परिस्थितियों के वश उच्च पद प्राप्त था, तथा जो उनसे लाभ उठाने के लिये भी नमनीय रूप में कृतसंकल्प था, वह अपने आदर्श की प्रतिच्छाया अथवा उसका कोई प्रथम अधूरा स्वरूप स्थूल घटनाक्रम पर और सरकारों एवं साम्राज्यवादी राष्ट्रों के यथार्थवादी अहंभावों पर आरोपित कर सका है—यह तो भविष्य ही बतायेगा कि इसे एक छाया होना है या प्रथम अधूरा स्वरूप। किंतु वर्तमान वस्तुस्थिति में जिस बृहद् और पूर्ण आदर्श से उसने अपना कार्य आरंभ किया था उसमें राष्ट्रीय भावावेगों, महत्वाकांक्षा और स्वार्थ की आवश्यकताओं और परिस्थितियों की शक्ति के दबाव ने इतना हस्तक्षेप किया है कि जीवन के तथ्यों के प्रमुख निर्धारक समस्त आदर्शवाद के

होते हुए भी—ठोस रूप से निर्मित व्यवस्था में किसी वस्तु पर उंगली रखना और बिना किसी शंका या संदेह के यह कहना कठिन है कि जिन उच्च सिद्धांतों के नाम पर यह महायुद्ध लड़ा और जीता गया है उनका यह मूर्तिमंत रूप है। यह आश्चर्यजनक बात नहीं है, न इससे निराशा ही होनी चाहिये, उनकी और बात है जो अनुभव से अधिक अपनी आशाओं पर विश्वास रखते थे। हमें अब केवल यह देखना है कि क्या जातियों के इस नये संयोजन की भावी सुरक्षा और उन्नति के लिये वे उच्च मौलिक सिद्धांत सचमुच आवश्यक हैं और यदि हैं तो ये किस हदतक उन रूपों से उभर सकते हैं जिन्होंने, ऐसा प्रतीत होता है, इन्हें कोई ठोस रूप प्रदान करने के स्थान पर अपने अंदर ही दफन कर दिया है। और यह इसपर निर्भर है कि पूर्वप्रस्तावित शर्तें किस हदतक पूरी की जायेंगी या संघ के प्रारंभिक संविधान में से विकास पा सकेंगी।

एक सफल राष्ट्रसंघ को मनुष्यजाति के सभी वर्तमान राष्ट्रों को अपने अंदर समाविष्ट कर लेना चाहिये। कारण, कोई महत्त्वपूर्ण लुप्त या बहिष्करण प्रायः अनिवार्य रूप से भविष्य के किसी संकट के तत्त्व को ले आयेगा, यह संकट किसी भी संभव मतभेद या संघर्ष से, विरोधी दलबंदी और ईर्ष्यादि से उत्पन्न हो सकता है जिसके फलस्वरूप कोई अन्य, अधिक बड़ी विपत्ति आ सकती है। अपने प्रकट स्वरूप में यह नया राष्ट्रसंघ किसी भी प्रकार से उदार या सहिष्णु नहीं प्रतीत होता। प्रत्यक्षतः यह वर्तमान मित्रों और सहायकों के एक संघ के सिवाय और कुछ नहीं है। पहली पंक्ति में पांच आश्वस्त और अधिकारपूर्ण बड़े साम्राज्य अथवा राष्ट्र खड़े हैं,—यही वे अकेली बड़ी शक्तियां हैं जो अंधड़ के बाद टिकी रही हैं और जिनका बल क्षीण नहीं हुआ है, बल्कि इनमें से दो की शक्ति, प्रभाव और प्रभुता में बहुत अधिक वृद्धि हुई है : इनके पीछे छोटी-छोटी अनेक यूरोपीय और अमरीकी जातियों की धुंधली और निष्फल-सी भीड़ है, ये लोग उनके मित्र थे या युद्ध में उनकी ओर से लड़ रहे थे, और इनके साथ एक दुर्बल और अव्यवस्थित पूर्वाय मगरमच्छ है। किंतु ये सब या तो उनमें एक उदासीन स्वीकृति के साथ भाग लेते प्रतीत होते हैं या उनके अधीन होने के कारण उन्हें सहयोग देते हैं,—वस्तुतः पहली चीज बहुत अधिक थी और पिछली बहुत कम,—फिर चाहे संघ के स्वरूप के निर्धारण का कार्य हो या उसके नियंत्रण और शासन का। और संघ का तात्कालिक एवं प्रत्यक्ष उद्देश्य एक भली-भांति सोची-समझी एकता की प्रारंभिक अवस्थाओं में संसार को परस्पर गूँथ देना नहीं है—ऐसा केवल तभी किया जा सकता यदि सभी जातियां इस विचार-विमर्श में बराबरी से भाग ले सकतीं, जब कि वस्तुतः बात यह थी कि इस सारी चीज का निर्माण ही युद्ध के विजेताओं ने अर्धगुप्त रूप में मुख्यतः पांच प्रमुख शक्तियों की इच्छानुसार शीघ्रता से कर दिया है। इसका उद्देश्य यह है कि सत्ता, सहमति, विचार-विमर्श और मध्यस्थता के द्वारा संघ के सदस्यों के हितों एवं उनके परस्पर-संबंधों को नियमित किया जाये, साथ ही संघ के बाहर भी अन्य राज्यों के साथ उनके संबंधों को

यथासंभव इन्हीं उपायों से सुव्यवस्थित किया जाये। केवल इतनी ही बात है, आरंभ में वह इससे अधिक और कुछ नहीं है। किंतु उन राष्ट्रों के लिये, जो अभी इससे बाहर हैं, एक विशेष समय पर, इसके अंदर प्रवेश करने का द्वार खुला छोड़ दिया गया है, किंतु वे प्रवेश तभी पा सकते हैं जब वे बिना किसी ननुनच के इस प्रणाली को स्वीकार करें जिसके अधीन उन्हें रहना होगा और जिसके निर्माण में उनका कोई हाथ नहीं है। दूसरी ओर निर्गमन का भी एक मार्ग रखा गया है जिसमें से होकर कोई भी राष्ट्र इच्छानुसार बाहर निकल सकेगा; और यदि महत्तर शक्तियों में फूट पड़ गयी तो यह भयंकर परंतु वर्तमान परिस्थितियों में शायद अपरिहार्य व्यवस्था सरलता से आंशिक एकता के इस द्विविधापूर्ण प्रथम ढांचे के सहज विघटन का कारण बन सकती है।

किंतु शायद परिस्थिति के तथ्य और उसकी शक्तियां प्रत्यक्ष कागजी योजनाओं की अपेक्षा अधिक अनुकूल हैं। जो राष्ट्र अभी इसमें समाविष्ट नहीं हुए हैं—दो बड़े और संकटमय अपवादों को छोड़कर—वे छोटे और नगण्य हैं और बाहर रहकर उनकी स्थिति इतनी अधिक अस्मविधाजनक हो जायेगी और वे प्रत्येक मोड़पर इस विकट गुट की दया पर इतना अधिक निर्भर करेंगे—क्योंकि, यदि ये पांच प्रबल शक्तियां दृढ़ निश्चय और एकसूत्र होकर रहें तो वे बड़ी सरलता से अपने साथ मतभेद रखनेवालों पर अपनी इच्छा प्रबल रूप में लाद सकेंगी—कि उन्हें न्यूनाधिक सहज रूप में ही उसकी शर्तों को स्वीकार करना पड़ सकता है, या उनसे यह अपेक्षा भी की जा सकती है कि वे इससे बाहर रहने के अपने कुछ वर्षों के अनुभव के बाद इसमें शामिल हो जायेंगे। इन बड़ी शक्तियों के कम-से-कम अगले कुछ वर्षों तक बिखरकर अलग हो जाने का भी कोई कारण नहीं दीखता। और, यदि नयी क्रांतियां संसार को अपनी चपेट में न ले लें तो ऐसा समय आ सकता है कि इनकी मिलकर काम करने की आदत पक्की हो जाये। हम यह भी मान सकते हैं कि यद्यपि उल्लेखनीय रूप से नहीं फिर भी वास्तव में इसमें एक परिषद् के अथवा संसार की जातियों के एक अधूरे संघ के आरंभिक तत्त्व विद्यमान हैं।

किंतु इस समिति की रचना का तथा उन स्थितियों का, जिनमें विविध परिस्थितियों के वश राष्ट्र इसमें स्वीकार किये गये या लाये गये, स्वरूप और भी अधिक विस्मयकारी है। ये आज के मानव-मन के लोकतंत्रीय आदर्शवाद से बिल्कुल मेल नहीं खाते, उल्टे ये मध्यकालीन अनिर्यामित एवं जटिल ढांचे का, एक असंबद्ध रचना का तथा सामंतशाही राजनीतिक कृति का कुछ-कुछ आभास देते हैं जिसकी निचली मंजिल में स्वार्थीनता और समानता के आधुनिक सिद्धांतों को भी औपचारिक प्रकार की सुविधा मिल जाती है। मनुष्यजाति का एकीकरण बहुत कुछ उन्हीं दिशाओं में हो सकता है जिनपर छोटी-छोटी जातियों का एकीकरण राष्ट्रों अथवा साम्राज्यों के रूप में हुआ था। यह सैनिक शक्ति या किसी ऐसी शक्तिशाली राज्य के प्रभाव से भी हुआ होगा जो जल और थल दोनों पर शक्तिशाली रहा हो—जैसे नास्टाडामस ने अपनी

भविष्यवाणी में ब्रिटिश साम्राज्य के बारे में कहा था—जो निरंकुश और स्वेच्छाचारी भले न हों किंतु जिन्हें सरलता से समान जातियों में पहला स्थान मिल सकता है। और मेरे विचार में यही बात जर्मनी के साथ भी होती यदि उसे युद्ध में बिलकुल ही नीचे, खंडित अवस्था को प्राप्त होने की जगह विजयश्री प्राप्त हो जाती। और यह भी अभी बिलकुल निश्चित नहीं है कि यदि योजना का वर्तमान अथवा अनगढ़ ढांचा असफल हो गया तो कोई ऐसी ही बात अंत में नहीं आ जायेगी। किंतु अभी तो यह संयोग रोक दिया गया या कम-से-कम स्थगित हो गया है। इस संभावना के टल जाने पर भी यह एकीकरण महान् शक्तियों के समूह के नेताओं और प्रभुओं के एक विशिष्ट जनतंत्र या नेतृत्व का रूप धारण कर सकता है, जब कि इन शक्तिशाली सरदारों के आसपास या पीछे-पीछे निर्बल वर्ग लटकते रहेंगे जो उनके शक्तिशाली निर्णय को कभी भयातुर और त्रस्त भाव से और कभी विद्रोही और प्रतिकूल भाव से मानेंगे। इस संघ के निर्माण में बहुत हदतक इसी प्रकार की कोई वस्तु रही है और यही बात संभवतः इसकी कार्यपद्धति में भी रहेगी। किंतु वहां एक व्यर्थ की वर्तमान आशा या यह स्वप्न भी था और एक प्रबल भवितव्यता थी, चाहे यह बहुत आगे की ही संभावना क्यों न हो, कि जातियों का एक समानता के भाव तथा न्याय से युक्त ऐसा लोकतंत्रीय संघ होगा जिसमें छोटे-बड़े, सबल-दुर्बल, अधिक या कम धनी, या इस समय सफल दीखनेवाले या बहुत या थोड़े समय के लिये दुर्भाग्यग्रस्त उन राष्ट्रों को,—जिनमें अब भी अधिक क्षमता हो सकती है, जिन्होंने मनुष्यजाति के लिये स्वार्थी राष्ट्रों से अधिक अच्छा कार्य किया है,—कानून में या प्राथमिक रूप में ही समान स्थान मिलेगा, जैसा कि सभी लोकतंत्रीय संघटनों का नियम या आदर्श होता है। वहां विशिष्टता देने के लिये महत्तर बल और वाणी के आधार पर स्वतंत्रतापूर्वक प्रदत्त मात्र स्वाभाविक नेतृत्व और प्रभाव होगा। यही तीन संभावनाएं थीं और ये क्रमशः प्रतिनिधित्व करती हैं अतीत के आदर्श का जिसके विषय में कहा जाता है कि वह साम्राज्यवादी जर्मनी की कब्र में गाड़ा जा चुका है, उस वर्तमान तथ्य का भी जो तथ्य मात्र ही है और जो किसी का भी आदर्श नहीं है और भविष्य के उस आदर्श का भी जिसका युद्ध के समय जोर-शोर से ढोल पीटा गया था, यद्यपि अब कुछ पराजित, अधीन और क्रांतिकारी राष्ट्रों को छोड़कर कोई ऐसा हीन और दुर्बल नहीं है जो उसका आदर करता या उसके प्रति श्रद्धा दिखाता हो।

संघ का प्रारंभिक संगठन अंतर्राष्ट्रीय शक्ति-संतुलन के विन्यास में स्पष्टतया लगभग विशिष्ट-जनतंत्रीय है—बिलकुल ही विशिष्ट-जनतंत्रीय तो नहीं, क्योंकि उसमें एक आमसभा या महासभा अवश्य है जो इस हदतक लोकतंत्रीय है कि उसके सब सदस्य समान रूप से मत देने के अधिकार का उपभोग करेंगे। हौंडुरास और गौटमाला की मौज आये तो वे इस बात पर फूल सकते हैं कि वे साम्राज्यवादी इंग्लैंड और संसार के नये मध्यस्थ अमरीका तथा विजेता फ्रांस के समकक्ष बन गये हैं।

किंतु है यह केवल भ्रांति और छद्म। कारण, हम देखते हैं कि यह महासभा किसी भी तरह शासक सभा नहीं है, केवल एक गौण सत्ता है, अनुमोदन और निर्देशन का कार्यालय है जिसके सामने शक्तिशाली कार्यकारी राष्ट्र, अधिकतर अपने ही निर्णय के अनुसार, संदिग्ध प्रश्न सुलझाने के लिये रखेंगे। व्यवहार और तथ्य दोनों रूपों में इस संघटन के अंतर्गत संसार का नया प्रभु—जगदीश्वरो वा?—राष्ट्रसंघ का शासन-निकाय होगा। इन पांच महान् शक्तियों की स्थिति बड़ी सुरक्षित और प्रबल रूप में स्थायी रहेगी, जब कि साधारण जनता के कुछ चुने हुए प्रतिनिधि—जो बदलते रहेंगे—बहुत लघु रूप में उनके विचार-विमर्श में भाग लेंगे, वे अपनी सहायता और विमर्श उनकी छाया के बृहद् अंधकार में ही देंगे। यह सरलता से देखा जा सकता है कि इन अवस्थाओं में संसार के कार्यों का उच्च स्तर पर संचालन कैसे होगा, वस्तुतः उन्हें इस निर्माण की प्रक्रिया तथा उसके आधार की रचना का कुछ स्वाद मिल चुका है, जिसके बारे में बहुतों की यह धारणा है कि वह एक लंबी बल्कि स्थायी शांति की अवस्था होगी। स्पष्टतः ऐसे शासक संगठन में ये पांच महान् राष्ट्र ही समस्त नीति और कार्य को निर्धारित करेंगे; कोई भी ऐसी बात जो कि पृथ्वी के इन नये प्रभुओं के, या यूँ कहें, इन नये संयुक्त नायकत्व के असंतोष का कारण होगी, आसानी से कार्यान्वित नहीं की जा सकेगी,—क्योंकि इसके निर्णय किसी समय भी उस संदिग्ध, लचीली और अस्थिर वस्तु अर्थात् बहुसंख्यक द्वारा नहीं किये जायेंगे, उन्हें एकमत से ही लेना होगा। सिद्धांत-रूप में यह प्रणाली राज्य-संहति (कॉन्सर्ट ऑफ पावर्स) के एक नये, परिष्कृत, विस्तृत और नियमबद्ध संस्करण के सिवाय और कुछ नहीं है—स्वरूप में यह थोड़ी उदार अवश्य प्रतीत होती है, क्योंकि यह एक ऐसी लोकतंत्रीय सामान्य सभा के आधार पर टिकी है जो सचमुच परिस्थितियों और अवस्थाओं के सुधरने और बदलने पर एक वास्तविक वस्तु बन सकती है, किंतु साथ ही यह एक महत्वपूर्ण या महत्वहीन शून्य के रूप में भी बनी रह सकती है। किंतु फिर भी सार-रूप में वह उस पुराने, ढीले-ढाले और संदिग्ध संगठन का एक अन्य दृढ़तर अवतार ही होगी। उस पुराने ऐतिहासिक प्रयोग अर्थात् 'शक्ति-संतुलन' का कुछ अंश, जो चाहे कितना भी परिवर्तित, स्थानान्तरित, खण्डित और संकटपूर्ण रूप से असंतुलित क्यों न हो गया हो, अब भी एक नयी व्यवस्था के इस स्वरूप में सूक्ष्म रूप से छिपा पड़ा है। और यह तत्त्व बाद में अपनी पुष्टि कर सकता है; कारण, जहां कोई अवैयक्तिक शासक सिद्धांत नहीं होता, और न अंतर्राष्ट्रीय संगठन में कोई स्पष्ट मौलिक ढांचा होता है, वहां उसके कार्यों का निर्धारण हितों के संतुलन द्वारा ही होना चाहिये और हितों के संतुलन को केवल तभी यथोचित रीति से स्थायी रखा जा सकता है जब राज्यों के शक्ति-संतुलन को सावधानीपूर्वक स्थिर रखा जाये। पुरानी सशस्त्र व्यवस्था का औचित्य यही था,—और संभव है अव्यवस्था को दूर करने के लिये इस नयी प्रणाली के लिये भी यह आवश्यक हो।

यह कृति एक वास्तववादी और व्यावहारिक रचना है जिसमें नये आदर्शवाद को बहुत कम सुविधा दी गयी है; यह उन राजनीतिज्ञों द्वारा निर्मित है जिनकी रुचि वर्तमान तथ्यों को प्रमाणित करने तथा वर्तमान शक्तियों को व्यवस्थित करने में रही है, उन शक्तियों को जो विश्वयुद्ध से उद्भूत हुई हैं—कुछ असुविधापूर्ण रूप से नयी जन्मी और भयावह अर्थयुक्त शक्तियां जिन्हें बहिष्कृत, अवरुद्ध अथवा बलपूर्वक नष्ट कर दिया जा रहा है—साथ ही उन्होंने अतीत के पुनः जीवित हो जानेवाले प्रेत अथवा भविष्य की उग्र रूप से विनाशकारी प्रतिभा के आक्रमण से अपनी प्रणाली की रक्षा करना भी चाहा है। इस दृष्टिकोण से इसकी रचना एक अद्भुत दक्षता के साथ हुई है, साथ ही इसमें वर्तमान यथार्थताओं के प्रति पूरी ईमानदारी भी रखी गयी है; यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि अस्पष्ट किन्तु अभी से प्रत्यक्ष होती हुई संभावनाओं का पर्याप्त ध्यान नहीं रखा गया है। तथ्य और स्वरूप की अनुरूपता पूर्णतातक पहुंच चुकी है। युद्ध जीतनेवाली वास्तव में पांच शक्तियां रही हैं; इनमें से तीन वे केंद्रीय और असंदिग्ध शक्तियां हैं जो इस समय अपनी इच्छा के बल पर संसार पर नियंत्रण कर रही हैं जब कि बाकी दो का हस्तक्षेप कम शक्तिशाली गौण शक्तियों के रूप में ही था, किंतु वे भी शक्तियों के भावी संतुलन में कुछ वास्तविक अधिकार एवं ठोस प्रभाव रख सकती हैं। इस शासक-संघटन की रचना में यह तथ्य दुहराया गया है। समृद्ध और सामर्थ्ययुक्त होने के कारण ये पांच शक्तियां इसमें अपना स्थायी प्रभाव रखेंगी, तीन बड़ी शक्तियां प्रधान सुरों को साधेंगी और संघटन की सामान्य समस्वरता को बनाये रखेंगी और बाकी दो, जितना और जब-जब उनके लिये संभव होगा, गौण स्वयं और अनावश्यक परिवर्तनों की साज-संभार करेंगी। कुछ ऐसे छोटे और दुर्बल राष्ट्रों की भी एक बड़ी संख्या है जिनके पास कुछ गौण भौतिक सामग्री है, ये बड़े युद्ध में प्रमुख भाग लेने में असमर्थ हैं पर अतिरिक्त सहायक शक्तियों के रूप में उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। ये वे स्वतंत्र और मित्र जातियां हैं जो प्रारंभ से साधिकार वहां मौजूद हैं, कुछ तटस्थ राष्ट्र हैं जिन्हें शांति के एक सुनियोजित संगठन में भाग लेने के लिये निमंत्रित किया गया था, यद्यपि युद्ध के निर्णय में उन्होंने कोई महत्वपूर्ण भाग नहीं लिया; कुछ पुराने और नये शत्रु-राष्ट्र भी हैं जिन्हें न्यूनाधिक रूप में कुचलने और असमर्थ बना देनेवाली शर्तों को पूरा करने पर इस संघटन में प्रवेश मिल सकता है। ये सब इस सामान्य सभा का निर्माण करेंगे : इनमें से कुछ की समय-समय पर इस शासक संगठन में अनिश्चित वाणी सुनायी देगी; बाकी के सब सामान्य, साधारणजन होंगे, एक सामान्य निकाय, जिनके पास कुछ सीमित वास्तविक शक्ति और कार्यकारिणी शक्ति के पीछे रहनेवाली एक प्रकार की नैतिक शक्ति होगी। श्रमिक वर्ग को भी युद्ध द्वारा महत्ता मिली है, यद्यपि है यह एक असंबद्ध अंतर्राष्ट्रीय शक्ति के रूप में ही। यह संघ जो स्पष्ट रूप से समय को देखते हुए बुद्धिमान बनना एवं इस विराट् नये तथ्य के साथ अच्छा संबंध स्थापित करना चाहता है, इसे एक विशेष अलग सम्मेलन में मान्यता प्रदान करता है।

किंतु कुछ नयी एशियाई जातियां भी हैं जो अभी इस संघ में नहीं सम्मिलित की जा सकतीं, क्योंकि वे अभी शैशवावस्था में हैं और अपरिपक्व हैं। फिर वे अधीन और रक्षित राष्ट्र हैं जिनके लिये न तो युद्ध लड़ा गया था और न वे एक समय की प्रत्याशित सामान्य स्वाधीनता में हिस्सा बंटा सकते हैं। उन्हें अपने शासकों और रक्षकों के उच्च और निःस्वार्थ उदारतावाद में ही विश्वास करना होगा। कुछ अफरीकी जातियां भी हैं जो अभी मानवजाति के अनगढ़, कच्चे माल के रूप में ही अपना अस्तित्व रखती हैं। इन्हें या तो पुराने नियंत्रण में ही छोड़ देना चाहिये या फिर इन्हें एक नये नियंत्रण में रखना होगा। इन्हें किसी एक शासक शक्ति के पितृतुल्य हाथों में भी सौंपा जा सकता है जो नयी वितरण-व्यवस्था की वैधानिक पद्धति को मानेंगे, वे स्वामी या विजेता नहीं होंगे—कारण, इस न्यायपूर्ण और चमत्कारिक शांति-व्यवस्था में दूसरों के राज्य विजेता के राज्य में मिलाये नहीं जायेंगे, वहां केवल नियंत्रण और राज्यसंबंधी शुद्ध व्यवस्था होगी—किंतु ये केवल आदेशक और न्यासी ही होंगे, इन कम सौभाग्यशाली जातियों के लिये संघ का आज्ञापत्र इनकी रक्षा का साधन होगा। कारण, ऐसा प्रतीत होता है कि अब हम एक बिल्कुल ही नये नीतिसम्मत जगत् में निवास करेंगे जिसमें मानवजाति की सामान्य विवेकबुद्धि पूरी तरह जाग्रत् एवं प्रभावकारी होगी और यह संघ उसका प्रतिनिधित्व करने के लिये विद्यमान है। उसके प्रतिनिधि के रूप में वह न्यासियों से उनके न्यास का सामयिक विवरण मांगता रहेगा,—चूंकि ये संघ की बृहद् शक्तियां हैं, अतः वे स्वयं भी उसी सार्वजनिक विवेकबुद्धि की प्रादेश-प्राप्त सत्ता, नेता एवं सहायक होंगी। इस अत्यंत अद्भुत संगठन में सभी शक्तियों का उचित अनुपात में प्रतिनिधित्व होगा।

एक आदर्शवादी को इस आदर्शहीन, विद्यमान तथ्य के स्थायी और दृढ़ होने के बारे में काफी आपत्ति हो सकती है जिसपर यह संघ-प्रणाली आधारित है। किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि यह प्रणाली अपने पक्ष में बहुत कुछ कह सकती है तथा व्यावहारिक संभावना के दृष्टिकोण से अति आवश्यक विचारों को प्रेरित भी कर सकती है। इसकी सफलता की एक अनिवार्य शर्त एक ऐसी ठोस केंद्रीय सत्ता है जिसमें बल और स्थायित्व है, जो अपने निर्णयों को लागू कर सकती है। इसे एक ऐसा संगठन होना चाहिये जिसे सभी राष्ट्र मानवजाति की सामूहिक सत्ता के स्वाभाविक अध्यक्ष और सच्ची सक्रिय अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार कर सकें। कहा जा सकता है कि इस समय जो कुछ संभव है उसके अनुसार यही एक ऐसी सत्ता है। मनुष्यजाति का अंतर्राष्ट्रीय संघटन अभीतक एक आकाररहित पदार्थ है, उसकी संघटक जातियां मिलकर काम करने की अभ्यस्त नहीं हैं, विकास, संगठित शक्ति, अनुभव और सभ्यता के भिन्न-भिन्न स्तरों पर होने के कारण उनमें विषमता है—अब एक स्वतंत्र विश्व-महासभा, एक विश्व-संसद्, मनुष्यजाति के एक समान संघ का प्रश्न ही नहीं उठता; स्वतंत्र और सभ्य जातियों का एक समान संघ भी एक असंगत एवं निरर्थक

प्रकार का निकाय ही होगा जो फलप्रद सामूहिक कार्य करने में असमर्थ होगा। यदि शक्तिशाली, प्रभावशाली और सत्तावान् राष्ट्र नहीं तो और कौन निर्णयों को लागू करेगा और सामान्य जन की आवश्यकताओं और इच्छाओं को व्यावहारिक रूप में पूरा करेगा? आवश्यकता पड़ने पर बड़े राष्ट्रों और साम्राज्यों के सबल बाहु ही मिलकर कार्य करेंगे, किंतु साथ ही उन्हें सामान्य हितों एवं जनता की आवाज का भी उचित सम्मान करना होगा। जिन निर्णयों को उन्हें लागू करना है उन्हें तौल-तौलकर और कौन निर्धारित करेगा और कौन उन्हें एक स्थायी सिद्धांत और स्थिर क्रियात्मक नीति प्रदान करेगा? छोटे अमरीकी लोकतंत्रीय राज्यों और साधारण गौण यूरोपीय शक्तियों का कोई भी गुट संयुक्त राज्य, फ्रांस और ब्रिटिश साम्राज्य को विश्व-नीति के विषय में आदेश नहीं दे सकता, न ही उसे बहुसंख्यक जातियों के अंधे नियम के द्वारा इन बृहदाकार हितों के साथ खेलने की अनुमति मिल सकती है। किंतु राष्ट्र-संघ में इस सामूहिक संगठन के विविध अंग इस प्रकार कोटिबद्ध एवं परस्पर-संबंधित हैं कि वे उसकी वर्तमान अवस्थाओं में बड़े यथार्थ रूप में उसकी सच्ची और सक्रिय अभिव्यक्ति करते हैं। जिस किसी विकास की आवश्यकता है वह एक सामान्य नियंत्रण एवं संधियों और संबंधों की सामयिक पुनरावृत्ति के द्वारा साधित हो सकता है। संक्षेप में, संसार की समस्त अंतर्राष्ट्रीय अवस्था बड़ी अस्त-व्यस्त हो गयी है, इसमें व्यवस्था लानी होगी, इसे कोई आकार देना होगा, और यह एक ऐसा कार्य है जो एक काव्यपूर्ण आदर्शवाद या उन सिद्धांतों की एक अमूर्त पूर्णता के द्वारा नहीं किया जा सकता जिनका वस्तुओं की वास्तविकता के साथ कोई संबंध न हो और, यदि इन्हें समय से पहले प्रयुक्त किया गया तो और अधिक बुरी अव्यवस्था पैदा हो सकती है। यह कार्य केवल एक ऐसी सबल, समर्थ और संगठित शक्ति के द्वारा संपन्न किया जा सकता है जो वस्तुओं को उनके वर्तमान रूप में ही स्वीकार करे, इस अव्यवस्था पर विधि और व्यवस्था की एक नयी प्रणाली को लागू करे, एक सुदृढ़ प्रारंभिक ढांचे को लागू करे, चाहे वह कितना ही अपूर्ण क्यों न हो, और प्रगति की क्रियात्मक संभावनाओं पर तेज दृष्टि लगाये हुए उसके विकास पर नजर रखे। इसी सुरक्षित एवं सुदृढ़ आधार पर एक धीमी पर सुनिश्चित और विवेचित प्रगति की जा सकती है, यह भविष्य के एक श्रेष्ठतर विधान और आदर्श व्यवस्था की ओर प्रगति होगी। इस प्रश्न का एक और भी पक्ष है, किंतु हम अभी के लिये उसे छोड़कर इन्हीं विचारों को पूरा महत्व और बल दें।

किंतु तब यह बात और भी अनिवार्य हो जाती है कि जिस विकास को साधित करना है उसके सिद्धांतों को आरंभ से ही राष्ट्रसंघ के कानून और विधान में स्वीकार किया जाये, अथवा कम-से-कम इस भांति निर्दिष्ट कर दिया जाये और उसकी प्रणाली पर इस तरह अंकित कर दिया जाये कि उसका कार्य इन्हीं दिशाओं में तथा इन्हीं सिद्धांतों की पूर्ति के लिये हो, न कि अन्य अर्थात् निम्नतर, प्रतिक्रियात्मक या

विघ्नकारी प्रयोजनों के लिये। अठारहवीं शताब्दी में 'उद्घोषित' लोकतंत्रीय संविधान के सामान्य सिद्धांतों की घोषणा और उनके मूर्तिमंत स्वरूप और सुरक्षण कल्पनावಾದियों के निष्फल सूत्र नहीं थे, —महाधिकार पत्र (मैगना कार्टा) जैसे प्रारंभिक प्रलेखों में संविधानिक सिद्धांतों की पुष्टि से अधिक नहीं, —बल्कि इन्होंने एक ऐसा आधार स्थापित किया था जिसपर सरकार को और प्रगति को विश्व की नवजात व्यवस्था में आगे बढ़ना है। ये सिद्धांत लोकतंत्र की सुनिश्चित प्रगति के लिये एक मार्गसूचक संकेत और साथ-ही-साथ एक फलप्रद नैतिक आश्वासन भी थे। हम संघ के संविधान में ऐसे महान् पथप्रदर्शक सिद्धांतों को व्यर्थ ही खोजते हैं। युद्ध की संभावनाओं को कम करने को, किसी नये छोटे-से राष्ट्र की उत्पत्ति को और जिनका पहले से अस्तित्व है उन्हें सुरक्षा प्रदान करने को यह नाम नहीं दिया जा सकता। यहां, इस नयी व्यवस्था में जातियों के अंतर्राष्ट्रीय अधिकारों और कर्तव्यों के किसी प्रपत्र का कोई संकेत नहीं मिलता, जो एक ही साथ स्वाधीनता और एकता का आश्वासन दे। आत्मनिर्णय का सिद्धांत, जिसपर युद्ध के अंतिम चरण लड़े गये थे, अब क्रूरतापूर्वक उड़ा दिया गया है, उसे एक बड़ी तोंदवाली कूटनीतिक कार्यप्रणाली के जबड़े ने निगल लिया है, —हो सकता है कि यह हेल मछली के पेट में पड़े पैगम्बर के समान कुछ समय के लिये ही हो, किंतु इस समय तो यह प्रायः लुप्त ही हो गया है। हम इसकी एक बहुत ही छोटी-सी छाया श्लैस्विक् हौत्सटार्इन-विषयक व्यवस्था जैसे छोटे-छोटे कार्यों में देखते हैं; किंतु शेष सबके लिये दुनिया का नक्शा पुराने परिचित ढंग से बहुत कुछ बदल चुका है, इसमें राष्ट्रीयता अथवा अभिरुचि को कोई स्थायी महत्व नहीं दिया गया है, बल्कि महत्व सशस्त्र विजेता राष्ट्रों की सहमति और आदेश को दिया गया है। युद्ध के समय की एक प्रसिद्ध घोषणा ने न्यास-सिद्धांत की निंदा की थी, यह एक ऐसा लबादा था जो दमन और शोषण की कठोर वास्तविकता को बड़ी सुन्दरता से ढक सकता है, —आधुनिक मनुष्य की संकोचशील नैतिक भावना के समक्ष अनावृत रूप में प्रस्तुत किये जाने के लिये वस्तुएं अपने असली रूप में बहुत अधिक स्थूल और घटिया हैं। किंतु इस युद्धोत्तर प्रणाली में न्यास-सिद्धांत, —ऐसे संगठन द्वारा जिसके कार्य और विमर्श न्यासियों द्वारा नियंत्रित होंगे, —गौरवपूर्ण और पवित्र मान लिया गया है, जांच करने पर उसमें एक प्रादेश की चमक अवश्य मिलती है। अधीन राष्ट्रों को भी संसार में अपना अस्तित्व रखना है; कारण, प्रादेश की प्रणाली केवल वहीं लागू हो सकती है जहां पहली अधीनता समाप्त हो चुकी है, इसे उन एशियाई और अफ्रीकी जातियों पर लागू करना है जो उन साम्राज्यों के कोड़ों के अधीन अब पराजित हो चुकी हैं। बाकी जातियों को, जिनके स्वामी अधिक मृदु स्वभाव के थे, अर्थात् आयरलैण्ड और कोरिया की अधीन जातियों को सुरक्षा के ऐसे साधनों की कोई आवश्यकता नहीं है।

हो सकता है कि स्वाधीनता के एक अति-आदर्शवादी सिद्धांत को अस्वीकार करना

अनिवार्य था; कारण, हमें अब बताया जाता है कि अर्धरात्रि से दोपहरतक पहुंचने के लिये हमें अत्यधिक शीघ्रता नहीं करनी चाहिये; समय और ऋतुओं के नियमों का पालन होना ही चाहिये, हलके अंधकार के बाद ही पौ फटती है और फिर उसके बाद उषाकाल और तब आनंद और विश्वास से परिपूर्ण प्रातःकाल; इससे पहले कि हम एक विश्वव्याप्त स्वाधीनता और न्याय की सुनहरी दोपहर में निवास कर सकें हमें इन सबमें से गुजरना ही होगा। किंतु इस बीच वह कौन-सा पथप्रदर्शक सिद्धांत होगा, विधि और अधिकार का वह कौन-सा मूर्त विचार होगा, कृतित्व का वह कौन-सा निष्पक्ष और समान संतुलन होगा जिसे नयी व्यवस्था का सुदृढ़ आधार बनना है ? हमारे सामने कुछ भी नहीं है, है केवल एक ऐसी मशीनरी जो युद्ध की संभावनाओं को अनिवार्य मध्यस्थता, सशस्त्र सेना की धमकी अथवा उसके वास्तविक प्रयोग और आर्थिक दबाव के द्वारा कम तो करेगी, पर दूर नहीं; इस मशीनरी का कार्य होगा संधियों का संशोधन, उपनिवेशों, अधीन क्षेत्रों, मंडियों, सीमांत प्रदेशों, बंदरगाहों, प्रादेशों पर अधिकार जमाना, पूंजीपतियों और श्रमिकों के परस्पर-विरोधी दावों पर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विचार-विमर्श करना। उनके पारस्परिक झगड़ों को सुलझाने और तत्काल क्रियात्मक संबंधों को स्थापित करने की भी एक प्रणाली है, एक नयी यथापूर्व स्थिति की पुष्टि और प्राप्ति का प्रयत्न है, यह व्यवस्था छोटे-मोटे परिचालनों और परिवर्तनों के लिये है; किंतु वास्तविक रूप में एक नयी और श्रेष्ठतर विश्वव्यवस्था के लिये कोई विशेष आधार नहीं है। हो सकता है कि इसकी तैयारी ही संस्थापकों का अभिप्राय रहा हो, किंतु उनके अभिप्राय की पूर्ति बहुत कुछ भविष्य की अनिश्चित संभावनाओं पर निर्भर है। संस्थापक के आदर्शवाद की विजय केवल इसी हदतक हुई है कि राष्ट्रों के संघ का एक सीमित स्वरूप प्राप्त और स्वीकृत हो गया है और उसे एक आकार भी दे दिया गया है। किंतु बाकी सभी बिन्दुओं पर आदर्शवादी नीचे चला गया है और इस संपूर्ण नये आधुनिक यंत्र पर राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ की मुहर लग गयी है, — एक विशुद्ध व्यावहारिक, अदूरदर्शी और कामचलाऊ उपायोंवाले मनुष्य की मुहर। यह एक ऐसा छिद्रयुक्त और डगमगाता असंतुलित जहाज है जिसे तूफानी, क्षुब्ध सागर में किसी सारिणी, दिक्सूचक या यात्रा के निर्देशनों के बिना छोड़ दिया गया है।

पर कई बार ऐसे ही त्रुटिपूर्ण और अशोभन साधन बड़ी-बड़ी रचनाओं के आधार रहे हैं, और यदि इस संघ को जीवित रखा जा सका तो ऐसा संयोग हो सकता है कि इसमें उन सिद्धांतों और आदर्शों को भरा जा सके जिनको चरितार्थ करने के लिये हमेशा अपनी ही शिथिल जटिलताओं से चकरा कर मानवजाति का डांवाडोल, अस्थिर हृदय और बुद्धि लालायित एवं व्याकुल होने लगे हैं। किंतु एक आलोचक की दृष्टि में, ऐसा प्रतीत होता है कि इस नये समझौते के अंदर अपनी भावी परिवर्तनशीलता और शायद विघटन के अशुभसूचक बीज विद्यमान हैं। कारण,

सबसे पहले तो इस संघ का जन्म एक ऐसी अवस्था में हो रहा है कि जो राष्ट्र इसे बनाये रखना चाहते हैं उनमें भी इसके लिये बहुत ही सीमित प्रकार का क्षीण उत्साह है। अमरीका के राष्ट्रपति अपने इस शिशु-संघ के सुंदर आकार-प्रकार से अवश्य संतुष्ट हैं, पर स्वयं अमरीका उनके साथ बहुत अधिक सहमत नहीं प्रतीत होता; श्रमिक और समाजवादी इसकी आलोचना करते हैं, वे असंतुष्ट, शंकाशील एवं क्षुब्ध हैं, उनका उफान संक्षिप्त और अनिश्चित, पर व्यापक और धमकीभरी हड़तालों, बड़ी-बड़ी मांगों और असंतोष के रूप में प्रकट हो रहा है। ये अनुकूल लक्षण नहीं हैं। संसार को अपने विचार और अपनी शैली के अनुसार गढ़ते समय संघ के सामने जो कठिनाइयाँ आयेंगी उनपर विजय पाने के लिये उसे अधिक-से-अधिक सहायता और हार्दिक सहमति की आवश्यकता है, और यह कार्य तब भी समाप्त नहीं हो जायेगा, बल्कि जब शांति सुनिश्चित हो जायेगी तभी यह कार्य आरंभ होगा। इसमें भी संदेह है कि उसे जिन चीजों की आवश्यकता है वे उसे बहुत अधिक अनिच्छा और मनामालिन्य के बिना मिल सकेंगी। संसार की जिन जातियों के हितों की उसे व्यवस्था करनी है उनकी सामान्य प्रवृत्ति इस समय यही है कि वे उसे कोई उत्साहजनक सहायता की जगह एक प्रकार की अस्पष्ट-सी सहमति देंगी और वह भी इसलिये कि उनके सामने इससे अच्छी किसी और वस्तु के मिलने की कोई संभावना नहीं है। इतनी महत्वपूर्ण यात्रा के लिये इतना दुर्बल प्रारंभ।

फिर भी हम यह मान लेते हैं कि यह प्रणाली स्वीकार कर ली गयी और अपने रास्ते पर चल पड़ी है,—किंतु अब उसे भविष्य में किन वास्तविक तथ्यों का सामना करना पड़ेगा ? युद्ध में पराजित राष्ट्रों के लिये यह प्रणाली एक लंबे समयतक उनकी पराजय, हीनता एवं पतन का प्रतीक रहेगी। उनके लिये यह एक जेलर और हाथ में चाबुक लिये हुए काम कराने और पैसे वसूल करनेवाला दंडदाता होगी। यदि एक उदार और समभावपूर्ण शांति स्थापित की जाती तो इसे यह सब होने की आवश्यकता नहीं होती। या अधिक अच्छा तो यह होता कि ऐसे सभी प्रश्नों को एक ओर रखते हुए एक ऐसी शांति को लाया जाता जिसका आधार एक विजेंता शक्ति की इच्छा न होकर—चाहे यह शक्ति पराजित राष्ट्रों की शक्ति से अधिक अच्छी क्यों न हो—स्पष्ट और स्वीकार करने योग्य सिद्धांत होता, अधिक-से-अधिक आत्मनिर्णय का सिद्धांत, संसार की सभी जातियों के लिये समान अवसर और समान पद की प्राप्ति का सिद्धांत। तब यह सचमुच सच्ची शांति होती जिसमें न किसीकी जीत होती न हार, हार होती केवल बल और मिथ्यात्व की और जीत समदृष्टि और औचित्य की। किंतु अगुआ राष्ट्रों ने एक ऐसी कूटनीतिक शांति लादने का निश्चय किया है जिसे लादनेवाला संघ स्वयं फौजदारी का अफसर मालूम होता है। कहा जाता है कि वे पराजित राष्ट्र, जिनमें अधिकतर अब लोकतंत्रीय राज्य हैं और जिनमें अब वह पुरानी उग्र सैनिक प्रवृत्ति नहीं रही जो युद्ध का कारण थी, अपराधी और शांति को भंग

करनेवाले थे; इसके लिये जो दंड उन्हें दिया गया है वह उनके अपराधों को देखते हुए बहुत कम है। शाब्दिक अर्थों में यह बात ठीक हो सकती है—यदि एक तटस्थ न्यायाधीश नहीं बल्कि दो दलों में से एक दल किसी झगड़े में पराजित शत्रु पर फौजदारी न्याय करे, चाहे वह ठीक हो या गलत, तो मानव-तर्कबुद्धि इसपर संदेह कर सकती है, भले विशुद्ध न्याय या न्याय से कुछ कम ही क्यों न किया गया हो, अपने अच्छे-से-अच्छे रूप में भी तथाकथित न्याय एक न्यायसंगत प्रतिशोध मात्र होता है। किंतु इससे इस तथ्य में कोई परिवर्तन नहीं होता कि कुछ लोकतंत्रीय राज्य, उत्साही और बौद्धिक जातियां, जो एक नये जीवन के प्रति सचेतन हैं,—उस जीवन के प्रति जिसे भावी व्यवस्था के प्रति आशावान् और सद्भावनापूर्ण होना चाहिये—वे ही इस संघ में उस विद्रोह और अव्यवस्था के स्रोत के रूप में अनिवार्य रूप से उपस्थित होंगी जो ऐसे किसी भी परिवर्तन का स्वागत करेंगी जो उनके भार को हल्का करे, विद्वेष और मनोमालिन्य को शांत करे तथा रिसते घावों को भरे। इन्हें दबाया जा सकता है, दुर्बल और पंगु बनाकर भी रखा जा सकता है, यद्यपि इनमें से एक राष्ट्र परिश्रमी, कुशल और संगठित जर्मन राज्य है, किंतु इसका अर्थ होगा स्वयं नयी व्यवस्था में ही एक प्रकार की दुर्बलता और असंतुलन, और यदि ये अपनी शक्ति पुनः प्राप्त कर लें तो वह उनकी हीन अवस्था को तथा उनके पुराने शत्रुओं की स्थायी विजय और महानता को मौन स्वीकृति देने के लिये नहीं होगी। समान लोकतंत्रों की वैध प्रणाली में ही ईर्ष्या और शत्रुतापूर्ण भावनाओं और बार-बार होनेवाले इन संघर्षों का सच्चा अंत हो सकता है। अन्यथा युद्ध फिर से आरंभ हो जायेगा अथवा किसी अन्य रूप में पुराना युद्ध चलता रहेगा। एक स्थिर और शांतिपूर्ण विश्व-प्रणाली के लिये असमान संतुलन कभी सुरक्षा का साधन नहीं हो सकता।

यदि इस नयी उद्घाटित प्रणाली का यही एकमात्र संकट होता तो भी काम चल जाता। किंतु यह 'संघ' उस नयी यथापूर्व स्थिति का भी स्थायी प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रतीत होता है जो उस शांति से प्राप्त होती है जिसे इसका आधार बनाया जा रहा है। ऐसा लगता है कि ये बड़ी शक्तियां अपने अधिराज्यों और संपत्ति को किसी भावी जोखिम और हास से सुरक्षित रखने के लिये समझौता कर चुकी हैं। इस व्यवस्था में दो तत्त्व हैं, एक तो शक्ति का संतुलन जिसके साथ असमान संतुलन के सभी संकट मौजूद हैं, दूसरे, कुछ उन प्रभावों को, जो इस समय अत्यधिक प्रबल हैं, और साथ ही सुस्थापित महान् शक्तियों को, सदा के लिये स्थायी बना देने का प्रयत्न। यह प्रयत्न इतिहास की समस्त शिक्षा एवं प्रकृति की समस्त चिरस्थायी गतिविधि के प्रतिकूल है। जो संघ इस व्यवस्था को मानता है वह बड़ी सतर्कता के साथ सुरक्षित ईर्ष्या और एक अस्थिर संतुलन को सुरक्षा देना भी स्वीकार करता है। यह निश्चित नहीं है कि स्वयं निर्माणकारी शक्तियां भी अपने समझौते की शर्तों से समान रूप से संतुष्ट रहेंगी अथवा राष्ट्र और मनुष्य की भवितव्यता की उस प्रेरक शक्ति का सामना कर

सकेगी जो किसी भी कूटनीतिक व्यवस्था या सरकारों एवं राजनेताओं की इच्छाओं से बड़ी है। किंतु यदि इनमें एक अश्रुतपूर्व वस्तु अर्थात्, स्थायी अंतर्राष्ट्रीय मैत्री एवं साहचर्य स्थापित हो भी जाये, तो इससे कुछ समय तो काम चल जायेगा किंतु क्या यह मैत्री जगत् की परिवर्तन की प्रवृत्ति के आगे बहुत लंबे समय तक टिक सकेगी ? सुरक्षा पाकर शक्ति सड़ने लगती है। जो राज्य आज इतने शक्तिसंपन्न हैं कि वे अपनी इच्छा को अन्य राष्ट्रों पर लाद सकते हैं, वे अपने आकार, संपदा और सशस्त्र सेनाओं के होते हुए भी इस शक्ति को सदा सुरक्षित नहीं रख सकते। युक्तियों और समझौतों द्वारा शीघ्रतापूर्वक स्थापित की गयी शांति की इस व्यवस्था के फलस्वरूप कई पुराने व्रण स्थायी बन गये हैं और कई नये व्रण भी प्रकट हो गये हैं। यह संदेहास्पद है कि क्या बाल्कन का प्रश्न स्थायी रूप से सुलझ जायेगा। किंतु अब प्रश्न आता है एक जर्मन बोहेमिया का, एक बहुरंगे पोलैंड का, शायद 'सार' के क्षेत्र का भी जिसकी संपत्ति किसी विदेशी शक्ति के अधिकार में है, यूगोस्लाविया और इटली का, जिसे सुलझाना अत्यधिक कठिन है, टाइरोल का एक नया प्रश्न, आइरिश और कोरियाई विद्रोह का प्रश्न, जिसमें यह संघ इंग्लैंड और जापान के गहरे असंतोष का कारण बने बिना हस्तक्षेप नहीं कर सकता और रूसी अव्यवस्था का जो अभी भी जोर-शोर से समझौते की मांग कर रही है। एक मुस्लिम जगत् भी है जो निश्चित रूप से एक दिन इस नयी 'यथापूर्व स्थिति' के बारे में कुछ कहेगा। एशिया और अफ्रीका का पूरा प्रश्न भी सामने है जो अत्यधिक भयावह तो है किंतु जिसके विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इस विषय के तथ्य सभी के लिये प्रत्यक्ष हैं। कुछ यूरोपीय शक्तियों में अफ्रीका का विभाजन चाहे आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद हो भी पर वह एक स्थायी समाधान नहीं हो सकता। एशिया उत्थान के मार्ग पर आगे बढ़ रहा है, उसे सदा ही दुर्बलता, संरक्षण और पराधीनता की अवस्था में नहीं रखा जा सकता। जब समय आयेगा तो मुख्यतः यूरोपीय और अमरीकी जातियों का संघ उसकी मांगों पर कैसे विचार करेगा ? क्या यूरोप एशिया से पीछे हटना चाहेगा ? क्या अधिदेशप्राप्त राष्ट्र अपने अधिदेश को सीमित करने की जल्दी में होंगे ? क्या वर्तमान अवस्थाएं किसी परिवर्तित रूप में ही सही और स्थायी हो सकती हैं जिसके फलस्वरूप दोनों महाद्वीपों में समान रूप से समस्वरता स्थापित हो सके ? ये ऐसे प्रश्न हैं जिन्हें वर्तमान आधार पर स्थित राष्ट्रसंघ का कोई भी अपूर्ण ढांचा अपनी कल्पना के अनुसार नहीं सुलझा सकता, केवल एक प्रगतिशील विश्व-भावना ही इनके उत्तर दे सकती है।

अभीतक इनमें से किसी भी संकट या कठिनाई से निकट भविष्य में कोई भय नहीं है, किंतु एक अन्य समस्या अवश्य मौजूद है जो अति आवश्यक होने के साथ-साथ अत्यधिक हठीली और भयोत्पादक भी है; यह हर नयी अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली के जीवन को अपनी सन्निकट पूर्वाभास देनेवाली उंगली से छूती है और यह है प्रभुत्व पाने के

लिये निकट आता हुआ पूंजीपति और श्रमिक वर्ग में संघर्ष। यह तथ्य बड़े स्थानों में संघर्षरत साम्राज्यवादों की पारस्परिक मुठभेड़ से अथवा पृथ्वी के संकीर्णतर तरीकों से एक-दूसरे पर गुरति हुए या नोच-खसोट करते हुए झगड़ालू राष्ट्रों के विवादों से बिल्कुल अलग वस्तु है। कारण, वे समाज के वर्तमान आधार पर अधिक-से-अधिक शक्ति, क्षेत्र तथा आर्थिक अवसरों के विभाजन के प्रश्न हैं, किंतु इसका अर्थ है इस आधार पर ही शंका करना और यूरोपीय विश्व-व्यवस्था की आधारशिला को ही हिला देना। यह संघ सरकारों का संघ है और ये सब सरकारें मध्यवर्गी-राज्यतंत्र अथवा गणतंत्र हैं, ये एक ऐसी पूंजीवादी प्रणाली के यंत्र हैं जो समाजवाद के ज्वार-भाटे से आक्रांत है। उनकी नीति समझौता करने की, व्योरों की ओर झुक जाने की परंतु अपने सिद्धांत को लंबाते जाने की है जिससे वे जीवित रह सकें और फलस्वरूप पूंजीवाद ही एक नयी मिश्रित अर्ध-समाजवादी व्यवस्था की प्रबल शक्ति बना रह सके, बहुत कुछ उसी तरह जैसे 'पवित्र मैत्री' का निर्माण करनेवाली सरकारों ने प्रजातंत्र की बढ़ती हुई भावना के साथ समझौता करके कुलीन राज्यतंत्र के पुराने विचार की प्रधानता की रक्षा करने की चेष्टा की थी। वे जो देते हैं वे श्रमिक वर्ग के लिये अच्छी और अधिक मानवीय शर्तें अवश्य हैं, वे वर्ग को समाज के शासन में एक प्रकार के सहयोग की भी अनुमति देते हैं, फिर भी श्रेणीक्रम में उनका स्थान पहला नहीं दूसरा ही रहता है। वस्तुतः श्रमिक वर्ग ने पहले बस यही चाहा था और उसकी सेना की पिछली पंक्ति अभीतक इसीपर आंखें लगाये बैठी है, किंतु श्रमिक आंदोलन का अर्थ अब यह नहीं रह गया है; वहां अब एक नये विचार ने जन्म लिया है, श्रमिक वर्ग के प्रभुत्व, उसके शासन के विचार ने अपने-आपको सूत्रबद्ध कर लिया है तथा समाजवाद की शक्तियों के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार जमा लिया है। बल्कि रूस में इसने कुछ समय के लिये एक प्रकार की नयी सरकार, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की सरकार भी स्थापित कर ली है जो समाज की एक अन्य व्यवस्था को शीघ्रता से लाने की अभीप्सा करती है।

वर्तमान सरकारों को स्वयं उनकी सत्ता का सिद्धांत ही विवश करता है कि वे अपनी समस्त उपलब्ध शक्ति के साथ इस नवीन विचार और इसकी शक्ति के साथ युद्ध करें और जातियों के मन में अभीतक विद्यमान वस्तुओं के प्रति जो विश्वास बाकी है उसे इसके विरोध में संघटित करें। पुरानी व्यवस्था में निस्संदेह अभीतक इतनी शक्ति है कि वह चाहे तो उस स्वरूप को, जिसे उस जनदानवी ने अपनाया है, पूरी तरह नष्ट कर सकती है तथा रूसी बोल्लशेविक पद्धति को भी न्यूनाधिक तेजी के साथ समाप्त कर सकती है। बोल्लशेविक प्रणाली जो केवल एक ही देश में प्रयुक्त है, जो अपनी आरंभिक अपक्वताओं एवं क्रांतिकारी हिंसात्मक प्रवृत्तियों से निर्बल हो रही है और दुष्कर संभावनाओं के साथ बुरी तरह संघर्षरत है, भले नष्ट कर दी जाये; किंतु जो वस्तु बोल्लशेविकवाद के पीछे विद्यमान है और जिसने इसे अप्रत्याशित पौरुष एवं

जीवनशक्ति प्रदान की है उसे इतनी सरलता से न तो वश में किया जा सकता है और न ही उसका अस्तित्व मिटाया जा सकता है। यह वस्तु है समाज के आधार का धन से श्रम की ओर, वित्तीय-शक्ति से मनुष्य और उसके कार्य की सरल-सी शक्ति की ओर स्थानांतरण, और इस बात को न समाप्त किया जा सकता है न रोका जा सकता है—चाहे थोड़े समय के लिये स्थगित भले किया जा सके। इसलिये नहीं कि धन से अधिक श्रम ही समाज का सच्चा आधार है, किंतु इसलिये कि यह यूरोपीय समाज के समस्त विकासक्रम का तर्कसंगत और अनिवार्य परिणाम है। शक्ति पर आधारित योद्धा और कुलीनवर्ग अर्थात् क्षत्रिय ने अपना स्थान वैश्य अर्थात् पेशेवर तथा औद्योगिक वर्ग को दे दिया है, उस वर्ग को जिसका निर्माण धन और विधान के सिद्धांत पर हुआ है, और अब इसे भी अपना स्थान शूद्र अर्थात् उस सर्वहारा वर्ग को देना होगा जो श्रम और संघटन पर आधारित है। यह परिवर्तन अन्य परिवर्तनों की तरह बहुत संघर्ष या उथल-पुथल के बिना साधित नहीं हो सकता और हमें यह संकेत मिलता है कि इसके मार्ग में भी क्रांति की ध्वंसक और हिंसात्मक उग्रता आयेगी।

वस्तुतः नयी शक्ति के सामने यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया है कि यह कार्य संसद-पद्धति के स्वीकृत साधनों द्वारा शांतिपूर्वक शनैः-शनैः किया जायेगा; किंतु संसद-पद्धति स्वयं अत्यधिक कुख्याति की अवस्था में से गुजर रही है, और मजदूर वर्ग के मनो में यह शंका घर कर रही है कि यह उनकी उद्देश्यपूर्ति के लिये उचित या संभव साधन है भी या नहीं और यह भी कि इसपर निर्भर रहकर क्या वे अपने शत्रुओं के हाथ का खिलौना बनकर तो नहीं रह जायेंगे। कारण, संसद वास्तव में संपत्तिशाली वर्गों की एक बड़ी-सी मशीन है और संसदीय समाजवादी भी आसानी से आधा छद्मवेषधारी या आधा मध्यवर्गी बन जाने की ओर प्रवृत्त हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि समाज की नयी व्यवस्था एक नयी शासन-प्रणाली के संस्थापन की मांग करेगी। यदि तब वर्तमान अवस्थाओं के अनिवार्य रूप से उलट जाने के साथ समाज की एक नयी व्यवस्था आ जाये, आये भी एक क्रांतिकारी संघर्ष के बाद, तो वर्तमान अवस्थाओं पर आधारित संघ की प्रणाली, एक ऐसे संघ की जो वस्तुतः राष्ट्रों का नहीं सरकारों का संघ है और उन सरकारों का जो पुरानी व्यवस्था को बनाये रखने के लिये वचनबद्ध हैं तथा जो उस नये विचार के साथ, जो उनके अपने अस्तित्व के स्वरूप का विरोधी है, संघर्ष करने के लिये अपने निकटतर संबंध का साधन के रूप में प्रयोग करती हैं तो क्या यह प्रणाली इस भूचाल या बवंडर में कार्य कर सकेगी? अधिक संभव है कि यह संघ-व्यवस्था मंद रूप में रूपांतरित होने की अपेक्षा समाप्त ही हो जाये और यदि यह समाप्त हो गयी तो इसका स्थान अंतर्राष्ट्रीय सौजन्य की कोई अन्य प्रणाली ले सकती है, किंतु यह राष्ट्रों का संघ नहीं होगा।

फिर भी हम मान लेते हैं, बल्कि इसपर विश्वास करते हैं कि इसका बाह्य स्वरूप चाहे कुछ भी हो, यह संघ, जिसमें विश्व की सर्वश्रेष्ठ सम्मिलित नीतिज्ञता समाविष्ट है,

इन सब संकटों से घूम-फिरकर त्राण पा लेता है, प्रत्येक तूफान का सामना करता है और मनुष्यजाति की भवितव्यता को आगे की ओर, पहले तो थोड़ी-बहुत व्यग्र पर अंत में सुदृढ़तर, उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शांति और पारस्परिक समायोजन के मार्ग पर ले जाता है। तब वह कौन-सी वस्तु होगी जिसे वह आरंभ में या अंत में वस्तुतः चरितार्थ कर लेगा ? इसने उस प्राचीनतर अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के स्थान पर, जो बारी-बारी से युद्धारंभ और सशस्त्र शांति के बीच डांवाडोल होती रहती थी, न्यायपूर्ण स्थिति का आरंभ कर दिया होगा। यदि यह दृढ़तापूर्वक किया जाये तो निस्संदेह यह मानव-सभ्यता के ज्ञात इतिहास में आगे की ओर एक महान् पग होगा। क्योंकि तब इसका यह अर्थ होगा कि जो वस्तु शताब्दियों पहले राष्ट्र की इकाई में स्थापित की गयी थी वही अब अंत में राष्ट्रों के समाज में भी स्थापित हो जायेगी। किंतु हमें इतनी आसानी से उस वस्तु को नहीं मान लेना चाहिये जो अंत में एक दोषपूर्ण समानांतर रेखा भी प्रमाणित हो सकती है। आरंभ से ही सभ्य समाज ने जो अत्यधिक प्रभावशाली कार्य किया है वह यह है कि अनिश्चित शांति की अवस्था और प्रायः होनेवाले वैयक्तिक और कबीली युद्धों के स्थान पर वह एक प्रकार का विधिसंगत संबंध, वैध अपराध और प्रतिरक्षा की स्थिति तथा और क्षतियों के लिये प्रतिकार अथवा प्रतिशोध ले आया है, उन कबीली युद्धों के स्थान पर जिनमें प्रत्येक व्यक्ति को हर वस्तु को, जिसे वह न्यायसंगत समझता था, पाने के लिये स्वजनों या अपने बाहुबल की सहायता लेनी पड़ती थी। वर्तमान समय में अपराधों के आग्रहपूर्वक बने रहने की स्थिति उस स्वाभाविक हिंसात्मक प्रवृत्ति की आरंभिक पूर्व-वैध अवस्था का ही अवशेष है। किंतु एक संगठित समाज के लिये एक हठी व्यक्ति के साथ व्यवहार करना अपेक्षया सरल है। यहां इकाइयां वे राष्ट्र हैं जिनका जटिल सामूहिक व्यक्तित्व है, वे बृहद् जन-समूह हैं जो अपने-आप बहुत अधिक संगठित हैं और उन लाखों मनुष्यों के प्रमुख हितों, दावों और भावावेशों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिन्हें सामूहिक, शक्तिशाली और आग्रहपूर्ण अनन्यता, घृणा, ईर्ष्या, विरोध आदि विभाजित करते हैं। इस भावी सर्वरोगशामक 'संघ' और जातियों के नये समाज की स्थापना इन सब को प्रलयकर युद्ध से पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ा-चढ़ा और कटुतापूर्ण पाती है—युद्ध से पहले सहिष्णु और सरल प्रकार की विश्व-नागरिकता अधिक प्रचलित थी—और ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी प्रवृत्ति इनका इलाज करने या इन्हें दूर करने की नहीं बल्कि इन्हें और अधिक गहरा और स्थायी बनाने की है। और जातियों के इस बेमेल समूह पर ही, जिनका न कोई जीवंत सिद्धांत है और न जिनमें एकता के लिये आग्रहपूर्ण संकल्प ही है, शांति और निश्चित कानून की स्थिति लादी जाती है और वह भी उस समय जब कि, अव्यवस्था और विप्लव का बोलबाला है और सदा क्रांति का संकट बना रहता है।

राष्ट्रीय समाज को सफलता उसी अनुपात में मिली जिस अनुपात में उसने एक

अविभाजित एकता और समरूप सत्ता विकसित कर ली थी, एक ऐसी एकता और सत्ता जो कानून बना सकती थी या कम-से-कम उसे वर्गीकृत करके बनाये रख सकती थी, साथ ही वह इस बात का भी ख्याल रख सकती थी कि कानून के निश्चित नियमों, प्राज्ञप्तियों और अध्यादेशों का कठोरतापूर्वक पालन किया जाये। किंतु यहां कार्य एक ऐसी संस्था द्वारा करना है जो किसी भी मूर्तिमंत एकता का प्रतिनिधित्व नहीं करती, बल्कि जिसमें एक-दूसरे से अत्यधिक पृथक् इकाइयां आपस में जकड़ी या सूत्रबद्ध कर दी गयी हैं। यह संस्था कानून नहीं बनाती, केवल अत्यंत आंशिक और अवसरवादी विशेष तदर्थ प्राज्ञप्तियां निकालती है; इन प्राज्ञप्तियों को लागू करने के लिये उसे सदा धमकी, नाकाबंदी, आर्थिक दबाव तथा जातियों की भुखमरी एवं हिंसात्मक सैनिक दखल के भय का सहारा लेना पड़ता है, —ये सब ऐसी वस्तुएं हैं जो अशांति की युद्धोत्तर अवस्था को लंबा बनाती हैं और उनके गौण प्रभाव उन देशों पर भी पड़ते हैं जिनकी सरकारें इस विशिष्ट अंतर्राष्ट्रीय मनोविनोद में लगी हुई हैं। यह देख पाना कठिन नहीं है कि यदि मानवजाति की इस नवीनतम प्रबल आशा को बुद्धिजीवियों की बहुत-सी भ्रांतियों में से एक भ्रांति, जनसाधारण के धुंधले से हृदय की काल्पनिक और निर्मूल अभिलाषा बनकर ही नहीं रह जाना है तो एक श्रेष्ठतर प्रणाली और श्रेष्ठतर साधन ढूंढना ही होगा।

राष्ट्रीय समाज तक इतने लंबे समय और इतने अधिक अनुभव के बाद भी अपने ढांचे से अपने सदस्यों के आपसी कलह और वर्ग-युद्ध को, हितों और विचारों के कटु विद्वेष को नहीं निकाल पाया है, उस विरोध को जो समय-समय पर खूनी झगड़ों, गृह-युद्धों, रक्त-रंजित क्रांतियों अथवा अनर्थकारी, भयंकर रूप से दुराग्रही एवं निष्ठुर आर्थिक संघर्षों में फूट पड़ता है —ये सभी संभाव्य भौतिक युद्ध की तैयारी करनेवाले तत्त्व हैं। इस सबका कारण ढूंढने के लिये दूर जाने की आवश्यकता नहीं। कानून अपने ऊपरी आडंबर और बड़प्पन के गंभीर और ऊपर से ओढ़े हुए दावों के बावजूद अपने मूल रूप में केवल अधिक बलशाली, होशियार और सफल लोगों का कानून है, उन लोगों का जो बाकी के मूक और अधीनस्थ लोगों पर अपना शासन आरोपित करते थे। प्रबल जातियों के आदेश पुरानी प्रथाओं के ढेर पर लादे गये और उन्हें नये सिरे से प्रचलित विचारों और हितों के सांचे में ढाल दिया गया। कानून अपने-आपमें एक नियमित और संगठित बल था जो अपने प्रशासनसंबंधी नियमों की स्थापना करके उन्हें दंड और बलप्रयोग के आसन्न भय द्वारा मनवाता था। न्याय के प्रतीकस्वरूप तलवार का यही अर्थ है और जहांतक काल्पनिक ढंग की न्याय-तुला का प्रश्न है, यह तुला एक व्यावसायिक एवं कृत्रिम चिह्न है, स्वाभाविक या आदर्श समानता का प्रतीक नहीं। और फिर, यह न्यायतुला अपने बाटों या नापों के रूप में केवल सैद्धांतिक समानता को प्रयोग में लाती थी, और वह सैद्धांतिक समानता भी हमेशा नहीं रहती थी। प्रायः ही कानून अधिकांश में वैध उत्पीड़न और शोषण की

प्रणाली होता था और उसके राजनीतिक पक्ष पर प्रायः यही मुहर लगी रहती थी, यद्यपि यह सदा से एक अत्यधिक पवित्र पद्धति, शासन और न्याय का गंभीर मुखौटा पहनता आया है।

मानवजाति का इतिहास अधिकतर अन्यायपूर्ण कानून को न्याय में बदलने का एक लंबा संघर्ष रहा है, — एक जर्बदस्ती लादी गयी प्राज्ञप्ति और “कानून के द्वारा सुस्थापित” प्रथा द्वारा नियत रहस्यमय न्याय में नहीं जो ठीक होने का दावा इसलिये करता है कि वह सुस्थापित है, बल्कि समानता और सम दृष्टि के न्याय में। इस दिशा में बहुत कुछ हो चुका है, पर अभी उतना ही बल्कि उससे भी अधिक करना बाकी है और जबतक यह नहीं हो जाता तबतक गृहयुद्ध, अशांति और विद्रोह का अंत भी निश्चित रूप से नहीं होगा। कारण, कानून का अन्याय केवल तभीतक सहा जा सकता है जबतक उससे पीड़ित लोगों में निष्क्रिय अंधता या मौन अधीनता का भाव हो या फिर, जब एक बार उनमें समानता की इच्छा जाग जाये तो उनके पास उसे शांति के साथ ठीक कर लेने के लिये साधन मौजूद हों। और किसी विशेष अन्यायपूर्ण कानून को वस्तुतः कम प्रयत्न और कठिनाई से बदला भी जा सकता है, किंतु यदि अन्याय अथवा, यं कहें, किसी व्यवस्था या प्रणाली में न्यायपूर्ण समानता और निष्पक्षता का अभाव हो तो गंभीर विपत्ति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और जबतक उसमें सुधार न हो जाये तबतक वास्तविक संतुलन और शांति की अवस्था स्थापित नहीं हो सकती। इस प्रकार आधुनिक समाज में हड़तालें और तालाबंदियां गृहयुद्ध के रूप बन जाते हैं जो दोनों पक्षों के लिये काफी अनर्थकारी होते हैं, फिर भी सदा इन्हींका सहारा लिया जाता है, इनका स्थान अन्य कोई श्रेष्ठतर तरीका नहीं ले सकता, कारण, ऐसे किसी भी संभव कानूनी निर्णय या अनिवार्य मध्यस्थता पर, जिनकी व्यवस्था वर्तमान स्थितियों में की जा सकती है, लोगों को विश्वास नहीं है। सबल पक्ष सुस्थापित प्रणाली में लाभ उठाता है, जब कि दुर्बल पक्ष यह अनुभव करता है कि राज्य का वैध संतुलन एक ऐसे विधान द्वारा स्थिर रहता है जो अभीतक पूर्जापति के हित और धन की प्रभुता को ही महत्त्व देता है और वह इस राज्य से बहुत हुआ तो कुछ थोड़ी-सी रियायतें ही प्राप्त कर सकता है जिनकी अपर्याप्तता के कारण भविष्य में उसे और भी बहुत-से संघर्ष करने पड़ेंगे। वे हड़ताल को अपना स्वाभाविक शस्त्र और एक विश्वसनीय साधन मानकर उससे चिपके रहते हैं। इसी कारण आर्थिक शांति और भ्रातृ-भावना के लिये दोहराये गये सभी प्रबंधन व्यर्थ सलाह बन जाते हैं। इसका एकमात्र इलाज है समाज की एक अधिक श्रेष्ठ, अधिक समान और अधिक न्यायसंगत, मार्मिक प्रणाली की स्थापना और यह एक ऐसी स्थिति का एक विशेष उदाहरण है जो जगत् की वर्तमान व्यवस्था में विभिन्न रूपों में काफी देखने में आती है।

यह बात स्पष्टतः वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय प्रयत्न और उसकी एक विधिसंगत और शांतिपूर्ण मानव-समाज-संबंधी आशा पर लागू होती है। राष्ट्रसंघ की स्थापना विजेता

शक्ति ने की है, निस्संदेह उसका यह दावा है कि वह विजेता सत्य और न्याय की शक्ति है, पर जन्म से ही दोष होने के कारण वह एक समान और निष्पक्ष समदृष्टि के सच्चे संघर्षहीन न्याय को मूर्त रूप देने में असमर्थ है। उसकी प्राज्ञप्तियां और कार्य किसी निश्चय अवैयक्तिक सिद्धांत पर आधारित नहीं हैं, वे प्रमुखतः चार शक्तिशाली राष्ट्रों की प्राज्ञप्तियां हैं, आज्ञाएं हैं। वे चाहे न्यायपूर्ण हों तो भी उनमें एक बहुत बड़ा दोष यह है कि उनमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो पराजित जातियों, बल्कि सामान्य लोगों को भी यह विश्वास दिला सके कि उनके पीछे एक सामान्य और विश्वसनीय समदृष्टि निश्चित रूप से मौजूद है; वस्तुतः इनमें से बहुतों ने बहुत सामान्य रूप से गंभीर असंतोष एवं विरोधी आलोचना को जन्म दिया है। और, सर्वोच्च परिषद्—पर्दे के पीछे छिपा हुआ परिस्थिति का परोहिती स्वेच्छाचारी—अपने किसी भी कार्य में किन्हीं विशिष्ट उच्चतर सिद्धांतों की सहायता लेती नहीं प्रतीत होती, उस समय भी नहीं जब उनका सचमुच अस्तित्व होता है और उनपर बलपूर्वक और स्पष्टता के साथ आग्रह किया जा सकता था। यह लिखते समय एक घटना घटी है, एक छोटे-से विजेता राष्ट्र की सेना ने पीड़ित और इस समय आधे भूखे देश को अनावृत कर दिया है, यह विजेता राष्ट्र अपने शस्त्रों से नहीं, बल्कि 'संघ' के नैतिक और आर्थिक दबाव से विजयी हुआ है—और परिषद् ने इसमें हस्तक्षेप करके उचित कार्य किया है। किंतु उसने यह सार्वजनिक रूप से उन कारणों से नहीं किया जिनका संबंध अंतर्राष्ट्रीय न्याय अथवा मानवता के साथ या अंतर्राष्ट्रीय नीतिशास्त्र के वर्तमान प्रारंभिक तत्त्वों के साथ हो, बल्कि उसका कारण यह दिया है कि पराजित देश की संपत्ति सबके लिये लूट का माल है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि यह विजेताओं की क्षतिपूर्ति का साधन है और इस छोटे-से लालची मित्र को यह अनुमति नहीं दी जा सकती कि वह अपनी शक्ति के बूते पर इसे इस तरह अलग रख ले जिससे अपने-आपको न्याय का प्रशासक माननेवाले उसके साथी-प्रशासकों को हानि उठानी पड़े,—इसके फलस्वरूप वे यह भी देख सकते हैं कि हंगरी एक ऋण-शोधनक्षम देनदार के रूप में उनकी सेवा करने के स्थान पर एक भूखे कंगाल की तरह उनके हाथों में आ पड़ा है। यदि इस यथार्थवादी भावना को ही नयी अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली की भावना होना है और इसे निरंतर बने रहना है तो मानवजाति के लिये इसकी सफलता असफलता से अधिक भयावह हो सकती है। कारण, मनुष्यजाति के पीड़ित वर्गों के लिये तब इसका यह अर्थ हो सकता है कि असहनीय वर्तमान अन्याय को अब न्यायसंगत और स्थायी बना दिया गया है, उस अन्याय को जिसका अधिक सरल इलाज ढूंढने और जिसे ठीक करने की आशा पहले की ढीली-ढाली अवस्थाओं में अधिक की जा सकती थी। यदि इस राष्ट्रसंघ को मानवजाति की सेवा करनी है, केवल उसपर अधिकार नहीं जमाना है, यदि इसे मनुष्यजाति को ऊपर उठाना, उसे मुक्त करना है जिसका वह दावा करती है, और उसे बंधन में बांधना या नीचे गिराना

नहीं, तो उसे एक और ही सांचे में ढालना होगा तथा उसे एक अन्य भावना से अनुप्राणित करना होगा। यह उस तरह का युग नहीं है जब अलग-अलग राष्ट्रों में कानून का शासन प्रतिष्ठित था। वह पहले की-सी प्रवृत्ति नहीं है कि वे वर्तमान परिस्थितियों को प्रकृति की देन या उसका विधान मानकर उनके अधीन रहने के लिये तैयार हों। समानता, साम्य और समान अधिकार के विचार ने जाति के मन में एक व्यापक रूप धारण कर लिया है, और अब मानवसमाज को दृढ़तापूर्वक इसे चरितार्थ करने के लिये आगे बढ़ना होगा, वरना निरंतर अशांति और अधिकाधिक बढ़ते संकट आते रहेंगे।

इसका अर्थ यह है कि 'संघ' की संपूर्ण भावना और पद्धति को फिर से ढालना होगा, इससे पहले कि वह मानवजाति की श्रेष्ठतर आशाओं, बल्कि बहुत जरूरी आवश्यकताओं को पूरा कर सके, उसकी रचना की आरंभिक गलतियों को सुधारना होगा और उसके मूल रूप में जो दोष रह गये हैं उन्हें दूर करना होगा। अभी तो मानों पुरानी कहावत को उलटकर—पुरानी और अत्यधिक फफूंददार शराब को नयी भड़कीली बोतलों में भर दिया गया है,—अभी तो यह संहति और संतुलन की कृटनीति की पुरानी कुख्यात भावना, सबसे अधिक सबल, कुछ प्रबल प्रभावशाली राज्यों और साम्राज्यों की सरकार है। एक अधिक न्यायपूर्ण और जनतंत्रीय अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली में इसे समाप्त हो जाना चाहिये। युद्ध की विरासत में प्राप्त इस अशुभ भावना को, जिसमें 'शत्रु', सहायक और मित्र राष्ट्रों में अथवा अधिक प्रिय या कम प्रिय जातियों में विभेद किया जाता है, इस संघ की प्रणाली से निकलना ही होगा, क्योंकि यह जबतक रहेगी, एक विपैले कीटाणु का कार्य करेगी और सब प्रकार के स्वस्थ विकास और क्रियाशीलता को रोक देगी। एक ऐसा राष्ट्रसंघ, जिसे विश्व में सच्ची शांति लानी है, न्याय का आरंभ करना है और सुव्यवस्थित सौजन्य को बढ़ाना है, एक चीज है और मित्र सरकारों की अपनी उत्तरदायित्वहीन इच्छा को पीड़ित और असंतुष्ट यूरोप, एशिया और अफ्रीका पर लादनेवाली गुप्त सभा एक और चीज। जबतक एक टिका है दूसरे को अस्तित्व में लाना संभव नहीं। इस संघ की अव्यवस्थित रचना को दुबारा एक सीधे-सादे और सरल स्वरूप और अर्थ में ढालना होगा और इसमें स्पष्ट सिद्धांत के उस तत्त्व को प्रविष्ट करना होगा जिसे इसने अपनी रचना में छोड़ दिया है। अंतर्राष्ट्रीय अधिकारों और दायित्वों की, न्यायपूर्ण स्वाधीनता तथा हितकर और आवश्यक प्रतिबंध की एक समान प्रणाली ही अंतर्राष्ट्रीय विधि और व्यवस्था का सही आधार बन सकती है। जातियों की न्यायपूर्ण और समान स्वतंत्रता का सच्चा आधार केवल आत्म-निर्धारण का वह सिद्धांत ही बन सकता है, और कुछ नहीं, जिसका युद्ध के दिनों में खूब ढोल पीटा गया था, किंतु जिसे एक अवसरवादी राजनीतिज्ञता ने प्रायः समाप्त कर दिया है और एक शोचनीय शून्यता का दरजा दे दिया है। आत्म-निर्धारण का सच्चा सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय एकता और पारस्परिक दायित्व के साथ असंगत हर्गिज नहीं है, बल्कि दोनों अनिवार्य रूप में एक-दूसरे के पूरक हैं, उसी प्रकार जैसे

वैयक्तिक स्वतंत्रता, जो अपने शुद्ध अर्थ में स्वस्थ आत्म-विकास और आत्मनिर्धारण के लिये उचित और पर्याप्त अवसर प्रदान करती है, आत्मा की एकता तथा मनुष्य मनुष्य के बीच के दायित्व के साथ जरा भी असंगत नहीं है। यह सचमुच एक समस्या है कि उसे वर्तमान अवस्थाओं, विरोधी-भावनाओं, महत्वाकांक्षाओं, शिकायतों, राष्ट्रीय लालसाओं, ईर्ष्याओं, अहंभावों में से कैसे विकसित किया जाये। किंतु यह एक ऐसी समस्या है जिसकी ओर आज या कल ध्यान देना ही होगा, वरना और भी बड़े संकटों का सामना करना पड़ेगा। यह कहना कि ये विकास असंभव हैं यह अर्थ रखता है कि कुछ राष्ट्रों के एक ऐसे संघ के सामने जो सामान्य लाभ की दृष्टि से तथा प्रबल सहयोग स्थापित करने के लिये संगठित हुआ है, एक सच्चे अर्थों में राष्ट्रसंघ की स्थापना असंभव है। उस अवस्था में इस भारी-भरकम नामवाली यह वर्तमान संस्था केवल पुरानी 'संहति' या कुछ बाद की 'पवित्र मैत्री' का एक अधिक विस्तृत एवं यंत्रचालित संस्करण हो सकती है। तब इसका हाल भी जल्दी या देर में वही होगा जो इससे पहले की संस्थाओं का हुआ था। यदि यही बात है तो हम इसे जितनी जल्दी समझ लें उतना ही सभी संबंधित व्यक्तियों के लिये अच्छा होगा, ऐसी अवस्था में झूठी आशाएं, विपथगामी शक्तियां तथा साथ ही इनसे उत्पन्न निराशा, अशांति, संताप और संकटपूर्ण प्रतिक्रिया का बोझ भी बहुत कम हो जायेगा। वर्तमान पथ पर बढ़ते जाने का अर्थ है सीधा एक अधिक भयंकर विध्वंस के मुंह में जाना।

इन वस्तुओं पर जोर देने का अर्थ उस आशा की भावना को अत्यधिक निरुत्साहित करना नहीं है जिसकी मनुष्यजाति को अपने विकास के लिये आवश्यकता है; अपितु यह इसलिये आवश्यक है कि यह आशा भ्रांतियों से ही अपना पोषण न करती रहे और गलत दिशा में ले जानेवाले मार्गों को न चुन ले, बल्कि अपनी चरितार्थता की सही शर्तों को स्पष्ट रूप से देख सके और उन्हें पूरा करने में अपनी सारी शक्ति लगा दे। सरल विश्वास के साथ यह मान लेना है तो सुविधाजनक, पर साथ ही संकटपूर्ण भी कि एक बुरी प्रणाली स्वयं ही एक अच्छी वस्तु में विकसित हो जायेगी अथवा कोई सीधा-सादा परिवर्तन आकर उद्धार का मार्ग प्रशस्त कर देगा, उदाहरणार्थ यूरोप में धीरे-धीरे सच्चा लोकतंत्र विकसित हो जायेगा और यह राष्ट्रसंघ, जिसकी स्थापना इतने अधूरे ढंग से हुई है, आगे जाकर अपनी अंतर्निहित अच्छी भावना के कारण पूर्ण बन जायेगा, आदि-आदि। ऐसी आशापूर्ण स्वीकृति और सहनशीलताभरे स्वभाव का सामान्यतया यह परिणाम होता है कि जिस अच्छी अवस्था की आशा की जाती है वह जब आती है तो वह सचमुच कुछ सुधार तो करती है, किंतु साथ ही अतीत की विरासत भी लाती है, अंधभावना और उसकी अनिष्ट और अशुभ वस्तुओं का पर्याप्त उत्तराधिकार भी प्राप्त करती है। साथ ही स्वयं उसकी अपनी गलतियां भी उसके बोझ को और भारी कर देती हैं। निश्चय ही, जो वस्तु इस नयी रचना के, सरकारों के इस 'संघ' के पीछे थी उसे किसी-न-किसी प्रकार

आना ही होगा, क्योंकि मैं यह मानता हूँ कि देर या सबेर, अंतर्राष्ट्रीय जीवन की एक गठित प्रणाली अनिवार्य है, क्योंकि यह वर्तमान अवस्थाओं का, अधिक घनिष्ठ संबंध तथा एक-दूसरे के जीवन पर होनेवाली पारस्परिक क्रिया का निश्चित परिणाम है। इसका एकमात्र विकल्प है उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अशांति, अव्यवस्था और अंत में अनर्थ और विध्वंस। किंतु यह अनिवार्य विकास उस तरीके और सिद्धांत के अनुसार, जिसका हम अनुसरण करते हैं, अच्छा या बुरा मोड़ ले सकता है। यह एक ऐसी यांत्रिक और उत्पीड़नकारी प्रणाली के रूप में प्रकट हो सकता है जो वैसी ही मिथ्या और दोषपूर्ण हो जैसी कि यूरोप की औद्योगिक सभ्यता, जो अपने पथ पर इतने गर्वभरे और विकराल ढंग से बढ़ी कि वह वर्तमान विनाश का कारण बन गयी, अथवा यह एक अधिक गंभीर निर्माणकारी शक्ति के रूप या स्वस्थ क्रिया में भी प्रकट हो सकता है जो एक और भी अधिक बड़े और उपयोगी मानव-विकास का आधार या कम-से-कम आरंभिक बिंदु तो बन ही सकता है। वस्तुतः कोई भी प्रणाली अपने ही बल-बूते पर उस परिवर्तन को नहीं ला सकती जिसकी मानवजाति को सचमुच आवश्यकता है; कारण, वह परिवर्तन केवल तभी आ सकता है जब जाति अपनी उच्चतर प्रकृति की संभावनाओं को अधिकाधिक दृढ़तापूर्वक चरितार्थ करने लगे, और उसका यह विकास बाह्य परिवर्तन पर नहीं आंतरिक परिवर्तन पर निर्भर है। किंतु बाह्य परिवर्तन कम-से-कम उस अधिक सच्चे सुधार के लिये अनुकूल अवस्थाएं तैयार कर सकते हैं, —अथवा इसके विपरीत वे ऐसी अवस्थाएं भी उत्पन्न कर सकते हैं जिनमें केवल 'कल्क' की तलवार ही पृथ्वी को एक हठीली आसुरिक मानवजाति के बोझ से मुक्त कर सके। चुनाव स्वयं जाति के हाथों में है; कारण, जैसा वह बोयेगी वैसा ही कर्मफल काटेगी।

और यह बात हमें दुबारा उसी विचार पर ले आती है जिसके साथ हमने आरंभ किया था और इसीके साथ हम अंत भी कर सकते हैं, वह चाहे आज की जड़वादी पीढ़ी के व्यावहारिक मन को कितना भी दूरस्थ क्यों न लगे। जिस विचार का यूरोप अनुसरण करता है वह, अर्थात् एक बाह्य प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक पूर्णता का विचार, अपनी हद में, एक सत्य पर आधारित है, किंतु केवल उस सत्य के अर्ध भाग पर जो कि परिधि का निम्नार्ध है। इसका एक अधिक बड़ा भाग उस दूसरे पुराने विचार के पीछे छिपा हुआ है जो एशिया में अभी बिल्कुल निर्जीव नहीं हुआ है और यूरोप में भी दुबारा जन्म लेने के लिये काफी सशक्त हो गया है, और वह यह कि व्यक्ति और मनुष्यजाति के समुदाय का उद्धार केवल बाह्य कानून से नहीं हो सकता; कारण, कानून एक मध्यवर्ती साधनमात्र है जिसका काम है हमारी अहंभावयुक्त प्रकृति की मौलिक अव्यवस्था पर कठोर दायित्व की और एक अधिक अच्छे मानक की लगाम कसकर रखना। व्यक्ति और समुदाय का उद्धार कानून से नहीं आता।

‘हम भारतवासियों को अभी उस सत्य को उपलब्ध करना है — शास्त्र के द्वारा नहीं, आत्मा के द्वारा।’

द्वारा होता है। वैयक्तिक और सामाजिक पूर्णता की शर्तें सचमुच एक ही हैं, स्वतंत्रता और एकता। ये दोनों वस्तुएं एक-दूसरे की पूरक हैं, यह विचार कि एक के मूल्य पर दूसरे को प्राप्त करना है, व्यर्थ का अपधर्म है। किंतु जाति को सच्ची एकता तबतक नहीं प्राप्त हो सकती जबतक कि अपनी अहंकारी प्रकृति को वश में करके मनुष्य मनुष्य के साथ हृदय और आत्मा में एक नहीं हो जाता, न ही उसे तबतक सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त हो सकती है जबतक वह अपनी निम्नतर प्रकृति से मुक्त होकर सत्य की शक्ति को नहीं प्राप्त कर लेता, उस सत्य की शक्ति को जिसके विषय में संतों और ऋषियों ने—चाहे वह शिक्षा निष्फल ही हुई हो—सिखाया है कि मनुष्य के व्यक्तित्व को सर्वांगीण पूर्णता तभी प्राप्त होती है जब वह विश्व के साथ एक हो जाता है, तभी वह पूरी मनुष्यजाति को अपने हृदय, मन और आत्मा के आलिंगन में ले सकता है। किंतु वर्तमान समय में व्यक्ति और राष्ट्र दोनों एकता के इस आंतरिक मंत्र को स्वीकार करने से कोसों दूर हैं। हम अधिक-से-अधिक अभी इतनी ही आशा कर सकते हैं कि इनमें से सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति और राष्ट्र अपने मनों को उत्तरोत्तर इसी दिशा में मोड़ेंगे और इस बार एक नवीनतर और अधिक प्रकाशपूर्ण उत्साह के साथ मानव-अभीप्सा को पुनः जागृत करेंगे। तबतक इस कर्कश राष्ट्रसंघ और मनुष्यजाति के एक यांत्रिक विलयनशील संगठन को एक दूरस्थ आशा के साथ व्यवहार में लाना होगा। किंतु सामाजिक जीवन के स्वर्णयुग का स्वप्न केवल तभी संभव हो सकता है तथा आध्यात्मिक, और इसी कारण स्वाधीनता और एकता के सच्चे शासन पर आधारित हो सकता है जब जाति अपनी दृष्टि को अंदर की ओर मोड़ना सीख ले। तब ये सब वस्तुएं नहीं बल्कि मनुष्यजाति, भगवान् की प्रजा, भगवान् की ही आत्मा और देह हमारी पूर्णता का आदर्श बन जाती हैं।

युद्ध के बाद

युद्ध को बंद हुए कुछ समय हो चुका है; बल्कि वह अब अतीत की निकटस्थ दूरियों में खोता जा रहा है। हमारे चारों ओर वर्तमान की एक काली धुंध और अस्तव्यस्तता है और हमारे आगे धुंधले और अनिश्चित भविष्य का स्वरूप है। तथापि, युद्ध के तात्कालिक परिणामों का कुछ लेखा-जोखा किया जा सकता है, यद्यपि भाषा की कितनी भी खींचतान करके विश्व की स्थिति को स्पष्ट नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अभी इसकी विशेषता है एक अस्तव्यस्त प्रवृत्ति और एक अनुपम अव्यवस्था। युद्ध के दिनों में जिन आदर्शों की खूब ऊंची आवाज में घोषणा की जाती थी, जो मुख्य रूप से संघर्षरत हितों की घोषणा करनेवाले एजेंट होते थे—अब मौन और बदनाम हो चुके हैं : परस्पर-विरोधी शत्रुता के जटिल आलिंगन में उलझी हुई विक्षुब्ध और पाशबद्ध शक्तियाँ, जो अत्यंत दुर्बल अथवा क्लृप्त होने के कारण न तो एक दूसरे पर विजय प्राप्त कर सकती हैं और न ही अलग होने में समर्थ हैं, एक ऐसा व्यग्र अवसरवाद हैं जो न तो अपना पथप्रदर्शन कर सकता है न किसी परिणाम पर ही पहुंच सकता है—ये वर्तमान स्थिति की विशेषताएं हैं। मानवजाति की स्थिति एक ऐसे परित्यक्त जहाज की-सी है जिसके मस्तूल और पतवार टूट गये हैं, जो समुद्र में तूफानों के बाद के उफान में हिचकोले खाता और उछलता हुआ बहता जा रहा है। “सर्वोच्च परिषद्” में राजनीतिज्ञ इसके पौरुषहीन कर्णधार हैं, वे चिल्ला-चिल्लाकर ऐसे निर्देश दे रहे हैं जिन्हें उपयोगी रूप में कार्यान्वित करने की जरा भी संभावना नहीं दिखायी देती. उन्हें क्षण-क्षण बदलना पड़ता है। कहीं कोई मार्गदर्शक प्रकाश नहीं दिखायी देता, न कोई ऐसा न्यायोचित विचार ही है जो जरा भी व्यवहार्य हो। हत्याकांड के उन्माद का स्थान एक बहुत बड़े बौद्धिक और नैतिक दिवालियेपन ने, एक असीम असारता और विषाद ने ले लिया है।

सचमुच युद्ध का यह एक अत्यधिक विशिष्ट एवं तात्कालिक परिणाम है : विश्वव्यापी निराशा, मोह-निवारण का वातावरण तथा बड़ी-बड़ी आशाओं और आदर्शों की असफलता। युद्ध के दिनों में कितनी ऊंची, बड़ी और चुंधिया देनेवाली वस्तुओं का वचन दिया गया था ! पर अब वे कहाँ हैं ? अब वे अस्वीकृत, दूषित एवं अपमानित होकर युद्ध के अवशेष, रक्त से सने कूड़े के ढेर पर मृत, नग्न एवं भ्रष्ट अवस्था में फेंक दी गयी हैं। उनमें से एक भी हमें प्राप्त नहीं हुई है। युद्ध का अंत करने के लिये जो युद्ध लड़ा गया था वह केवल एक नये सशस्त्र युद्ध और गृहकलह का जन्मदाता बना है और इसके फलस्वरूप जो क्लृप्ति आयी वही अभीतक एक दूसरे रक्त से सने महायुद्ध को रोके हुए है। जिस नयी न्याय्य और शांतिपूर्ण विश्व-व्यवस्था का हमें वचन दिया गया था वह बहुत दूर, आकाश-कुसुमों के जगत् में विलीन हो गयी है। जो राष्ट्रसंघ इसे मूर्त रूप देनेवाला था उसका अस्तित्व ही नहीं है

और यदि है भी तो वह एक उपहास या कहावत के रूप में। यह संघ सर्वोच्च परिषद् की एक सजावटमात्र है, उसके साथ एक असहाय और बेकार अंग के रूप में जुड़ा हुआ है, इस समय यह एक दुर्बल वचन के रूप में उन लोगों के अस्पष्ट और निःसार आदर्शवाद के सामने झूल रहा है जो अभी तक इसके निष्पाण सूत्र के प्रति निष्ठावान् हैं। यह संघ केवल कागजी है; प्रत्यक्ष रूप में यदि यह अधिक सक्रिय हो भी जाये तो भी एक पारदर्शी आवरण से अधिक कुछ नहीं हो सकता, या फिर यह शक्तिशाली सरकारों के एक सुगठित अल्पतंत्र द्वारा पृथ्वी पर प्रभुत्व जमाने के कार्य में निष्क्रिय सहायता ही दे सकता है, यह अल्पतंत्र केवल दो साम्राज्यवादी मित्र-राष्ट्रों का भी हो सकता है। आत्म-निर्णय के जिस सिद्धांत की एक बार बड़े जोर-शोर से घोषणा की गयी थी उसे अब खुले आम अस्वीकार किया जा रहा है और विजेता साम्राज्यों के द्वारा सरसरी तौर से एक ओर रख दिया गया है। उसके स्थान पर अब हमारे सामने यूरोप का एक मानचित्र है जो पुराने कूटनीतिक सिद्धांतों के आधार पर फिर से बनाया गया है। इसमें अफ्रीका को हड़पकर दो या तीन बड़ी यूरोपीय शक्तियों की वैयक्तिक संपत्ति के रूप में बांट लिया गया है और पश्चिमी एशिया को यह दंड मिला है कि उसका शासन प्रादेशाधीन प्रणाली द्वारा होगा जिसे अब खुले रूप में व्यावसायिक शोषण के साधनों के रूप में उचित ठहराया जा रहा है और जिसे मशीनगनों और संगीनों के सर्वोच्च अधिकार के द्वारा अनिच्छुक जातियों पर लादा जायेगा। यह दृश्य कि अधीन जातियां और 'रक्षित' राष्ट्र स्वतंत्रता की मांग कर रहे हैं और उन्हें सैनिक शक्ति से दबाया जा रहा है, नयी व्यवस्था का प्रमुख लक्षण बना हुआ है। सैन्यवाद की समाप्ति, जिसकी प्रतिज्ञा की गयी थी, अब भी पहले की तरह बहुत दूर है। उसकी अंतर्निहित भावना और वास्तविकता सर्वत्र देखने में आ रही है, केवल उसका शक्ति-केंद्र और मुख्य कार्य पश्चिम की ओर और पूर्व की ओर स्थानांतरित हो गया है। जब युद्ध चल ही रहा था तभी कुछ लोगों ने ये सब वस्तुएं देख ली थीं, इन लोगों का भी आदर्श वही था पर वे स्पष्टता से देखना चाहते थे : अब ये बातें लोकप्रिय साधारण चर्चा का विषय हैं।

फिर भी यह स्थिति का केवल एक पक्ष है, जो कि अत्यधिक आधुनिक, हठीला और स्पष्ट है, किंतु इस कारण अधिक महत्वपूर्ण और सार्थक नहीं है। यह एक अवस्था को दिग्दर्शित अवश्य करता है पर उस महान् उथल-पुथल का निश्चित परिणाम नहीं है। यह आशा कि यह उग्र संग्राम संसार को तत्काल जादू के जोर से पूरी तरह बदल देगा और उसे एक नया जन्म दे देगा अपने-आपमें एक भ्रांति थी। यह कल्पना करना ही गलत था कि लंबे समय से चले आ रहे मानव-व्यवहार और चरित्र की भूमि में गहराई से जमी हुई भूतकाल की जड़ें एक भयावह क्षण में विलीन हो जायेंगी अथवा तत्काल अपना स्थान भविष्य की अछूती शक्ति को सौंप देंगी। जो काम करना है वह इतना बड़ा है कि वह सरल नहीं हो सकता : मनुष्य और उसके

जीवन का पुनरुज्जीवन, एक उच्चतर प्रकृति के रूप में उसके पुनर्जन्म का कार्य इतनी संक्षिप्त और बाह्य प्रक्रिया द्वारा संपादित नहीं हो सकता। यह मान लेना एक भ्रांति थी कि युद्ध एक कष्टपूर्ण, भयंकर, किंतु अंत में हितकर निर्णायक संकटस्थिति था या हो सकता था, जिसके द्वारा वह महान् परिवर्तन निश्चयात्मक रूप में साधित हो जाता, — एक ऐसा परिवर्तन जिसका अर्थ होता मनुष्य-जाति की आत्मा, मन और जीवन का पूर्ण नवीकरण और शोधन। युद्ध केवल पहले धक्के और परिवर्तन के रूप में आया, इसने बाधाओं को दूर करने का एक अवसर प्रदान किया। यह कुछ विचारों और शक्तियों की नैतिक पकड़ पर, अभीतक भौतिक पकड़ पर नहीं, एक सांघातिक प्रहार था, उन विचारों और शक्तियों पर जो तबतक अपने-आपको निश्चित रूप से मिहासनस्थ अनुभव करती थीं, साथ ही वर्तमान के प्रति निश्चित और भविष्य पर अपने आधिपत्य के बारे में आशावादी थीं। युद्ध ने भूमि को ढीला तो कर दिया है किंतु पुराने झाड़-झंखाड़ों को जड़ से उखाड़ना उसके बृते की बात नहीं थी। उसने जमीन का कुछ भाग साफ भी कर दिया है किंतु उस जमीन को सफल रूप से भरना अन्य शक्तियों का काम है : इसने हल चलाकर काफी सारी मिट्टी को उलट-पलट अवश्य दिया है किंतु नये सिरे से बीज बोना और फसल काटना अभी बहुत दूर की बात है। अंत में, यह कल्पना एक पोसी हुई भ्रांति थी और अब भी है कि राजनीतिक अथवा किमी और तंत्र का परिवर्तनमात्र — चाहे वह कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, सभ्यता की सभी त्रुटियों का रामबाण इलाज है। केवल आत्मा का परिवर्तन, अतएव आध्यात्मिक परिवर्तन ही एक महत्तर और श्रेष्ठतर मानवजीवन का अनुमोदन और आधार हो सकता है।

पुराने सिद्धांतों और अवस्थाओं का जीवित रहना अब भी कोई अधिक महत्वपूर्ण बात नहीं है। उनकी बाह्य और भौतिक शक्ति देखने में चाहे जितनी बड़ी क्यों न लगे, वे अंदर से रोगी और दुर्बल हो गये हैं, भविष्य की आशा को खो बैठे हैं, उनकी समस्त बौद्धिक और नैतिक पकड़ समाप्त हो गयी है और इसकी समाप्ति के साथ ही उनकी समस्त व्यावहारिक और कार्यसाधक बुद्धि और उनका पोषक आत्मविश्वास भी काफी हदतक समाप्त हो गया है। जीवित रहने की सहज-प्रवृत्ति और पुरानी क्रियाशीलता की प्रेरणा ही उन्हें अबतक चला रही हैं, और वे तबतक तो जीवित रहेंगे ही जबतक उन जातियों के पुराने मानसिक और प्राणिक अभ्यासों के जड़ अस्तित्व पर उनकी कुछ पकड़ रहेगी और जबतक उन्हें भविष्य की नयी और उत्तरोत्तर बलवान् होती हुई शक्तियां खदेड़ नहीं देंगी। उनकी सभी चेष्टाएं उस बल को बढ़ाती ही हैं, चाहे वे अपने सिद्धांतों पर प्रबल आग्रह करके अपने को बनाये रखने का प्रयास करें, उन बिल्कुल विरोधी सिद्धांतों से, जिनका उनके स्थान पर आना नियत ही है, मोल-ताल और समझौता करने की कोशिश करें, उनका आगे उठनेवाला प्रत्येक पग उन्हें अपने अंत के निकट ले जाता है। उन नयी वस्तुओं की ओर ध्यान देना अधिक

फलप्रद होगा जिनका अभी वर्तमान पर अधिकार तो नहीं है, पर जो बलपूर्वक अपना प्रभाव डालने के लिये उसके भारी और प्रभावशाली किंतु क्षणिक दबाव के विरुद्ध संघर्ष कर रही हैं।

युद्ध के दिनों में यह बात स्पष्ट थी कि वह दो बड़े प्रश्नों का समाधान न कर सकेगा बल्कि उन्हें तीव्र संकट की स्थिति तक पहुंचा देगा। एक तो पूंजीपति और श्रमिक वर्ग का प्रश्न और दूसरे एशिया का प्रश्न जो अब विरोधी शोषक दलों के बीच का नहीं वरन् आक्रामक यूरोप और पुनरुत्थित एशिया के बीच की समस्या है। स्वयं युद्ध भी अपने तात्कालिक रूप में जर्मन विचार और उस मध्यवर्गीय उदारतावाद के बीच का संघर्ष था जिसका प्रतिनिधित्व पश्चिमी जातियां, — फ्रांस, इंग्लैंड और अमरीका — करती थीं और उस समय के प्रश्न को सुलझाने के लिये दूसरे दो प्रश्न, जो भविष्य के लिये अधिक महत्वपूर्ण थे, स्थगित करने पड़े। पूंजीपति और श्रमिक वर्ग के बीच संधि हो गयी थी, एक ऐसी संधि जो किसी आवश्यक तथ्य के कारण नहीं बल्कि राष्ट्रीय भावना के एक ऐसे प्रबल केंद्रण के द्वारा निर्धारित हुई थी जो रूढ़ समाजवादी विचार की अस्पष्ट आदर्शवादी अंतर्राष्ट्रीयता के लिये अत्यधिक बलशाली प्रमाणित हुआ। कारण, विरोधी वर्गों के बीच संबंध या संधि स्थापित कराने के निरर्थक काव्यात्मक वचन की सत्यता इतनी खोखली थी कि उसकी गिनती तथ्य में नहीं हो सकती थी। साथ ही एशिया का प्रश्न भी रुका पड़ा था और उदार साम्राज्यों ने उन जातियों को, जो तबतक सभ्यता के दायरे से बाहर गिनी जाती थीं, आत्मनिर्णय और स्वाधीनता की लुभावनी संभावनाएं अथवा अधिक सीमित पर फिर भी आकर्षक प्रलोभन दिये थे। एशियाई जातियां स्वतंत्र रूप से कुछ करने में असमर्थ थीं, उन्होंने उसी पक्ष को स्वीकार कर लिया जिसकी सफलता उन्हें अधिक आशा अथवा कम-से-कम भय दिखाती प्रतीत होती थी। अब यह सब अतीत की वस्तु बन गयी है : स्वाभाविक और अनिवार्य संबंध फिर से आगे आ गये हैं और ये बड़े प्रश्न फिर से सिर उठा रहे हैं। पूंजीपति और श्रमिक वर्ग के बीच के आधुनिक संघर्ष ने अब एक नया रूप धारण कर लिया है और दो असाध्य रूप में विरोधी सिद्धांत स्पष्ट ही बहुत-से संशयों और अनिश्चयता के होते हुए भी, अंतिम और निर्णायक युद्ध की ओर अग्रसर हो रहे हैं। एशिया में यह प्रश्न एक ओर अधीन और रक्षित राज्यों के पुराने नियम तथा उनके नये, बहुरंगे रूपभेद, प्रादेशिक शासन और दूसरी ओर एशियाई जातियों की समानता और स्वाधीनता के लिये स्पष्ट मांग की समस्या के साथ जुड़ गया है। जो अन्य वस्तुएं अभीतक अग्रभाग में हैं वे या तो बचे हुए अतीत का दीर्घीकरण हैं या उसके परिसमापन का अवशेष। निकट भविष्य के जीवंत प्रश्न यही दो हैं।

समाजवाद और पूंजीवाद की शक्तियां अब समस्त यूरोप में आमने-सामने डटी हैं, पर उन्होंने अभी युद्ध आरंभ नहीं किया है — अन्य सब विभेद लुप्त हो रहे हैं, राष्ट्रों के बीच होनेवाले पुराने छोटे-मोटे राजनीतिक झगड़ों का अब कुछ अर्थ नहीं रह गया है।

अभीतक भौतिक शक्ति पर पुराने मध्यवर्गीय शासन की पकड़ है, उसने आधिपत्य के बल पर तथा मनुष्यों की इस आदत से कि वे किसी अर्निश्चित अभियान से वर्तमान बुराई को अधिक पसंद करते हैं, दुर्लभ जनता के मन को अपने अधिकार में कर रखा है, इस तरह वह अपनी सारी बची-खुची शक्तियों की सहायता से अपने स्थान को बनाये रखता है। इसे पहली बार रूस में एक सफल समाजवादी और क्रांतिकारी शासन की वास्तविकता का सामना करना पड़ा है; चाहे जन्मते ही उसका गला घोट देने के लिये बार-बार किये गये प्रयत्न व्यर्थ गये हों, फिर भी उसे अलग कर देने, उसके मार्ग में बाधा डालने तथा उसे पीड़ित करने, उसके पश्चिम की ओर बढ़ने के विरुद्ध एक कृत्रिम सीमाबंदी खड़ी कर देने तथा उसकी निरंतर बदनामी करके उसके प्रमुख विचारों के द्रुत विस्तार को रोकने में इसे सफलता अवश्य मिली है। रूसी सीमा के पश्चिम में जब कभी कोई सोवियत क्रांति हुई तो वह कानूनी और सैनिक दमन के द्वारा समाप्त कर दी गयी। दूसरी ओर संसार की आर्थिक अवस्था प्रतिवर्ष अधिकाधिक बुरी होती जा रही है, अच्छी नहीं, और यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि पूंजीवाद ने न केवल अपनी नैतिक ख्याति खो दी है बल्कि वह उन भौतिक समस्याओं को, जिन्हें स्वयं उसने खड़ा किया और उभारा था, सुलझाने में भी असमर्थ है और साथ ही वह इनके किसी भी अन्य समाधान का रास्ता रोकता है। इस गतिरोध में से गुजरता हुआ प्रत्येक वर्ष इस बात का साक्ष्य है कि समाजवादी विचार का बल एवं उसके अनुयायियों की संख्या, गुण-स्वभाव और उग्र उत्साह भी अत्यधिक बढ़ रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रायः सर्वत्र ही पुरानी शासन-पद्धति अस्थायी रूप से कठोर एवं केंद्रित हो गयी है। यह तथ्य उस पुरानी राजतंत्रीय और कुलीन-तंत्रीय शासनपद्धति की कठोरता और केंद्रण से बहुत कुछ मिलता है जो क्रांतिकारी फ्रांस और यूरोप के बीच के हुए युद्ध के परिणाम-स्वरूप आरंभ हुई थी। किंतु इसकी वास्तविक शक्ति कम है, साथ ही यह अधिक स्थायी भी नहीं है; कारण, इस बार क्रांति की धारा केवल अवरुद्ध कर दी गयी है, पहले की तरह वह अस्थायी रूप से अशक्त और क्लान्त नहीं हुई है और शक्तियों और विचारों के रूपांतरकारी संचित प्रवाह की गति इस समय बहुत तेज है। उस महान् राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के उपादान, प्रत्येक अवरोध और शायद भयंकर विस्फोटों की शृंखला, जो दबाव के साथ अधिकाधिक सशक्त होते जाते हैं, सर्वत्र प्रत्यक्ष रूप में संचित हो रहे हैं।

भविष्य में वस्तुओं का विशेष रूप यह होगा कि रूसी क्रांति स्थायी रूप से सफलता एवं निरंतर प्रगति के पथ पर चलती रहेगी। इस घटना का मानव-इतिहास में वही महत्त्व प्रतीत होता है जो अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस में आरंभ किये गये सुस्थापित विचारों और संस्थाओं के परिवर्तन का था; और भावी पीढ़ी इस महायुद्ध को इसी बात के लिये याद रखेगी, जर्मनी के पतन के लिये नहीं। इस बात का महत्त्व

वर्तमान बोलशेविक शासन के गुणों और अवगुणों या उसके अस्तित्व की संभावनाओं पर निर्भर नहीं है। बोलशेविक 'तानाशाही' निश्चय ही संक्रमण-काल का, क्रांतिकारी शक्ति के एक क्षाणिक केंद्रण का साधन है, ठीक उसी प्रकार जैसे सर्वोच्च परिषद् और वह सब जिसका यह समर्थन करती है, विरोधी रूढ़िवादी शक्तियों का एक अस्थायी केंद्रण है। इस असाधारण सरकार द्वारा किये गये कार्य पर्याप्त रूप से आश्चर्य में डाल देनेवाले हैं। देश के अंदर और बाहर से इसपर लगातार आक्रमण होते रहे, क्रूरतापूर्वक इसे अवरुद्ध और पीड़ित किया गया और उन साधनों के सिवाय, जिन्हें वह अपने-आप अपने अंदर से उत्पन्न या अधिकृत कर सकता था, वह संपोषण और क्रिया-कलाप के सब साधनों से वंचित किया गया। उसे बार-बार विनाश की सीमा तक लाया गया, पर इन सबके होते हुए भी उसने सभी कठिनाइयों और संकटों को पार करके अपने-आपको जीवित रखा; इतना ही नहीं, सदा विपत्तियों से नयी शक्ति प्राप्त की, आंतरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त की और बाह्य शत्रुओं का सामना किया, अपनी सीमाओं को पार करके एशिया में विस्तार किया, अस्तव्यस्तता में से एक सबल सैनिक और असैनिक साधनों की व्यवस्था की, अभाव, गृहयुद्ध और विदेशी भय के बीच में भी उसके पास एक नये प्रकार के समाज की आरंभिक आधारशिला रखने की शक्ति रही है। मानव-सामर्थ्य का यह चमत्कार अपने-आपमें फ्रेंच क्रांति के समय जैकोबिनियों की असाधारण सफलता की अधिक प्रतिकूल परिस्थितियों में पुनरावृत्ति से बढ़कर कुछ नहीं है। इन सफलताओं के पीछे विद्यमान विचार की शक्ति, जिसने इन्हें संभव बनाया, अधिक महत्व रखती है। यह केवल बाह्य महत्व की बात है कि अभी बहुत दिन नहीं हुए जब बोलशेविकों को मास्को खोने का भय था और अब वे वारसा की ओर बढ़ रहे हैं। यह बात कहीं अधिक महत्वपूर्ण है कि पश्चिमी शक्तियों को आधुनिक समय की प्रथम सफल साम्यवादी सरकार के साथ समझौते की बातचीत करने के लिये बाध्य होना पड़ा है, उस सरकार के साथ जिसका वे अभीतक एक राक्षसी शक्ति के रूप में प्रत्याख्यान करती रही हैं और जिसे सभ्यता का संकट मानकर नष्ट कर देना चाहती हैं। किंतु वास्तविक महत्व इन घटनाओं का नहीं है जो कोई और दिशा भी ग्रहण कर सकती थीं या अब भी कर सकती हैं और जो केवल कथा-वार्ता की वस्तुएं बनकर रह सकती थीं, बल्कि यह मूल तथ्य, जो भविष्य की संभावनाओं पर प्रभाव डाल रहा है, इस अर्थ में अधिक महत्वपूर्ण है कि एक महान् राष्ट्र ने जो मानवजाति के निर्दिष्ट भावी नेताओं में से है भविष्य की अज्ञात गहराइयों में साहसपूर्वक छलांग मारी है, पुराने आधारों को हटाकर साम्यवाद के आमूल प्रयोग किये हैं और निरंतर कर रहा है, उसने मध्यवर्गीय संसद्-पद्धति के स्थान पर एक नये प्रकार की सरकार स्थापित की है और स्वतंत्र जीवन की प्रथम शक्ति का प्रयोग एक संपूर्णतया नवीन सामाजिक व्यवस्था लाने में किया है। इस स्तर के विश्वास और साहस से किये गये कार्य ही मानव-प्रगति की दिशा को बदलते या उसे तेज करते

है। इस सबका आवश्यक परिणाम यह नहीं है कि अब जिस कार्य के लिये प्रयत्न हो रहा है वही भावी समाज का वांछित अथवा निश्चित स्वरूप होगा, लेकिन यह इस बात का निश्चित संकेत है कि सभ्यता की एक अवस्था जा रही है और काल-पुरुष एक नये पक्ष और एक नयी व्यवस्था की तैयारी कर रहा है।

साम्यवादी विचार को पश्चिम तक पहुंचने में समय लग सकता है और इस बीच उसमें कई परिवर्तन भी हो सकते हैं, किंतु इस अर्थ में असाधारण प्रगति हो चुकी है। सभी जगह श्रमिक आंदोलन सुधारवादी ढंग को छोड़कर समाजवादी रूप में और इसी कारण, वर्तमान संकोचों के होते हुए भी, आवश्यक रूप से पूरी तरह क्रांतिकारी रूप में परिणत हो रहा है। एक श्रेष्ठतर सामाजिक स्थिति प्राप्त करने या शासन में भाग लेने के लिये श्रमिकवर्ग का संघर्ष अब पुराना होकर लुप्तप्राय हो गया है : समाज के पूंजीवादी ढांचे का उन्मूलन और सामाजिक आधार और शासक शक्ति के रूप में धन के स्थान पर श्रम का स्थापन ही आदर्श के रूप में स्वीकृत किया जा रहा है। इस आंदोलन में जो मतभेद हैं वे सिद्धांतसंबंधी नहीं बल्कि परिवर्तन के साधन और प्रक्रिया से और उस यथार्थ स्वरूप से भी संबंधित हैं जो भावी समाजवादी सरकार और समाज को दिया जायेगा। मंत्रणाओं का यह विभाजन ही आगे की प्रगति को धीमा कर रहा है और युद्ध के निर्धारित प्रश्न को हाथ में लेने से रोकता है। यह बात सुस्पष्ट है कि हम जैसे-जैसे पूर्व की ओर बढ़ते हैं समाजवादी और साम्यवादी विचारों की शक्ति बढ़ती जाती है और इससे उल्टी दिशा में कम होती जाती है : यह प्रगति पश्चिम से पूर्व की ओर नहीं बल्कि पूर्व से पश्चिम की ओर हो रही है। तथापि, अधिक उग्र शक्तियां दिन-प्रतिदिन सर्वत्र जोर पकड़ रही हैं, बल्कि धनिकतंत्रीय अमरीका में भी अनुभव की जा रही हैं। जो भी हो, गति चाहे कितनी भी धीमी क्यों न हो, धारा की दिशा बिल्कुल स्पष्ट है और परिणाम भी निःसंदिग्ध। सभ्यता की वर्तमान यूरोपीय पद्धति, कम-से-कम अपने पूंजीवादी उद्योगवाद के स्वरूप में, अपनी अति विशाल सीमाओं तक पहुंच चुकी है, अपने ही संघात द्वारा टूट चुकी है और अब उसकी नियति में विनाश ही लिखा है। भविष्य का प्रश्न दो विकल्पों पर निर्भर है—एक श्रमिक-प्रधान उद्योगवाद जो अपने पूर्ववर्ती रूप से केवल संगठन में ही अलग है, समाजवाद या साम्यवाद की महत्तर भावना या स्वरूप जिसका प्रयोग रूस में किया जा रहा है या किसी नये और अभीतक अज्ञात और अप्रत्याशित सिद्धांत का आविर्भाव।

जो शक्ति इस समय ऊपर उठ रही है और इस अंतिम संभावना के लिये एक विशेष मार्ग बना रही है वह है एशिया का पुनरुत्थान। यह सोचना कठिन है कि एशिया जब एक बार मुक्त रूप से सोचने या कार्य करने लगे और स्वयं अपने लिये जीने लगे, तो फिर अधिक समय तक केवल यूरोप की पुरानी और वर्तमान प्रगति की नकल करने से ही संतुष्ट रह सकेगा। इसकी जातियों के स्वभाव की विशेषता इसमें है

कि वह दूसरों से अत्यंत गभीर रूप में भिन्न है, उनके मनों की रचना और कार्यशीलता का तरीका ही दूसरा है। तथापि, वर्तमान समय में एशिया का उत्थान-संबंधी आंदोलन स्वतंत्र रचनात्मक विचार या कर्म के रूप में किसी अर्थगर्भित प्रयत्न की अपेक्षा एक भूमिका के रूप में अधिक अभिव्यक्त हो रहा है, वह अपने लिये जीवन-धारण करने का अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है। फिर भी एशियाई अशांति वर्तमान स्थिति का एक दूसरा प्रधान लक्षण है। यह मिस्र से चीन तक विभिन्न रूपों में व्यक्त हो रहा है। मुसलमानी जगत् में इस आंदोलन का स्वरूप है संरक्षित राज्यों और अधिदेशी राज्यों का निराकरण और स्वतंत्र एशियाई राज्यों की निर्माण-संबंधी हलचल। भारतवर्ष में यह अधूरे ढंगों के प्रति नित्यप्रति बढ़ते हुए असंतोष और शीघ्रता से पूर्ण स्वायत्त शासन प्राप्त करने की मांग के निरंतर और प्रबल उत्साह के रूप में प्रकट हो रहा है। सुदूर पूर्व में यह कुछ धुंधले से आंदोलन चला रहा है जिनका अर्थ अभी स्पष्ट रूप से सामने नहीं आया है। यह अशांति अभी तक एक स्वतंत्र क्रिया और अस्तित्व के आरंभ से थोड़ा ही आगे देखती है। यह उन स्वाधीनता के विचारों के साथ सहानुभूति रखती है जो काफी लंबे समय से अपने प्रति पूर्णतया सचेतन हैं और उन सूत्रों के साथ भी जो यूरोप में सुव्यवस्थित रूप से प्रयुक्त किये जाते हैं, जैसे स्वायत्त शासन, स्वशासन, लोकतंत्र, राष्ट्र की स्वाधीनता। साथ ही यहां एक और प्रश्न भी अंतर्ग्रस्त है जो अभी तक एशिया के बृहत् जनसमूह के अवचेतन मन में ही विद्यमान है पर जो अधिक सचेतन मनो में भी अपनी स्थापना कर रहा है; यह पहली दृष्टि में स्वतंत्रता और विकास के आधुनिक स्वरूपों से संबंधित सिद्धांतों को अनुकरणशील वृत्ति के साथ ग्रहण करने के कार्य से बहुत असंगत प्रतीत हो सकता है, कम-से-कम उससे मेल नहीं खाता, —यह है आध्यात्मिक और नैतिक स्वाधीनता का आदर्श और एशियाई संस्कृति के सूक्ष्म सिद्धांतों की यूरोप के आक्रमण से सुरक्षा। भारतवर्ष में एशियाई आध्यात्मीकृत लोकतंत्र का विचार प्रकाश में आ रहा है, यद्यपि अभी वह अस्पष्ट और आकाररहित है। खिलाफत आंदोलन का उद्देश्य और स्वभाव धार्मिक होने के कारण सांस्कृतिक और राजनीतिक भी है। अधिदेशीय शासन का प्रतिरोध इसलिये किया जाता है कि इसका अर्थ है यूरोप द्वारा एशिया पर राजनीतिक नियंत्रण और उसका आर्थिक शोषण, किंतु इस घृणा का एक अन्य गूढ़तर स्रोत भी है। एशिया के जीवन को तोड़कर उसे यूरोपीय पूंजीवाद और उद्योगवाद के कठोर सांचे में ढाले बिना यह शोषण असंभव है; यद्यपि एशिया को अपने गौरवपूर्ण किंतु अपूर्ण अतीत में न रहकर भविष्य में निवास करना सीखना चाहिये, लेकिन उस भविष्य को उसे अपने ही प्रतिरूप में ढालने की मांग करनी होगी। एशिया की अशांति का वर्तमान अर्थ और एशिया के पुनरुत्थान का भावी अर्थ इसी दुहरी मांग में निहित है, उस मांग में जिसमें एक दुहरे, आंतरिक और बाह्य प्रतिरोध की आवश्यकता है।

इस एशियाई अशांति और प्रतिरोध से व्यग्र यूरोप की पूंजीवादी सरकारें औपचारिक रूप से कुछ छूट देकर परंतु तथ्य और सिद्धांत-रूप से प्रत्याख्यान करके उसका सामना करती हैं। भारत को उन्होंने उत्तरदायी शासन का प्रारंभिक रूप नहीं दिया। केवल उसकी ओर पहला "ठोस" कदम ही उठाया गया है; पर यह ऐसा कदम है जो ब्रिटिश राजनीतिक और पूंजीवादी हितों के बचाव के उन अनगिनत साधनों की बाढ़ से घिरा है जिन्होंने उसकी सारी शक्ति छीन ली है, साथ ही यह अर्थपूर्ण शर्त भी है कि उसकी आगे की प्रगति उसी हद तक होगी जिस हद तक वह राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक रूप में ब्रिटिश भावना की प्रतिमूर्ति में अपना पुनर्निर्माण करने के लिये तैयार हो। एक फ्रेंच सैनिक शक्ति दमिश्क पर अधिकार कर लेती है, वहाँ के राजा और जनता द्वारा चुनी गयी सरकार को निकाल बाहर करती है, किंतु साथ ही एक ऐसी स्वदेशी सरकार को स्थापित करने का वचन देती है जो यूरोपीय हितों और आदेश के अधीन होकर रहे। इंग्लैंड मैसोपोटामिया के आगे एक ऐसी अरबी सरकार रखता है जिस पर एंग्लो-भारतीय शासन की काठी पड़ी है और जिससे वह 'मोसुल' के तेल-क्षेत्रों से नैतिक और भौतिक लाभ उठाना चाहता है। इस बीच वह वहाँ की विद्रोही जनता से युद्ध भी कर रहा है ताकि वह उसके स्वाधीनता-प्राप्ति के बर्बर और अज्ञानपूर्ण संकल्प पर अपना महत्तर हित लाद सके। एक ब्रिटिश नियंत्रण फारस की अखंडता को बनाये रखने का आश्वासन देता है। यूरोप से यहूदी आप्रवासी फिलिस्तीन में आकर बसनेवाले हैं और उसका शासन एक उच्चायुक्त के अधीन, वहाँ की जातियों के हित में,—पर उन सबकी इच्छा के विरुद्ध होगा। तुर्क अपने भौतिक साम्राज्य और खलीफा-राज्य की प्रतिष्ठा से वंचित होकर एक कठोर और संकीर्ण अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण के अधीन स्वतंत्र रहेंगे और वे इस अपूर्व आनंद की अवस्था को और एक सभ्य आधुनिक राष्ट्र बनने के अद्वितीय अवसर को अंगीकार करने के लिये एक यूनानी सेना द्वारा विवश किये जायेंगे। पुराने शासन के पास श्रमिकवर्ग की व्यवस्थित शक्तियों का विरोध करने की अपेक्षा इनपर अपने आदेश लागू करने के लिये अधिक भौतिक बल है। फिर भी यह बिल्कुल निश्चित है कि इस प्रकार का समाधान एशिया के क्षोभ को दूर नहीं करेगा। यह प्रयत्न उल्टा अपने-आपको ही हानि पहुंचा सकता है, क्योंकि ये नये बोझ पहले से ही असंभव बनी वित्तीय अवस्था पर और भी अधिक दबाव डालेंगे तथा यूरोप में सामाजिक और आर्थिक क्रांति को शीघ्रता से ले आयेंगे। और यदि ऐसा न भी हो तो भी एक बड़े महाद्वीप के पुनरुत्थान को इस प्रकार रोका नहीं जा सकता। एक दिन वह निश्चय ही उन सब कठिनाइयों पर, चाहे वे कैसी भी हों, विजय प्राप्त कर लेगा और अपने अवश्यंभावी भविष्य को अधिकृत कर लेगा।

भविष्य की ये दो पूर्वनिर्धारित शक्तियाँ, समाजवाद और एशियाई पुनरुत्थान इस समय कम-से-कम एक नैतिक मैत्री स्थापित करना चाहती हैं। इस समय के प्रबल

राष्ट्रों में मजदूर और समाजवादी दल अपनी सरकारों की नीति के बहुत विरुद्ध हैं, वे एशिया और यूरोप के अधीन और भयभीत राष्ट्रों की मांगों की ओर सहायता का हाथ बढ़ा रहे हैं। अधिक उन्नत एशियाई देशों में, आयरलैंड की भाँति ही, राष्ट्रीय आंदोलन नवजात श्रमिक आंदोलन के साथ बड़ा घनिष्ठ संबंध स्थापित कर लेता है। बोल्शेविक रूस मध्य एशिया के वर्तमान स्वाधीन राज्यों की नीति के साथ अपना मैत्री-संबंध रखता है अथवा वह उसका सोवियतकरण और नियंत्रण भी करता है; फारस में उफान लाता है और तुर्की और अरबों को यथाशक्ति नैतिक सहायता भी प्रदान करता है। हो सकता है कि इस प्रवृत्ति का अपने-आपमें इससे अधिक कुछ अर्थ नहीं है कि यह सहानुभूति एक समान दबाव के विरुद्ध प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुई है। कर्मरत शक्तियाँ और स्वार्थ सदा ही अवसरवादी होते हैं और आपत्काल में जहाँ से भी सहायता या सुविधा मिले उसपर टूट पड़ते हैं; किंतु विशुद्ध स्वार्थ पर टिकी इन मैत्रियों को जबतक अधिक स्थायी आधार प्राप्त न हो, वे बहुत कमजोर और क्षाणिक संयोजन ही रहती हैं। बोल्शेविक रूस जार्जिया और अजरबैजान में सोवियत सरकारें स्थापित कर सकता है, किंतु यदि ये सरकारें सामयिक ही हैं, यदि सोवियतवाद इन जातियों की सहज-प्रवृत्ति, इनके स्वभाव और विचार की किसी गहनतर वस्तु से मेल नहीं खाता या उसका स्पर्श नहीं करता तो ये सरकारें स्थायी नहीं बन सकतीं। ब्रिटिश मजदूर-दल चाहे अभी कोई शर्तें न लगाता हो, पर वह यह आशा करता है कि स्वशासी भारत उसके अपने सामाजिक और आर्थिक विचार के अनुसार ही विकसित होगा, किंतु यह सोचा जा सकता है कि स्वशासी भारत विकास की वर्तमान सामान्य दिशा से अपना संबंध तोड़कर स्वयं अपनी अप्रत्याशित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को खोज ले। वर्तमान स्थिति में हम निश्चयपूर्वक केवल यह कह सकते हैं कि यूरोप की प्रभावी सरकारों ने कुछ ऐसी व्यवस्था की है कि उनकी अपनी योजनाएं दो बड़ी विश्व-शक्तियों की भावना से उल्टी पड़ती हैं तथा उसे इनके विकास से भय भी है, ये तो दोनों शक्तियाँ उससे दबी-घुटी भी हैं, परंतु स्पष्टतः दोनों भविष्य को अधिकृत करेंगी।

इसका अर्थ यह है कि हम अभी एक स्थायी व्यवस्था से काफी दूर हैं और इसलिये पृथ्वी के कष्टों के स्थगन की आशा नहीं कर सकते। वर्तमान समय के संतुलन के, यदि परिवर्तनों और कौशलों की इस अस्तव्यस्त अस्थिरता को संतुलन कहा जा सके तो, स्थायी होने का कोई आश्वासन नहीं है, यह केवल क्षणभर के लिये ही ध्यान आकृष्ट करता है, और ज्यों ही पर्याप्त संवेग प्राप्त हो जाये अथवा परिस्थितियाँ दबी-घुटी शक्तियों के छुटकारों के लिये द्वार खोल दें तो हमें अधिक आश्चर्यजनक और बड़े आंदोलनों की, आमूल हेर-फेर और बहुत अधिक परिवर्तनों की आशा करनी चाहिये। इस समय अत्यधिक महत्व का विषय वह परिस्थिति नहीं है जो उनके मार्गों को प्रशस्त करेगी, क्योंकि जब नियति तैयार हो तो वह किसी भी,

और हर एक परिस्थिति से लाभ उठा लेती है, महत्त्व है उस दिशा का जिसका वे अनुसरण करेंगे और उस अर्थ का जो उनमें छिपा होगा। एक समाजवादी समाज को विकास और एशिया के पुनरुत्थान के बड़े परिवर्तन लाने ही चाहियें, फिर भी हो सकता है कि वे मानव की अधिक विस्तृत आशा को चरितार्थ न कर सकें। समाजवाद मानव-जीवन में अधिक समानता और घनिष्ठतर साहचर्य की भावना ला सकता है, किंतु यदि यह केवल भौतिक परिवर्तन ही हो तो यह अन्य आवश्यक वस्तुओं से वंचित भी रह सकता है, बल्कि मानव-जाति के यांत्रिक बोझ को और भी बढ़ा सकता है और उसकी भावना को पृथ्वी की ओर अधिक तीव्रता से पटक सकता है। यदि एशिया के पुनरुत्थान का अर्थ केवल अंतर्राष्ट्रीय संतुलन को ठीक अथवा परिवर्तित करना है तो यह पुराने घेरे में ही उठाया गया एक पग होगा, नवीनता का तत्त्व नहीं, न ही लीक से हटकर वह प्रगतिशील पग, जिसकी इस समय, चाहे कितने ही अस्पष्ट रूप में क्यों न हो, अनन्य आवश्यकता अनुभव हो रही है। मजदूर-दल की वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय नीति में, —बशर्ते कि शक्तिप्राप्त मजदूर-दल विरोधी मजदूर-दल के मन के प्रति सच्चा हो, —सचमुच ही एक महत्त्वपूर्ण प्रतिज्ञा निहित है, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विचार में अधिक न्यायपूर्ण साम्य, स्वतंत्र राष्ट्रों का अंतर्राष्ट्रीय सौजन्य, शक्तिशाली राष्ट्रों के वर्तमान संकीर्ण अल्पतंत्र के स्थान पर —एक ऐसे अल्पतंत्र के स्थान पर जो अपने साथ एक अवास्तविक संघ की छाया को अनावश्यक उपांग के रूप में लटकाये फिरता है —जातियों का एक स्वतंत्र, सम और लोकतंत्रीय संघ निहित है। दमन और शोषण की पुरानी अव्यवस्था या बर्बर व्यवस्था के स्थान पर एक अंतर्राष्ट्रीय समानता और सहयोग की अवस्था —वास्तव में श्रेष्ठतर भविष्य के बारे में हमारी धारणा का पहला प्रतिरूप है। किंतु यही सब कुछ नहीं है : यह केवल एक बाहरी ढांचा है। यह अपने निम्नतम स्तर पर अंतर्राष्ट्रीय सुविधा का एक नवीन यंत्र हो सकता है और अधिक-से-अधिक मानवजाति के लिये एक श्रेष्ठतर स्पष्ट संगठन। जो भावना, शक्ति, विचार या संकल्प इसे अनुप्राणित करेंगे या इसका प्रयोग करेंगे, उनका प्रश्न और भी बड़ा है। यही भवितव्यता का अंतिम स्वरूप एवं उसकी निर्णायक दिशा होगी।

जो दो शक्तियां भविष्य को अधिकृत करने के लिये ऊपर उठ रही हैं वे दो बड़ी वस्तुओं का, यूरोप के बौद्धिक आदर्शवाद और एशिया की आत्मा का, प्रतिनिधित्व करती हैं। यूरोप का मन, जिसपर यूनानी और ईसाई धर्म ने खूब परिश्रमपूर्वक कार्य किया है तथा जिसने स्वतंत्र विचार और विज्ञान के द्वारा अपने क्षितिजों को काफी विस्तृत कर लिया है, वह मानव पूर्णता या प्रगति के विचार तक पहुंच चुका है जो बौद्धिक, भौतिक एवं प्राणिक स्वतंत्रता में, निकट संबंध की समानता एवं एकता में, विचार, भाव और श्रम में सक्रिय भ्रातृ-भावना अथवा साहचर्य में प्रकट होता है। कठिनाई है इस विचार के संघटन भागों को व्यवहार में एक संयुक्त और वास्तविक

वास्तविकता का रूप देने में और, प्रगति की ओर बढ़ते हुए यूरोप का यह प्रयत्न रहा है कि वह श्रमपूर्वक एक ऐसा सामाजिक यंत्र-विन्यास खोजकर सुस्थापित कर सके जो स्वतः ही इस उत्पादन-कार्य को कर सके। उनके खोजे हुए पहले समीकरण ने, लोकतंत्र तथा कानून के सामने राजनीतिक स्वाधीनता और समानता की प्रणाली ने केवल उच्चतर श्रेणियों में सबलतम और कुशलतम लोगों की प्रतिद्वंद्वी स्वाधीनता को, एक अमानवीय सामाजिक असमानता और आर्थिक शोषण को, एक अविराम वर्ग-युद्ध और धन और उत्पादक मशीनरी के एक विकट और ऐश्वर्यपूर्ण मलिन शासन को समतल बनाने में सहायता पहुंचायी है। अब एक अन्य समीकरण की बारी है, एक ऐसी समानता की जिसे उतना पूर्ण होना चाहिये जितना प्रकृति की असमानताओं के बीच, तर्कबुद्धि और सामाजिक विज्ञान और मशीनरी की सहायता से हुआ जा सकता है—और सबसे अधिक तो श्रम और सामूहिक जीवन की सामान्य प्राप्ति में एक समान साहचर्य के आने की आवश्यकता है। यह निश्चित नहीं है कि यह सिद्धांत पूर्व सिद्धांत से अधिक सफलता प्राप्त करेगा। यह समानता अभी केवल कठोर नियमन से ही प्राप्त की जा सकती है, और इसका अर्थ है कि स्वाधीनता को कम-से-कम कुछ समय के लिये तिरोहित हो जाना होगा। बहरहाल समस्त कठिनाई की जड़ की उपेक्षा की जा रही है और अभी इस बात की ओर ध्यान नहीं जा रहा है कि जीवन में कोई भी वस्तु सच्ची नहीं हो सकती जबतक कि वह आत्मा में सच्ची न बना दी जाये। जब मनुष्य आत्मा में स्वतंत्रता, समानता और एकता प्राप्त कर सकेंगे तभी अपने जीवन में भी एक सुरक्षित स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृ-भावना ला सकेंगे। विचार और मनोभाव ही पर्याप्त नहीं हैं, क्योंकि वे अपूर्ण हैं, पुराना दृढ़ स्वभाव और सहज-प्रवृत्ति उनका विरोध करते हैं और साथ ही वे चपल और अस्थिर भी होते हैं। एक ऐसी असीम प्रगति की आवश्यकता है जो स्वतंत्रता, समानता और एकता को हमारा अनिवार्य आंतरिक और बाह्य वायुमंडल बना दे। ऐसा केवल आध्यात्मिक परिवर्तन से ही हो सकता है और यूरोपीय बुद्धि यह देखना आरंभ कर रही है कि आध्यात्मिक परिवर्तन कम-से-कम एक आवश्यकता तो है ही; किंतु वह अभी तक तर्कसंगत सिद्धांतों और यांत्रिक प्रयत्नों पर इतना अधिक बल देती है कि उसके पास आत्मा की वस्तुओं की खोज करने और उन्हें चरितार्थ करने के लिये समय नहीं है।

एशिया ने ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया, सामाजिक उपलब्धि और प्रगति के लिये ऐसा कोई प्रयास नहीं किया है। जहां कहीं उसने सांस्कृतिक विकास के उच्च स्तरों को प्राप्त किया है वहां सभी जगह व्यवस्था, एक सुरक्षित नैतिक और धार्मिक ढांचा, एक सुस्थापित आर्थिक प्रणाली, एक स्वाभाविक किंतु घातक रूप से रूढ़िगत और कृत्रिम बनता हुआ धर्मतंत्र ही उसकी साधारण पद्धतियां रहे हैं। उसने इन वस्तुओं को अपनी धार्मिक भावना पर आधारित किया और एक सबल सामुदायिक भावना, एक जीवंत मानवता और सहानुभूति से तथा मानव समानता और मेल में कुछ हद तक प्रवेश के

द्वारा मधुर एवं सहनीय बना दिया। उसका सबसे बड़ा प्रयत्न बाह्य नहीं बल्कि आध्यात्मिक और आंतरिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये था और उसके साथ आध्यात्मिकता, समानता और एकता की महती उपलब्धि भी जुड़ी हुई थी। इस आध्यात्मिक कार्य को विश्वव्यापी रूप नहीं दिया गया, न ही समस्त मानव-जीवन को इसी प्रतिमूर्ति में ढालने के लिये कोई प्रयत्न किया गया। परिणामतः, उच्चतम आंतरिक व्यक्तित्व और बाह्य सामाजिक जीवन में असमानता उत्पन्न हो गयी, भारत में सर्वोत्तम लोगों का, जो सामान्य जीवन की सुरक्षित, पर अत्यधिक संकीर्ण दीवारों के बाहर, आत्मा में निवास करते थे, उत्तरोत्तर तपस्यामय निर्गमन हुआ, और पौरुषहीन करनेवाला यह विचार घर कर गया कि जीवन ने आत्मा के अत्यधिक महान् वैश्व सत्य को खोज तो लिया है पर वह उस जीवन की आत्मा नहीं हो सकता, उसकी उपलब्धि जीवन के बाहर ही हो सकती है। किंतु अब एशिया को यूरोप के दबाव के नीचे रहते हुए दुबारा जीवन की समस्या का सामना करना पड़ रहा है और एक अन्य तथा अधिक सक्रिय समाधान खोजना आवश्यक हो गया है। सब कुछ आत्मसात् करके, एशिया उद्योगवाद के पश्चिमी प्रयोग को, उसकी पहली अवस्था पूंजीवाद और दूसरी अवस्था समाजवाद के प्रयोग को दोहरा सकता है या उसकी नकल कर सकता है; किंतु तब उसका पुनरुत्थान मानव-प्रयत्न में किसी नये अर्थ या संभावना को नहीं लायेगा। अथवा मानव-मन के इन दो अर्थ भागों का घनिष्ठ मिलन हमारी सत्ता के दो ध्रुवों के बीच में एक अधिक शक्तिशाली संबंध स्थापित कर सकता है और प्रत्येक के उच्चतम आदर्शों के किसी पर्याप्त समीकरण को अर्थात् आंतरिक और बाह्य स्वतंत्रता को, आंतरिक और बाह्य समानता को, आंतरिक और बाह्य एकता को उपलब्ध कर सकता है। मनुष्य के भविष्य के लिये, प्रस्तुत सामग्री और परिस्थितियों के आधार पर, हम बड़ी-से-बड़ी यही आशा कर सकते हैं।

किंतु एक बात और भी है; जिस प्रकार विविध तत्वों के मिश्रण से एक अदृष्ट आकार प्रकट होता है, उसी प्रकार कहीं एक ऐसी महत्तर अज्ञात वस्तु भी छिपी हो सकती है जो अभी तैयारी की अवस्था में है, जिसे अभी काल की प्रयोगशाला में कोई आकार नहीं दिया गया है एवं प्रकृति की योजना में जिसका रहस्य अभी प्रकाश में नहीं आया है। हो सकता है कि दानवाकार अंतःक्षोभ का यह अशांत युग, विचारों और अन्वेषणों की अव्यवस्था, महान् शक्तियों की टक्कर, सृष्टि, विध्वंस और विलयन—वास्तव में मानवता के अपूर्ण शरीर और आत्मा की सर्जनात्मक प्रसव-वेदना के दबाव से कोई महान् अप्रत्याशित सृजन हो जो इन सब को न्याय्य ठहराये।

१९१९ का वर्ष आधुनिक जगत् की अत्यधिक अर्थपूर्ण और ऐतिहासिक तारीखें हमारे सामने रखता है। इसमें इतिहास का सबसे बड़ा युद्ध समाप्त हुआ, मनुष्यजाति के इतिहास में एक नयी वस्तु, अर्थात् एक राष्ट्रसंघ की उत्पत्ति हुई जो मानवजाति के भावी ऐक्यपूर्ण जीवन के लिये आधारशिला रखने का दावा करता है। साथ ही इसने अभिनव तथा महत्वपूर्ण निर्माण और विध्वंस के लिये भी अवस्था पैदा कर दी है। यह अवस्था हमें समाज और मानवजीवन के एक ऐसे ढांचे में ले आयेगी जो पृथ्वी की जातियों में अभी तक देखा-सुना नहीं गया। एक अकेले वर्ष के लिये यह प्राप्ति ही काफी है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि बीसवीं शताब्दी में इस तारीख को निर्विवाद प्रसिद्धि देने के लिये और भी काफी प्राप्तियां हैं। किंतु यह संभव है कि वस्तुस्थिति बिल्कुल वैसी ही न हो जैसी कि यह वर्तमान दृष्टि को प्रतीत होती है और ऐसा हो सकता है कि भावी संतति इसे एक अत्यंत भिन्न दृष्टि-केंद्र से देखे। १८१५ का वर्ष उस समय के लोगों को एक बड़ा महत्वपूर्ण वर्ष प्रतीत हुआ होगा जिनके मन प्राचीन प्रशासनों और क्रांतिकारी फ्रांस के बीच और फिर यूरोप और नैपोलियन के बीच लंबे युद्ध के दृश्यों से भरपूर थे। किंतु अब जब हम पीछे की ओर देखते हैं तो पाते हैं कि वह केवल एक अवस्था थी : युद्ध की एक तीव्रतम स्थिति की समाप्ति, चैन लेने के समय का आरंभ; यह एक स्वल्पकालिक स्थिति थी जो टिक नहीं सकी। इससे भी पीछे हम १७८९ की ओर जाते हैं जिसने एक प्राचीन व्यवस्था का विनाश शुरू किया और एक नये आदर्श को जन्म दिया और उसके आगे फिर ऐसा समय आया जिसने इस आदर्श की चरितार्थता की ओर विकास को दर्शाया। इसी प्रकार भावी संतति इस १९१९ के वर्ष के आगे जाकर उस विपत्ति के आरंभ को पीछे मुड़कर देख सकती है जिसकी विशेषता पूर्व यूरोपीय अवस्था की पूर्ण असफलता थी। वह इसके आगे जाकर उन तारीखों को भी देख सकती है जो अभी भविष्य के गर्भ में छिपी पड़ी हैं, और जो किसी भावी व्यवस्था या आदर्श के विकास को साधित करेंगी, उस व्यवस्था या आदर्श को, जिसे पहली व्यवस्था का स्थान लेना है। यह वर्ष भी एक प्रारंभिक युद्ध की एक तीव्र अवस्था की केवल समाप्ति हो सकता है, श्वास लेने की प्रारंभिक अवस्था और स्वल्पकालिक अवस्था का वर्ष, साथ ही एक गतिशील बाढ़ में एक क्षणिक विराम का वर्ष। और, यह ऐसा इसलिये है कि इसने मनुष्यजाति के गहनतर मन को नहीं समझा है, न ही इसने 'काल-भावना' के अत्यंत गहरे अभिप्राय को प्रत्युत्तर ही दिया है।

युद्ध की उत्तेजना में एक आशा उठी थी कि यह मानव-विकास के रास्ते में आनेवाली सारी संचित विघ्न-बाधाओं का सफाया कर देगा और चमत्कारपूर्ण शीघ्रता के साथ एक नये युग को आगे लायेगा। एक अस्पष्ट से आदर्श ने भी बड़ी

वाक्पटुता के साथ शांति, भ्रातृत्व, स्वतंत्रता, एकता आदि को सुंदर शब्दों में वर्णित किया जिसने उस क्षण के लिये जाति की आत्मा को आंशिक रूप में प्रज्वलित एवं प्रकाशमान भी कर दिया और उसकी बुद्धि को भी एक अधिक विस्तृत क्षेत्र प्रदान किया। लोग कहा करते थे कि भली और बुरी शक्तियां पृथक्-पृथक् दो विरोधी पक्षों की ओर हैं और एक निर्णायक युद्ध में परस्पर गुंथ गयी हैं। ये विचार, भावना और आदर्शवादी तर्क एक प्रकार की अतिशयोक्तियां थे और इनके तीव्र एवं चुंधिया देनेवाले प्रकाश में विभिन्न स्वभाववाली वस्तुओं ने आश्रय ले लिया। जब आशा भविष्य की किसी संभावना को वर्तमान अवस्थाओं से अलग करके उसे अपने ही प्रकाश में देखती है तो वह एक भ्रांति और स्वप्नद्रष्टा मन के जगमगाते दृश्य के सिवाय और कुछ नहीं हो सकती। मनुष्य का मन और कार्य इतने उलझे हुए तार हैं कि वहां ऐसी चमत्कारिक आकस्मिक घटनाओं के लिये स्थान नहीं रहता; युद्ध और क्रांति का भौतिक आघात दमघोंटू विघ्नों को समाप्त कर सकता है, किंतु वे अपने-आपमें शुभ के राज्य या भगवान् के राज्य की स्थापना नहीं कर सकते। इसके लिये एक मानसिक और आध्यात्मिक परिवर्तन की आवश्यकता है, जिसके अनुसार अपनी अभ्यासगत सत्ता को गढ़ने के लिये धीमी चालवाली हमारी मानव-प्रकृति को काफी समय लगेगा। आदर्श, जो कि केवल बुद्धि और भावना की वस्तु है, इतनी आसानी से अपने-आपको चरितार्थ नहीं कर सकता। थोड़े-से ऊंचे और बड़े शब्दों का उत्सुक कोलाहल या उनके पीछे स्थित विचार भी परिस्थिति की शक्ति को, उस समय की यथार्थ स्थितियों पर विजय प्राप्त करने के संकल्प को तथा हमारी अपनी प्रकृति के आग्रहपूर्ण अतीत को एकबारगी ही फूंक मारकर नहीं उड़ा सकता, चाहे आदर्श के ढोल कितने ही जोर से क्यों न बजें। न स्वयं युद्ध ही अपने-आपमें विशुद्ध शुभ या विशुद्ध अशुभ के बीच कोई निश्चित वादबिंदु है, —ये विभेद आदर्शवादी तर्कबुद्धि के जगत् की वस्तुएं हैं, जिसकी हमारा यथार्थ जटिल जीवन कम-से-कम अभीतक सही प्रतिलिपि नहीं बना है; वह जीवन जिसके जाल में विरोधी वस्तुएं बड़े निराशाजनक रूप में परस्पर मिली हुई हैं, —बल्कि यह जीवन भूत, वर्तमान और भविष्य की परस्पर उलझी हुई शक्तियों की एक बड़ी अव्यवस्थित मुठभेड़ और उनका एक अनर्थकारी संपात है। जो परिणाम यथार्थतः प्राप्त हुआ है वह केवल उतना ही है जितने की क्रियारत शक्तियों के संतुलन से आशा की जा सकती थी। यह न तो अंतिम परिणाम है न ही पूरी बात की समाप्ति, किंतु यह वस्तुओं के उस पहले कुलजोड़ का तात्कालिक प्रतीक अवश्य है जो उस क्षण की संभाव्यता की अवस्था में चरितार्थ होने के लिये तैयार था। इसमें और भी अधिक कुछ था जो अब प्रभुत्व को पाने के लिये जोर आजमायेगा, किंतु जो है अभी भविष्य की वस्तु ही।

पिछले पांच वर्षों की उलट-पलट द्विमुखी थी, एक मुख इसका भूतकाल की ओर था और दूसरा भविष्य की ओर। भूतकाल के साथ इसका जो संबंध था उसकी दृष्टि

से यह दो शक्तियों के बीच एक संघर्ष था, एक शक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे जर्मनी और मध्यवर्ती राष्ट्र (ऑस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य) और दूसरी का अमरीका और यूरोप के पश्चिमी राष्ट्र। बाह्य रूप से साम्राज्यीय जर्मनी बहुत ही स्पष्ट रूप से एक ऐसे क्रूर प्रकार के साम्राज्यवाद और सैन्यवाद का प्रतिनिधित्व करता था जो अपने न्याययुक्त स्वत्व और पूर्णता के प्रति संतुष्ट था और पश्चिमी यूरोप के अधिक उदार मध्यवर्गीय लोकतंत्र के विरुद्ध था—किंतु इस लोकतंत्र में एक दोष था कि इसके साथ एक उत्साहहीन, व्यग्र और अनिच्छुक प्रकार का सैन्यवाद और थोड़े उदार प्रकार का सुखद अर्धआदर्शवादी साम्राज्यवाद भी जुड़ा हुआ था; किंतु यह उसका केवल बाह्य रूप था, अपने-आपमें वह इतनी बड़ी विपत्ति के लिये पर्याप्त अवसर न हो सकता था। साम्राज्यवादी जर्मनी को और जिसका कि वह प्रतिनिधित्व करता था उस सब को समाप्त होना ही पड़ा, क्योंकि यह यूरोपीय सभ्यता का सबसे बुरा पक्ष था, चाहे उसे अपनी पूर्णतः यांत्रिक और वैज्ञानिक कुशलता के कारण बहुत यश प्राप्त था। उसकी आकृति मानों 'मोलोक' और 'मैमन' देवताओं की मिली-जुली देवमूर्ति थी जो 'बुद्धि' और 'विज्ञान' रूपी अभिभावक-आकृतियों के बीच में विराजमान थी। उसका आदर्श एक ऐसे राजतंत्र और सामंतशाही की प्राचीन भावना के अवशेषों का, जिसे अब पुराना समर्थन प्राप्त नहीं था, एक बहुत बोझिल, व्यवस्थित आक्रामक वाणिज्यवाद और उद्योगवाद का तथा साम्राज्य और अधिकारीतंत्र द्वारा प्रशासित एक यंत्रीकृत सरकारी समाजवाद का अनोखा सम्मिश्रण था। यद्यपि इन सबको एक सुयोग्य बुद्धि और विज्ञान की शक्ति का पथ-प्रदर्शन भी प्राप्त था। संसार के भावी आदर्श के इस तीन सिरोंवाले हास्यजनक चित्र को, जिसका कि यह दावा था कि वह जाति को अपने अधिकार में करके उसके जीवन को यांत्रिक बना देगा, नष्ट होना ही था, और इसके साथ-साथ अभिजातवर्ग की प्रायः सभी प्रेत-छायाएं और अभिजात राजतंत्र के अवशेष भी लुप्त हो गये, उस अभिजातवर्ग के जो अभीतक अधिकाधिक लोकतंत्रीय रूप धारण करते हुए यूरोप में जमा था। इतना कुछ तो युद्ध अपने साथ बहा ले ही गया, किंतु उसका अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रत्यक्ष परिणाम पुरानी वस्तुओं को नष्ट कर देना नहीं, बल्कि वर्तमान आधारों को हिला देना और भविष्य की शक्तियों के लिये क्षेत्र को साफ कर देना था।

भविष्य उस संकर वस्तु अर्थात् अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के पुराने सिद्धांत से दूषित मध्यवर्गीय लोकतंत्र की वस्तु नहीं है, चाहे उन छूटों के कारण, जो कि उसे मिली थीं, उसमें आदर्शवाद की एक नयी स्पष्टतर भावना ने कितना भी परिवर्तन क्यों न ला दिया हो। युद्ध को बन्द करनेवाली शांति स्पष्ट ही, आंशिक रूप में भूतकाल का विस्तार और वर्तमान क्षण की वस्तु है, भविष्य के लिये इसका एकमात्र महत्त्व राष्ट्रसंघ की योजना के साथ इसके संबंध में है। किंतु यह संघ भी तो एक स्वल्पकालिक योजना, एक अस्थायी उपाय है जो एक पूर्णतर रचना की संभावनाओं की प्रतीक्षा कर रहा है।

यह योजना उतनी ही अरक्षित है जितनी छूट यह भूतकाल को देती है और यह एक ऐसे वर्तमान पर आधारित है जो अभीतक तो प्रबल है, पर स्पष्ट रूप से उसे शीघ्र ही चले जाना है। इस वर्तमान का स्थान लेनेवाला भविष्य इस संघ की मुख्य बाह्य प्रवृत्तियों में काफी स्पष्ट है, एक ऐसे समाज में, जो धनिकतंत्र और मध्यवर्गीय लोकतंत्र से दूर जाकर समाजवाद की पूर्णता और सामाजिक जीवन की उदार और समान सर्वनिष्ठता प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है, उन जातियों के संबंधों में भी भविष्य की स्थिति काफी स्पष्ट है जो राष्ट्रवाद और शक्ति-संतुलन के आक्रामक तत्त्वों से दूर रहती हुई एक धनिष्ठतर अंतर्राष्ट्रीय सौहार्द प्राप्त करना चाहती हैं। किंतु ये तो केवल निदान हैं, सोचने के तरीके हैं, यांत्रिक प्रवृत्तियां हैं, चाहे कितने भी परिवर्तन ये लायें, पर अपने-आपमें ये अधिक समय तक मनुष्य की आत्मा को संतुष्ट नहीं रख सकते। इनके पीछे एक महत्तर प्रश्न विद्यमान है आत्मा और आदर्श का जिन्हें आगामी युगों में, मनुष्य के साथ मनुष्य के, जाति के साथ जाति के संबंध को शासित करना है; यह एक अत्यंत क्रांतिक युग है, क्योंकि यह मानवता के सभी ऐतिहासिक युगों से कहीं अधिक दूर तक पहुंचने की आशा संजोये है।

इस बीच जिसे जाना था उसमें से बहुत कुछ चला गया है, यद्यपि इसके कुछ अवशिष्ट चिह्न और तलछट अभी तक बाकी हैं जिन्हें अभी नष्ट होना है। रक्तपिपासु युद्ध की पीड़ा अब समाप्त हो गयी है और इसके लिये खुशी मनायी जा सकती है। किंतु यदि कोई वस्तु समाप्त हो गयी है तो अभी सब कुछ आरंभ भी करना है। मानव-आत्मा को अभी अपने-आपको, अपने विचार और अपनी महत्तर दिशा को प्राप्त करना है।

अनुक्रमणिका

अंग्रेज २७, ७७, २३३

नों की राजनीतिक बुद्धि १६३, १८५;
ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की भूल ४५-६, ४८, ४९.
५१

नें की राजनीतिक बुद्धि का सारा ध्यान कर-
निर्धारण के प्रश्न पर केंद्रित था १९३

इंग्लैंड के प्रतीक नहीं २२४

में की औपनिवेशिक प्रणाली २२८

(दे० 'ग्रेट ब्रिटेन', 'ब्रिटिश राष्ट्र', 'ब्रिटिश साम्राज्य', 'भाषा', 'संस्कृति' भी)

अंतरस्थित सत्ता [मनुष्यस्थ आत्मा, अंतरस्थ
दिव्यता] ३२५, ३३४

को अपने तरीके से विकसित और व्यक्त करने के लिये अपनी वैयक्तिक और सामूहिक शक्ति को तनिक भी न खोयें (सर्व-सामान्य

मनुष्यजाति में रहते हुए भी) २५४

और आदर्श ३१०, [३२५]

की दृष्टि से आत्मनिर्णय का सिद्धांत ३३६

अंतर्राष्ट्रीय एकता [रचना, प्रणाली, संगठन,
...] ६८, १९९

की ओर पहला कदम . . . अ० १४ : १७-

१०७

और बृद्धिजीवी एवं राजनीतिज्ञ ९८-१००

शिथिल, का निर्माण ९७-८, १०१-२

शिथिल, और सशस्त्र शक्ति १०५-६

शिथिल, से शक्तिशाली केंद्रीय नियंत्रण की

और अगला कदम १०७

सफलता की कुछ दिशाएं अ० १५ : १०८-

१७

और स्वतंत्र राष्ट्रीयताओं के संगठन का

सूचना :

ऐसे पढ़ें : —

૧. અંગ્રેજ

की

इकाई

-यां

आदर्श

में जिन, की घोषणा

अंग्रेजों की

इकाइयां

जिन आदर्शों की घोषणा

२. कहीं-कहीं अधिक स्पष्टता के लिये इस प्रकार लिखा है : दे० 'राष्ट्र' शक्तिशाली भी 'साम्राज्य' का विजित भी, इसका मतलब है 'राष्ट्र' के नीचे का वह वाक्य जो शक्तिशाली से और 'साम्राज्य' के नीचे का वह वाक्य जो का विजित से शुरू होता है।

३. पृष्ठ-संख्या के बाद अ का मतलब है वह प्रसंग उस पृष्ठ के अंत से शुरू होकर, बस, अगले पृष्ठ के आरंभ तक ही गया है। और दे० का मतलब है देखो, टि० का मतलब है टिप्पणी, अ० का मतलब है अध्याय। पृष्ठ-संख्या के बाद (. . .) का मतलब है वह प्रसंग आगे भी जारी है।

४. [] में पृष्ठ-संख्या का मतलब है कि गौण या अवांतर रूप से वह बात वहां भी है।

4. लगातार के वाक्यों (running) में (;) के बाद के वाक्य को मूल शब्द के साथ पढ़ें, पर यदि पहले (:) हो और पृष्ठ-संख्या के बाद (;) न देकर (,) दिया हो तो मूल शब्द को (:) तक के वाक्य के साथ मिलाकर अगला वाक्य पढ़ें।

६. जहाँ कहीं वाक्य रचना मूल शब्द के साथ संगत न जान पड़े, वहाँ मूल शब्द के आगे कोष्ठ में जो शब्द दिया गया है उसके साथ मिलाकर पढ़ने से वह संगत बन जायेगी। मूल शब्द के नीचे कुछ वाक्य या पद सर्वथा स्वतंत्र हैं, पर मूल शब्द से संबंधित हैं।

७. वाक्य के अंत में (.) का मतलब है कि मूल शब्द को वहां अंत में पढ़ें।

८. मूल शब्द के आगे या उसके वाक्यों में जो पृष्ठ-संख्याएं होती हैं वहां मूल शब्द का कोई भी पर्याय हो सकता है।

आदर्श १०८-९; और राष्ट्रों का पृथक् अस्तित्व एवं स्वतंत्रता २०४-१३

और साम्राज्यवाद १०९-१२, २६५-६

और साम्राज्यीय राज्य एवं छोटे स्वतंत्र राष्ट्र (बड़ी शक्तियाँ और छोटी स्वतंत्र शक्तियाँ) १११-३, १४३अ, २०६, २३७, २३८

तब सार्वभौमिक यूरोप के जैसी ११३, बाजारों और वादों का संघर्ष ११३-४

समस्या के कुछ संभावित समाधान ११४-६

और वर्ग-युद्ध ११६

और समाजवाद १२६, २११-२, २६६-७

की अनिवार्य आवश्यकता १८८

की ओर ले जानेवाले कारण १९६

को अधिकाधिक अधिकार और शक्ति प्रदान करने के उद्देश्य एवं अवसर २०४-५, २०७-८

का अंतिम परिणाम : सुसंगठित विश्व-राज्य, जिसके प्रांत राष्ट्र होंगे २०५

की इस अंतिम प्राप्ति में बाधा : राष्ट्रीयतावाद २०६

वर्तमान, और रूसी सिद्धांत २४६

के पीछे कौन-सी प्रबल आवश्यकता है ? २६२-४

के लिये एक अंतर्राष्ट्रीय शरीर २६४-५; अंतर्राष्ट्रीय शरीर के लिये संभावनाएँ और शक्तियाँ २६५-७; इसमें यथार्थ मनोवैज्ञानिक एकता का प्रश्न २६७-७०

की बाह्य आवश्यकता, राष्ट्रीय भावना और मानवता का बौद्धिक धर्म २८०-१

दो रूप धारण कर सकता है : केंद्रित विश्व-राज्य या शिथिलतर विश्व-संघ २८१-२

वर्तमान, के स्थान पर क्या सच्ची प्रणाली स्थापित नहीं की जा सकती ? २९२-३, लंबा स्थगन विपत्तियों का रास्ता खोल ... २९३

से पूर्ण यंत्रिकृत संसार ३०७

अनिवार्य ३६४, [२७८-८०], यह अनिवार्य विकास अच्छा या बुरा मोड़ ले सकता

है ३६४, चुनाव स्वयं जाति के हाथों में ३६४

(दे० 'एकता', 'विश्व-व्यवस्था', 'शांति' भी)

अंतर्राष्ट्रीयता [अंतर्राष्ट्रीय विचार] १८३, ३४३

और राष्ट्रीयतावाद १०८-९, ११८, २०६, २१२, २३१, २५५-६, २५९-६०

अ० ३२ : २५५-६०

का सिद्धांत २५५-६

के अनुकूल शक्तियाँ २५७-८

और समाजवाद २५५, २५८-९, २६६-७, २९७-८, ३६९

कसौटी पर असफल २५८-९, असफलता का कारण २५९-६०

और यूरोपीय युद्ध २५८, २६०

और श्रमिक दल २६०, २६६-७

और मानव एकता अ० ३३ : २६१-७०

(दे० 'देशभक्ति', 'धर्म', 'फ्रेचक्रांति', 'युद्ध', 'राष्ट्र-संघ', 'श्रमिक' और 'समाजवाद' भी)

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय ६५, २६७, ३१४

अंतर्राष्ट्रीय मतभेद

ों [विषयों, प्रश्नों] का निर्णय [१८८] २४९, [२५०], २६६, २६७

अंतर्राष्ट्रीय विधान दे० 'युद्ध', 'विधान'

अंतर्राष्ट्रीय शांति १८८, ३४०

के लिये प्रस्तुत सुझाव : जर्मन सैनिकवाद का नाश १८८-९, स्वतंत्र जनतंत्रीय राष्ट्रों का संघ १९०-१, यथार्थ जनतंत्रीय शासन १९१-२, शांति-संघ १९२-३

के लिये सफल पग—एक शक्तिशाली सत्ता का निर्माण : १९३-४, और जाति की मनो-वैज्ञानिक सहमति १९३-४, और सैनिक शक्ति का आधिपत्य एवं केंद्रीकरण १९४-५

अंतर्राष्ट्रीय सत्ता २०४, २०५, २०७, २११

अकबर १७२

अगस्टस (सीजर) ३३, ७९, १७२

अगादीर १०३

अजरबाइजान ३७५

अतिराष्ट्रीय ... २२९, २४३

इकाई ५२

एकता ७७, २४५

व्यवस्था : दो अवस्थाएं ६८-९

समुदाय २९३-४, [२९९]

अतीत ३३८, ३४६, ३८०

अदृश्य शक्ति [शक्ति] २८८, [२९९, ३५४अ]

भविष्य की विधाता ३०७-८

अध्याय ३१८-२७

के (युद्ध में) यंत्र और अवसर मात्र थे सरकारों और जातियों के प्रेरक हेतु (हित एवं सिद्धांत) ३१८-२०, [३२४]

का अभिप्राय (इस युद्ध में) ३२०

की कल्पना मनुष्यजाति की, पहले समय में और बाद के धर्मों में ३२३-४

और मानव-बुद्धि या विज्ञान ३२४

जब रुद्र के रूप में ३२५-६

महतर अज्ञात वस्तु के प्रकाश में आने की प्रसव-वेदना ३७८

अधिकार ९९, १०६, २०४, २९०, ३१४, ३१५, ३३१, ३५२; आधिपत्य १२१, १४९; प्रभुत्व ६४

अल्पमतों के १८५

की प्राप्ति समस्त आदर्शवादों की कसौटी १९२

पिता का पुत्र पर, पुरुष का स्त्री पर, शासक-वर्ग का शासित पर, राज्य का व्यक्ति पर ३३५-६

(दे० 'अंतर्राष्ट्रीय एकता', 'जाति' भी)

अधिकार-क्षेत्र १६५, १६६

अधिराज्यपद २३७टि०

अधीनस्थ राष्ट्र [प्रदेश, जातियां] ३३०, ३६९, ३७५

होन जातियां ३५, ३८; काली जातियां ११९
की आत्मा को स्वतंत्र छोड़ देना चाहिये ३६

और साम्राज्यीय समुदाय [११९, १४२],
१४३अ, १४४, १४९

और राष्ट्र-संघ ३५१, ३६७

(दे० 'अफ्रीका', 'एशिया', 'राष्ट्र'
शक्तिशाली, 'साम्राज्य' का विजित भी)

An Enemy of the People २१७टि०

अन्याय ६४, ६९, १०५, १०६, १४३, १६७,
२०५, ३०७, ३२६, [३६०], ३६१

(दे० 'न्याय' भी)

अपराध १०४अ, १०६, ३५८

आपराधिक अधिकार-क्षेत्र और राज्य-सत्ता
१६५, १६६

से बरताव विश्व-राज्य में २०९

अपव्यय २०

अपूर्णता २७३, ३१२, ३३६

अफ्रीका ८२

में पश्चिमी राष्ट्रों [यूरोप] की महत्वाकांक्षाएं
६४, ६८, १४३, १४९, १८८, २००

से जर्मनी को यदि निकाल ... १०३

तीन बड़ी शक्तियों की संपत्ति २३३, २३६,
३५५, ३६७

राष्ट्र नहीं, वहां पुरानी उपजातियां ... २३६
और राष्ट्र-संघ ३४९, ३५१, ३५५, ३६२,
३६७

अफ्रीका (उत्तरी) ६८, १०३, ३१४

की यूरोपीय विजय २३३

अफ्रीका (दक्षिण) ३१४

और फ्रेंच संस्कृति ३८, ४०

और ब्रिटिश साम्राज्य ४८, ४९, ५१

राज्यसंघ १५३, २७९

अबीसीनिया ६४, २३३, २३६

ईथीओपिया २३३टि०

अभीप्सा ३०८, ३२८, ३३०

पूर्णता, प्रकाश ... के लिये ३२५

की तुष्टि तभी ३२६

युद्ध से बचने की ३४३

अमरीका (उत्तरी और दक्षिणी) ५३टि०, ६०,

६८, १४६, २०५, २२४, २३६, २६७
 और यूरोपीय एकता ६६
 सर्व-अमरीकनवाद १०९
 राज्यसंघाधीन अंतर-अमरीकन राज्य ११४
 में गणतंत्र दे० 'गणतंत्र'
 सांस्कृतिक रूप से यूरोप का एक प्रांत २२४
 और साम्राज्यवाद २३४
 अमरीकीकरण संपूर्ण महाद्वीप का २९५,
 २९६
अमरीका (संयुक्त राज्य) ८, ४९, ६८, ८६,
 ११४, ११५टि०, २१८, २४३, २७९, २९५,
 ३४६, ३५०, ३५३, ३६९, ३८१
 का निर्माण और मनोवैज्ञानिक एकता २५
 उदाहरण, समजातीय साम्राज्य का ३०
 की प्रणाली और साम्राज्यीय समुदाय ३०अ
 जल सेना ५८टि०
 और फिलिपाइन्स ६४, ६८, २३८
 और साम्राज्यवाद ६४, २३४, २३८-९
 और सर्व-यूरोपीय विचार ६७
 और राज्यसंघ [संघीय स्थिति] ८६, १५३,
 १५३टि०, १५४, २४३, २५३
 गृहयुद्ध १४४
 परंपरागत नीति [स्वभाव] १५४, २३८-९
 के केंद्रित होने से बचे रहने का कारण १५४
 और क्यूबा २१०, २३८, २३९
 को विदेशी भाषा से हानि २२३-४; की भाषा
 २२४टि०
 भी इंग्लैंड का एक प्रांत, सांस्कृतिक रूप में
 २२४
 के राज्यों जैसी एकता भी पर्याप्त नहीं २२८
 और स्वतंत्र राष्ट्रों का संघ २३४, २३८,
 २३९
 राष्ट्र-संघ में अनुपस्थिति २३९टि०, २८९
 व्यक्तिवाद और पूंजीवाद के प्रति आसक्ति
 २९८
अरब (अरब लोग) ७८, ७९, ८२, १४७,
 १८१, ३७५

-राष्ट्र ७
 -राज्य २३७टि०
अरस्तू १९६
अराजकता [अराजकतावाद] २१, १४०,
 २३०, २५५, २८२, ३२६, ३३९
 दार्शनिक १२, ७१, १२६
 द्वारा समाजवादी विश्व-राज्य की आलोचना
 २२०
अर्जुन (कुरुक्षेत्र का योद्धा)
 के कुरुक्षेत्र में कहे गये शब्द ३२१
 की प्रार्थना का उत्तर ३२२
 को अंतिम संदेश ३२२
अर्थ [आर्थिक . . .] १६३, ३१५, ३५९,
 ३६०, ३७०, ३७७
 (दे० 'आर्थिक . . .', 'धन', 'व्यापारवाद'
 भी)
अलबेनिया [३१], ६४
अलसास २८, ३०, ४७, १४६, २३६
 अलसास-लैरेन १११, १४६
 अलसेशियन २७, ३६
 ऐलसास-लोतरीजन १४६
अलस्टर ३५
अल्फ्रेड २१४
अवतार १७२, ३३९
अवमाननीय जीवन १३१
 में आंतरिक संघर्ष नहीं १३२, १३४
अशोक १७२
अश्वमेध यज्ञ २५
असफलता २, २६४
असमानता ४४, ६०, ६१, ६४, ९५, १८६,
 २०५, ३००, [३५४] ३७७, ३७८
असीरिया ३५, ७९, [८३]
अहं [अहंभाव] १०, १३, ६६, ८०, ९६,
 १०२, १८९, २५४, २७०, २८३, ३०५,
 ३१७, ३२२, ३२५, ३२६, ३३३, ३३४, ३३६
 वैयक्तिक, और सामूहिक १४, १७, १८-९,
 १०९, ३३२

सामूहिक १७, १८, २२, ४४, २५५
राष्ट्रीय दे० 'राष्ट्रीय अहं'
का उच्छेद नहीं, पूर्णता १९
जहां कार्य का उद्गम वहां उसके परिणाम
आयेंगे ही १०६अ
(व्यक्ति, वर्ग एवं राष्ट्र का) धर्ममात्र का
शत्रु २७४
की आत्म-समर्थन की दोहरी प्रवृत्ति ३३१-२
और पारस्परिकता का सिद्धांत ३३७
सामूहिक मानव अहंभाव २६५, [२६९]

आ

आंतरिकता ३२६, ३२७
आंतरिक आवश्यकता का सत्य २६३-४
आचार १६०, १६७
आतंक-राज्य ६२, २४१
आत्म-उच्छेद नहीं, आत्म-पूर्णता १९
आत्मस्थापन की प्रवृत्ति का स्वभाव १२२
आत्म-चेतनता १७०टि०
आत्म-त्याग १८, ३३३
आत्मदान एकतरफा नहीं ३३३
आत्मपरिपूर्णता [१९], ३३१, ३३३
वैयक्तिक, और पारस्परिकता ३३४,
[१३९], ३३७
(दे० 'पूर्णता' भी)
आत्म-निर्णय [स्वतंत्र स्व-निर्धारण, आत्म-
निर्धारण, स्वतंत्र चुनाव] २४१, ३६९
का सिद्धांत १४९, [१९१अ, २३४],
२४२, २४२टि०, २४७, २४७टि०, २४८,
२६६, ३०८, ३०९, ३३५
युद्ध और, ३०५...; भूमिका ३०५-११
वैयक्तिक, और सार्वजनिक ३०९, ३३४
अध्याय ३२८-३७
और स्वाधीनता ३२८-३१, ३३३, ३३४,
३३५, ३६७
शब्द का आविष्कार दो बातों का संकेत
३२८

का अर्थ ३२९, ३३१
के सिद्धांत के लिये संकट ३३१-२
का सिद्धांत आत्मनिष्ठ दृष्टि में ३३६
अहंकारपूर्ण और पारस्परिकता ३३६-७
की समस्या की कुंजी ३३७
का सिद्धांत और युद्ध ३५१, ३५३,
[३६७]
का सिद्धांत और अंतर्राष्ट्रीयता ३६२अ
के सिद्धांत को व्यवहार में लाने की समस्या
३६३
(दे० 'राष्ट्र-संघ', 'समुदायीकरण' भी)
आत्मपीड़न जीवन का विधान नहीं ३३३
आत्मसमर्थन [स्व-मान्यता]
की दोहरी प्रवृत्ति ३३१अ
और पारस्परिकता ३३३
आत्मा २२८, २७७, २८४, ३३१, ३३५
का प्रश्न बाकी ३४०, ३८२
और बाह्य रूप ३४१
(दे० 'जीवन' भी)
आदर्श २, ६२, ६३, ६९, १९२, १९८, २३५,
२५१, २७४, २७५, २८२, ३०५, ३०८,
३०९, ३२४, ३२५, ३३१, ३७९, ३८०, ३८२
मनुष्यजाति की एकता का दे० 'एकता'
हमारा १३३
सनातन १३३
तभी लागू, यदि उनके पीछे शक्ति २४६
में दो विरोधी, का परस्पर-संघर्ष २९६
भविष्य के ३०५
के आवरण के नीचे स्वार्थ ३०६, [३०९],
३३१
में को चरितार्थ करना असंभव नहीं,
बशर्ते... ३०८; की चरितार्थता में समय की
दूरी या निकटता किन बातों पर निर्भर ३१०अ
स्वतंत्रता, एकता आदि के ३०८
में को अपनी आवाज उठानी होगी ३१०
और मनुष्यस्थ आत्मा ३१०
की ज्योति को यदि प्रज्वलित... ३१०

में सचाई और आंतरिकता पर सब कुछ निर्भर
३२६-७

भविष्य के, के बिना हमारा काम नहीं चल
सकता ३३९-४०

कोई भी, न होने से यांत्रिक वस्तु का आदर्श
अच्छा ३४०

—जिन, की घोषणा युद्ध के दिनों में ३६६-७
(दे० 'सिद्धांत' तथा 'अधिकार', 'जीवन',
'पूर्णता' भी)

आध्यात्मिकता [आध्यात्मिक जीवन, विचार
...] १३९, १९८, ३३७

और अत्यधिक नियमबद्ध समाज १३८
और धर्म २५८
का स्वतंत्रता और विविधता पर आग्रह २८४
की ओर लौट रहें हैं लोग ३२४

आध्यात्मिक परिवर्तन

की आवश्यकता [३३७], ३६८, ३७७,
३८०

आयर्लैंड ७, ८४, ३५१

और इंग्लैंड [ग्रेट-ब्रिटेन, ब्रिटिश राष्ट्र] ३५-
६, ४३अ, ४४टि०, ४५-६, ८५, १४८,
२२८अ, २४३, २४५, २४५टि०, २४८, २५०,
३५५, [३७५]

का दुर्भिक्ष ४६
को विदेशी भाषा से क्षति ३५-६, २२३,
२२५, २५१, २५२

में 'होमरूल' [गृह-शासन] ४४टि०, ४६,
२३७, अधिराज्यपद २३७टि०

(दे० 'भाषा', 'संस्कृति' भी)

आयात-निर्यात-कर १९९, २००, २०२,
२०८

आरमोरिका [आरमोरिकन] २७

आर्थिक आवश्यकता

प्राचीन काल में, और अब १९६

आर्थिक एकता ४४, ४९

की आवश्यकता, युद्ध और, अ० २५ :
१९६-२०३

ने शांति की आवश्यकता और युद्ध की
अनिवार्यता पैदा कर दी है १९९-२००

और ईर्ष्या, अहंकार राष्ट्रों के २०७-८

आर्थिक केंद्रीकरण

की प्रवृत्ति अ० २० : १५९-६४

आर्थिक जीवन १३८

और युद्ध १००-१, ३१५अ दे० 'व्यापार-
वाद' भी

का निर्धारण और राजा १७०, १७१

संसार का २०७-८, ३७०

और स्वतंत्र विश्व-संघ २४९-५१

आर्थिक दासता ७६

आर्थिक दृष्टिकोण आधुनिक, जीवन का
१९७-८

आर्थिक मनुष्य १९६, १९७

आर्थिक शक्ति पर नियंत्रण १६३

आर्थिक हित ४५, ४६, ४८, ४९, २६९

आर्थिक . . . दे० 'धन', 'व्यापारवाद'

आशा

और भ्रांति ३६३, ३८०

आस्ट्रिया [आस्ट्रियन साम्राज्य] २२-३, २६,
३०, ४९, ६५टि०, ११४, २३३, २३५, २४४,
२६६

आस्ट्रियन राष्ट्रीय भावना २५टि०

आस्ट्रियन पोल ३६

एकता का विघटन १४६अ

मगियार से विरोध समाप्त १४८

राजतंत्र समाप्त १८०, १८२

और सर्बिया २००

में चैक भाषा २२७

संघ-प्रणाली २४३

और ट्रिएस्ट २४५, २५०

भोषण आर्थिक परिणाम २४५टि०

आस्ट्रो-हंगरी साम्राज्य १४६अ, २४५, २७९
(दे० 'हंगरी' भी)

आस्ट्रेलिया २३, ४८, ५१, १४६, १५३,
२४८, [२७९]

इ

इंग्लैंड ४, २७, ३२, ३२टि०, ४७, ५६, ६४, ८४, ११०, २२४, २३१, २३५, २३८, २४८, २६७, ३४६, ३५५, ३६९, ३७४

में व्यक्ति की स्वतंत्रता १३, ९३, १६७

राज्य-भावना का प्रभाव १३; जर्मन विचारों का विकास ६३; केंद्रीकरण की प्रवृत्ति १५५अ, १५६टि०

अंग्रेजी व्यक्तिवाद की दुर्बलता १९

सैक्सन, का एकीकरण २५

एकता, विदेशी शासन से २६

रोमन सफलता के लिये प्रयत्न ३४, ३५अ

सामुद्रिक प्रभुत्व ५८

राष्ट्रीय जीवन का विकास ८५

राष्ट्र-इकाई का निर्माण राजाओं द्वारा ९१,

९३

छोटी-सी सेना एक वर्ष में लाखों में १०३अ

अंतर्राष्ट्रीय सरकार का सफल केंद्र ११५

राज्य की न्यायिक शक्ति को मर्यादा में ...

अदालतों की स्वाधीनता ... १६७

में राजा १७९, [१८२]

का साम्राज्यवाद और जर्मनी का साम्राज्यवाद २३२

(दे० 'अंग्रेज', 'आयर्लैंड', 'ग्रेट ब्रिटेन', 'ब्रिटिश राष्ट्र', 'ब्रिटिश साम्राज्य' भी)

इकाई

छोटी स्वतंत्र, और बृहत्तर केंद्रित इकाई अ० ११ : ७०-७ दे० 'छोटे जनसमुदाय' भी

छोटी, की स्वाधीनता और स्वतंत्र जीवन, केंद्रित सत्ता के अधीन ७२

-यां यहां राष्ट्र हैं ३५८

(दे० 'अतिराष्ट्रीय' इकाई, 'एकता', 'राष्ट्र', 'समुदाय' भी)

इजराइल ३, ७८

(दे० 'जूडिया', 'यहूदी' भी)

इटली ४, २४, ७८, ८१, ९३टि०, ११०, ८

१११, ११७टि०, १५५, १८०, १८०टि०, २१२टि०, २२९, २३५, २३६, २४२, २७९, ३५५

मध्यकालीन ३, २५३

रोमन ७

विदेशी प्रभुत्व २६

आधुनिक, की एकता २६टि०

फासिस्ट ६२टि०, ११२टि०, १२६टि०, १८५टि०, १९९टि०, २१७टि०

साम्राज्यीय महत्वाकांक्षा ६४, २३३

और रोम-साम्राज्य ७९, ८०, ८३-४

प्राचीन, के अंग ८०

का नगर-राज्य पुनर्जीवित ८३-४

कैथलिक संप्रदाय राष्ट्र-इकाई में बाधा ८९

इतिहास १, १७१, ३१३, ३५४

इब्सन २१७टि०

इस्लाम ७, ८८

सर्व-इस्लामवाद ३१, १०९

और चेतन राष्ट्र-इकाइयां ८८

(दे० 'तुर्की', 'मुसलमान ...', 'संस्कृति' भी)

ईथीओपिया दे० 'अबीसीनिया'

ईराक २३७टि०

ईरान दे० 'पर्शिया'

ईवान ९१

ईसा का युग दे० 'स्वर्णयुग'

ईसाई जगत् (मध्यकालीन) ३४

ईसाई धर्म [९३], २२६, २७१, ३७६

भारत में ३९, २५१

को सफलता केवल वहीं ... ३९

ईसाई राज्य ८१

संयुक्त ईसाई-राज्य ११३

उ

उद्योग ११६, २०३

औद्यौगिक स्वतंत्रता और विश्व-राज्य २०७-

८

उद्योगवाद १८४, ३७२, ३७८, ३८१

औद्योगिक समाज १९६-८

उपनिषद् ७५

ए

एकता

और विभिन्नता १३६-९ (मनुष्यजाति में १३६-७, सत्ता में १३७, मनुष्यों में १३८, मानव-समुदायों में १३८, जीवन में १३८-९)

और एकरूपता १३७-८ दे० 'एकता' राजनीतिक भी

जटिल १३८, २२१, २५०

में विभिन्नता अ० २८ : २२१-३०

का विचार अवास्तविक नहीं, वह तो सत्ता का आधार है २२१

तब जीवन का बड़ा सिद्धांत, स्वतंत्रता आधारशिला २४८

का विचार, और हितों की एकता २५०

गुप्त, हमारे और दूसरों के जीवन में ३३७

सच्ची, का आधार ३३७, ३६५

यदि हमारे अंदर नहीं ३३७

का आंतरिक मंत्र ३६५

(दे० 'अतिराष्ट्रीय' एकता, 'अंतर्राष्ट्रीय एकता', 'आर्थिक एकता', 'मनोवैज्ञानिक एकता', 'यूरोपीय एकता', 'शिथिल एकता', 'विश्व-ऐक्य', 'स्वतंत्र विश्व-ऐक्य' तथा 'जीवन', 'संघर्ष', 'स्वतंत्रता' भी)

एकता [एकीकरण] मानव-जाति की/मानव-एकता

की ओर झुकाव : इसकी आवश्यकता और संकट अ० १ : १-५

का आदर्श [लक्ष्य] २, ६४, १४२, २२१अ, २२८, २९३, ३०१

की आवश्यकता का अनुभव [२-३], ७०

प्रकृति की योजना का अंग ५, २७८-९

स्वस्थ, राज्य की मशीनरी द्वारा कठिन २१,

[३]

वास्तविक, और राजनीतिक एकता अ० ५ :

२२-९

राजनीतिक और वास्तविक इकाइयों में भेद करना ही क्यों ? २३-६

की स्थापना के लिये आवश्यक बातें ४४-५

और इकाइयां ७२-३, ८०-२, १३५-६,

२२९

बृहत्, का निर्माण ८०-१, दे० 'इकाई' भी

और मनुष्यजाति की सामान्य एकीकारक भावना २५१, २५४, २७९

के बारे में अतएव हम यह परिणाम निकालते हैं ३००-१

का आध्यात्मिक आदर्श और राजनीतिक, सामाजिक आदर्श ३४०

एकता [एकीकरण] मानवजाति की (राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक, बाह्य, यांत्रिक . . .) ३, ५, ९, २१, ४१, ४२, ४४, ४५, ४९, ६५, ८०, २४३, २५१, २७६, २८२, २८५, ३३४, ३५९, ३७८, ३८०

अपने-आपमें कोई वरदान नहीं ३

का परिणाम ५, ७३, २१४

लाभदायक तभी २१

में दो कठिनाइयां [तीन आशंकाएं] २२

के निर्माण में लगा समय : भारत को २६, फ्रांस, जर्मनी, आधुनिक इटली को २६टि०

आवश्यक वस्तु नहीं २७; तब अनिवार्य नहीं २७५

में दो भिन्न आदर्श २८अ, ६९, १५१, १७६-७

स्वतंत्र राष्ट्रों के संघ द्वारा २८अ, ५४, ६३, १०८-९, ११८

कुछ बड़े साम्राज्यों में पृथ्वी के विभाजन द्वारा २८अ, ११२, ११४-६, ११९, १४१, २१३टि०, २५२, २६६, ३४६

अकेले विश्व-साम्राज्य या राजा-राष्ट्र द्वारा ५४-९, ११५, ११९, १४१, २०६, २६५,

२७८अ, २९४, २९५, ३४५-६

संघबद्ध साम्राज्यों और स्वतंत्र राष्ट्रों को मिलाकर ६४, १०८-१४, १२१

चरितार्थता की अवस्थाएं ७०-२, अप्रत्याशित हस्तक्षेप ७१

बृहतर, की प्राप्ति भूतकाल में किस मूल्य पर ७२-३

ने यूरोप के एकीकरण के स्वप्न को आच्छादित कर रखा है ८१

राष्ट्र-एकता के ढंग से यदि ९७, [८६], २३१, ३४५-६

संभव ही नहीं, इसका आरंभ भी ११८

की आदर्श दिशा ११८

और राष्ट्रीय अहं ११८

की बल और दबाव के प्रयोग की प्रणालियों का परिणाम १२०-१

दृढ़तर, और राष्ट्रीयता [राष्ट्र-इकाई] १२३, १२४-५, १५१

और एकरूपता : १३७-८, १५२, १७६, १८६, २२१, २२८, २५१, २८४अ, प्रशासन की १५७-८, १५९, अधिकार क्षेत्र की १६६, आधुनिक जीवन में १७४

आदर्श समाधान—मनुष्यजाति का स्वतंत्र सामुदायीकरण अ० १८ : १४१-५०, २३१

यदि प्रकाश से नहीं, शक्ति द्वारा १४१, १४३

की आदर्श प्रणाली, और वर्तमान विश्व-व्यवस्था १४२-४

में जाति, भाषा... का तत्त्व और मनो-वैज्ञानिक तत्त्व १४६-७

यूरोपीय, एशियाई, अमरीकी समुदायीकरण के आधार पर १४७; महाद्वीपीय समुदायों के संगठन के द्वारा २४८, २९५-७

पूर्ण १४५, १५२, १५७

का आदर्श अनेक प्रांतोवाला विश्व-राज्य या स्वतंत्र राष्ट्रों का विश्व-ऐक्य ? १५१-२, १७६-७, [२३१], २८१

का अंतिम अर्थ : विश्व-राज्य का निर्माण १७६-७, [२०५]

केंद्रीभूत, का इतिहास १७६

सजीव २२६, २२८, २५१

सजीव (स्वस्थ स्वतंत्रता और विविधता स ओतप्रोत) को कैसे प्राप्त किया जाये ? २२८-३०

अमरीकन संघ के राज्यों जैसी, जर्मन तरीके की, अंग्रेजों की औपनिवेशिक प्रणाली की या स्विट्जरलैंड की पर्याप्त नहीं, वहां स्वाधीनता ... २२८

भौगोलिक, भौतिक, और मनोवैज्ञानिक २४२, २४८, २७९

और ऐक्य-भावना [सर्वसामान्य मनुष्यजाति की भावना] की शक्ति २५१, २५४, २७९

का भंग पुनः जीवन लाने के लिये २६८, [२८२]

का सुरक्षित आधार २७५, [२५४], २७८, २८४, ३३७

समाजवाद के विस्तार द्वारा २९७-८

के स्वर्णयुग की ओर पहला पग : ३४०, और मनुष्य की आत्मा और आंतरिक पूर्णता का प्रश्न ३४०-१

एकरूपता ११, २०, ७३, ८७, १२३, १७८

पूर्ण, ८, १३७

और स्वतंत्र विविधता ११, १२५, २३२

और स्वतंत्रता की समस्या अ० १६ : ११८-२७

का आदर्श १२५-६

मनुष्यजाति की १२५

संस्कृति की १२५, २१२

के मार्ग में बाधा : भाषा की विभिन्नता १२५ और मानवीय बुद्धि १३७-८, १५६

एक दिशा में, दूसरी दिशाओं में विकास में सहायक १३८

की अति १३९; और केंद्रीकरण आत्यंतिक २२८

की प्रवृत्ति . . . (केंद्रीकरण और,) अ० १९ : १५१-८
 की प्रवृत्ति के उदाहरण १५२-३
 केंद्रीभूत सरकार की १५३-४
 का विकास १५६
 राजनैतिक और सैनिक १५६अ
 की प्रवृत्ति (विधायक और सामाजिक केंद्रीकरण एवं,) अ० २१ : १६५-७५; २१२, २५१

राज्य के विकास में १७६
 और विश्व-राज्य १७८अ, २०७, २०९अ, २१४, २८२
 अपराध के दंड की २०९अ
 और केंद्रीकरण लाभकारी इन बातों में २१०
 केंद्रीकरण का समर्थन करेगी २१२
 (दे० 'एकता', 'राज्य-सिद्धांत' भी)

एकात्मक

विचार २०७, २२१, २२९
 प्रणाली २४८, २५०, २५४
 राज्य २९४

एजटैक्स ५९

एडवर्ड चतुर्थ ९३

एड्रियाटिक तट २३६

एथेन्स (प्राचीन) २४

राज्यभाव के साथ व्यक्तिभाव भी १२
 छोटे जनसमुदाय का सामाजिक रूप ७४-५
 न्याय-समिति १६६

एलिजाबेथ ९३, २४३

एशिया ५३टि०, ६०, ६८, ७५, १५५, १८१, १८८, २०१, २१५, २६७, ३६४, ३७१, ३७३
 का रोचक युग ३अ
 के निष्क्रियता के युग ४
 और यूरोपीय संयुक्त राज्य ६६, ६७
 और यूरोप दे० 'यूरोप'
 एशियाई प्रश्न [समस्या] १०३, १८७, ३६९
 अब अधिकतर स्वतंत्र है १२०टि०
 की मनोवृत्ति जनतंत्रीय और धर्मतंत्रीय

१८०-२, [१७३अ]

का भविष्य और बुद्धिजीवी वर्ग १८२
 की आध्यात्मिकता १८२
 की जातियां : राष्ट्र नहीं, जातियां २१५, के स्वभाव की विशेषता ३७२अ
 में स्वतंत्र राष्ट्रीयता के सिद्धांत के प्रयोग के परिणाम क्या होते २३६
 और साम्यवाद २९६-७
 दो गुटों में विभाजित २९७
 एशियाई और अफ्रीकी जातियों को स्वाधीनता का पाठ पढ़ाने का दावा ३३४
 और राष्ट्र-संघ ३४९, ३५१, ३५५, ३६२, ३६७

का पुनरुत्थान : ३७३, [६७, २९५अ], ३७६, ३७८, और समाजवाद ३७४-६
 का प्रयत्न ३७७-८

के उच्चतम आंतरिक व्यक्तित्व और बाह्य जीवन में असमानता ३७८
 (दे० 'रूस', 'संस्कृति' भी)

एलजसिरास १०३

क

कठिनाई ५१, ३०९; विपत्ति ६६, २९२, २९३, ३२०; बाधा २८७-८, ३०५-६

कनाट ३५

कनाडा २३, ४८, ४९, ५१, १४६, २४८

कनान ३६

कर-निर्धारण १६३

करलैंड २४३

कर्म [कर्म-सिद्धांत, कार्य-कारण संबंध] १०३, १२०, ३०७, ३६४

'तथ्यों के परिणाम ३०८अ
 (दे० 'क्रिया-प्रतिक्रिया' भी)

कला १९७, २१६, ३३९अ

कल्कि ३६४

कल्पना ४२, २८२, ३१२, ३१९

कानून दे० 'विधान'

कारथेज [३५], ५६, ७४, [७७]

कार्य [काम] २१४, ३४१, ३७१अ

सम्मिलित, का नियंत्रण जब राज्य अपने हाथ में १९-२० दे० 'राज्य' भी

और भावना ३०८

स्वभावनियत कर्म ३३६

जो करना है ३६७-८, ३८२, [१३३];

मार्ग, जिसका अनुसरण करना है १५९

(दे० 'प्रयत्न', 'मनुष्य', 'मूल्य' भी)

कार्ल मार्क्स १९९

काल-पुरुष [काल] १९८, ३१८, ३२२,

३७२, ३७८, [३७९]

काल्डिया [काल्डियन लोग] ८३

किमरिक

जाति ४६

वेल्स ४३

कुरुक्षेत्र ३२१, ३२२

कुल [कुटुंब] २३२, २४२, २७२, २७९

कौटुंबिक विचार २६१

(दे० 'वंश' भी)

कुलीन तंत्र ७२, ७३, ९४, १४३, १५५,

१५७, १६८, १७१, १७२, १७३टि०, १८३,

१८४, १८५, १९०, १९७, २१०, २१७, ३७०

श्रेणी-कुलीन तंत्र १८४

कुलीन वर्ग ९४, ९५, १८२, २१८, [३८१]

कुस्तुनतुनिया १९१

(दे० 'बिजेनटाइन साम्राज्य' भी)

कूटनीति ५६, १९०, २६५, ३०६, ३५१,

३६२

प्रत्यक्ष, की मांग १६२

केंद्रीकरण [८७, १०७], ९७, २३२, २३८

और एकरूपता की प्रवृत्ति — ... अ० १९ :

१५१-८; इसका पूर्वदृष्टांत : राष्ट्रीय एकता की

रचना १५२

केंद्रीभूत प्रतिकार की आवश्यकता १५५

केंद्रीभूत करना शक्तियों को १५५-६

पर आक्षेप २१२

अतिकेंद्रीकरण २२१

(दे० 'आर्थिक केंद्रीकरण', 'एकरूपता',

'विश्व-राज्य' भी)

केंद्रीय सत्ता ७२

का निर्माण १६१-२, [१७०], ३४२, ३४९

जब आंतरिक व्यापारों को हाथ में लेती है

१६३

उत्तरोत्तर निर्धारक १७६, २८१

की समाप्ति १७६

और सैनिक बल १८७

केंद्रीय सरकार [केंद्रीभूत सरकार] १५१

की आवश्यकता १५३-४

की सर्वोच्च संस्था बन जाने की प्रवृत्ति १५४

कैटेलोनिया [कैटेलोनियन] २७

कैथरीन ९१, ९३, २४४

कैपेट्स ९१

कैल्ड्स ८४

कैल्टिक जाति/यां ७, ३५, [४२], २२५

कैल्टिक संस्कृति [भावना] ३६, २५१, २५२

कैसर १७९

कैस्टाइल (राजवंश) ९१

कोरिया ३०, २३३, ३५१, ३५५

कोर्टस् ५८

कोष [राष्ट्र-कोष]

पर नियंत्रण १६३

कौंगो ६४

क्यूबा २१०, २३८, २३९

क्रांति ६६, १४८, १५०, १५०टि०, १६४,

२४७टि०, २६७, २८२, २८७, २९१, ३०५,

३५७, ३८०

-कारी आंदोलन राजतंत्र के विरुद्ध स्वतंत्रता

व समानता के लिये ९४-५, [१६९]

अंतर्राष्ट्रीय, राजनीतिज्ञ के अनुसार ९९

-यों को जन्म ९९, १६९, २८०

नयी, इसका परिणाम १७४, ३२२, ३२६,

३७४

विकास की द्रुत, घनीभूत क्रिया २३४
 (दे० 'फ्रेंच क्रांति', 'रूस' रूसी क्रांति भी)
क्रिया और प्रतिक्रिया
 का नियम २३१-२, [२५४, ३०७, ३२५]
 (दे० 'कर्म' भी)
क्रूरता २७२
क्रोमवेल २४३
क्षत्रिय १९६, १९७, [३१३], ३५७

ख

खलीफा ३१, १८१, ३७४
खिलाफत आंदोलन ३७३

ग

गणतंत्र
 और अमरीका १८०, १८२, २३४, २३९
 अपने मूल में पश्चिमी है १८०
 विश्व-व्यापी १८३
गॉल ३३, ५४, ७८, ७९, ८२, ८४
गीता १३४
गृह-शासन दे० 'होमरूल'
गैलिक जाति [राष्ट्र] २७, ७९
 गैलिकन चर्च ८९
गैलिक भाषा ३६
गैलिक बलून १५३
गोथ २६
गोबिंदसिंह (गुरु) ९०
गौटमाला ३४६
ग्रंथ (मानव-एकता का आदर्श)
 सिंहावलोकन और परिणाम अ० ३५ :
 २७८-८५
 ग्रंथोत्तर अध्याय अ० ३६ : २८६-३०१
ग्रीक द्वीप ६४
ग्रीक-रोमन एकता २९३
ग्रीक-रोमन जगत् १८, ८४

ग्रीक-रोमन सभ्यता ३३, ३४
ग्रीक साम्राज्य २४
 ग्रीक और बिजेनटाइन साम्राज्य २४
ग्रीस [यूनान] प्राचीन २४, २७, ३५, ७३,
 ७५, ७६, १५३, १७४, २१०, ३७४, ३७६,
 हेलास [हैलनिक राष्ट्र] ८१
 यूरोप की सभ्यता को देन ३, ७५
 नगर-राज्य ३, ७, २४, ७८, ८४, [२२९,
 २५३]
 पार्थक्यपूर्ण प्रवृत्ति और केंद्रमुखी शक्ति २४
 जनतंत्रीय प्रवृत्ति ७४, २१७-८
 एकता का प्रवर्तक : फिलिप ७९
 में स्वाधीनता और जनतंत्र का अर्थ ३२९
 (दे० 'भाषा', 'संस्कृति' भी)
ग्रीस [यूनान] वर्तमान २४, ११०, १८०
 के विरुद्ध नाकेबंदी का अस्त्र २०२
 के आंतरिक शासन में हस्तक्षेप २११
ग्रेट ब्रिटेन ३१, ४५, ४६, २११, २१३, २२८,
 २४२, २४५टि०, २५०
 (दे० 'ब्रिटिश राष्ट्र' भी)
ग्रैपियन पर्वतशृंखला ८४

च

चन्द्रगुप्त ७४, १७२
चर्च ९४, १६६, १९७, ३४१
 -शासन [७३], ८६
 और राजतंत्रीय राज्य का संघर्ष ८९, १०९
 या पुरोहित-वर्ग, और राष्ट्र की राजनीतिक
 चेतना ९०-१
चालुक्य (वंश) ४
चियांग काई शेक ९२टि०
चीन ६०, ६७, ७८, १५५, १७४, २००, २४३
 यूरोपीयकरण की प्रवृत्ति ३८ टि०
 राष्ट्र-इकाई और पंडित वर्ग ८८
 आध्यात्मिक और सांसारिक नेतृत्व एक सत्ता
 में ८९

और जापान ८९, १४७, १५५
 राजतंत्र समाप्त १८०, १८१
 शासन का पुराना चीनी सिद्धांत १८०अ,
 १८४
 की जनतंत्रीय प्रणाली १८०अ
 साम्राज्यों से रक्षा : कारण २३३
 साम्यवादी : २९६, के उदय से संकट २९७
 चीनी साम्राज्य ३२, [२९४]
 चेर (वंश) ४
 चैक राष्ट्र २३६
 चोल (वंश) ४

छ

छोटे जनसमुदाय [नगर-राज्य, प्रादेशिक राष्ट्र]
 ६१, ८१

ने का समृद्ध, शक्तिशाली जीवन ३-५,
 ७३, ७५; में गतिशील शक्ति की जड़ ७५अ
 इज्राइल जाति, यहूदियों, प्राचीन यूनान,
 इटली, भारत, इंग्लैंड, फ्रांस, रोम आदि के ३-
 ४, ७, ७५, ७८, २२९, की ओर लौटना २५३
 ने का दोष ४, ७६-७

के राजनीतिक और नागरिक जीवन में
 जनतंत्रीय स्वतंत्रता ७३-४

के सामाजिक जीवन में जनतंत्रीय समानता
 ७४-५

अगर बने रहते तो बहुत-सी समस्याओं का
 सरलता से समाधान . . . ७६

पुराने, को क्यों भंग होना पड़ा ७६-७
 के लाभों को छोड़ना पड़ा राष्ट्रीय समुदाय के
 निर्माण में ७७

यूरोप में, पुनः जीवित ८३-४
 विलीन २३२, [३४५]
 (दे० 'इकाई' भी)

ज

जगत् दे० 'संसार'

जगदीशचन्द्र वसु (एक भारतीय वैज्ञानिक)
 २२६

जनतंत्र [प्रजातंत्र, लोकतंत्र] ६०, ९१, १४८,
 १८३, १८५, १९०, २१०, २११टि०, २४१,
 २४६, २७१, ३३९, ३४५, ३५४, ३५६,
 ३६३, ३७३, ३७७

जनतंत्रीय स्वतंत्रता व समानता की प्रवृत्ति :
 छोटे जन-समुदायों में ७३-५, प्राचीन ग्रीस, रोम,
 भारत में ७४-५

सच्चा, और बाह्य रूप ११३, १७०,
 १७०टि०

से राज्य-नियंत्रण की ओर १५५, १५५टि०
 की विशेषता १५९, आदर्श ३४६, सिद्धांत
 ३५१

आधुनिक १६०, १७०, १८३, १८५,
 १९०, २१८, ३३०, की प्राप्ति व लाभ २१७,
 २१८, ३३०अ, ३३६

की ओर राजतंत्र से दे० 'राजतंत्र'
 जनतंत्रीय राज्य वह कार्य करेगा जिसे राजा
 या कुलीनतंत्र नहीं कर सकता था १७४-५,
 [६२]

और राजतंत्र एशिया में १८०-२
 सामाजिक, १८१, १८३

मध्यवर्गीय [और मध्यवर्ग] १८३, १८४,
 १८४टि०, १८५, १९०, १९२, ३८१, ३८२
 दे० 'सैनिक शक्ति' भी

युद्ध के लिये कम सहमत १९०, १९२, दे०
 'युद्ध' भी

और स्वाधीनता १९२, २१७-८
 प्राचीन ग्रीस [यूनान] में २१७-८, ३२९
 आध्यात्मीकृत, भारत में ३७३
 (दे० 'समाजवाद', 'स्वतंत्रता' भी)

जर्मन-साम्राज्य ३०, १११, ११४, २०५,
 २३१, २९४

जर्मन साम्राज्यवाद [साम्राज्यवादी जर्मनी]
 ३७, २३२, २३३, २३६, ३४६, ३८१

जर्मनी ४, २४, २८, ५८, ८२, ८६, ९३टि०,

१११, ११४टि०, १९१, २११, २१९टि०,
२३२, २३५, २३७टि०, २४२, २४३टि०,
२४४, २४६, ३७०

और राज्यभाव [राज्यसिद्धांत] १२, १३,
३७, ६२-३, ६२टि०

जर्मन विचार [आदर्श, सिद्धांत] २३,
११९, २४५, ३०८, ३६९

की एकता [एकीकरण] २६अ, २६टि०,
९१, १५३, २७९

सर्वजर्मनवाद ३१, १०९, १९०, २००,
२४५

का विश्व-साम्राज्य का स्वप्न ३४, ५५-६,
इसमें असफलता का कारण ५६

रोमन प्रणाली का अनुसरण ३४, ३५, ३६
का/में समाजवाद ३७, ११७टि०, २१२टि०,
२५८, २६६

नाजी [फासिस्ट] २६टि०, ११२टि०,
२४३टि०

जर्मन सैनिकवाद का नाश ६३, १८८-९
के, युद्ध में, अपराध का कारण ६७, १८९
मध्यकालीन ८४, १५२
को अफ्रीका से यदि निकाल . . . १०३
और प्रशिया १५३, १५५, २२८
एकता और एकरूपता की प्रवृत्ति १५८,
१५८टि०

राजतंत्र समाप्त १८०

अहंभावना १८९

को जीतने का वास्तविक कारण २०२

को असमर्थ बनाना २०२, २३६

(दे० 'पोलैंड', 'संघीकरण' भी)

जल-शक्ति [सामुद्रिक शक्ति] ५६, ५८,
२६५

जाति ४९, ९५, १३५, १३६, २१२, २६१अ,
२७२, २७९, २८१, ३१२, ३५४

-यां ग्रेट-ब्रिटेन के क्षेत्रों की ४८

और राष्ट्र १४६-७, १५२, २०६, २३२,
२४२

और भाषा दे० 'भाषा'

-यों सभी, को समानता एवं न्यायपूर्ण समान
स्वतंत्रता का अधिकार २४९, २९०, ३००,
३४२, ३४४, ३४६, ३५१, ३५३, ३६२,
३७६,

-यों के संबंध में भविष्य ३८२

(दे० 'मानव जाति' तथा 'अधीनस्थ राष्ट्र',
'एशिया', 'मन', 'यंत्र' भी)

जाति-प्रथा भारत में ३३४

जापान ६४, ६७, ६८, ११२टि०, ३५५

और यूरोपीय संस्कृति ३८

मिकाडो और राष्ट्र-इकाई का विकास ८८,
९२, मिकाडो १८१

शांगुन ८८

आध्यात्मिक और सांसारिक नेतृत्व एक सत्ता
में ८९

राजतंत्रीय भावना १८०, १८१

पतन २९६

(दे० 'चीन' भी)

जापानी साम्राज्य ३०, २३३

ज़ार ९३, १७९, १९०टि०, २४३

जार्जिया ३७५

जीवन १७४, ३३०, ३३९अ, ३८०

को समझना १

समृद्ध और शक्तिशाली ३-५, ७३; जीवंत,
गतिशील ७५-६; सबल २१६

वर्तमान ५७; आधुनिक ६१, ७६, १७४

-यापन के लिये ज्ञान की आवश्यकता
अकेले मनुष्य को ही १३१-२

अवमानवीय, मानवीय, अतिमानवीय १३१-
४; उद्भिज जीवन, पशु जीवन, मानव जीवन

१३५अ

-विषयक विचार [आदर्श] मनुष्य के
१३२-४; और विचार २५५, २५६-७

-संबंधी नियमः वर्तमान और संभावित
१३२-३, और समाज १५९, [१७१]

मात्र प्रकृति है १३३

की एकता १३८, १७७, १८८, २०४,
[२०९] दे० 'मनुष्य' एक-दूसरे, 'मानव-जाति'
का संगठित, 'विज्ञान' भी

का आदर्श सिद्धांत १३८

का नियम १३९

का अधिक नियमन १४०, [१३८] दे०
'एकरूपता' की अति भी

, और मन के नियम १५९

का सामाजीकरण २११, २१४

की शक्ति का हास, गतिरोध २१६, [८२],
२२७, २२९अ, [२६७अ], २८२-३, २९४
विभिन्नता के सहारे स्थित है २२१, [१३७,
१५६], २२७, २२८, [२२९, २५३], २८१

और व्यवस्था २२१

का विकास, और भाषा २२२, [२२४]

के संकट-काल में प्रथम सजीव आवश्यकता
का ही महत्त्व २५९

लौकिक, पुराणपंथी धर्म और मानवता के
धर्म में २७३

उस अधिक महान् चीज के अभाव में
... ३१९

को शासित करने का प्रयत्न विचार से, फिर
आत्मा से ३३१

का विधान आत्मपीड़न नहीं ३३३

आत्मपरिपूर्णता है जो पारस्परिकता की भूमि
पर आगे बढ़ती है ३३३

बाह्यतर, की उपेक्षा नहीं ३३७, [२२७]

में कोई वस्तु सच्ची नहीं हो सकती जबतक
वह आत्मा में सच्ची न बना ली जाये ३७७

(दे० 'आर्थिक जीवन', 'सामूहिक जीवन'
तथा 'आध्यात्मिकता', 'एकता', 'छोटे जन-
समुदाय', 'ज्ञान', 'धर्म', 'मनुष्य' भी)

जूडिया ७८

जेकोबिन ६२, १५२, १५७, २४१, २४६,
३७१

जेहोवा १६१

ज्ञान ३८, ७०, १९७, २५८, २७४

सतही, और जीवन की गहराइयां १

श्रेष्ठ पद्धति का १४१अ

परंपरागत, और आधुनिक मन ३३९

(दे० 'जीवन', 'सामूहिक जीवन' भी)

ट

टालस्टाय २२०

टाइरोल ३५५

ट्यूटैनिक

कार्य-दक्षता, संस्कृति ३४

राज्य २३३

शासक जाति २७

समुदाय ३०

ट्यूडर्स ९१, ९३

ट्राजेन (एक आइबेरियन स्पेनियार्ड) ३३

ट्रीएस्ट २४५, २५०

ड

डेनमार्क ६८

डैन्यूब ८२

ड्यूडिक सभ्यता २७

त

तातार [तातारी] २४२

तालाबंदी २०१, ३६०

तिब्बत ९०, २३३, २९७

तुर्की [तुर्किस्तान] ५६, ६०, ६७, १४७,

१८१, २३३, २३५, २४३, २४४, ३७४, ३७५

यूरोपीयकरण की प्रवृत्ति ३८ टि०

तुर्की साम्राज्य [शासन] २४, २६, १५३,
२३६

त्रिपोली ६४, १०३, २३३

थ

थ्रेस २४, १०३

द

दमिष्क ३७४

दास [दासवर्ग] ७६, १२१

इस्लामी सभ्यता में ८८

दास-प्रथा २७३

ग्रीस, रोम, भारत में ७६

अमरीका में १४४

देवता ५५अ, ३०१, ३१५, ३१६

जिसका मुख स्फिंक्स का, हाथ कांसे के ३२३

देश ४४

का धर्म २६९

में प्रत्येक मनुष्य का पहला कर्तव्य २६९

देशभक्ति १८९, २६२, ३१३

और अंतर्राष्ट्रीयता २५५; जन्म-भूमि विरोधी विचार १२४

ध

धन ३६०, ३७७

के स्थान पर श्रम की स्थापना ३५७, ३७२

धनिक तंत्र ३३०, ३८२

धर्म १३५, १७०, १९७, १७३, २०४, २७२, ३२३, ३३५, ३३९, ३४१

का अर्थ १७०; का आंतरिक अर्थ २७७

राष्ट्रीय धर्म १७०, १७४, [२०]

व्यक्ति के लिये जो है १७१

का जीवन पर प्रभाव १७३अ, [२१९]

राज्य-धर्म १७४

आर्थिक दृष्टिकोण में १९७, १९८

धार्मिक स्वतंत्रता और सर्वनियामक राज्य

२१९, २१९टि०

और अंतर्राष्ट्रीयता २५८

पुराणपंथी, और मानवता का धर्म २७३

सार्वभौम धर्म २८४

धर्मराज्य ही इस विनाश का परिणाम ३२२

किस, का राज्य ३२२-३

में भगवान् और मनुष्य ३२३-४

(दे० 'मानवता का धर्म' तथा 'आध्यात्मिकता', 'जीवन', 'देश', 'मन', 'समाज' भी) धर्मतंत्र ७४, ७५, १६६, १७१अ, १७२अ, १७३टि०, ३७७; धर्मसंघ ९५

न

नगर-राज्य दे० 'छोटे जनसमुदाय'

नमनीयता १४०

नार्वे ४५, ६८, १४८

नास्ट्राडामस ३४५

नियति

का आय-व्यय का खाता ३२२

को ठगना ३२३, [३०८]

और परिस्थिति ३७५अ

नियम ३२५, ३३२

सनातन १३१, १३३

जीवन के, और समाज १५९, [१७१]

(दे० 'विधान' तथा 'प्रकृति', 'जीवन' भी)

निरस्त्रीकरण दे० 'शस्त्रास्त्र'

निर्माण ३१८, ३२०, ३२२, ३७९

नीति (नैतिक) १३५; नीतिशास्त्र २७२, ३३२;

नैतिकबल १८७; नैतिक सिद्धांत ११०

नीत्यो के विचार ६७

नीदरलैंड ४

नैतिकता दे० 'नीति', 'राज्य'

नैपोलियन २६, ३४, ५६, ६३, १५७, १७२, १९०, ३७९

न्याय ६०, ९५, २४९, २९०, ३१०, ३४२

की तलवार १०४, ३५९

और शक्तियां १०९, ११०

-संबंधी कार्य [प्रशासन], और राजा १५९,

१६५-७

-संबंधी प्रणाली, और विश्वराज्य २१०

और राष्ट्र-संघ ३४२, ३४६, ३५२, ३५४,

३६१, ३६२

-पूर्ण साम्य ३४२, ३७६ दे० 'जाति' भी
 न्यायसंगत प्रतिशोध ३५४
 न्याय-तुला ३५९
 (दे० 'विधान' भी)
 न्याय-समिति १६६, १६७
 न्यायाधिकरण १६५
 न्यायाधिकारी-वर्ग
 को कार्याधिकारी-वर्ग के अधीन रखने में
 खतरा १६६अ, १६७
 न्यायाधीश १६५, १६६
 न्यायालयी अन्वेषण ९३, १७३
 न्यास-सिद्धांत ३५१

प

पंचायत [पंच-प्रणाली, पंच-निर्णय] ९९,
 १०४, १९५
 भारत में १६५
 और युद्ध ११६, १९२अ, २०१
 पतन १३३
 परिवर्तन १३३, १४५, २५४, २६६, २६९,
 ३०८, ३२२, ३६८, ३७५अ
 और मानव-मन ४१
 अंतर्राष्ट्रीय एवं सामाजिक ७१
 -काल ३०५
 वह, तभी आ सकता है ३६४, [१४२,
 ३६८]
 बाह्य ३६४; यांत्रिक ३८२
 (दे० 'आध्यात्मिक परिवर्तन' भी)
 परिषद् १६९, १८६
 (दे० 'सर्वोच्च परिषद्' भी)
 परोपकार [परहित] १८, २७१, २७३, ३३२-३
 अहं का छद्मावरण ३३२अ
 द्वारा अपना भला महत्त्वपूर्ण ३३३
 पर्शिया ७८, ७९, १८१, २००; फारस १४७,
 ३७४, ३७५; ईरान ६०, २३२, २३३, २३७टि०
 मोडो-पर्शिया ७८

पर्शियन साम्राज्य १७९
 पल्लव (वंश) ४
 "पवित्र मैत्री" ३५६, ३६३
 पशु दे० 'मनुष्य'
 पश्चिम ३६९
 और पूर्व २१२, ३७२
 पश्चिमी शक्तियां और साम्यवादी सरकार
 ३७१
 (दे० 'यूरोप' भी)
 पश्चिमी मन दे० 'यूरोपीय मन', 'यंत्र'
 पांड्य ४
 पाप १३३
 पारस्परिकता [पारस्परिक संबंध, सहयोग,
 आदान-प्रदान] १०९, १३६, १३९, १४५,
 २५०, २५३, ३०८, ३३३, ३३७, ३५८
 पिजारो ५८अ
 पिता का पुत्र पर अधिकार ३३५
 पीटर ९१, ९३, २४४
 पुराण १६०, १६१
 पुराना विचार [सिद्धांत, प्रणाली]
 अपने-आपको दूसरों पर लादने का ३८,
 ३९, २५२
 शक्तिमत्ता, प्रभुता, अधिकार का ५५,
 ३३५, दे० 'बल' भी
 प्रबल केंद्रीकरण का २३८, २३९
 बाह्य संस्था और यंत्रों पर निर्भरता का ३२७,
 ३७७
 राजतंत्र की प्रधानता का ३५६, ३७०
 और भविष्य ३६८-९, ३८१, [३२२-३]
 पुरोहित [पुरोहित वर्ग] ७२, ७४, ७५, १६९,
 १७१अ, १७३, १८२, १९६
 -शासन छोटे समुदायों में नहीं ७३
 और राष्ट्र-इकाई ९०
 (दे० 'चर्च', 'भारत' भी)
 पुर्तगाल ६४, १८०, २३६
 पूंजीपति ८, ३६०
 और श्रमिक १०९, ११६, १९७, १९९,

२०१, २०४, [२०५टि०, २७४], ३३४

और श्रमिक, और राष्ट्र-संघ २०३टि०,

३४१, ३५२, ३५५-७

और श्रमिक का प्रश्न ३६९-७२

पूँजीवाद ९५, २९६, ३५६, ३७८

(दे० 'मध्यवर्ग', 'समाजवाद', 'सरकार',

'साम्यवाद' भी)

पूर्णता ७, ८, १९, २०, १३१, १३३, १४०,

२२०, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८, ३३८, ३७६

और तुष्टि व्यक्ति, समुदाय और जाति की

१३५, [६], २८४

अपनी, और साथियों की १३९

आंतरिक ३२७, ३४०

की धारणा और अपनी शक्ति में विश्वास

आवश्यक ३३९अ

घड़ी की तरह चालित ३४०

बाह्य प्रकार की राजनीतिक, सामाजिक, का

विचार ३६४

वैयक्तिक और सामाजिक की शर्तें ३६५,

[३२८]

सर्वांगीण, तभी प्राप्त ३६५

का आदर्श ३६५

(दे० 'आत्मपरिपूर्णता', 'यंत्र', 'व्यक्ति',

'समाज' भी)

पूर्व ८२, दे० 'पश्चिम' भी

पृथक्ता १३७, २७०, ३००, ३१७

की भावना ३३, ४५, ४८, २०६, २१२,

२२८, २२९, २३१, २५३, २५४, २६९, २९७

और विशिष्टता एक ही वस्तु नहीं ४५

पेरिस ४, ३४१

पेरु [परुवियन्स] ५९

पैगंबर १७२

पोप ८९

-शासन छोटे समुदायों में नहीं ७३

पोलैंड २८, ९३, १५५, ३५५,

पोलिश राष्ट्र २८, २३६

और जर्मनी ३०, ३५, ३६, २३६, २४३

और रूस १११, १४८, २४२, २४३,

२४४, २४९

प्रकृति ७, ८, २६, ५९, ६९, १०३, १३१,

१३३, १३४, १३६, १४२, १७५, २२७,

२४०, २६५, २८६, २९२, २९४, ३००,

३१८, ३२४, ३३२, ३४१, ३५४, ३७८

की कार्य-प्रणाली : मंद-धीरे विचारों के

कार्यान्वयन में २, बड़े संगठन और छोटे संगठन

में ५, व्यष्टि-समष्टि में सामंजस्य की ६, दो तत्त्वों

में सामंजस्य की १०, साम्राज्यीय संगठन में २८,

३५, ४२, १४५, मानव-समुदायों के निर्माण में

४४, १३६, और ब्रिटिश साम्राज्य ४७, प्राणिक

जीवों के निर्माण में ८०, सृजन का प्राकृतिक

नियम ९७, व्यष्टि, समुदाय, मानवजाति इन तीन

करणों द्वारा काम करने की १३५-६, प्रतिकूल

शक्तियों के परस्पर-क्रीड़ा के संतुलन की २३१-

२, बाह्य एकता की २६४, २७८

के उद्देश्यों में जब बाधा ९, १६, २९०

की भूलें ८३

का नियम हमारे विकास में—विभिन्नता में

एकता, विधि और स्वाधीनता अ० १७ : १३१-

४०

के अनुकूल जीवन बिताना १३१

के जीवन-संबंधी नियम १३२-३

का मूल-सिद्धांत १३६

का उद्देश्य १३६, १३८, १३९

वस्तुएं गढ़ती नहीं, जीवन को अंदर से

विकसित होने को प्रेरित . . . १३९

का आग्रह विविधता और स्वाधीनता पर

२२१-२

का संकल्प उत्पन्न होनेवाले आकार में पहले

से ही निहित २६३-४

तो फिर अन्य उपायों का प्रयोग करेगी

२७८अ, २८०अ

बाधक विश्व-शक्तियों को उभारती है २८७

की विकासात्मक प्रेरणा २९९-३००

को धोखा ३०८, [३२३]

(दे० 'मानव प्रकृति', 'यूरोपीय प्रकृति' भी)

प्रगति १२१अ, १३१, १३५, २५१, ३२०, ३३६, ३५१, ३७२, ३७७

सीधी रेखा में नहीं, काल-चक्रों में १२

मानव-प्रगति २५७, ३३१, ३७१, ३७६

(दे० 'विकास' भी)

प्रणाली [पद्धति] ३१२, ३१८, ३२२, ३३१, ३४१, ३६०, ३६३

प्रत्येक, शिखर पर पहुंचकर क्षीण होने लगती है २६८

कोई भी, उस परिवर्तन को नहीं ला सकती ... ३६४

(दे० 'अंतर्राष्ट्रीय एकता', 'एकता' (राजनीतिक) भी)

प्रत्यक्षवाद २७१

प्रथा १६०, १६८, ३१९

प्रयत्न [प्रयास] ३२५, ३२६, ३३९

जो अपेक्षित सच्ची मानव-एकता एवं दिव्य आत्मा का राज्य स्थापित करने के लिये २८४-५

मानव, व्यर्थ रहता यदि कोई और उच्च वस्तु न होती ३१९

अदृश्यशक्ति-प्रेरित, और विपत्तियां ३२०

ऊंचाई पर जाने के ३२४अ

को स्वतंत्रता ३३०अ

जो अवसर देगा आत्मपरिपूर्णता को अधिक ऊंचा और विस्तृत बनाने का ३३१

(दे० 'कार्य' भी)

प्रशिया दे० 'जर्मनी'

प्राणिक जीव

निर्माण ८०

आत्मसात्करण ८१-२

प्रेम १०, २७४, ३१०, ३२५, ३२६

स्वतंत्र विश्व-प्रेम २४८अ

प्रोवांस [प्रोवेंसाल ...] २७, ४७

भाषा २१३, २२७

प्लैटोजेनेट्स ९१

फ

फर्डिनेंड ९३

फारमोसा ३०

फारस दे० 'पर्शिया'

फासिस्टवाद [फासिस्ट सिद्धांत, शक्तियां ...] ११२टि०, ११६टि०, १५९टि०, १८४टि०, २०५टि०, २११टि०

फासिस्ट और नाजी जातिवाद २१३टि०

(दे० 'इटली', 'जर्मनी', 'समाजवाद' भी)

फिनलैंड [फिन]

और रूस ३६, २४३, २४४, २४८, २४९, २५०

फिलिप ७९

फिलिप द्वितीय ९३

फिलिस्तीन ३७४

फिलिपाइन [फिलीपीनोस] ६४, ६८, २३८, २३९

फैरिसी (संप्रदाय) ३५

फ्यूहरर ९२टि०, ११४टि०, २३७टि०

फ्रांस ४, ५६, ११०, १११, ११६टि०, ११७टि०, [१२४], १४६, १४८, [१५१], १५७, २००, [२११टि०], २३१, २३५, २४१, २४२, २४६, ३४६, ३५०, ३६९, ३७०, ३७४, ३७९

आधुनिक : राज्यभाव के साथ व्यक्तिभाव भी १२

मध्यकालीन २५, ८४, १५२

राष्ट्र-इकाई का निर्माण २६ टि०, २७

में ब्रेटन, प्रोवांसाल आदि २७, ४७, [२१३], २२७

एकता : २८, इतिहास ८४-५

का साम्राज्य ३२, ३४

फ्रेंच लोग ४२

राजनीतिक स्वतंत्रता और समानता का प्रचारक ६२

की पराजय उसके आदर्शों की पराजय न

थी ६३

चर्च और पादरी राजा के वश में ८९

में राजतंत्र : और राष्ट्र-निर्माण ९१, ९३, की शक्ति १६४, और राज्य-संचालकों की सभा १६९, के बिना काम १८२

का राजनीतिक इतिहास—प्रशासनीय केंद्रीकरण १५७

(दे० 'भाषा', 'संस्कृति' भी)

फ्रेंच क्रांति [फ्रांसीसी क्रांति] [६१, ६३, ९६], १४८, १५२, १५७, २१०, २४१, २४८

का प्रमुख विचार ६०

की प्रमुख देन ६०

के उभरने का अवसर १६४

और रूसी क्रांति २४६, ३७१

और अंतर्राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रीयता २५५

और जेकोबिन दे० 'जेकोबिन'

फ्रेंच-जर्मन-युद्ध २००

फ्लैंडर्स ८४

फ्लैमिंग्स (ट्यूटोनिक) १५३

फ्लैमिंग आंदोलन १५३

ब

बंगाल २२५-६

(दे० 'भाषा' भी)

बर्बर जातियाँ [असभ्य जातियाँ]

और रोमन साम्राज्य ३२, ३४, ८२

बर्लिन १५३

बल [बल-प्रयोग] १४८, २४१, २४३, २४५, २४७, २६०, २६७, ३१०

का सिद्धांत १२०-१, १४३, १४४, २६५

(दे० 'शक्ति' भी)

बलगेरिया [बलगर] २४, ३१, २३३

बहुमत [बहुसंख्यक]

बहुतों का कुछ के द्वारा या कुछ का बहुतों के द्वारा शोषण ८

न्यूनतम, का शासन १८५, ३३०

का अत्याचार २१७, [१३]

मर्तों की संख्या का लाभ ! २४९

पर अल्पसंख्यक वर्ग का शासन ३२९-३०

बाबेल का बुर्ज २२२

बालक पिता की संपत्ति था ३३५

बाल्कन (देश, प्रायद्वीप) २६, ३१, ६४, ९१अ, १०२, १०३, २३३, २३६, २४४, ३१४, ३५५

बाल्टिक २४४

बास्क २७, ४७

बिजेनटाइन साम्राज्य २४

(दे० 'कुस्तुनतुनिया' भी)

बिस्मार्क २३३

बुद्ध ७४

बुद्धि [तर्क बुद्धि, मानव बुद्धि] ३४, २२१, २७५, ३०७, ३१२, ३२४, ३२७, ३३२, [३३७], ३३९, ३८०, ३८१

केवल तात्कालिक तथ्यों को देखती है ९८,

३०५अ दे० 'मन' अगले भी

व्यावहारिक १३२

की भूल जीवन-संबंधी नियम को समझने में

१३३

को एकरूपता, व्यवस्था, यांत्रिकता पसंद

१३७-८, १५६, १६८, २८२, [३]

बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास के लिये

अवकाश १३८

बौद्धिक और सांस्कृतिक उन्नति, और मनो-

वैज्ञानिक तत्त्व २६९

(दे० 'ज्ञान', 'विवेक' भी)

बुद्धिजीवी [बुद्धिवादी] ९८, ११०, [१११], १८२, १८४, २१७, २५५, २६६

बुरखौं

लोग १५७

युग ९३

बेल्जियम ३८, १०३, २३६

और हौलैंड ४५

के पास भी कौंगो है ६४

में फ्लैमिंग और वलून १५३
 बेस्पेसियन (एक इटालियन गॉल) ३३
 बोअर गणतंत्र २३३
 बोलशेविज्म [बोलशेविकवाद, शासन] २३७टि०,
 २४१, ३०६, ३४१, ३७१
 के पीछे विद्यमान वस्तु को नहीं मिटाया जा
 सकता ३५६-७
 (दे० 'रूस', 'साय्यवाद' भी)
 बोहेमिया (जर्मन) ३५५
 बौद्धधर्म [ग्रंथ] ३९, ७५
 ब्रंटाइन ४७
 ब्राह्मण ९१, १६०, १६६, १९६, १९७
 ब्रिटिश उपनिवेश २३
 -ों को विदेशी भाषा से हानि २२३-४
 ब्रिटिश राष्ट्र [ब्रिटेन] ३६, ५४, ११५टि०,
 [१४६]
 का निर्माण २८, ४५-७
 उदाहरण विषम जातीय राष्ट्र का ४३
 के निर्मायक अंग ४३अ, [८५]
 (दे० 'आयर्लैंड', 'वेल्स', 'स्कॉटलैंड',
 'स्वतंत्र राष्ट्रीयता का सिद्धांत' भी)
 ब्रिटिश सभ्यता
 श्रेष्ठ, का लाभ बर्बर वैल्स और आयरिश
 लोगों और भारत को २५१-२ दे० 'यूरोप' भी
 ब्रिटिश साम्राज्य २३, ३२टि०, १५६, २५२,
 ३४६, ३५०
 उदाहरण विषमजातीय साम्राज्य का ४३
 उदाहरण संघबद्ध विषमजातीय साम्राज्य की
 समस्या का ४८-५३
 आस्ट्रेलिया, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका में
 ४८-५१
 के संघीय राष्ट्र-मंडल का रूप लेने : में
 कठिनाइयाँ—आर्थिक हित व जातिविषयक ४९,
 की शर्त ५०
 मित्र तथा भारत का प्रश्न ५०-३, ५०टि०
 दे० 'भारत' भी
 इंडो-ब्रिटिश साम्राज्य निर्मूल विचार है, इन

वास्तविक संभावनाओं के बिना ५२
 इंडो-ब्रिटिश एकता प्रगति नहीं, पीछे हटना
 होगा यदि . . . ५३
 वंशानुगत राजा १७९; राजतंत्र १८२
 की समस्या अतिराष्ट्रीय एकता की २२८-९
 और स्वतंत्र राष्ट्रीयता का सिद्धांत २३७,
 २३७टि०
 और मैसेपोटामिया तथा फारस ३७४
 ब्रेटन २७, २१३
 (दे० 'भाषा' भी)

भ

भगवान् [असीम, उच्चतर सत्ता, दिव्य आत्मा,
 सनातन सत्ता . . .] ३२५, ३२८, ३४१
 और मानवजाति की भवितव्यता ६९,
 २९२अ
 एक है, पर क्रीड़ा में बहुरूप १३७; एक ही
 सब में २७७, [२८४]
 का राज्य मनुष्यजाति के जीवन में : २८४,
 ३२४, ३८०, स्थापित तभी ३२५, ३२७;
 देवनगरी ३३९ दे० 'स्वर्णयुग' भी
 को घोखा ३०८
 और मनुष्य ३२३-४, ३२४-५
 [देव] के तीन स्वरूप ३२४-५
 को खोजने की कुंजियाँ ३२४अ
 का कार्य मनुष्य में ३२५
 की खोज : जिसमें हमारी वैयक्तिक आत्म-
 परिपूर्णता हमें दूसरों से अलग न करे ३३४
 का राज्य अपने और जाति के अंदर ३३७
 (दे० 'अंतरस्थित सत्ता', 'अदृश्य शक्ति',
 'मन' भी)
 भविष्य ११७टि०, ३६६, ३७०, ३७३, ३७४,
 ३७९, ३८०
 के विधाता मानव-मन और विज्ञान ही नहीं
 हैं, एक महत्तर अदृश्य शक्ति भी है ३०७-८
 उनके हाथ में है जो . . . ३२७, [३६५]

का आदर्श ३३८, ३३९-४०, ३४६
और साम्यवाद ३७१
की दो बड़ी शक्तियां ३७५, ३७६
श्रेष्ठतर, की धारणा ३७६
के लिये बड़ी-से-बड़ी आशा ३७८
की स्थिति समाज में और जातियों के संबंध
में ३८२

(दे० 'पुराना विचार', 'मानवजाति' की
भक्तिव्यवस्था, 'युद्ध' (१९१४), 'रूस' भी)
भारत [भारतवर्ष] ३५, ५८, ५९, ६०, ७५,
७८, १५५, १६०, १६७, १७२, १७४, २४३,
३६४टि०

को छोटे और कुछ बड़े राज्यों तथा साम्राज्यों
से जो प्राप्त हुआ ३-४

वीर-काल ३
मुगल, गुप्त, मौर्य साम्राज्य ४, ७७, ८३
विषम तत्त्वों की केंद्र-विरोधी प्रवृत्ति ७
में प्रकृति का अपूर्व जटिलता का परीक्षण ७
एक आश्चर्यजनक दृष्टान्त : वास्तविक एकता
को बाह्य एकता का रूप देने में २५-६

दो महान् राष्ट्रीय काव्य २५
की आत्मा पुनः जाग गयी है ३९-४०; का
पुनरुत्थान ५०

और ब्रिटिश साम्राज्य [प्रभुत्व] ५०-३,
२२८अ, २५१-२; और गृहशासन २३७,
२३७टि०, उत्तरदायी शासन ३७४; और ब्रिटिश
मजदूर दल ३७५ दे० ब्रिटिश साम्राज्य भी
अब स्वाधीन हो गया है... ५०टि०,
१८१टि०

वर्ण-व्यवस्था ७२, ७५; चतुर्वर्ण ८८
जनतंत्रीय तत्त्व ७४
प्रारंभ में राजा की स्थिति ७४
में राजतंत्र ७४, ७५, १८१, १८१टि०
की देन एशिया और यूरोप को ७५
में दास और स्त्रियां ७६
विदेशी शासन ८३, [७, २६]
राष्ट्र-इकाई के विकास में बाधा : पुरोहित वर्ग

की प्रबलता ८८-९, ९०-१
राष्ट्रीय चेतना ९०; राजनीतिक चेतना ९१,
२२६

में राजा धर्म का परिचालक, पर विधायक
नहीं १६०, १६९अ; की संस्कृति एवं धर्म, और
राजा १७२

के किसी प्रांत के लिये जैसे अपने-आपमें
एक आर्थिक इकाई बन जाना आवश्यक
नहीं... २०८

में सैकड़ों भाषाएं २२२टि०
अंग्रेजी भाषा से : क्षति २२५-६; लाभ
२५२

का आंग्लीकरण २५१-२
संकट साम्यवादी चीन से २९७
में असंतोष ३७३
में एशियाई आध्यात्मीकृत लोकतंत्र ३७३
के सर्वोत्तम लोगों का तपस्यामय निर्गमन
और पौरुषहीन विचार ३७८

(दे० 'ईसाई धर्म', 'राष्ट्र-संघ', 'वर्ग',
'संस्कृति' भी)

भारत (प्राचीन)
का जीवन दे० 'छोटे जनसमुदाय'
जनतंत्रीय समानता ७५
और न्यायिक कार्यवाही १६५, १६६
भाषण की स्वतंत्रता दे० 'स्वतंत्रता'

भाषा
अंग्रेजी [इंग्लिश] ३९, १२५, २२४,
२२५-६, २५१, २५२
अर्स १२५
आयरिश ३५, २५१, २५२
इटली की १२५
एस्पेरंतो २१६
कोरनिश १२५
गॉल १२५
गैलिक ३६, २२५
ग्रीक ३३
चैक २२७

प्रोवांसाल २१३, २२७

फ्रेंच २२२

फ्लैमिश १५३

बंगाली २२५-६

रूथिनियन २२७

रूसी २४३

लिथुएनियन २२७

लैटिन ३३, १२५, २२२, २२४, २२६

वैल्श २१३, २२७, २५१, २५२

संस्कृत २२२

स्पेनिश २२४

भाषा

की विभिन्नता १२५

और विचार १२५

सार्वभौम, १२५, १७९, २१३, २२६

की विविधता एकरूपता के मार्ग में दुर्गम बाधा नहीं २१३

एक, ही के निर्माण पर जोर २२२, २२६

की विभिन्नता एक वरदान २२२

की विभिन्नता के दो उद्देश्य २२३; की विभिन्नता सुरक्षित रखने योग्य २२७

जाति की आत्मा का चिह्न २२३, २२७

अपनी, की रक्षा महत्वपूर्ण राष्ट्र एवं समुदाय की आत्मा के लिये २२३

विदेशी, से हानि २२३-६; विदेशी, लादना अधीनस्थ प्रदेशों पर २५१-२

आत्म-अभिव्यक्ति का साधन २२४

बंगाली, का विकास और उसके परिणाम २२५-६

को जाति के उच्चतर जीवन और विचार की अभिव्यक्ति भी होना चाहिये २२६अ

राजनीति की ३२८

भ्रांति ३१९, ३२३

-यां नाना प्रकार की ३१२

युद्ध-समाप्ति की ३१३-६

-पूर्ण आशा का परिणाम ३६३; बन जाती है तब आशा ३८०

युद्ध से नये जन्म [युग] की आशा में ३६७-८, ३७९-८०

कि तंत्र का परिवर्तन मात्र सभ्यता की सभी त्रुटियों का रामबाण इलाज है ३६८

(दे० 'सत्य' भी)

भ्रातृभाव २१६, २२०, २७६, २७७, २८४, ३०८, ३१३, ३४२, ३६०, ३७६, ३७७, ३८०

का आदर्श ६०, ९६, २७५

इस्लामी सभ्यता में ८८

एक कच्चा बंधन ३१७

(दे० 'स्वतंत्रता' भी)

म

मंगोल (जातियां) ९१

सर्व-मंगोलवाद १०९

मंचूरिया ३१४

मकदूनिया २४

मध्यवर्ग ७२, ९४, २१८, २४१, ३३०, ३७० का [मध्यवर्तीय] पूंजीवाद ९५, १९८, १९९

दो ओर से संकटापन्न १८४

ने सरकारों की कूटनीतिक आदतें, विदेशी नीतियां और विचार ग्रहण ... १९०-१

(दे० 'जनतंत्र', 'रूस', 'श्रमिक', 'सैनिक-शक्ति' भी)

मध्यवर्ती राष्ट्र २३५, ३८१

मन [मानव मन] ४१, १२२, १३७, १५९, २२७, २७२, ३०७, ३३८, ३८०

अगले दिन के विषय में कुछ नहीं बतला सकता ७१, २१४ दे० 'बुद्धि' केवल भी

जनसमुदाय का [समाज का, सामुदायिक] ९९, १७१, २२०

जाति का ९९, १०१, ३७९

प्रकृति का अंग १३२, १३४

[हम] अपूर्ण हैं १३२, १३४, १३९

और प्रकृति के जीवन-संबंधी नियम १३३-

आधुनिक : ३०६, और धर्म एवं भगवान्
३०८, ३२४, ३३९

और आदर्श ३०८

(दे० 'परिवर्तन', 'संघर्ष' भी)

मनु १४१, १६०, १६१, १७२

नाम का अर्थ १६१

मनुष्य [मानव, मानव प्राणी] ११, १३१,
१९५, २५६, २६५, २८६, ३०९, ३२७, ३५१

-जीवन की पूर्णता ६

संघर्षशील प्राणी ११, १२

का अंतर्राष्ट्रीय जीवन १७

विचारशील प्राणी बन गया है, पर वह अपने
विवेक का प्रयोग . . . १२२; मनोमय प्राणी होते
हुए भी मानव-पशु १५९; मानव-पशु ३२८,
३३९

की स्वतंत्रता, आधिपत्य एवं दासता की
प्रवृत्तियां १२१

और पशु १३१-२

की सामर्थ्य प्रकृति के ऊपर १३१-२, १३३;
की अपने-आपको परिस्थितियों के अनुकूल बना
सकने की असीम शक्ति ३१६; मानव-सामर्थ्य
का यह चमत्कार ३७१

का निर्दिष्ट कार्य १३३; -विकास का सार
३२४; की प्रगति का चिह्न ३३१

कोई दो, एक समान नहीं १३८

एक-दूसरे के निकट १४२, [४९], २१६,
२५७, २५८, २६३ दे० 'जीवन' की एकता भी
के कार्य २१४

-जीवन के अनेक कष्टों का कारण २२२

अपने अंदर नहीं, बाहर ही अधिक रहता है
२५६

प्राणिक, और आदर्शवादी विचारक २६२-३
का स्वभाव २६४

की आत्मा को जो चीजें जीवित रखती और
महान् बनाती हैं २७०

-जीवन का सम्मान २७२

-शरीर का सम्मान २७२

के महत्त्व की धारणा २७४, [९५]

का युद्ध का उन्माद ३१५

का जीवन और अदृश्य शक्ति ३१९, ३२०,
३२४, ३२५

का जीवन तब मधुमक्खी और चींटी जैसा
होता ३१९

-जीवन की निःसारता की शिक्षा [मत]
३१९अ

जबतक प्राणिक अहंभाव में निवास करता
है . . . ३२३, ३२५

जड़वादी, को पथप्रदर्शक बना देने का अर्थ
३२४

जब आदर्श के अनुसार जीवन को रूप देना
चाहते हैं . . . ३२६

के लिये सुरक्षा जिसमें ३२७

प्रत्येक, एक आत्मा है जिसे अपने तरीके से
प्रगति करने का अधिकार है ३३१

-जीवन को प्रकृति परस्पर मिलने को
विवश . . . ३३२

मानव-संबंध : ३३२, का व्यापक नियम
३३३

पर मनुष्य के संपत्ति स्वरूप अधिकार का
पुराना विचार ३३५-६

हमारा वर्तमान अस्तित्व एक अपूर्णता ३३६

की अति-साधारणता से संतुष्ट रहना ३३९

-जीवन का पुनरुज्जीवन ३६८

की आदत : किसी अनिश्चित अभियान से
वर्तमान बुराई को पसंद करने की ३७०

मानव पूर्णता या प्रगति का यूरोपीय विचार
३७६

(दे० 'आर्थिक मनुष्य', 'व्यक्ति' तथा
'जीवन', 'देश', 'धर्म', 'प्रगति', 'भगवान्' भी)

"मनुष्यमात्र की संसद्" १२३

'लोक-संसद्' ६३

मनोवैज्ञानिक एकता [मनोवैज्ञानिक वास्त-
विकता, तत्त्व . . .] ३०-१, ३२, ४०, ८०,
१३७, १३९, १४४, १४६-७, २४२, २४८,

२६३, २६७, २६८, २६९, २७५, २७९,
२८०, २८३, २८४, ३४० दे० 'शिथिल एकता'
भी

मरहटे ९०

महाधिकार-पत्र [मैगना कार्टा] ३५१

महान् भ्रांति [द ग्रेट इल्युज़न] ३१५

मानव जाति [मनुष्य जाति, जाति] २, ३३७

की एकता दे० 'एकता'

के रोचक युग ३

समुदाय से शुरू हुई ११

के स्वर्णयुग की प्राचीन परंपरा ११-२,
३३८; का भावी स्वर्णिम युग (एशियाई मन
और यूरोपीय प्रकृति का स्वप्न) ३३८-९

समाजवादी आदर्श की ओर १४

तुच्छ चिंताओं में व्यस्त न रहकर अपनी
उच्चतर सत्ता का विकास आरंभ कर दे ६९,
[२५३]

की भवितव्यता ६९, २९२-३, ३०५, ३७६;
के लिये आशा २८५, ३४१, ३७८ दे०
'भविष्य' भी

का यह युग दे० 'युग'

संपूर्ण—केवल वर्ग और व्यक्ति नहीं—पूर्ण
मानव विकास की ओर बढ़ सके ९५

के आंतरात्मिक जीवन के स्वतंत्र विकास में
बाधा ११९

के सामाजिक विकास के तीन तत्त्व : व्यक्ति,
समुदाय, मानव जाति १३४-५; वैयक्तिक जीवन
को सामाजिक जीवन के और सामाजिक जीवन
को मानव जाति के संगठित जीवन के अधीन
करने का परिणाम १३७

का संगठित सामान्य जीवन १३५, २७०;
अब एक अभिन्न समुदाय १७७; अखंड जाति
२५५ दे० 'जीवन' की एकता भी

की सुख-समृद्धि १३६

का संयुक्त विकास १३६

का जीवन परिचालित किस सिद्धांत द्वारा
होना चाहिये और किससे अब है १३६-७

की गतिहीन अवस्था का भय २१८
सर्वसामान्य, की भावना २५१, २५४, २७०
का धर्म २५४, २७०, दे० 'मानवता का
धर्म' भी

अंतर्राष्ट्रीय औपचारिक एकता के बिना भी
काम चला सकती है २६२

की सेवा २७३; मानव हितवाद २७१

एक अखंड राष्ट्र २८०

नयी समस्याओं का समाधान पुराने अनुभवों
के आधार पर... २८२

विपत्तियों को पार कर जाती है २९२

का विकास, और कल्पना ३१२

महत्तर, तब जन्म लेगी ३१९

और कुरुक्षेत्र के योद्धा को अंतिम संदेश
३२२

आध्यात्मिक विचारों की ओर ३२४

में समानता, साम्य, समान अधिकार के
विचार ३६२ दे० 'जाति' भी

का यह विकास बाह्य परिवर्तन पर नहीं,
आंतरिक परिवर्तन पर निर्भर ३६४

को सच्ची एकता और स्वतंत्रता तबतक नहीं
३६५

की स्थिति परित्यक्त जहाज की-सी ३६६

(दे० 'एकरूपता', 'भगवान्' भी)

मानवता ६७

का विचार २५४, २६०

के विचार को सहायता कैसे पहुंचायी जाये ?
२६१, २७०

मानवता का धर्म अ० ३४ : २७१-७

मानवता का धर्म (आध्यात्मिक)

भविष्य की आशा २८४

से हमारा मतलब २८४

को चरितार्थ करने के लिये जो प्रयत्न
अपेक्षित है २८४-५

मानवता का धर्म (बौद्धिक) २८०

विवरण २७१-२

का मूल विचार २७२-३

के विरुद्ध अपराध २७२

का प्रभाव एवं फलप्रद कार्य २७३-४, २८३
को चरितार्थ करने के लिये . . . २७४-५

का शत्रु २७४

का लक्ष्य २७४अ

क्या मनोवैज्ञानिक परिवर्तन लाने के लिये
पर्याप्त होगा २७५-६, २८३

का लक्ष्य—स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृभाव
२७५-७; इन्हें वास्तविक रूप में प्राप्त न कर
सकने का कारण २७५-६

यदि आध्यात्मिक रूप धारण कर ले २७८,

[२७६-७]

और शिथिलतर राज्यसंघ २८३

(दे० 'युद्ध', 'स्वतंत्रता' भी)

मानव-प्रकृति ३०७, ३१५, ३१६, ३८०

पर विजय एवं वशित्व आवश्यक ३२४,

३६५

मार्क्स (कार्ल) १९९

मार्क्सवाद २९८

मास्को ३७१

मिकाडो ८८, ९२, १८१

मित्र-राष्ट्र १४९, २११

और स्वतंत्र राष्ट्रीयता का आदर्श २३४,

२३५; 'स्व-निर्धारण' का सिद्धांत २४२टि०

ों की विजय का अर्थ अफ्रीका, एशिया
और यूरोप में २३६

(दे० 'राष्ट्र-संघ' और पांच बड़ी शक्तियां
भी)

मिलटन ३३६

मिस्र ३५, ७८, ८२, १८१, २३३, २३६,
३७३

और ब्रिटिश साम्राज्य ५०, ५०टि०, २२८अ
में गृहशासन २३७टि०

मुगल ४, ७७, ८३, १८१

मुनरो सिद्धांत ६८, २९६

मुसलमान राष्ट्र १७४

मुसलमानी जगत् ३१, ३५५, ३७३

(दे० 'इस्लाम' भी)

मुहम्मद १६१

मूर (लोग) २६

मूल्य

वस्तुओं का, आर्थिक दृष्टिकोण से १९७

कार्यों का, संपत्ति से नहीं, श्रमिकों से १९९

मूसा १६०, १६१

मृत वस्तु

-ओं के—मृत धर्मों, मृत कलाओं, मृत
नैतिक नियमों, मृत राजनीतिक सिद्धांतों के—प्रेत

२७१

मृत्युदंड २७२

मेगास्थनीज़ ७४

मेवाड़ ९०

मैक्सिकन टैक्सास २३८

मैक्सिको ६४, २३४

मैजिनी ६४

मैटरनिच (प्रणाली) ६५, १९०

मैनलिक २३३

मैमन (देवता) ३८१

मैसेडोनिया ७८, ७९, १०३

मैसेपोटामिया २००, ३७४

मोरक्को १०३, २३३

मोलोक (देवता) ३८१

मोसुल के तेल-क्षेत्र ३७४

य

यंत्र ९०

पर नहीं, प्रवृत्ति पर निर्भर जाति की
भवितव्यता ३०५-११

द्वारा मुक्ति [उद्धार] ३०६, ३१२

-विन्यास पर विश्वास : ३१४, पश्चिमी मन
को ३४१, ३७७

और सत्य ३२६, ३२८

बाह्य, और पूर्णता ३२७

और आत्मा ३४१

यरूशालम ३३९

यहूदी लोग ३, ७, ३६, ३७४

यहूदी विधान प्राचीन १६०

युंकरिज्म ६३

युकरेन

रुथेनियन २४२

कोसेक्स २४४

युग

पुराने, के नाश और नये युग के जन्म का कारण ९४

ईसा का दे० 'स्वर्ण युग'

संक्रांति-युग १७७, १८४

बौद्धिक, और मानवता का विचार २७५अ

नये, का आरंभ २८६

क्रांतिक ३१८, ३८२

युग-संध्या ३१९, ३२७

अन्य, की तैयारी ३२०

नये, की आशा ३७९-८०

(दे० 'स्वर्णयुग' भी)

युग वर्तमान [आज का, यह...] ३००अ, ३०८, ३७८

में वैयक्तिक स्वाधीनता की मृत्यु १२३

[और आर्थिक नियंत्रण १६४]

में आर्थिक मानव की प्रधानता १९७

की एकरूपता की ओर प्रवृत्ति २५१

और वैश्य का धर्मराज्य ३२३

समानता और समान अधिकार के विचार ३६२, [३४२]

(दे० 'संसार' आज का भी)

युगोस्लाविया ३८८, ३५५

(दे० 'सर्बिया' भी)

युद्ध ७०, १०६, ११२, १४५, १४८, १६१, १६२, २०५, २०६, २६५, २९२, २९७, [३४३]

एकीकरण का साधन : पुराने छोटे समुदायों में ७६अ, प्रकृति की पद्धति में २७८अ

के पुनरावर्तन के प्रति विद्रोह १००-१

की समाप्ति [रोक-थाम, विलोपन, उन्मीलन] १०२-३, ११४, १८८, २०१, २०४, २३९

तभी समाप्त १०२-३, २४७, २४८अ, ३०७, ३१६-७, ३५४ दे० 'राष्ट्रीय अहंभाव' भी
का, सेना और युद्ध-सामग्री को कम कर देना, झूठा इलाज १०३-४

-काल में देश को शस्त्र बनाने का कारखाना बनाया और पुरुष-समाज को सेना में बदला जा सकता है १०३-४

की समाप्ति अंतर्राष्ट्रीय विधान द्वारा ! १०४-६, ३१४

का केंद्रीकारक प्रभाव १५५-६, १५६टि०

की संभावना तबतक हमेशा १८९, १९०, १९४, १९९-२००, ३५९

और जनतंत्र १९०-२, [२६६], ३१३-४, ३५४

का आश्रय जब राजतंत्रीय राज्य और मध्य वितीय राज्यों द्वारा १९१

और समाजवाद १९२

और आर्थिक एकता की आवश्यकता अ० २५ : १९६-२०३

और व्यापारवाद दे० 'व्यापारवाद'

अब महत्वाकांक्षा की नहीं, व्यापारवाद की संतान २००, ३१३

गुप्त युद्ध २०१; शीत युद्ध २८७

नहीं, तो दूसरे शस्त्र : व्यापारिक दबाव, समुद्री नाकेबंदी २०१-२

व्यापारिक २०२

और अंतर्राष्ट्रीयता २५६, २६३, ३१४

, साहसिक कार्य, संघर्ष की मांग भी मनुष्य के अंदर २६९

और मानवता का धर्म २७२, २७३-४

-विलोपन की इच्छा की जड़ में क्या वस्तु है जनसाधारण के मन में तथा राजनीतिज्ञ एवं शासक वर्ग के मन में ३०६-७

भ्रांति कि व्यापार, जनतंत्र, अंतर्राष्ट्रीय

विवाचक न्यायालय, विज्ञान या स्वयं युद्ध के परिणामों से युद्ध समाप्त हो सकता है ३१३-६
 हितों या फिर सिद्धांतों के लिये ३१८

की समाप्ति और राष्ट्र-संघ ३४०, ३४१,
 ३५१, ३५२, ३५४, ३६६

(दे० 'संघर्ष' तथा 'आत्म-निर्णय',
 'पंचायत', 'विज्ञान', 'शस्त्रास्त्र', 'शांति' भी)

युद्ध प्रथम (१९१४-९ का)/महायुद्ध/वर्तमान
 युद्ध/यूरोपीय युद्ध/यूरोपीय संघर्ष २५, ५७,
 ६०, ६२, ६३, १०३, ११८, १२६, १७७,
 १८२, २११, २४९, २६६, २८०, ३१४,
 ३१५, [३१६], ३३६, ३७९, ३८०, ३८२

और जर्मनी ५५-६, ६७, १८९

का फल (परिणाम) राष्ट्रों में और अंतर्राष्ट्रीय
 जीवन में १००, १०२, २६६, ३२०-१, ३६६-
 ८, ३८०-१

के दो प्रबल प्रभाव १००-१

के छिड़ने का कारण १०२-३, तात्कालिक,
 और असली कारण १८८-९

और अंतर्राष्ट्रीयता ११६, २५८, २६०,
 [९८]

से पहले साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद दो
 शक्तियां २३२-४

और स्वतंत्र राष्ट्रीयता २३४, [६४, १८३],
 २३७

और आत्म-निर्णय (अंत के छः अध्याय)
 ३०५-८२

की समाप्ति ? (अध्याय) ३१२-७

के बाद (अध्याय) ३६६-७८

जिन दो शक्तियों के बीच संघर्ष था, और ये
 जिनका प्रतिनिधित्व करती थीं ३६९, ३८१

भावी पीढ़ी की दृष्टि में ३७०

से नवयुग की आशा एक भ्रांति ३७९-८०

का भूतकाल और भविष्य से संबंध ३८०-१
 युद्ध द्वितीय (१९३९-४५ का)/महायुद्ध
 १०१टि०, १०३, २९५

युद्ध तीसरा २८७, [२९०, २९१, २९६अ,

२९७]

युद्ध-सामग्री दे० 'शस्त्रास्त्र'

यूनान दे० 'ग्रीस'

युरीपिडीज़ ७५

यूरोप ३६, [५९], ६०, ७९, [९१],
 १२०टि०, १२६, १४८, १५१, १८१, २०१,
 ३५७, ३६२, ३६३, ३६४, ३७०, ३७३,
 ३७४, ३७९, ३८१

इजराइल, यूनान, मध्यकालीन इटली की देन
 ३; ग्रीक नगर और रोम नगर की देन ७५

असली ४

और एशिया : जीवन ४, संस्कृति ३८-९,
 ४०, २१२, ३७३, स्वभाव ५१, ३७२अ

और एशिया : का प्रश्न ३६९, का प्रयत्न
 ३७६-८

में प्रबल वर्ग ८

मध्य यूरोप ५६, ६०, २६७

का संयुक्त राज्य अ० १० : ६०-९;
 ५३टि०, ६५टि०, २४५, २४५टि०, २९६,
 ३१४

यूरोपीय संयुक्त राज्य की प्रणाली : ६६-८,
 पर आक्षेप—महाद्वीपीय विभेदों से परे जाने की
 अब प्रवृत्ति ६७

सर्व-यूरोपीय विचार ६७

अमरीका और एशिया के साथ उलझा है ६८

के संयुक्त राज्य का तब अर्थ ६८

का एशिया और अफ्रीका पर प्रभुत्व ६८,
 [६४], १४३, २३३, [३३४], ३५५, ३७३-
 ४; की मांग—सभ्यता की खातिर शेष जगत् को
 अधिकार में रखने की १४९, २४५, २५१-२,
 दे० 'सभ्यता' भी

में वर्ग-व्यवस्था ७२; चार वर्ग ८८

मध्यकालीन ७५, १५१, दे० 'संस्कृति' भी

नगर-राज्य पुनः जीवित ८३-४

पश्चिमी : रोम-शासन का कार्य ८४,
 स्वाधीनता का त्याग १५५, गणतंत्रीय प्रवृत्ति
 १८०

राष्ट्र-निर्माण का क्रम ८५-६
चर्च और राज्य का संघर्ष ८९
सामंतिक ११३
और काली जातियां ११९ दे० 'अधीनस्थ
राष्ट्र' और साम्राज्यीय समुदाय भी
केंद्रीकरण की प्रवृत्ति १५७
धार्मिक अधिकार-क्षेत्र १६६
गणतंत्रीय बन जायेगा १८०
राजतंत्र समाप्त १८०

और आत्म-निर्णय का सिद्धांत [१९१अ]
दक्षिण—भाषण और विचार की स्वतंत्रता पर
प्रतिबंध २१९टि०

की पूंजीवादी सरकारें और एशियाई अशांति
३७३-४

की सरकारें और दो बड़ी विश्व-शक्तियां
३७५

का बौद्धिक आदर्शवाद : ३७६, की कठिनाई
३७६-७

का प्रयत्न—पहले दूसरे समीकरण ३७७
(दे० 'पश्चिम', 'संस्कृति' भी)

यूरोपीय एकता ६६, ८१

यूरोपीय नेतृत्व ५६

यूरोपीय प्रकृति ३३९

यूरोपीय मन [पश्चिमी मन, बुद्धि] ३४१,
३७६, ३७७

यूरोपीय राजनीति १०१

में विचारों का गड़बड़झाला ३३४

यूरोपीय राष्ट्र [पश्चिमी राष्ट्र] ६४, १४४,
१८८, २१२, ३८१

यूरोपीय विचार [पश्चिमी विचार] ६७अ,
१२०टि०, २५५, [३०६], ३६४

यूरोपीय विश्व-व्यवस्था ३५६

यूरोपीय संघ ३१४

यूरोपीय संघर्ष दे० 'युद्ध' प्रथम

यूरोपीय सभ्यता (जड़वादी, औद्योगिक) ४,
९१, १४९, ३२०, ३६४

को देन दे० 'यूरोप' इज़राइल

का सबसे बुरा पक्ष, इसके आदर्श का तीन
सिरोंवाला हास्यजनक चित्र ३८१

(दे० 'सभ्यता' भी)

यूरोपीय सहयोग १००, ११६

योग

में जैसे छिपी बाधक संभावनाओं को ऊपर
लाना होता है २८७

र

रक्षित राज्य [राष्ट्र] २३३, २३४, २६६,
३६७, ३६९, ३७३

रवींद्रनाथ टैगोर [आधुनिक भारतीय कवि]
२२६

राइन (नदी) २००

राजतंत्र [राज्यतंत्र] (स्वेच्छाचारी, निरंकुश)
८६, १५५, १७२, १७३टि०, १९०, २१७,
२८१, ३५६, ३७०, ३८१

छोटे समुदायों में नहीं पनप सकता ७३

भारत में दे० 'भारत'

का युग ९२-३

का युग फ्रांस का ९३, १५७

और स्वतंत्रताएं दे० 'स्वतंत्रता'

की अपनी विजय ही अभिशाप बन गयी ९४
दे० 'राजा' की सर्वोच्च भी

केंद्रीकारक . . . पूर्ण स्वेच्छाचारिता का
ज्वलंत प्रतीक चौदहवां लुई १५७

से जनतंत्र की ओर १६२, १६३अ, १६८अ
और आर्थिक शक्ति पर नियंत्रण १६३

जब अपना कार्य पूरा . . . १६९, [९४]

पूर्ण, सामाजिक विकास की अंतिम अवस्था
नहीं १७०

की स्वेच्छाचारिता का एकमात्र परिणाम १७४
विश्व-राज्य की शासक संस्था के रूप में

१७९-८३

अब लुप्त हो रहा है १७९-८२

और एशिया १८०-२

को पुनः जीवित करने में कठिनाई १८१
 विषम जातीय साम्राज्यों की एकता के प्रतीक
 रूप में १८२-३
 ऐक्य का प्रतीक १८७
 राजधानी ८५, ८६
 राजनीति १९८, २४६, ३०७
 राजनीतिक जीवन वर्तमान १५
 वैदेशिक, में राजा [सरकारों] की स्वतंत्रता
 १६२
 वैदेशिक, का संसदीय नियंत्रण १६२
 राजनीतिक विचार परस्पर-विरोधी २१०;
 राजनीतिक विचारों में गड़बड़झाला ३३४
 राजनीतिक और सामाजिक कार्यों के बीच
 भेद का विनाश २११ [१५९]
 अंतर्राष्ट्रीय २३५
 पर आदर्शों का प्रयोग २३५
 राजनीतिक आवश्यकता की समाप्ति २४९,
 [२५०]
 (दे० 'यूरोपीय राजनीति', 'भाषा' भी)
 राजनीतिक चेतना ८९, ९०, ९१, २२६
 राजनीतिक निरहस्तक्षेप २१०-१, २११टि०
 राजनीतिज्ञ [राजनीति विशारद] ३६६
 आधुनिक १५
 का क्रियात्मक मन ९८-९
 राजतंत्रीय, और मध्यवर्तीय १९१
 और आदर्शवाद ३०६
 और राष्ट्र-संघ ३०७, ३४३, ३४८, ३५२
 राजनेता ९९
 राजपूत ९०
 राजसूय यज्ञ २५
 राजा ७२, १०९, १६०, २१८, २६१, ३१३
 का महत्त्व राष्ट्रीय विकास में ९१-२
 का विशेष लक्षण १५९
 केंद्रीय सत्ता के रूप में १६१-२
 और वैदेशिक राजनीति १६२
 और कोष-नियंत्रण १६३-४
 और न्याय-संबंधी प्रशासन १६५-७

और विधायिनी शक्ति १६८-७१, [१५९,
 १६०]
 के पूर्ण स्वतंत्र होने का चिह्न १६९
 की सर्वोच्च सफलता के स्थल पर ही उसकी
 असफलता का आरंभ १६९ दे० 'राजतंत्र' की
 अपनी भी
 का विधायिनी शक्ति को हस्तगत करने में
 अपने धर्म का अतिक्रमण १६९-७०
 एक अयोग्य व्यवस्थापक १७१
 [शासकवर्ग] व्यक्ति या राष्ट्र की आत्मा का
 स्थान नहीं ले सकता १७१अ
 के संपूर्ण सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक,
 सांस्कृतिक जीवन को हस्तगत करने का प्रयत्न
 १७१-३, इसके दो उपाय १७३-४, इनकी
 असफलता का कारण १७४
 का दैवी संस्था होने का दावा १७२
 (दे० 'राजतंत्र', 'भारत' भी)
 राज्य (संगठित) [राज्य-भावना] २७२, २८१
 और व्यक्ति-भावना १०
 और व्यक्ति १०-१, १२-४, १५-२१, २२,
 ६३, १०९, २१८, २९८, ३३५, ३३६
 का रूप [विवरण] १०अ, १३, १६, १७;
 की मशीनरी १६, १९
 और अंग्रेजी परंपरा १२-३, दे० 'इंग्लैंड' भी
 'राज्य मैं ही हूँ' में सत्य और असत्य १३
 और स्वतंत्र वैयक्तिक प्रयत्न [वैयक्तिक
 स्वाधीनता] [१३], १६-७, १८-९, १९-२०,
 ६१, ६२, १२३, ३२९
 आंतरिक दुविधाओं और बाह्य प्रतिबंधों द्वारा
 कम-से-कम पीड़ित १७
 आंतरिक और बाह्य संबंधों में १८, १८टि०
 आधुनिक समय में १८
 का दावा, सब कार्यों की व्यवस्था का १८-
 ९, २२०
 अपने-आपमें साध्य नहीं १९
 द्वारा संचालित कार्य में दोष १९-२०
 की वास्तविक उपयोगिता १९

सजीव सत्ता नहीं, मशीन है १९-२०,
[१७]

की प्रवृत्ति : एकरूपता की ओर २०, एक ही
भाषा को स्थापित करने की २१३

का कर्तव्य २०

पूर्ण रूप से सुगठित, का विचार ६१-२,
९५, २०७, २११

आदर्श, वह होता है... १०८

या सरकारें नैतिक दबाव के आगे वहीं तक
झुकती हैं ११०

और समाज जब एक ही वस्तु बन जाते हैं
१५९, २११

कानून का अध्यक्ष १६६-७

की न्यायिक शक्ति को मर्यादा में रखने का
प्रयत्न १६७

कौन होगा ? १६८-९

और समाजवाद १७४-५, २१४

राज्य-समाजवाद दे० 'समाजवाद'

के विकास का इतिहास १७६

की पूर्णता की अंतिम अवस्था १७६

का सिद्धांत ही अभी प्रबल है १७८, [१४]

एकोत्करण का समर्थ साधन १७८

सहकारी १८५ टि०

-विस्तार १८९, १९१, [६४, १५६]

कुलीनतंत्रीय, और मध्यवर्तीय १९१

शक्तिसंपन्न, शक्ति को सदा सुरक्षित नहीं
रख सकते ३५५

(दे० 'राज्य-सिद्धांत' तथा 'धर्म', 'जनतंत्र',
'शिक्षा' भी)

राज्य-संघ १५३, २५१, २६७, २७९

का सिद्धांत इंग्लैंड का १५५अ, १५६टि०

विश्व-राज्य या विश्व-ऐक्य का २५३, २८१,
२८३, ३००

(दे० 'संघीकरण', 'अमरीका' (संयुक्त
राज्य), 'मानवता का धर्म' भी)

राज्य-संहति ३४७

राज्य-सिद्धांत ३७, ९३, १५२, २१४, २४२

वर्तमान में पूरे जोर पर १४, १७८

में दो प्रेरक भाव १४

है क्या १५, [१४], १७

की व्यक्ति से मांग १४, १५-६, इसका अर्थ
१८-९, ३२९

की अपर्याप्तता अ० ४ : १५-२१

और वैयक्तिक स्वाधीनता १२३ दे० 'राज्य'
भी

के विकास के साथ अधिकार-क्षेत्र की
एकता और एकरूपता १६६

एकरूपता, नियमन, यांत्रीकरण की ओर ले
जाता है २१४

का अनिवार्य परिणाम : समाजवाद २१४

का परिणाम टाला तभी जा सकता है...

२१५

जैसा एशिया में है २१५

(दे० 'जर्मनी', 'रूस' भी)

राष्ट्र [राष्ट्रीय समुदाय] ७२, ७७, ८१, ८६,
१०९, १२२, १७७, १९३, १९४, २२९,

२४३, २६२, २७९, २८१

ने छोटे, का जीवन अत्यंत शक्तिशाली ४

दे० 'छोटे जन-समुदाय' भी

सबसे बड़ी इकाई ७, १२४, २९३-४

में वर्ग-कलह ७-८, ३५९

दूसरे राष्ट्रों के साथ संबंध में १७-८,
[७६अ]

और साम्राज्य... अ० ५ : २२-९; २२,
२८, १२४, २९४

जीवंत सामूहिक इकाई २२, २७, १४५

-एकता और विदेशी शासन दे० 'विदेशी
शासन'

बना रहता है राजनीतिक एकता: मिट जाने पर
भी २७, २८

विषमजातीय, का निर्माण अ० ७ : ४१-७

विषम जातीय, का उदाहरण : ब्रिटिश राष्ट्र
४३अ, ४५-६

स्वतंत्र जनतंत्रीय, का विचार ६०

-निर्माण का आधुनिक क्रम अ० १२ : ७८-८६
 -निर्माण से पहला प्राचीन युग ७८
 -निर्माण का यूरोपीय क्रम पूर्व राष्ट्रीय साम्राज्य से दो बातों में भिन्न ८५-६
 -इकाई का निर्माण—तीन अवस्थाएं ८५-६, अ० १३ : ८७-९६, ९७
 -निर्माण की दूसरी अवस्था : की तीन विशेषताएं ८५, सामाजिक ढांचे का ही परिवर्तित रूप ८८-९१
 -इकाई के विकास की पहली अवस्था : वर्णक्रम का विकास ८७-९
 संगठित, में एक ही सर्वोच्च सत्ता ८९-९०
 -इकाई के निर्माण का आशय ९४अ
 और अंतर्राष्ट्रीय मानवता १०९, दे० 'अंतर्राष्ट्रीयता' भी
 और मानव-एकता दे० 'एकता' राजनीतिक शक्तिशाली और छोटे १४२, २०१, २०६, २९३, ३०७, ३५१ दे० 'अंतर्राष्ट्रीय एकता', 'अधीनस्थ राष्ट्र' भी
 एक स्वाभाविक इकाई स्वतंत्र समुदायीकरण में १४५-६
 -एकता में जाति भाषा संस्कृति, और मनोवैज्ञानिक तत्त्व १४६-७, [२०६], २४२, -एकता और स्थानीय इकाइयां २२९
 जो जाति, संस्कृति से एक होते हुए भी विभाजित हैं १४७-८
 -केंद्रीकरण, दो आवश्यकताओं के कारण १५५
 -एकता (बाह्य), और विधान-कार्य १५९
 के तीन वर्ग : पुरोहित वर्ग, परिषद्, व्यवस्थापक सभा १६९
 विश्व-राज्य और, दे० विश्व-राज्य
 प्रांतों के रूप में १८३, २२९, २८१
 -ों की आर्थिक एकता, साथ ही ईर्ष्या, अहं... २०७-८
 और भाषा २२३-६

-विविधता के एकरूप मानव एकता में विलयन का परिणाम २२७
 में सांस्कृतिक विकास भौतिक विकास को लाता है २२७
 से भिन्न समुदायीकरण का नया सिद्धांत २२९, [२१५], २३२, २५४
 के जन्म का इतिहास २२९
 के अंदर भी विकास और विविधता की स्थानीय स्वतंत्रता २५३
 में मनोवैज्ञानिक तत्त्व है : सामूहिक राष्ट्रीय अहंभाव २६८-९
 राष्ट्रीय साम्राज्य २७९; राष्ट्रीय साम्राज्यवाद ३३६
 बृहत्तर राष्ट्रीय समुदाय २७९
 -ों का दो दलों में विभाजन संयुक्त राष्ट्र परिषद् का वास्तविक संकट २९०
 में न्यायपूर्ण स्थिति ३५८-९
 (दे० 'मध्यवर्ती राष्ट्र', 'मित्र राष्ट्र', 'यूरोपीय राष्ट्र' तथा 'जाति', 'राजा', 'वर्ग', 'व्यक्ति', 'शिक्षा', 'सैनिक शक्ति' भी)
 राष्ट्र-मंडल ३२८०, ५३८०, २३७, २३७८०
 संघीय ४९
 के आगे दो प्रश्न २३८
 राष्ट्र-संघ [संघ-प्रणाली] १००८०, १४४८०, १९३८०, २०२८०, २०३८०, २११, २४१, २६७, २९९, ३०५, ३०७, ३७९
 का विचार अ० २९ : २३१-४०
 में अवसरवादी और आदर्शवादी दोनों तत्त्व २३९
 और अमरीका २३९, २३९८०
 और रूस २३९अ, ३५५; में अमरीका की अनुपस्थिति और रूस की स्थिति का परिणाम २८९
 को सफलता मिलती तो जो अच्छा या बुरा फल होता २३९
 का निर्माण [रचना, स्थापना] २३९८०, २६६, २८६, २८७, ३०९, ३४१, ३४२,

३४४; का जन्म [उत्पत्ति] ३४३, ३५३; के माता-पिता ३४३; के निर्माण का स्वरूप: अतीत का आदर्श, वर्तमान तथ्य, भविष्य का आदर्श ३४५-६

में भारत का समाविष्ट होना २४९टि०
का संविधान ३०९, ३४२, ३४४, ३५०-१
की स्थापना से केवल एक वस्तु की प्राप्ति ३०९-१०, ३५२

में निहित अपूर्णताओं से आंखें न मूंदी जायें ३१०; के प्रति आशा भ्रांतिपूर्ण न रहे ३६३

अध्याय ३३८-६५
की सफलता की शर्तें ३४२, ३४४, ३४९
कोई अधिक आश्वासक वस्तु नहीं ३४३
को जन्म के साथ विरासत में प्राप्त हुई चीजें ३४३

का संस्थापक ३४३, के संस्थापक के आदर्शवाद की विजय केवल इसी हद तक ... ३५२

के कार्य में महत्वाकांक्षा, स्वार्थ, परिस्थितियों का हस्तक्षेप ३४३-४

और सिद्धांत एवं आदर्श ३४४, ३४८, ३५०, ३५३, ३६१, ३६२

प्रत्यक्षतः जो है ३४४-५; वास्तववादी, व्यावहारिक रचना है ३४८, ३५७; आदर्शहीन तथ्य पर आधारित ३४९, इसमें यह प्रणाली जो कुछ कह सकती है ३४९-५०; यथापूर्व स्थिति का प्रतिनिधि ३५२, ३५४-५; छिद्रयुक्त, डगमगाता, असंतुलित जहाज—एक दुर्बल प्रारंभ ३५२-३; सरकारों का संघ है ३५६, ३५७, ३६२, ३६३, ३६७; केवल कागजी है ३६७; पुरानी शराब नयी बोतलों में ३६२

और पांच बड़ी शक्तियाँ ३४४, [२६६], ३४५, ३४७, ३४८, [३५०], ३५४, ३६१
का उद्देश्य ३४४अ

में प्रवेश और निर्गमन का मार्ग ३४५, ३४८
में जो राष्ट्र समाविष्ट नहीं हुए ३४५

की मंहासभा एवं शासक संगठन ३४६-८

में शक्ति-संतुलन का तत्त्व ३४७, ३५४
और श्रमिक वर्ग ३४८, [२६७], ३५३
और एशियाई एवं अफ्रीकी जातियाँ ३४९, ३५१, ३५५, ३६२, ३६७

के न्यासी ३४९
और न्यास-सिद्धांत ३५१
और आत्म-निर्णय का सिद्धांत ३५१, ३५३, ३६२-३, ३६७

में स्वाधीनता के अति-आदर्शवादी सिद्धांत को अस्वीकार करने का कारण ३५१-२

की मशीनरी का कार्य ३५२
में विघटन के अशुभसूचक चिह्न ३५२-३, ३५४, ३५७

के सामने कठिनाइयाँ एवं संकट ३५३-८, युद्ध में पराजित राष्ट्रों का प्रश्न ३५३-४, ३६१, बाल्कन, जर्मन बोहेमिया, इटली, टाइरोल, एशिया, अफ्रीका आदि के प्रश्न ३५५, पूंजीपति और श्रमिक वर्ग की समस्या ३५५-७

और अंतर्राष्ट्रीय न्यायपूर्ण स्थिति ३५८-६२
की स्थापना विजेता की शक्ति ने की थी, वह एक-समान और समदृष्टि के न्याय को मूर्त रूप देने में असमर्थ है ३६०-१

की सर्वोच्च परिषद् ३६१, ३६६, ३६७, ३७१, इसका एक घटना में हस्तक्षेप उचित कार्य, पर कारण अयुक्त ३६१

में यदि यथार्थवादी भावना को बने रहना है तो ... ३६१

को यदि मानव जाति की सेवा करनी है, केवल उस पर अधिकार नहीं जमाना है तो ... ३६१-२

की संपूर्ण भावना और पद्धति को फिर से ढालने के लिये जो-जो करना होगा ३६२-३

को तब तक एक दूरस्थ आशा के साथ व्यवहार में लाना होगा ३६५

की स्थिति ३६६-७, ३८१-२
की प्रवृत्तियों में भविष्य ३८२

(दे० 'न्याय', 'पूँजीपति', 'युद्ध', 'राज-

नीतिज्ञ', 'शांति', 'समाजवाद' भी)

राष्ट्रीय अहंभाव १७, ६४, ६७, ९७, ११४, ११८, १४९, १७७, १८६, १९२, १९४, २३२, २३३, २५४, २६२, २७४, ३४३

नें पर टिका अंतर्राष्ट्रीय संतुलन ९९-१००
और लोलुपता के रहते: युद्ध अनिवार्य १०२-३, विस्फोट निश्चित १०६अ

की राज्य-विस्तार की आकांक्षा १८९
और सामूहिक मानव अहंभाव २६५, २६९
का जीवन और शक्ति किस पर निर्भर २६८-९

राष्ट्रीयता का सिद्धांत [राष्ट्र-सिद्धांत, राष्ट्र-विचार, राष्ट्र-भाव, राष्ट्रवाद] २८, ४१, ६७, १२३, १४८, [२३१], २३७टि०, २४८, २८०, [२८१], ३५१, ३८२

को यदि यूरोप-सिद्धांत में विलीन ... ६८
और मानव-एकता दे० 'एकता' राजनीतिक
राष्ट्रीयतावादी आंदोलन २३८, ३७५
और राज्य-सिद्धांत और स्वतंत्र स्व-निर्धारण
का सिद्धांत २४२

की उत्पत्ति किस आवश्यकता से २६१-२
और समाजवाद २९७

(दे० 'स्वतंत्र राष्ट्रीयता का सिद्धांत' तथा
'अंतर्राष्ट्रीयता', 'संमुदायीकरण', 'साम्राज्यवाद'
भी)

रुद्र
आशुतोष ३२५
का कोप ३२५-६

रुद्र शक्तियां ३१०
रूज़वेल्ट १५४टि०, २३४
रूमानिया ३१

बृहत्तर १११
रूस ५६, ५८, ६०, १११, १५८, २३१, २३३, २६६, २९९
रूसी साम्राज्य ४, ३२, २२७
एकता, विदेशी शासन से २६
और एशियाई देश ३१, ३१टि०

बोलशेविक: से तुर्की और चीन के यूरोपीय-करण को बल ३८टि०, में स्वतंत्रता ६२टि०, २१९टि०, २३७टि०, के विरोध में नाकेबंदी २०२, का साम्यवाद २९०-१, २९६, ३७१-२, के बाह्य संसार के साथ संघर्ष का कारण २९१, की पद्धति ३५६-७, और एशिया ३७५-दे० 'बोलशेविज्म' भी

राष्ट्र-निर्माण में राजा का महत्त्व ९१, ९३
सर्वाधिकारवादी सिद्धांत ९३टि०
समाजवाद: ११७टि०, और अंतर्राष्ट्रीय
भावना २५९

राजतंत्र समाप्त १८०, १८२
रूसी क्रांति १८४, २३४, २३७, २४१, २४६, २६७, ३७०-२

सोवियत, १८४टि०, १८५टि०, २१७टि०;
सोवियत संघ [यूनिन] ३१टि०, ५३टि०,
सोवियतवाद २४७टि०

में मध्यवर्ग १८४, १९१
समाजवादी: १९०टि०, के अवयवभूत
राज्यों को स्वायत्तता २४१टि०, [२३७टि०]

और स्वतंत्र राष्ट्रीयता का आदर्श २३४, २३६, २३७, २४१, २४६

साम्राज्य नहीं रहा, स्वतंत्र गणतंत्रों का संघ
बन गया है २३७, २३७टि०

और स्वतंत्र राज्यसंघ का सिद्धांत २४१-७
में श्रमिकदलीय निरंकुशता २४१

में समाज का विकास २४१ •
दो प्रतिद्वंद्वी सिद्धांतों—राज्यसिद्धांत और

स्वतंत्र चुनाव का सिद्धांत—का दृष्टांत २४२-५
कभी राष्ट्र-राज्य नहीं, कई राष्ट्रों का समूह,
रहा है २४२-३

की एकता में मनोवैज्ञानिक तत्त्व और
प्रणिक-भौतिक पहलू २४३-५

द्वारा स्लाविक राष्ट्र, युकरेन कोसैक्स, पोलैंड,
फिनलैंड के आत्मसात्करण में तर्क २४४-५, ये
तर्क यदि बहुत दूर तक ले जाये जायें २४५

रूसी सिद्धांत भविष्य की वस्तु है २४६,

[३७१]

रूसी सिद्धांत, और वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय
प्रणाली २४६

और राष्ट्र-संघ २३९अ, २८९, ३५५

साम्यवादी, और विश्व-व्यापी प्रभुत्व २९४

और पश्चिमी यूरोप में पृथक्ता २९६

और चीन के मिलने से उत्पन्न संकट एशिया,

तिब्बत, भारत के लिये २९७

में श्रमिक वर्ग की सरकार ३५६

में समाजवादी [साम्यवादी] शासन ३७०-२

मानवजाति के निर्दिष्ट भावी नेताओं में से

३७१

(दे० 'पोलैंड', 'फिनलैंड' भी)

रूसी-जापानी युद्ध ३१५

रोम २६, २७, ७६, ७९, ८४, ८५, ८९, १७४

और विश्व-साम्राज्य ५४, ५६, ५७, ५९

में राज्यतंत्रीय पद्धति नहीं चल सकी ७३

के नगर-राज्य दे० 'छोटे जनसमुदाय'

में जनतंत्रीय प्रवृत्ति ७४

-नगर की यूरोप को देन ७५

का प्रभुत्व और राष्ट्र-एकता ८३-५

न्याय-समिति १६६

रोमन सभ्यता ८२

रोम-साम्राज्य [रोमन साम्राज्य] २१, ७७,

१२४, [१५५], १७९, १९४, २०६, २१५,

२३२, २८३

पवित्र रोम-साम्राज्य ४, ३४

के गुण-दोष ५; और विश्व-राज्य [विश्व-
ऐक्य] की लाभ-हानि २१५-६, [२२७],
२६७-८

और ग्रीक-रोमन जगत् १८

की सफलता और असफलता के कारण
३२-४, ७९-८०, ८२

रोमन सफलता को फिर से लाने का प्रयत्न
शार्लमैन, नैपोलियन, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड
आदि का ३४-४०

रोमन आदर्श में कुछ सत्य ४०

कई शताब्दियों तक टिका ७९-८०, ८२

अधीनस्थ प्रदेशों की जीवन-समाप्ति ८२

रोमन एकता २२७, २५४, २६५, २६८

अतिराष्ट्रीय समुदाय का दृष्टांत २९३-४

रोमन-प्रणाली मूलतः दोषपूर्ण थी २९४

रोमेनौप्स ९१

रौकफेलर ३३९

ल

लंदन ४

लाईसर्स १६०

-संविधान १४१

लॉयड जार्ज ३३९

लिथुआनिया २४२

लुई चौदहवां ९३, १५७

लैटिन गणराज्य [राष्ट्र] ६८

ों में संपूर्ण महाद्वीपके अमरीकीकरण की
प्रवृत्ति २९६

लैटिन भाषा दे० 'भाषा'

लैटिन संस्कृति दे० 'संस्कृति'

लोकतंत्र दे० 'जनतंत्र'

लौरें २४३

(दे० 'अलसास' भी)

व

वंश ४४, ७८, २०६

'वंशीय जीवन केलटिक जातियों में ७

'वंशीय विचार २६१

(दे० 'कुल' भी)

वनस्पति १३१; उद्भिज जीवन १३५

वरुण के पाश ३२६

वर्ग

-कलह ७

प्रबल, समाज में ८

प्रबल अल्पसंख्यक, के.लिये परामर्श ८-९

ब्राह्मण, भारत में ९

नें या श्रेणियों की क्रमिक व्यवस्था यूरोप और भारत में ७२, ८८

-क्रम का विघटन और राष्ट्र-निर्माण ८८-९० की स्वाधीनताओं का नाश ९१

-युद्ध [संघर्ष...] १०९, ११६, २०५टि०, ३५९, ३७७

वर्ण [वर्ण-क्रम] ७२, ७५, ८७-८, २७२

चतुर्वर्ण ८८

वर्तमान (अवस्था, समय, स्थिति, तथ्य...) १८३, १८४, ३०५, ३४६, ३६६, ३७५

(दे० 'युग', 'राष्ट्र-संघ' वास्तववादी, 'संसार' भी)

वाद

नें का आपसी संघर्ष ११४

वारसा ३७१

विकास ५, १४५, २२१, २९४, ३६२

सामाजिक : व्यक्ति और समुदाय ११-२, तीन तत्त्व १३४-५

वैयक्तिक, और स्थायी सर्वहित २०

सच्चा, और यांत्रिक साधन २१

-वादी सिद्धांत प्रकृति और जीवन का १३३ प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समुदाय और मानव जाति का १३६

स्वाभाविक, और बाह्य व्यवस्था १४०

ऐसे स्वतंत्र, की आवश्यकता... २५१

जाति का स्वस्थ, और विविधता २८१

-चक्र को दुहराने की आवश्यकता भी पड़ सकती है २८२अ

(दे० 'प्रगति' भी)

विकेंद्रीकरण ८६, २१२, २३२

विचार २, १७३, १९७, १९८, २०४, २१६, २६४, २८२, २८४, ३०५, ३१८, ३२०, ३२४, ३६८, ३७०, ३७१, ३७७, ३७८, ३८०

एक सीमित, पर बल देने की प्रवृत्ति १३

की स्वतंत्रता दे० 'स्वतंत्रता'

नें और आदर्शों का आदान-प्रदान ८२

सशस्त्र शक्तियों के रूप में ११०

महान्, जो अपने-आपको क्रियान्वित करने की चेष्टा करता है एक ऐसी शक्ति है... २३४अ

की शक्ति और उसकी दुर्बलता २५६-७, २७५, २८३, ३१२

-धाराओं दो, का संघर्ष २९१

प्रत्येक नया, उच्च उपलब्धियों का यंत्र, पर वह उस महती आकांक्षा की परिपूर्ति नहीं कर सकता... ३१२

एवं सिद्धांत, और अदृश्य शक्ति ३१८-९

की स्पष्टता और आत्मनिष्ठता ३२८

नें की स्वस्थ प्रक्रिया अंदर से बाहर की ओर ३२८

द्वारा जीवन को शासित करना ३३१

नें का गड़बड़झाला ३३४

यूरोप का दे० 'यूरोपीय विचार'

एशिया का ३६४

(दे० 'सिद्धांत' तथा 'जीवन', 'भाषा', 'विज्ञान' भी)

विचारक [चिंतक] ९८, १९६, २२७, ३१८

का आजकल बोलबाला ४३, ४३टि०

और अंतर्राष्ट्रीयता का विचार ११०, २५५

और समाजवाद १६८

और समाज १७१

और विश्व-ऐक्य १७७, १७९

और विश्व-राज्य २१३, २१४

और प्राणिक मनुष्य २६२अ

और मानवता का धर्म २७१

और सत्य ३२८

(दे० 'बुद्धिजीवी' भी)

विज्ञान २अ, ६८, १७५, २९९, ३०७, ३१२, ३२४, ३२७, ३३९, ३७६, ३८१

भौतिक ४९, २३१, ३०६

और विश्व-साम्राज्य [साम्राज्यवाद] ५६,

५८, १५२, २१६, २३३, २६५, २९५

अब सब की संपत्ति ५८, २५७

और युद्ध १०२, १२६; द्वारा युद्ध की ममाप्ति ! ३१५, ३१६

और जीवन-एकता १७७, १८८, २०४

आधुनिक आर्थिक दृष्टिकोण में १९७

विचार, धर्म जीवन-एकता की तीन शक्तियां २०४, [२५७-८]

एकरूपता की महान् शक्ति २७२, २७४

और अंतर्राष्ट्रीयता २५७-८, २६३

राष्ट्रीय विज्ञान २५७अ

और मानवता का धर्म २७२, २७४

विदेशी शासन

से सहायता राष्ट्र-एकता के निर्माण में ७, २६-७, ७८, ८३-५

विधान [विधि, कानून] १७, १३७, १६८, १९५, २७३, ३१४, ३२५, ३३८, ३५२, ३५८, ३६०, ३६२, ३७७

अंतर्राष्ट्रीय ६५-६, १०४, ११५, २९०, २९२, ३४०; का सही आधार ३६२ दे० 'युद्ध' भी

राष्ट्र में, और अंतर्राष्ट्रीय, १०४

राष्ट्र में, के दो स्रोत १०४

और वर्ग-कलह एवं सशस्त्र विरोध १०४-५

और स्वाधीनता १३७, १३९-४०, ३३३-४

और शासन के लाभ और हानियां १४०

सच्ची १४०

और राजा १५९, १६०, १६८-७१

समाज की प्रारंभिक अवस्था में १६०-१, १६७

विधायक और सामाजिक केंद्रीकरण एवं एकरूपता की प्रवृत्ति अ० २१ : १६५-७५

की एकरूपता का विकास १६७

विधि ग्रंथ १६७-८

के बाह्य प्रतीत होने का कारण १७१

आवश्यक, किंतु बाधक यदि . . . २३९

आदर्श, ३२३

प्रथम, में निवास ३२५

और संस्था में विश्वास पश्चिमी मन को ३४१

और न्याय ३५९-६०

अपने मूल में ३५९

अन्यायपूर्ण, को न्याय में बदलना ३६०

का अन्याय तभीतक सहा जा सकता है ३६०

बाह्य, से व्यक्ति और जाति का उद्धार संभव नहीं ३६४

(दे० 'संविधान' भी)

विभिन्नता ४४, १३९, १५३

एकता में, अ० २८ : २२१-३०

और स्वतंत्रता का बलिदान ७२, १३७, २२६, २२८

को दबाने की प्रवृत्ति मानवीय बुद्धि में १५६ दे० 'बुद्धि' को एकरूपता भी

और जटिल एकता १५६, २२१, २४८

की उपयोगिताएं [लाभ] २२७, २५३, २७०

विविधताशील, द्वारा जीवन सजीव . .

२२९ दे० 'स्वतंत्रता' और विविधता भी

में एकता का, क्या कोई सिद्धांत नहीं २३०

(दे० 'एकता', 'जीवन', 'विविधता' भी)

विमान-शक्ति ५६८; वायु-शक्ति २६५८

विलियम द्वितीय [राजा जिसे पहले तलवार खींची] २३३, ३१४

विलसन (वुडरो विलसन) [अमरीका के राष्ट्रपति, एक प्रसिद्ध और आदर्शवादी राजनीतिज्ञ] २३८, ३४३, ३५२, ३५३

विविधता ११, २०, ३८, ९२, १२५, १४५, २२१, २२३, २२८, २३१, २३२, २५४, २६८, २७०, २७६, २८१, २८३, २८५

का सिद्धांत स्वतंत्र आदान-प्रदान को नहीं रोकता १३८

और विभिन्नता में सुविधा बुद्धि को कब १५६

(दे० 'विभिन्नता', 'स्वतंत्रता' भी)

विशिष्टता ४५, २२१

विश्व दे० 'मंसा'

विश्व-ऐक्य [एकता, एकीकरण] ५३, १५१, १७८, १७९, २१४, २८१, २९१, २९६, २९७
या विश्व-राज्य १५१, अ० २२ : १७६-७, २१५

के लिये, न कि विश्व-राज्य के लिये, प्रयत्न करना हो तो . . . २३१

पूर्ण, के लाभ-हानि २६७-८

सफल, की रचना २९९-३००

और प्रकृति की विकासत्मक प्रेरणा २९९-३००

इस प्रकार का, लंबे समय तक जीवित . . . ३००-१

(दे० 'स्वतंत्र विश्व-ऐक्य' भी)

विश्व-नागरिकता १२४, ३५८

विश्व-बंधुत्व ६०, ६८

विश्व-राज्य (केंद्रीभूत) २१, ११५, १४३, २५३, २६७, २९०, २९१, २९४, ३००

पर विचार १५१-२, १५८

विश्व-ऐक्य या, अ० २२ : १७६-७; २१५

का अर्थ १७८-९, २१३, २८२-३

की शासक संस्था के स्वरूप की कठिनाई १७८-८६ (राजतंत्र १७९-८२, गणतंत्र १८०, १८२, १८३-४, पुराना चीनी सिद्धांत १८०अ, १८४, विश्वसंसद् १८५-६, अधिक व्यावहारिक रूप १८६)

और राष्ट्र १७८, १८३, २०५, २१०, २१५, [२२९], २८१, २८२

सैनिक बल की अनिवार्यता १८८, १९५

के निर्माण की आवश्यकता २०१

और व्यापारिक, औद्योगिक, आर्थिक जीवन का केंद्रीकरण २०२-३

की व्यापारिक शक्ति २०५

में युद्ध, अन्याय, कलह की रोकथाम राष्ट्र-राज्य में जैसे व्यवस्थापक सत्ता द्वारा २०५

के सिद्धांत का चरम परिणाम २०६-७, २८१

में राष्ट्रीय जीवन का संपूर्ण प्रशासन केंद्रीभूत

२०७-१३, (सैनिक शक्ति २०७, आर्थिक विषय २०७-८, राजनीतिक सामाजिक स्वतंत्रता २०९, २१०-२, अपराध एवं न्यायसंबंधी प्रणाली २०९-१०)

और राजनीतिक निरहस्तक्षेप का सिद्धांत २१०-१

और संस्कृति, जाति, भाषा २१२-३

का खतरा अ० २७ : २१४-२०

के लाभ और हानि रोमन साम्राज्य के समान २१५-६, [२२७], २६७-८

स्वतंत्र जनतंत्रीय राज्य होगा, स्वाधीनता का गला घोटनेवाला निरंकुश राज्य नहीं ! २१६-७

सर्वनियामक समाजवादी, में विचार की स्वतंत्रता का अर्थ २१९-२०

के लाभ : २६९, और मनोवैज्ञानिक तत्त्व २६९-७०

(दे० 'एकता' (राजनीतिक), 'एकरूपता', 'शांति', 'स्वतंत्रता' भी)

विश्व-राष्ट्र २२९

विश्व-व्यवस्था ६४, ११७टि०

वर्तमान १४२, १४४, २४२

विश्व-क्रांति के बाद की, (वास्तविक स्थिति पर आधारित), की दुर्बलता १४३-४, इसका केवल एक ही समाधान १४४

आदर्श सिद्धांत पर आश्रित १४९-५०

न्याय्य और शांतिपूर्ण ३६६

(दे० 'यूरोपीय विश्व-व्यवस्था' भी)

विश्व-संघ ६३

जर्मन अथवा अमरीकन रूप का २५३

विश्व-संसद १८५, २५३, ३४९

विश्व-साम्राज्य

की संभावना अ० ९ : ५४-९

का जर्मनी का स्वप्न : सफलता की आवश्यक बातें ५५-६

के प्रयत्न की (भावी में) सफलता की शर्तें और उनकी अव्यावहारिकता ५७-९

(दे० 'एकता' (राजनीतिक) अकेले, और

‘रोम’ भी)

विश्वास २७३, ३१२, ३४०, ३७१

वेद ७५, [२७५]

वेदांत ३२८

वेनिस ७४

वेल्स ७, २७

और ब्रिटिश राष्ट्र २८, ४५, ४६, ४७, ८५,

२०८, २११, २१३, २५१

वेस्ट मिनिस्टर-संविधि १५६टि०

वैश्य १९६, १९७, ३१३, ३२३, ३५७

व्यक्ति

(की स्वतंत्रता) की बलि राज्य पर [का दमन] ५, १२, १३-४, १५-९, २२, ३४, २१६-२०, २८२, ३३६; की बलि सामूहिक अहंभाव पर १८, २०

और समाष्टि दे० ‘समुदाय’

की पूर्णता ६, ९, १०८, १३५; की पूर्णता पूर्ण समाज में प्रकृति का उद्देश्य ७अ दे० ‘पूर्णता’ भी

की स्वतंत्रता का मान १२-३, २२०, २८३, [२९६], २९८

की शक्ति १६

ही उन्नति करता और बाकियों को उन्नति करने के लिये बाध्य करता है २१, १५९; स्वतंत्र, सचेतन रूप से प्रगतिशील २२०; [प्रकाशयुक्त देवत्व १०]

छोटे जनसमुदायों में ७५अ

राष्ट्र में एक इकाई है १०५-६; एक हठी, के साथ व्यवहार करना अपेक्षया सरल ३५८

का पहला उद्देश्य १३५

के लिये अनुसरणीय मार्ग १५९

या वर्ग उन्नत, का वास्तविक कार्य समाज में १७३

अंतर्राष्ट्रीय २५८

अतीत की ओर देखनेवाले २७१

समूहवादी राज्य के शरीररूपी यंत्र में एक अणु २९८

का सत्तासंबंधी अहंकारपूर्ण विचार ३३६

(दे० ‘मनुष्य’ तथा ‘अहं’, ‘राज्य’, ‘समाज’

भी)

व्यक्तित्व

सचेतन मन का परिणाम ११

का नाश नहीं २७०

व्यक्तिवाद [व्यक्ति-भावना] १२५, २७६, ३३६

और समुदायवाद १०-१

(अंग्रेजी), की दुर्बलता १९

व्यवसायी-संघवादी २५९

व्यवस्था ५, ६४, ७०, १४०, १६५, २३३, २९८, ३०७, ३१९, ३३३, ३४०, ३६०, ३७५, ३७७, ३७९

और स्वाधीनता दे० ‘स्वतंत्रता’

बुद्धि को पसंद १३७, १५६

कृत्रिम, यांत्रिक १४०, ३०८

पुरानी और नयी १७७

जीवन का नियम २२१

सच्ची २२१

पुरानी सशस्त्र, का औचित्य ३४७

(दे० ‘अतिराष्ट्रीय’ व्यवस्था भी)

व्यवस्थापक परिषद् [सभा] १६५, १६६, १६९

व्यवहार-विधि १६५

व्यापारवाद [व्यवसायवाद, वाणिज्यवाद, व्यापार, व्यापारिक . . .] ३२२अ, [३३६], ३८१

उन्मुक्त व्यापार की ब्रिटिश नीति ४८

और मानवजाति की एकता ७०, १७७, दे० ‘आर्थिक एकता’ भी

और युद्ध १०१, १०३, १९९-२०२, ३१३, ३१५, ३१५अ

और आधुनिक समाज १९६-८, २०३

(दे० ‘शांति’, ‘समाजवाद’ भी)

व्यापार-संघ १८३टि०

व्यापारिक दबाव [आर्थिक दबाव] ३५२
का शस्त्र २०१-२

श

शक्ति १७९, २६६, ३१०, ३१३, ३२५
 द्वारा निर्णय का सिद्धांत १०५
 समस्त, विश्व-राज्य के हाथों में केंद्रित करने की आवश्यकता १९५, २०४
 ही जीवन का अंतिम निर्णायक १९५, २४२
 विकेंद्रित, और केंद्रित १९५
 और दबाव न्यायी और निष्पक्ष सत्ता के हाथों में न हों तो ... २०२-३
 का हास कुछ समय बाद २१६
 जिसका निर्वाचित व्यवस्थापक और प्रशासक प्रतिनिधित्व करते हैं २१८
 का आश्रय एकता के लिये २४३, २७८अ
 सड़ने लगती है सुरक्षा पाकर ३५५
 (दे० 'अदृश्य शक्ति', 'बल' तथा 'अंतर्राष्ट्रीय एकता', 'पुराना विचार' भी)
शक्ति-संतुलन ३४७, ३५४, ३८२
शक्तियाँ ३०५, ३२०, ३६८, ३७०, ३७८
 -याँ और सिद्धांत [विचार] [१०९], ११०, २०६
 बड़ी और छोटी (राजनीतिक) दे० 'अंतर्राष्ट्रीय एकता'
 -यों को जानने की आवश्यकता १३१
 -यों प्रतिकूल, की क्रिया-प्रतिक्रिया २३१
 रुद्रशक्तियाँ ३१०
 कर्मरत [क्रियारत] ३७५, ३८०
 दो बड़ी विश्व-शक्तियाँ ३७५, ३७६
 बड़ी पांच दे० 'राष्ट्र-संघ'
 (दे० 'संघर्ष', 'संसार' भी)
शरीर ८०
 मनुष्य शरीर का सम्मान २७२
शास्त्रास्त्र/युद्ध सामग्री १९५
 को परिमित करना १०१, १०२, १०३-४
 निरस्त्रीकरण १८७, १९४, २०३टि०
 व्यापारिक दबाव और समुद्री नाकेबंदी २०१-२

आविष्कारों के सैनिक प्रयोग पर प्रतिबंध

२९५

शांति ७०, १३८, १६२, १६५, २५०, २९९, ३०६, ३०७, ३४०

और विश्व-राज्य ११४अ, २१५, २१६, २६९

खतरे में, तो शिथिल संघ ... १५६

और व्यापारवाद १९६, १९९

और युद्ध २०१, २७४

और स्वतंत्रता २२८, २८३

और अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली २९३

तबतक स्थापित नहीं ३१६, ३६०

और राष्ट्र-संघ ३४३, ३४७, ३५३, ३५५,

३५८, ३६०, ३६२, ३८१

सच्ची होती तब ३५३

(दे० 'अंतर्राष्ट्रीय शांति' भी)

शांतिवाद २७२; शांतिवादी ३१४

शांति-संघ १९२, २०२

शार्लमाइन ३४, १७२, २१४

शासक [शासक-वर्ग, प्रशासक] १५, ९५, १०१, १८४, १८७, १९६, ३०५, ३४३

राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ बुद्धि या उच्चतम प्रेरणा का प्रतीक नहीं १५

और न्याय एवं कानून १६६-७

जो समाज के विवेक और संकल्प का पर्याप्त रूप में प्रतिनिधित्व करे १७०

की मनोवृत्ति १९०-१

और व्यवस्थापक निर्वाचकों का प्रतिनिधित्व नहीं करते २१८

का शासित पर अधिकार ३३५, ३३६

(दे० 'सरकार' भी)

शासन [प्रशासन, शासन-प्रबन्ध, -पद्धति]

१२, १३७, १६९, १७२, १९८, ३७०

और स्वतंत्रता १२६

की अति १४०

और वैदेशिक विषयों का नियंत्रण (केंद्रीकरण और एकरूपता की प्रवृत्ति)

अ० १९ : १५१-८

का केंद्रीकरण १५७-८

के तीन मुख्य अंग : अर्थ, कार्य-व्यवस्था, न्याय १६३

किसके हाथ में—राजतंत्र, कुलीनतंत्र या जनतंत्र के ? १६८-९

के रूप अ० २३ : १७८-८६ दे० 'विश्वराज्य' की शासक संस्था भी

प्रशासनीय एकता की आवश्यकता अ० २६ : २०४-१३

(दे० 'बहुमत', 'समाज' भी)

शिक्षा ६०, ६१, ९५, २१८, ३३५, ३६५

राज्य द्वारा संचालित १९-२०; राज्य-शिक्षा २१९

राष्ट्रीय, २०

आधुनिक आर्थिक दृष्टिकोण में १९७

शिथिल एकता (सांस्कृतिक, भौगोलिक) [शिथिल रचना, प्रणाली, संगठन] ७८, ८०, ८१, १५१अ, १५४, १५६, १५६टि०, १५७, १५८, १७६, १८८, २०४, २५३

शूद्र ७६, १९७, ३५७

श्लैखिक होल्स्टाइन ३०, ३५१

शोगुन ८८

श्रमिक [श्रमजीवी, मजदूर] (वर्ग, दल) ८, ७१, ७२, १८३, १९७, १९९टि०, २४१, २७५, २९०, ३४७, ३७५; सर्वहारा वर्ग ३३०, ३५७

और अंतर्राष्ट्रीयता ११६, २५९, २६०, २६६-७

और मध्यवर्ग १८४, ३३०

की अंत में जीत १९७

श्रमिक राज्य २५९, २६७

-आंदोलन ३५६, ३७२, ३७५

का शासन [की सरकार] ३५६

की नीति में महत्वपूर्ण प्रतिज्ञा ३७६

(दे० 'पूँजीपति', 'राष्ट्र-संघ', 'रूस', 'समाजवाद' भी)

स

संघर्ष १६, २०, ११६, १२२, १३४, १३६, १३७, १३९, १८७, २१६, २४२, २४९, २५०, २५३, २६६, २६७, २६९, २७६, २७८, २७९, ३३६, ३४०, ३४४, ३५४

द्वारा एकता की ओर १०

के कारण फिर भी बने रहेंगे १०२ दे० 'युद्ध' तभी समाप्त भी

गणतंत्रीय और तानाशाही शक्तियों में ११६टि०

मानसिक, नहीं अवमानवीय जीवन में १३२ मानसिक, मनुष्य में, अतः आंतरिक विकास की ओर बढ़ने की ... १३२

आंतरिक, नहीं अवमानवीय जीवन और अतिमानसिक जीवन में १३४

अहंभावयुक्त जीवन में सदा ३३२, ३३३

(दे० 'युद्ध' तथा 'विचार', 'संस्कृति', 'सामंजस्य', 'साम्यवाद' भी)

संघीकरण [संघीय प्रणाली, व्यवस्था, सिद्धांत] ४७, १५४, [२७९], २८१, २८३, ३००, [३१४]

स्वतंत्र संघीकरण [स्वतंत्र राज्य-संघ] ७६, १४५, अ० ३० : २४१-७

संघ-बद्ध राष्ट्र या साम्राज्यीय समुदाय की संभाव्यता ८६

और अमरीका एवं जर्मनी ८६, २४३, २५३, दे० 'अमरीका' (संयुक्तराज्य) भी

सफल नहीं हुआ, सिवाय ... २४३

(दे० 'राज्य-संघ', 'राष्ट्र-मंडल', 'राष्ट्र-संघ', 'विश्व-संघ', 'स्वतंत्र राज्य-संघ', 'स्वतंत्र राष्ट्रों का संघ', 'स्वतंत्र विश्व-ऐक्य' भी)

संपत्ति ६१, ९५, ९९, १६५

स्वरूप अधिकार मनुष्य पर मनुष्य का ३३५-६

संयुक्त राज्य अमरीका दे० 'अमरीका' (संयुक्त राज्य)

संयुक्त राज्य (यूरोप का) दे० 'यूरोप'

संयुक्त राष्ट्र-संघ २९७, २९९

की स्थापना १००टि०, २८६, २८७

और विपत्तियां २८६-८

के प्रति आशावादी और निराशावादी दृष्टि
२८८

राष्ट्रों के नेताओं का कर्तव्य २८८, [२९५]

में भूलें २८९

सुरक्षा-समिति २८९

का वास्तविक संकट २९०

संविधान ११३, १६७, १६८, १८४, २९८,
३४१ दे० 'विधान' भी

संसद् २८१

स्वतंत्र राष्ट्रों की १८५अ, २३९

(दे० 'विश्व-संसद्' भी)

संसद्-प्रणाली १७०, १८५, २३८, २५३,
३५७, ३७१

संसार [जगत्, विश्व] ४९, ९९, १३१, २४८,
२९१, २९२, ३४९

आज का [वर्तमान, आधुनिक] ५७, ७१,
८२, १८३, २७१, ३६६-७, ३६८

जीवन की मानव-शक्तियों के तीव्रीकरण पर
समस्त ध्यान लगा सकेगा २५३, [६९]

की अवस्थाओं का रूपांतर तबतक नहीं
२६०

में कोई भी वस्तु अनावश्यक नहीं ३१२

पुराना ३१८

पुराने, की शक्तियां और नया परिवर्तन
३२२-३

के साथ एक ३६५

संस्कृति

अंग्रेजी २२५; अंग्रेजी, भारत में ३८, ३९-
४०

इस्लामी ४०; उस्मानी १५३

ऐंग्लो-कैल्टिक २५२

कैल्टिक २५१

ग्रीक ३३

फ्रेंच, उत्तरी अफ्रीका में ३८, ४०

फ्रेंको-बैल्जियन १५३

फ्लैमिश १५३

भारतीय ४०, १७२

मध्यकालीन यूरोपीय ३४

यूरोपीय २२५

लैटिन २७

लैटिन-ट्यूटोनिक २५१

स्विस २२८

संस्कृति ६८, १४६, १७०, १७२, १९७,
१९८, २२४, २४३, [२६९]

राष्ट्रीय २०

अपनी, को विजित राज्यों पर लादना ३५-
४०, २९३

-यों विभिन्न, का संघर्ष ३७-९, इसमें
सफलता पाने के लिये ३७

एशियाई और यूरोपीय ३८-४०, २१२,
३७३

आधुनिक यूरोपीय, के उपयोगी अंश ३९

सार्वभौम विश्व-संस्कृति [६५], २१२,
२२८, २५२-३

की एकरूपता १२५, २१२-३

और विश्व-राज्य २१२-३, २१६

-यों का आदान-प्रदान २१६; आपसी क्रिया-
प्रतिक्रिया २५२

-यों की विभिन्नता सुरक्षित रखने योग्य २२७
, और जीवन का बाह्य भौतिक पक्ष २२७-८

आर्थिक एवं जड़वादी ३१८

सच्चाई २२२, ३०८, ३०९, ३२६

सत्यता ३४२

सत्य २५१, २६४, ३०८, ३१०, ३११, ३२६,
३२७, ३३७, ३६१, ३६५

ही हमारा प्रकाश और मार्गदर्शक होना
चाहिये १४

और भ्रांति ३१२, ३१७

का प्रभु' द्वारा हमारी परीक्षा ३२६

उच्चतर वस्तुओं के, से अवगत तभी ३२७

सजीव, और यांत्रिक प्रणाली ३२८
 सन यात सेन ९२ टि०
 सन्
 १७८९—प्राचीन व्यवस्था का नाश और नये
 आदर्श का जन्म ३७९
 १८१३—नैपोलियन भावना का नाश ५६
 १८१५—प्राचीन प्रशासनों एवं क्रांतिकारी
 फ्रांस के बीच और फिर यूरोप और नैपोलियन
 के बीच युद्ध ३७९
 १८४८—जनतंत्र का दुबारा उदय १९०
 १८७०—यूरोपीय नेतृत्व का नाश ५६
 १९१९—अध्याय ३७९-८२
 १९१९ वर्ष की प्राप्ति ३७९
 १९१९—भावी संतति की दृष्टि में ३७९
 सभ्यता २१६, ३१९, ३७२
 आधुनिक यूरोप की ३, ४ दे० 'यूरोपीय
 सभ्यता' भी
 आधुनिक, और राज्य १८
 ग्रीक-रोमन, ३३, ३४
 सार्वभौम, व्यापक ३७
 के नाम से पुकारता है जिसे यूरोप ५५
 रोम की ८२
 -ओं पहली, का आदर्श २२०
 वर्तमान व्यापारिक २५०; औद्योगिक ३६४
 के बाह्य रूपों की नहीं, बल्कि ऐसे स्वतंत्र
 विकास की आवश्यकता है जिसमें . . . २५१
 श्रेष्ठ, का लाभ अधीनस्थ राष्ट्र को, का तर्क
 २५१-२, [३५] दे० 'यूरोप' भी
 ब्रिटिश २५१-२
 का नाश २८६, २९१, २९३
 यूरोप की जड़वादी, समाप्त हो रही है ३१९
 [३२२अ, ३७२]
 समाज २४१, २७३, ३७९
 पूर्ण ६, ७, १७३टि०, २९९, ३३९
 के व्यक्तियों का विकास समान नहीं ८
 और व्यक्ति दे० 'समुदाय'
 के बिना, स्वतंत्र रूप से सामाजिक ११-२

की प्रगति काल-चक्रों में १२
 का विकास १२, १६८, १६९, १७६
 प्रतियोगीय, के स्थान पर सहकारी ६१
 यंत्रीकृत ७२, [२१४], २७६
 में एक वर्ग का नहीं, व्यक्तिमात्र का सहयोग
 ७६
 पुराने, में सब के समान भाग लेने में दो
 अपवाद ७६
 का शिथिल रूप, कठोर संगठन, स्वतंत्र
 आंतरिक विकास—तीन अवस्थाएं ८७-९४
 सामाजिक व्यवस्था, न्याययुक्त ९५, ३६०
 आदर्श, १०८, १७१, ३१२; आदर्श,
 आधुनिक १७५; का आदर्श अराजकतावादी के
 अनुसार २२०
 पूर्णतः स्वचेतन १५९, १६८, १७०, १७९
 स्वाभाविक सुघटित, और बुद्धि-व्यवस्थित
 यांत्रिक १६७, १६८, १७६
 के धर्म का निर्धारण १७०
 स्व-चेतन, का विकास, और विचारक या
 राजा १७१-२
 का नेतृत्व पहले और अब किनके हाथ में
 १९६-७
 औद्योगिक समाज १९६-८
 की व्यवस्था का प्रशासन २०८-९
 आज, आपस में जुड़े हैं २०८अ दे०
 'जीवन' की एकता भी
 सदा अनुदार, गतिहीन २२०
 प्रगतिशील तभी २२०
 के आधार का धन से श्रम की ओर
 स्थानांतरण ३५७, ३७२
 सभ्य, का प्रभावशाली कार्य ३५८
 नये प्रकार का रूस में ३७१
 भावी ३७२
 वर्तमान, का स्थान लेनेवाला भविष्य ३८२
 (दे० 'समुदाय' तथा 'आध्यात्मिकता',
 'नियम', 'व्यक्ति' भी)
 समाजवाद [समाजवादी] ७१, १२६, १७०,

१८१, १८३, १९०, २०१, २०८, २१३,
२७२, ३१४, ३३९, ३६९, ३७८, ३८१, ३८२

और राज्य-सिद्धांत [समाजवादी आदर्श]
१४, ६१-२, १७४अ, २१४, २९१; समूहवादी
आदर्श के परिणाम २०-१

यहां तक तो ठीक है २०

विकास की स्वतंत्रता में जब हस्तक्षेप
... २०

जनतंत्रीय, ६१

आधुनिक, ६१, १५२, १६०; आधुनिक,
का सिद्धांत १६८

राज्य-समाजवाद [समाजवादी राज्य] ९८,
११६, १७४, १७४अ, १८४, १९२, २१४,
२८१, २८२, २९१, २९८, ३२९, नये, के रूप
का प्रश्न और उसके परिणाम ११६-७;
सर्वांगपूर्ण २०७

के दो विरोधी रूपों का विकास ११७टि०
राष्ट्रीय, [१२६], १५८टि०, १५९टि०,
२१२टि०

की विशेषता १५९

श्रृंखला समाजवाद १८४

और युद्ध १९२

और व्यापारवाद १९७टि०, १९८, १९९

और मध्यवर्तीय पूंजीवाद १९९

और श्रमिक-प्रभुत्व १९९, १९९टि०

की चुनौती २११

के पूर्ण विकास का अर्थ २११

अंतर्राष्ट्रीय २११-२

कार्यकारी २१२टि०

राष्ट्रीय (फासिस्ट), और शुद्ध मार्क्सवादी
२१२टि०

का उदय आकास्मिक संयोग नहीं, राज्य-
सिद्धांत का अनिवार्य परिणाम २१४

रूसी, दे० 'रूस'

समाजवादी क्रांति २६७

और अंतर्राष्ट्रीयता दे० 'अंतर्राष्ट्रीयता'

के प्रसार की लहर २९७-८, ३७२

और राष्ट्र-संघ ३५३

संसदीय समाजवादी ३५७

और पूंजीवाद ३६९-७०, [२९१, २९८,
३५६]

और एशियाई पुनरुत्थान में मैत्री ३७४-६

यदि भौतिक परिवर्तन ही लाये ३७६

(दे० 'जर्मनी', 'राष्ट्रीयता का सिद्धांत' भी)

समाजशास्त्र १, ३३९

समानता ७१, ८८, ३२९, ३४५, ३५९, ३६०,
३७८, [३८२]

पूर्ण, ८, ९५, ३७७

सामाजिक, ६०, ६१

की पुकार ९५

समान अवसर सबको ९५, १८४ दे०
'जाति' भी

और स्वतंत्रता दे० 'स्वतंत्रता'

(दे० 'असमानता' भी)

समुदाय [समूह] १३५, १७२

नें, पिछले, की अपूर्णता अ० २ : ६-९

[समाज, समष्टि] और व्यक्ति ६, ७अ, ९,
अ० ३ : १०-४, २०-१, ७६, १०८, १३५,
१५९, २२०, २५४, २६४, २८४, ३२९; और
व्यक्ति का उद्धार कानून से नहीं आत्मा द्वारा होता
है ३६४अ

पहले छोटे, फिर बड़े का निर्माण ६, इनमें
सामंजस्य की समस्या ७

और प्रबल वर्ग ८-९

की अंतिम आदर्श अवस्था १२

के तीन नमूने : राज्यभाव प्रधान, राज्यभाव
के साथ व्यक्तिभाव भी, व्यक्तिभाव प्रधान १२-
३

मानव समुदायों का निर्माण ४४-५, १३६,
बृहत्तर, के निर्माण का नया प्रयत्न पुनः पीछे
हटने के खतरे से खाली हो सकता है या नहीं
७७

की पूर्णता दे० पूर्णता

-एकता और इकाइयों ८०-२, १३५-६

समष्टि का अपने अवयवभूत समुदायों तथा इकाइयों पर अत्याचार २१७; जनता के एक चौथाई भाग द्वारा बाकी का उत्पीड़न ३३० दे० 'बहुमत' भी

या प्राणी सार्वभौमता में सबके साथ एक होता हुआ भी विशिष्ट २२१

को स्वतंत्र व्यक्तियों का संगठन होना चाहिये २२१

नें के विभेद सुरक्षित रखने योग्य हैं २२७, [१३८]

नें का यांत्रिक विभाजन नहीं, सजीव विभिन्नता लक्ष्य २४८

(दे० 'समाज', 'समुदायीकरण', 'सामूहिक जीवन', 'अतिराष्ट्रीय' समुदाय, 'मन' भी)

समुदाय-आत्मा २५

समुदायवाद [समूहवाद] ९८

और व्यक्तिवाद १०-१

के द्यूटौनिक विचार की कमजोरी १९

समुदायव्यष्टिवाद २२८

समुदायीकरण २४२, २६१

स्वतंत्र, आदर्श समाधान—मनुष्यजाति का अ० १८ : १४१-५०, १५१, [१२१, २२१]

में साम्राज्यीय एकताएं संभव, उसके दो उद्देश्य १४४-५

का राष्ट्रीय सिद्धांत और भाषा, जाति, संस्कृति १४५-८

में राष्ट्रीय सिद्धांत केवल यूरोप तक ही सीमित रहा १४८-९

में राष्ट्रीय सिद्धांत और साम्राज्यीय महत्वाकांक्षाएं १४८अ

में राष्ट्रीय सिद्धांत के विरोध में राष्ट्रीय साम्राज्यीय अहंभाव १४९-५०

का बिल्कुल नया ही सिद्धांत दे० 'राष्ट्र' से भिन्न

की स्वतंत्र स्व-निर्धारण की प्रणाली के परिणाम २४८-९

समुद्री नाकेबंदी २०१-२

सरकार ११६, २२०, २४१, २४६, ३०७, ३१४, ३२०, ३३८, ३५१

— जनतंत्रीय ११३

केंद्रीय, १५३-४, दे० 'केंद्रीय सत्ता' भी

नें का तरीका और आत्म-निर्णय का सिद्धांत ३०९

पूँजीवादी, और समाजवाद ३५६

पूँजीवादी, की नीति ३५६

पूँजीवादी, और श्रमिक वर्ग ३५६-७

(दे० 'शासक' तथा 'राष्ट्र-संघ' भी)

सर्बिया [सर्ब लोग] २४, ३१, ३८, २००, २३३, २३६

बृहत्तर १११

सर्व-अमरीकनवाद १०९

सर्व-इस्लामवाद ३१, १०९

सर्व-ऐंग्लोसैक्सनवाद १०९

सर्व-जर्मनवाद ३१, १०९, १९०, २००, २४५

सर्व-मंगोलवाद १०९

सर्व-स्लाववाद ३१, १०९

सर्वाधिकारवादी सिद्धांत ९३टि०

सर्वोच्च परिषद् ३६१, ३६६, ३६७, ३७१

सांस्कृतिक एकता दे० 'शिथिल एकता'

साइबेरिया २४२

सानफ्रांसिस्को २९९

सामंजस्य ६

दो तत्वों में, संघर्ष से १०, १३४

सामंत [सामंतिक...] ८६, १०५, १०९, ११३, १५२, १९५, २४१, ३८१

सामाजिक जीवन दे० 'समाज', 'सामूहिक जीवन'

सामुद्रिक शक्ति दे० 'जल-शक्ति'

सामूहिक जीवन

का ज्ञान बहुत अस्पष्ट १-२

के बाद, आदर्श, सिद्धांत १-२

सुप्रसन्न तथा लाभप्रद तभी ३-५

छोटे संघों का और बड़े राज्यों का ३-४, ७३

साम्यवाद ३३९

और पूंजी उद्योगवाद में संघर्ष ११७टि०,
२९६

और सामाजिक जनतंत्र [नरमपंथी समाज-
वाद] में संघर्ष ११७टि०, २९६, २९८

बोलशेविस्ट रूस का दे० 'रूस'

बनाम राज्य-समाजवाद २९८

की सफलता असंभव २९८

(दे० 'एशिया', 'पश्चिम')

साम्राज्य [साम्राज्यीय राज्य, समुदाय]

राष्ट्र और, अ० ५ : २२-९ दे० 'राष्ट्र' भी

राजनीतिक इकाई है, वास्तविक नहीं २२

ही क्या भवितव्य में जीवंत निश्चित इकाई
नहीं ? २८-९

के लिये प्रयत्न, और प्रकृति २८, २९४;
बनाने की प्रवृत्ति ११३, २३६

साम्राज्यीय एकता दे० 'एकता'
(राजनीतिक)

की प्राचीन और आधुनिक प्रणालियाँ
अ० ६ : ३०-४०

समजातीय और कृत्रिम विषमजातीय ३०-१,
७२

विषमजातीय और मनोवैज्ञानिक एकता ३०-
१, ३२, ४०, २६७, २७९, इसका उदाहरण :
रोम-साम्राज्य ३२-४

विषमजातीय, का पुराना रोमन आदर्श ३५-
४०

का विजित प्रदेश पर अपनी संस्कृति लादने
का विचार ३५-७, २५१-२, २९३; द्वारा विजित
देशों का आत्मसात्करण ८०, ८२

प्रभु-राज्य का कार्य ३६

का नया आदर्श : संघीय साम्राज्य ४० दे०
'साम्राज्य' (संघीय) भी

-निर्माण (पूर्वराष्ट्रीय), का प्राचीन क्रम . . .

अ० १२ : ७८-८६

पूर्व राष्ट्रीय, टिक क्यों नहीं सके ७९-८०,
भूल किस स्थान पर ८०, की दुर्बलता ८२

-प्रवर्तक का उत्तराधिकारी ७९

आधुनिक, का उद्देश्य : अधिकार, विस्तार,
धन-धान्य की तृष्णा . . . १२४

-विस्तार की प्राणिक और भौतिक
आवश्यकता २४४-५

(दे० 'विश्व-साम्राज्य' तथा 'अंतर्राष्ट्रीय
एकता', 'समुदायीकरण' भी)

साम्राज्य (संघीय, संघबद्ध) ४०, ८६, १११

में बाह्य रूप का और वास्तविकता का प्रश्न
४१

और काल्पनिक रचना ४२-३, इसे कार्यकर
बनाने की शर्तें ४२-३

को ही माता समझना ४२

विषमजातीय, का प्रयोग-क्षेत्र : ब्रिटिश द्वीप
४७

विषमजातीय, की समस्या अ० ८ : ४८-५३
और स्वतंत्र राष्ट्रों की प्रणाली ६५

साम्राज्यवाद [साम्राज्यीय विचार] २३८,
२४५, ३०६अ, ३८१

आधुनिक जगत् का प्रधान तथ्य ६०;
ऊर्ध्वमुखी है ६३-४; एक चरितार्थ शक्ति
१११-२

साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा ६४, १४८

और राष्ट्रीयता का विचार ६५, २३२-४,
२६६ दे० 'स्वतंत्र राष्ट्रीयता का सिद्धांत' भी

और अंतर्राष्ट्रीय संगठन दे० 'अंतर्राष्ट्रीय
एकता'

और स्वतंत्रता दे० 'स्वतंत्रता'

राष्ट्रीय साम्राज्यवाद ३३६

साम्राज्यीय आयात-निर्यात महासंघ ४९, ५२
सार ३५५

साराजैवो १०३

सालोनिका २००

साहसिक कार्य ९९, २६९, २७०

साहित्य १९८, २१६

सिकंदर ७७, ७९

सिख ९०

सिद्धांत २४८टि०, २९७, ३१८, ३७७

केवल तभी प्रबल हो सकते हैं २३५
 की विजय शस्त्रबल द्वारा २४६
 कोई भी, अकेला नहीं टिक सकता ३०९
 (दे० 'आदर्श', 'विचार' भी)

सिनाई पर्वत १६१
 सिपाही १०६
 सीजर (जूलियस) ७९
 सीनेट १५५
 सीरिया २३७टि०
 सुकरात ७५
 सुख १३१, २१६, २९९, ३१९
 व्यक्ति का, और समुदाय का २१
 और पूर्णता जाति की २८४
 और शांति सच्ची अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली में २९३

सुविधा २१६, २४८, २८०
 को जीवन महत्त्व नहीं देता, पर बुद्धि उसकी
 मांग करती है १५६

सेमेटिक राष्ट्र ७
 सैनिकवाद/सैन्यवाद १५५, १८९, ३४१,
 ३६७, ३८१
 और व्यवसायवाद ३१३
 (दे० 'जर्मनी' भी)

सैनिक शक्ति [संगठन]/सशस्त्र शक्ति/सेना
 [१९६], २०७, ३१५, ३५२
 और विश्व-साम्राज्य ५६, ५८
 राष्ट्रीय, को सीमित करना १०२, १०३
 और विधान १०४-५
 का प्रधान गुण १०४
 राष्ट्र में, और शिथिल अंतर्राष्ट्रीय रचना में
 १०५-६
 सैनिक एकीकरण की आवश्यकता अ०
 २४ : १८७-९५
 की अनिवार्यता : राष्ट्र में १८७, विश्व-राज्य में
 १८८, १९४-५, तब समाप्त २४९
 मध्यवर्ग के जनतंत्रीय राज्य का १९१
 (दे० 'अंतर्राष्ट्रीय शांति', 'युद्ध', 'शस्त्रास्त्र'
 भी)

सोफोक्लीस ७५
 सोमाली लैंड २३३
 स्कॉट लैंड [स्कॉच] ७, ८४
 और ब्रिटिश राष्ट्र २८, ४३, ४५, ४६, ४७,
 ८५, २०८, २११
 स्कैंडेनेविया १४८
 स्टुअर्ट (राजवंश) ९३, १६३
 स्त्री-जाति [स्त्रियां] ७१
 की स्थिति भारत, ग्रीस, रोम में ७६
 की पराधीनता ७६, ३३०, ३३५, ३३५अ
 स्थल-शक्ति ५६, ५८, २६५
 स्पार्टा २४, ७३, ७४, ७९
 प्राचीन, में राज्य भावना १२
 स्पेन ४, [२८], ८२, ८४, [२३६], २४२
 एकता विदेशी शासन से २६
 में कैटेलोनियन २७
 पोप और राजा की मैत्री ८९
 राजा का महत्त्व राष्ट्र-निर्माण में ९१, ९३
 अमानुषिक हत्याकांड ११७टि०
 राजतंत्र समाप्त १८०
 फासिस्ट शक्तियों का हस्तक्षेप २११टि०
 से क्यूबा और फिलिपाइन्स को अमरीका ने
 जीत लिया २३८

स्याम २३३
 स्लाव राष्ट्र २३, २४३, २४४, २४५
 स्लाव साम्राज्य २४५
 स्वतंत्रता [स्वाधीनता]
 आध्यात्मिक [आंतरिक] ९२, २१८, ३७३,
 ३७८
 औद्योगिक २०७-८
 कर्म [प्रयत्न] की १८, १२०अ, १७३,
 ३३०अ
 कुलीनतंत्र की ९४
 जाति की २३७टि० दे० 'जाति' भी
 जीवन की ५, ७२, २१६-७, २२८, २५४,
 २८१, २८२; मानव जीवन की ११९, ३३६
 धार्मिक १८, ९३, १३९, २१९, २१९टि०

नागरिक ९४

नैतिक १३९, ३७३

प्रादेशिक ५, ७२, १२६; स्थानीय २५३

भाषण की १६५, १७३, २१८-९, २१९टि०

राजनीतिक ६०, ६२, ८६, २०९, २१०-१,

२१२, ३७७

राष्ट्रीय १०७, १०८, ११०-१, १२१, १२२,

१३९, १५१, १८५, २१०, २१२, २५३,

२६६, २६९, २८२, ३७३

वर्गक्रम की ९१

विचारों की १८, ४३टि०, ९५, १६५,

१७३, १९८, २१८-२०, २१९टि०, २९६,

२९८, ३३०अ, ३७६

वैधानिक ८६

वैयक्तिक ५, १२-३, १९, २०, २२, ६१,

७१, ७२, ७६, ९५, १०८, ११९, १२०,

१२१, १२२, १२३, १२६, १३९, १५१,

१८५, २१७, २२०, २२१, २२८, २६९,

२८२, २८३, २८४, २९६, २९८, ३३८,

३६३, दे० 'व्यक्ति' भी

संगठन की ११८

सांस्कृतिक ८६, २०९, २१२-३

सामाजिक ८६, १३९, २०९, २१०, २११-

२

सामूहिक [जनसमुदाय व जनता की] २२,

६०, ७४, ११९, २२१, २२८

स्वतंत्रता [स्वाधीनता] २, १२, ५०, ७१, ८६,

१०८, १३९, १५६टि०, २२८, २४८, २४९,

२७९, ३००, ३२२, ३४०, ३४५, ३६२,

३६७, ३७३, ३८०

और विविधता सशक्त जीवन की अवस्था

५, २०, १५६, २१६, २२८, २२९, २५४,

[२८१]; और विविधता पर आग्रह : प्रकृति का

२२१, आध्यात्मिक जीवन का २८४; सशक्त

विविधता और स्व-प्राप्ति की शर्त २२१; और

विभिन्नता का लाभ २५३

में हस्तक्षेप [का अवरोध] हानिकार ५, २०,

१२१, २८२

को महत्व इंग्लैंड में १३, ९३, १६७

और राज्य दे० 'राज्य'; और राज्य-सिद्धांत

१२३; और राज्य-समाजवाद १९२, ३२९,

[२०]

विचार की [स्वतंत्र विचार] ४३टि०, ९५,

१९८, २१९-२०, २९६, २९८, ३७६; विचार

और भाषण की १६५, १७३, २१८-९,

२१९टि०; विचार और कार्य [प्रयत्न] की

१७३, ३३०अ, [१२०अ]; विचार, भाषण

और संगठन की २१८

और फ्रेंच क्रांति ६०, ६१

और समानता ६१, ९५, २८४, ३७७

छोटे नगर-राज्यों में ७३-४, ७६, २५३

के सिमटाव [अवरोध] का काल ७२-३,

९१, ९२अ, १०७, ११९, १५१; का नाश

१२०-१, १२२-३, दे० 'राज्य' और स्वतंत्र भी

के उपभोग [स्वतंत्र आंतरिक विकास] का

काल ८७, ९५, ९७; की ओर से निश्चित २५३

और राजतंत्र ९१, ९२अ, ९३-४, १६५,

१७३

आंतरिक [आध्यात्मिक] ९२, ३७३, ३७८;

आत्मा या बुद्धि की, में पलायन २१८, २८३

और व्यवस्था ९५, १०९, १२१-३, १३७,

१६७, २२१, २२८, ३३३

तब जाति का प्रेरक शब्द ९५ दे० 'जाति'

भी

ही नहीं, न्याय भी ९५

और समानता, अधिकार, संगठित योग्यता में

मेल ९५अ

समानता और भ्रातृभाव [एकता] : ९६,

२७५-६, २८४, ३०५, ३०८, ३७६-७, अहं

में, और आत्मा में २७६-७, जब तक आत्मा में

नहीं ३७७

राष्ट्रीय, और साम्राज्यवाद ११०-१, २६६

की समस्या (एकरूपता और,) अ० १६ :

११८-२७

और दृढ़तर एकीकरण ११८-२१, [५]
 से सत्ता के सिद्धांत को महत्त्व ११९-२०,
 [९५]
 के सिद्धांत का विकास या हास १२०-१
 के रूप १२०अ
 अपनी, का प्रतिपादन सुदीर्घ विकास और
 कष्टप्रद प्रयास के बाद ही १२१
 अपनी, और दूसरों की १२१ [१३९]; एक
 की, और दूसरे की ३२९, [३३४]
 और अंतर्राष्ट्रीय संगठन १२६, [२०६]
 और विधि एवं शासन १३७, [१२६],
 १३९-४०, ३३३-४
 से हमारा अभिप्राय १३९; का जो अर्थ हम
 लेते हैं ३२९
 के दुरुपयोग से हानि : कारण १३९
 और जनतंत्र को घातक आघात १५५
 विविधता की : हिन्दु-विधि में १६७, प्राचीन
 समाज में १६७
 व्यक्ति और राष्ट्र की, को कुचलने से रोकने
 का तरीका : संसद् प्रणाली १८५
 विश्वराज्य में—औद्योगिक २०७-८, राज-
 नीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक २०९, २१०-२,
 वैयक्तिक २१७, धार्मिक २१९, २१९टि०,
 वैयक्तिक और राष्ट्रीय २६९, २८२
 और जनतंत्र दे० 'जनतंत्र'
 और मानवता का धर्म २७२, २७३, २८३-
 ५
 और एकता : ३०९, [२४८], ३२२, ३५१,
 ३६३, ३६५, के अनुसरण में सच्चाई ३२६
 यांत्रिक ३२६; यांत्रिक, द्वारा प्राप्त सापेक्षिक
 स्वतंत्रता ३२९-३०
 और आत्म-निर्णय दे० 'आत्म-निर्णय'
 की अभीप्सा ३२८
 सच्ची, तभी प्राप्त ३२८
 और जनतंत्र का अर्थ : प्राचीन यूनान में
 ३२९, अभी पिछले दिनों में ३२९-३०
 और जनतंत्र का यह फल अवश्य...

३३०अ, ३३६
 वैयक्तिक विचार की दृष्टि में और समाज-
 वादी विचार की दृष्टि में ३३४
 व्यक्ति के अंदर से विकसित ३३४
 सत्ययुग में ३३८
 (दे० 'राष्ट्र-संघ', 'रूस', 'व्यक्ति', 'शांति'
 भी)
स्वतंत्र जनतंत्रीय राष्ट्र
 का विचार ६०
 ों का संघ १९०
स्वतंत्र राज्यसंघ दे० 'संघीकरण' और 'रूस'
स्वतंत्र राष्ट्रीयता का सिद्धांत [विचार,
 आदर्श]
 और साम्राज्यवाद ११०-३
 को पुनः जीवित कर दिया युद्ध ने २३४
 तीन रूपों में प्रकट २३४-६
 का व्यावहारिक परिणाम २३६-७
 और ब्रिटिश राष्ट्र २३७-८, इसके दो रूप :
 गृहशासन और समानतंत्र २३७-८
 और रूसी विचार दे० 'रूस'
 (दे० 'एशिया', 'युद्ध' भी)
स्वतंत्र राष्ट्रों का संगठन ५४, १०८-९
स्वतंत्र राष्ट्रों का संघ २८, ६३, ६४, ६५,
 [१०८], ११८, १९०, २९४, ३००
 (दे० 'अमरीका' (संयुक्त राज्य) भी)
स्वतंत्र विश्व-ऐक्य [स्वतंत्र विश्व-संघ]
 को लाने में सहायता २३६-८
 के स्वतंत्र स्व-निर्धारण के सिद्धांत का
 परिणाम २४६-७
 की शर्तें अ० ३१ : २४८-५४
 विभिन्नता और स्वतंत्र स्व-निर्धारण पर
 आधारित २४८
 का सिद्धांत [२४८], २५०, २५३
 और आर्थिक प्रश्न २४९-५१
 और सभ्यता एवं संस्कृतियों का प्रश्न २५१-
 ३
 का ढांचा २५३-४

में राष्ट्रीय विचार में परिवर्तन की आशा २५४
स्व-निर्धारण दे० 'आत्म-निर्णय'
स्वभाव का सत्य ३३६
स्व-मान्यता दे० 'आत्म-समर्थन'
स्वयंपूर्णता
 और प्रधानता के लाभ के स्थान पर स्वतंत्र
 आदान-प्रदान का लाभ अधिक २५०
स्वर्णयुग [सत्य युग]
 समाज का ११
 अतीत का १९८
 विश्व-राज्य का २१६
 ईसा का युग २७४, [३३९] दे० 'भगवान्'
 का राज्य भी
 की आशा और भ्रांतियां ३१२, ३८०
 मानव जाति का दे० 'मानव जाति'
 यांत्रिक, सुयोजित एकता का ३४०
 का स्वप्न केवल तभी संभव ३६५
स्वार्थ ३०५, ३०६, ३७५
स्विट्जरलैंड १५३
 की एकता १४६
 हैलवेशियन राष्ट्रीयता की भावना १४६
 संघीय विधान १५४
 भाषा की विभिन्नता २१३
 मानव-एकता का सफल दृष्टांत नहीं २२८
स्वीडन ६८, २४४

और नार्वे ४५, १४८

ह

हंगरी [मर्गियार] ३६१

और आस्ट्रिया २२, १४७, १४८, २४३
 (दे० 'आस्ट्रिया' भी)

हड़ताल १०६, २०१, ३६०

हरद्वसगोविना १०३

हिंदू-विधि

में विविधता की स्वतंत्रता १६७

हिंदू-शास्त्र १६०, १६८

हिटलर ६५८, १५८, १५९

हेग ९९, ३१४

हेनरी चतुर्थ ९३

हेलास दे० 'ग्रीस'

हैप्सबर्ग (वंश) २२

हैलवेशियन राष्ट्रीयता दे० 'स्विट्जरलैंड'

होमरूल [गृह-शासन] ४७, ४७८, ५०,
 २३६ स्वायत्तशासन १११, ३७३
 (दे० 'आयलैंड', 'भारत' भी)

होंडुरास ३४६

हौलैंड ४५, ६४

होहैनसोलर्स ९१

-साम्राज्य २४-५

